संवैधानिक मूल्यों की राह पर

हमारा सफ़र

यात्रा, अनुभव और अभिव्यक्ति

संविधान संवाद फैलोशिप 2022-25

विकास संवाद

संविधान संवाद फैलोशिप (2022-25)

संवैधानिक मूल्यों की राह पर हमारा सफ़र

यात्रा, अनुभव और अभिव्यक्ति

संपादन गुरुशरण सचदेव, पंकज शुक्ला, पूजा सिंह, भूपेंद्र शर्मा

सहयोग वी.एन. त्रिपाठी, राकेश कुमार मालवीय

मार्गदर्शन एन.के. सिंह, चंद्रकांत नायडू, राजेश बादल, चिन्मय मिश्र, विभूति झा, सुनील कुमार गुप्ता, श्रावणी सरकार, देशदीप सक्सेना, सचिन कुमार जैन

आवरण चित्रांकन – मंसूर नक़वी

साज-सज्जा – अमित सक्सेना

वर्ष – 2025

प्रतियां – 500

सहयोग राशि – ₹ 500

प्रकाशक – **विकास संवाद**
ए-5, आयकर कॉलोनी, जी-3, गुलमोहर, बावड़िया कलां, भोपाल
फोन : 0755-4252789, ई-मेल : office@vssmp.org
वेबसाईट : www.samvidhansamvad.org, www.vssmp.org

ISBN – 978-81-990700-3-5

मुद्रक – अमित प्रकाशन

अस्वीकरण: विकास संवाद की पहल 'संविधान संवाद' संवैधानिक मूल्यों को लेकर जागरूकता पैदा करने के लिए आरंभ की गई है। इस पहल के अंतर्गत प्रकाशित इस पुस्तक में तथ्यात्मकता सुनिश्चित करने के प्रयास किए गए हैं, लेकिन इसे विधि के बयान के रूप में नहीं माना जाना चाहिए या किसी भी कानूनी उद्देश्यों के लिए उपयोग में नहीं लाया जाना चाहिए। विभिन्न लेखों में प्रकाशित विचार लेखकों के निजी विचार हैं।

संवैधानिक मूल्यों की राह पर

हमारा सफ़र

यात्रा, अनुभव और अभिव्यक्ति

संविधान संवाद फैलोशिप 2022-25

विकास संवाद

आलेख का क्रम

भूमिका 5

सम्मति

- संवैधानिक मूल्यों को व्यवहार और जीवन में उतारना - अनवर जाफरी 15
- India's Transition from Feudal States to Democracy - Chandrakant Naidu 17
- भारतीय संविधान में निहित अंतरराष्ट्रीयवाद - चिन्मय मिश्र 21
- Offline and Left Behind: India's Battle for Digital Equality - Deshdeep Saxena 26
- Looking at the Values Espoused By the Indian Constitution Through a Lens of Buddhism - Guru Sharan Sachdev 32
- विकास संवाद की एक चौथाई सदी की संविधान यात्रा - एन.के. सिंह 37
- मेरा अनुभव: मूल्यों से जुड़ाव की यात्रा - पूजा सिंह 39
- कैसे पहुंचे घर-घर संविधान? - राजेश बादल 45
- मूल्यों के अर्थ और भारतीय संदर्भ - सचिन कुमार जैन 49
- Rekindling the Light of Constitutional Values: As Within, So Without - Saravani Sarkar 61
- वह मुझे संविधान जीना सिखा गए...शुक्रिया फैलोज़ - सुनील कुमार गुप्ता 65
- संवैधानिक मूल्य और विधि व्यवसाय - विभूति झा 69

वरिष्ठ पत्रकार फैलो

- मीडिया: संवैधानिक मूल्यों की रक्षा में भूमिका - अजय बोकिल 77
- असमानता: अम्बेडकर की धरती पर संविधान की छाया - आदित्य सिंह 81
- शहरी स्लम: शिक्षा से वंचित लोहपीटा समुदाय - अजय कुमार पटेल 84
- Bhopal Gas Tragedy: Rs 5.26 per day as compensation - Anup Dutta 91
- झगड़ा प्रथा: परंपरा बनाम संवैधानिक मूल्य - भानु ठाकुर 94
- मेरी यात्रा: प्रक्रिया ने झकझोर दिया, धारणाएं टूटी - चैतन्य दास सोनी 101
- किन्नर उत्तराधिकार: दया नहीं अधिकार की दरकार - दिनेश शुक्ला 105

- ओटीटी: बेचैन दुनिया को गढ़ने वाला 'खुला' केनवास - जयश्री पिंगले 113
- मीडिया में जेंडर: सोच, काम, व्यवहार... हर जगह असमानता - ममता यादव 118
- हिंदी सिनेमा: हावी व्यावसायिकता और संवैधानिक मूल्य - डॉ. मनीष जैसल 124
- मुस्लिम महिलाएं: अपने हक़ के लिए कब तक लड़ाई? - निदा रहमान 131
- जलवायु परिवर्तन: विकास परियोजनाओं का प्रभाव और पर्यावरणीय संकट - पल्लव जैन 137
- गिग वर्कर्स: हाथ में स्मार्ट फोन लेकिन जिंदगी बदतर - रोमेश साहू 144
- मेरी यात्रा: गलती होगी तो उसका अंदाजा भी होगा - सचिन चौधरी 151
- मेरी यात्रा: एआई की समझ और नागरिक जीवन को आकार - सारंग उपध्याय 152
- डिजिटल मंचों पर सर्वथा उपेक्षित संवैधानिक मूल्यों का पालन - डॉ. सौरभ जैन 162
- मेरी यात्रा: लापरवाही की आलोचना से मूल्ययुक्त संवेदना तक - शिफाली पाण्डेय 164
- पॉक्सो एक्ट: न्याय की धीमी रफ्तार, अन्याय का हथियार - श्रुति अग्रवाल 169
- दगना कुप्रथा: आदिवासी इलाकों में क्रूरता की भयावह हकीकत - शुभम बघेल 175
- My Journey: better human being, better citizen and a better journalist - Suchita Jha 178
- स्मार्ट सिटी इंदौर: सतत विकास या संवेदनहीन तंत्र - सुचेन्द्र मिश्रा 183
- महिला जनप्रतिनिधि: बाहुबल और धनबल के समक्ष असहाय बुद्धि बल - वंदना तोमर 188
- मेरी यात्रा: पूर्वाग्रह से मुक्ति और नई दृष्टि से पत्रकारिता - योगेश पाण्डेय 194

युवा पत्रकार फैलो

- आदिवासी: योजनाओं के केंद्र में, राहत पाने से दूर - अंकित पचौरी 199
- मेरी यात्रा: रोटी और टिफिन वाली बात मन में क्यों आई? - आशीष रघुवंशी 207
- मातृत्व संकट: अस्पतालों में अपमान, ठेले पर प्रसव - हुनेज़ा खान 210
- Right to Protest: HC Strikes Down Externment Order… - Kashif Kakvi 216
- आदिवासी: विकास के निर्णयों में बराबरी दरकार - कुलदीप भाटिया 221
- शिक्षा का अधिकार: सरकारी बेहाल, निजी में लूट अपार - नितेश उचबग्ले 224
- न्याय: जो 'अपराध' हुआ नहीं, 6 साल तक लड़ी उसकी लड़ाई - ऋषभ राज सिंह 227

- My Journey: Unmasking Power, Upholding Dignity - Ruchi Verma 232
- मेरी यात्रा: जमीन विवाद और संवैधानिक मूल्यों की जमीन - सतीश भारतीय 236
- बुंदेलखंड: जहां मौत 'डेली का मामला' है... - सतीश मालवीय 241
- नायकड़ा: बंधुता का अभाव बन गया ऐतिहासिक भूल - सयाली पराते 249
- मेरी यात्रा: परिभाषा से परे बंधुत्व को जीते हुए देखा - शिशिर अग्रवाल 254
- मेरी यात्रा: खत्म नहीं होता स्वीकारे जाने का इंतजार - शिवांगी सक्सेना 260
- मेरी यात्रा: अब मैं तटस्थ नहीं रहता हूं ... - विजय सिंह राठौर 265

अधिवक्ता फैलो

- बंधुआ मजदूरी से मुक्ति: संघर्ष से सफलता तक - आमीन खान 271
- Sub-Classification of SC-ST: Legal History and Constitutional Principles - Amol Shrivastava 276
- RIGHTS OF THE VICTIM: Must be treated with compassion & dignity - Disha Singh - Pramendra S. Thakur 281
- आदिवासी महिलाओं का संपत्ति में उत्तराधिकार: प्रथागत कानून को संहिताबद्ध करने का सही समय - डॉ. कमलेश पाटीदार 287
- मेरी यात्रा: अंतिम व्यक्ति तक न्याय की पहुंच का मार्ग - मोहन दीक्षित 295
- सबके लिए न्याय: भारत में शहरी स्व शासन व्यवस्था - नवेंदु मिश्रा 299
- Constitutional Values & its Relativity with the Property Rights - Pratyush Mishra 306
- Spirit of Indian Constitution and Present Environment Laws - Saloni Baheti 312
- न्यायालय परिसर में संवैधानिक मूल्यों का सिंचन - शेख मुईन अहमद 317
- संविधान, सामाजिक न्याय और हम - उर्मिला अहिरवार 322

रूपांकन

- इंसानों की मंडी: श्रम की कीमत लेकिन 'इज्जत' नहीं - अबरार खान 330
- संविधान का सफ़र - मंसूर नकवी 334
- बच्चे और शिक्षा व्यवस्था: जैसा मैंने देखा, जैसा मैंने जाना - नीलेश गहलोत 343

भूमिका

संविधान संवाद... कल्पना से यथार्थ तक की यात्रा और हासिल

यह गौरव का समय है... कि हम अपने संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करने का अमृत उत्सव मना रहे हैं। लोकतंत्र और संविधान को अपनाने की 75 वर्ष की यह यात्रा एक समृद्ध यात्रा है... जिसने हमें लोकतांत्रिक होने के मानी दिए हैं। लोकतंत्र की खूबसूरती यदि हमारे संविधान की वजह से है तो संविधान की खूबसूरती का सबब इसकी प्रस्तावना है। प्रस्तावना, जो न्याय, स्वतंत्रता, समता और बंधुत्व का उद्घोष करती है, किसी एक के लिए नहीं बल्कि सबके लिए, हर एक के लिए।

हमारा देश जितना विविध है, हमारी आजादी का आंदोलन भी उतना ही विविध था। ऐसी ही विविधता उस सभा में भी दिखाई दी थी, जिसने देश के संविधान का निर्माण किया था। हर तरह से भारत का प्रतिनिधित्व करती संविधान सभा में विचार के स्तर पर गहरा मंथन था लेकिन दृष्टि साफ थी। तीखी बहसें थीं लेकिन उद्देश्य स्पष्ट था। एक ऐसे देश के निर्माण का लक्ष्य जो वसुंधरा पर अपने मूल्यों के वजह से पहचाना जाए; वे मूल्य जो हमारी परंपरा से हमें मिले और जिनके पालन की जवाबदेही संविधान ने देश के प्रत्येक नागरिक को सौंपी।

जब देश अपनी स्वतंत्रता और संविधान को अपनाने की 75 वीं वर्षगांठ की यात्रा पूरी तरह रहा था, ठीक उसी समय मध्य प्रदेश में एक खास तरह की यात्रा आकार ले रही थी। संवैधानिक मूल्यों के बोध, चेतना के विकास और आत्मसात करने की यात्रा जिसे 'संविधान संवाद' के रूप में चिह्नित किया जाता है। स्वतंत्रता और संविधान निर्माण की यह यात्रा जितनी विविधवर्णी रही हैं, 'संविधान संवाद' की यात्रा भी उतनी ही वैविध्यपूर्ण, गहन और विस्तारित रही है।

इस यात्रा का सूत्रधार बना विकास संवाद। भोपाल मुख्यालय वाला विकास संवाद एक सामाजिक शोध, प्रशिक्षण, मीडिया संसाधन, दस्तावेजीकरण और पैरवी समूह है। विकास संवाद का कार्य वर्ष 2001 में एक परियोजना के रूप में शुरू हुआ और आज मध्यप्रदेश सहित देश में अपने नवाचारी कार्यों के लिए विशिष्ट पहचान पा रहा है। विकास संवाद की सोच व्यापक जनहित से जुड़े मुद्दों को मीडिया में लाकर बदलाव की कोशिश करने की रही है। एक ऐसा बदलाव, जो समाज को गरीबी, शोषण, भेदभाव से बाहर निकालकर सम्मान, बराबरी और न्याय के रास्ते पर खड़ा कर सके। विकास संवाद की कोशिश रहती है कि खांचों में बंध कर बदलाव की पहल न हो; बल्कि सभी विषयों को एक दूसरे से जोड़कर ही देखा जाए और नजरिये को व्यापक बनाया जाए। बदलाव का सूत्र बाहर के बजाय भीतर से ही अंकुरित हो, तो ही प्रक्रिया आगे बढ़ती है, इसलिए केंद्रीयकरण और संस्थागत नियंत्रण से बचने की कोशिश की जाती है। इसी सोच को ध्यान में रखकर यह समूह अध्ययन-विश्लेषण और सामग्री तैयार करने का काम कर रहा है। सामाजिक कार्यकर्ताओं और जन माध्यमों के प्रतिनिधियों के साथ निरंतर संवाद करते रहना विकास संवाद के काम का मुख्य हिस्सा है। अपनी समझ और सीख के लिए साझेदारी में मैदानी काम भी किया जा रहा है।

अपने इस लक्ष्य को पाने के लिए विकास संवाद करीब दो दशक से मीडिया फैलोशिप संचालित करता रहा है ताकि समाज, मुद्दों और मीडिया के बीच संवाद की ऐसी संरचना बने जिसका प्रभाव क्षणिक न हो कर व्यापक, गहरा और स्थाई हो। जून 2022 में विकास संवाद समिति ने अपनी परंपरागत फैलोशिप को नया रंग और स्वरूप दिया; संवैधानिक मूल्यों को केंद्र में रख कर कार्य करने का ढंग विकसित करने का लक्ष्य लिए 'संविधान संवाद फैलोशिप'। इस तथ्य से भला कौन अनजान

होगा कि हमारे स्वतंत्रता संग्राम और फिर संविधान सभा के मुख्य सूत्रधार अपने जीवन में पत्रकारिता और वकालत से बावस्ता रहे हैं। इन नामों में सर्वश्री महात्मा गांधी, पं. राजेंद्र प्रसाद, बाल गंगाधर तिलक, गणेश शंकर विद्यार्थी, पंडित जवाहर लाल नेहरू, डॉ. भीमराव अंबेडकर, सच्चिदानंद सिन्हा, के.एम. मुंशी, अल्लादी कृष्णास्वामी अय्यर, गोविंद वल्लभ पंत, सर सैयद मुहम्मद सादुल्लाह, गोपालस्वामी अय्यंगार शामिल हैं।

स्वतंत्रता प्राप्ति की यात्रा और संविधान निर्माण की प्रक्रिया को हम जितना अधिक जानते हैं, उसके प्रति उतने ही अचरज, आदर और आत्मसात करने के आग्रह से भर जाते हैं। यही वजह रही कि विकास संवाद ने कल्पना की कि मध्य प्रदेश के पत्रकारों और वकीलों के साथ संवैधानिक मूल्यों को जानने, मानने और अपनाने की यात्रा आरंभ की जाए। तय किया गया कि प्रदेश के चुने गए पत्रकारों को एक वर्ष तथा वकीलों को तीन वर्ष की फैलोशिप प्रदान कर संविधान के अमृत महोत्सव में अपनी तरह की विशिष्ट भागीदारी की जाए। यह लक्ष्य तय करने के पीछे भी एक खास मकसद था। भारत के संविधान की प्रस्तावना में निहित है कि संविधान की स्थापना का मूल उद्देश्य सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक न्याय, प्रतिष्ठा, अवसर की समानता तथा स्वतंत्रता प्रदान करना है। मगर यह तथ्य भी किसी से छिपा नहीं है कि समान न्याय व्यवस्था, समानता, स्वतंत्रता जैसे संवैधानिक मूल्यों का क्रियान्वयन होने में अब भी कई पड़ाव शेष हैं। भारतीय समाज में 'बंधुता' जैसा मूल्य भी संकट से घिरा महसूस होता है। इस अंतर को पाटने के लिए सक्रिय पत्रकारों व संवेदनशील वकीलों के समूह की भी आवश्यकता अनुभव की जा रही थी। ऐसा समूह जो वंचित एवं शोषित वर्गों के हक की आवाज को बुलंद कर सकें; उनके संवैधानिक मूल्यों के प्रति अधिक संवेदनशील हो सके।

तय किया गया कि यह फैलोशिप आम फैलोशिप से बहुत कुछ अलग होगी। इस फैलोशिप को संवैधानिक मूल्यों पर सोचने, समझने, संवाद करने, सीखने-समझने के लिए दो तरफ़ा प्रक्रिया बनाने का जतन हुआ जिसमें साझा तरीके से संवैधानिक मूल्यों के प्रति चेतना, बोध, जवाबदेही और अपना कथानक विकसित किया गया।

जब उद्देश्य था कि पत्रकारों और वकीलों के वैयक्तिक और पेशेवर जीवन से संवैधानिक मूल्यों का जुड़ाव स्थापित हो तो इसके परिणामों को भी वैसा ही सोचा गया। यूं तो हर फेलोज़ को तय कार्य करने थे लेकिन बात केवल स्थूल कारकों तक सीमित नहीं थी। हमारा लक्ष्य जितना स्पष्ट था उतने ही सूक्ष्म परितर्वतन की कल्पना की गई। इस फैलोशिप के सूचक तय किए गए कि अपने अंत में यह फैलोशिप फेलोज़ में संविधान और संवैधानिक मूल्य की बुनियादी व्यावहारिक समझ बनाने तथा अपने व्यवहार (निजी सोच और पेशेवर भूमिका) में संवैधानिक मूल्यों के लिए स्थान खोजने की बेचैनी उत्पन्न करने का कार्य तो करेगी ही।

'संविधान संवाद फैलोशिप 2022-25' तीन चरणों की चयन प्रक्रिया तथा फेलोज़ के साथ पहले परिचयात्मक सत्र (inception camp) के साथ प्रथम वर्ष में 1 सितंबर 2022 से आरंभ हुई है। पहले वर्ष फैलोशिप के लिए 15 पत्रकारों (8 वरिष्ठ तथा 7 युवा पत्रकार) तथा 13 वकीलों (3 फैलोशिप दो-दो वकीलों के समूह में दी गई) का चयन हुआ है। वकीलों की फैलोशिप अवधि 3 वर्ष थी तो पत्रकारों को एक वर्ष की अवधि में कार्य करना था। 'संविधान संवाद' पत्रकारिता फैलोशिप के दूसरे वर्ष भी 15 तथा तीसरे वर्ष 18 पत्रकारों का चयन हुआ। इस तरह हमने बीते तीन वर्षों में मध्य प्रदेश के 48 पत्रकारों और 12 वकील साथियों के साथ संवैधानिक मूल्यों के आत्मबोध और आत्म चेतना की यात्रा पूरी की। इस दौरान अन्यान्य कारणों से कुछ साथियों का साथ छूटा लेकिन यह केवल फैलोशिप के अनुशासन में ही हुआ। अन्यथा तो संवैधानिक मूल्यपरक जीवन के विस्तृत लक्ष्य की अनवरत यात्रा में सभी साथ बने हुए हैं।

बीते तीन वर्षों के तीन चरणों में फैलोशिप की हर प्रक्रिया में आमूलचूल बदलाव दर्ज किए गए। मसलन, चयन प्रक्रिया। योग्य और उपयुक्त फेलोज़ के चयन का अर्थ था फैलोशिप के उद्देश्य के पूर्ण होने की सुनिश्चितता। तीन चरण की प्रक्रिया अपने अंतिम वर्ष में सात चरणों की प्रक्रिया में बदल गई। साल-दर-साल मिले अनुभवों के आधार पर चयन के पूर्व ही

संभावित फेलोज़ के साथ चार संवाद, संवैधानिक मूल्यों के परिचयात्मक सत्र आयोजित किए गए। उद्देश्य यही था कि फैलोशिप का मंतव्य स्पष्ट हो सके तथा चयन उपरांत फेलोज़ खास तरह की मानसिक तैयारी के साथ फैलोशिप में कार्य आरंभ करें।

यहां खासतौर पर उल्लेख करना होगा कि सम्मानीय ज्यूरी ने फेलोज़ के चयन में मध्यप्रदेश के भौगोलिक, सांस्कृतिक और क्रियात्मक बहुरंग का ख्याल रखा। मालवा-निमाड़, बुंदेलखंड, महाकौशल, विंध्य, ग्वालियर-चंबल जैसी विविधता फेलोज़ के चयन में भी समाहित थी। यदि मैदानी पत्रकार चुने गए थे तो डेस्क पर कार्य करने वाले, स्वतंत्र और वेब मीडिया पत्रकार, फोटोग्राफर, कार्टूनिस्ट, इलस्ट्रेटर भी चयन प्रक्रिया में शामिल किए गए। अखबारों व न्यूज चैनल के राजधानी तथा मुख्य संस्करणों में कार्य करने मीडियाकर्मी से लेकर जिला, तहसील और कस्बे में कार्य कर रहे संभावनाशील मीडियाकर्मियों को भी चयन प्रक्रिया का हिस्सा बनाया गया। इसी तरह, वकील फेलोज़ के चयन प्रक्रिया में हाईकोर्ट की तीनों बेंच जबलपुर, इंदौर और ग्वालियर की भागीदारी हुई तो जिला स्तर पर सक्रिय वकीलों को भी शामिल किया गया। फेलोज़ के चयन में लैंगिंक, वर्ग और जातीय संतुलन को भी साधा गया। ज्यूरी ने हर पहलू पर विचार कर फेलोज़ का चयन किया जैसे, आवेदकों की संवैधानिक मूल्यों की अपनी समझ और संलग्नता कितनी है? संवैधानिक मूल्यों की दृष्टि से आवेदक का सामाजिक जुड़ाव कैसा है? अभी वे किस तरह कार्य कर रहे हैं और अपने कार्य व्यवहार में वे संवैधानिक मूल्यों के प्रति कितना संवेदनशील हैं? फैलोशिप पाने के बाद कार्य कैसे होगा? आवेदक को फैलोशिप की आवश्यकता है या नहीं। यदि है तो क्यों? क्या स्थापित व अनुभवी आवेदकों को प्राथमिकता दी जानी चाहिए या नए व युवाओं को मौका दिया जाना चाहिए, जिनमें कार्य करने की ललक अधिक हो।

जब फैलोशिप आरंभ हुई तो समझा जा रहा था कि कई बरस की पत्रकारिता कर चुके पत्रकारों में संविधान को लेकर एक विशिष्ट समझ तो स्वत: तैयार हो गई होगी। इसी तरह वकालत के पेशे में होने से वकीलों में भी संवैधानिक मूल्यों के प्रति अधिक प्रतिबद्धता होगी। मगर व्यवहार में ऐसा नहीं पाया गया। फैलोशिप के लिए हुई चयन प्रक्रिया, इनसेप्शन कैंप के दौरान ही यह समझ आ गया था कि डेढ़-दो दशक की पत्रकारिता और वकालत कर चुके फेलोज़ अपनी कई धारणाओं, दृष्टिकोण, विचार और व्यवहार में दृढ़ थे। उनके अपने विचार और अनुभव थे। उनकी अपनी स्थापित मान्यताओं और अनुभव को तोड़ने वाले या परिवर्तन करने वाले नए विचार को स्वीकार करना सहज नहीं था। यह भी कि कई साथी संवैधानिक मूल्यों के प्रति सजग थे मगर कार्य व्यवहार में मूल्यों को लागू करने के प्रति उतनी जागरूकता नहीं थी। यानी, गरिमा, निजता, न्याय, समता, समानता, बंधुता जैसे मूल्यों को पारिभाषिक रूप से जानते थे मगर जब व्यवहार में इनके क्रियान्वयन को जांचा गया तो स्वयं फेलोज़ साथियों ने माना कि वे जाने अनजाने इन मूल्यों का पालन नहीं कर रहे थे। इसलिए, चेतना और क्रियान्वयन के स्तर पर अधिक कार्य करने की जरूरत महसूस हुई।

संवैधानिक मूल्यों के प्रति आत्मबोध की इस प्रक्रिया में अपनी धारणाओं, पूर्वाग्रहों, अनुभवजन्य राय को तोड़ कर नई दृष्टि तथा कार्य विधि अपनाना एक चुनौती थी। संवैधानिक मूल्य क्या और क्यों जैसे सवालों के बाद इन्हें कैसे व्यवहार में लागू किया जाए, एक महत्वपूर्ण सवाल था। सभी की जिज्ञासा थी कि अब तक संवैधानिक मूल्य का कार्य व्यवहार या आचरण में पालन कोई प्राथमिकता नहीं है, न इनके बारे में आग्रही होने का कोई कारण है; फिर कैसे हम संवैधानिक मूल्यों को जीवन तथा कार्य का अनिवार्य रूप बनाएंगे?

संवैधानिक मूल्यों की फैलोशिप की शुरुआत में ही फेलोज़ साथियों की समझ में एक बुनियादी अंतर दिखाई दिया था। अधिकांश साथियों का दृष्टिकोण और कार्य अधिकार आधारित (Right Based Approach) था। यानी, सरकार द्वारा या तंत्र द्वारा अधिकार उपलब्ध न करवाया जाना और योजनाओं का क्रियान्वयन होना या न होना ही खबरों और कार्य का केंद्र होता था। चयन के बाद आयोजित पहली कार्यशाला में यह बिंदु समझ आया कि मूल्य आधारित दृष्टिकोण (Value

Based Approach) विकसित करना तथा इस प्रक्रिया को आत्मसात करना बेहद आवश्यक है। इस निष्कर्ष के बाद लगातार चर्चाओं, मेंटर के साथ संवाद, उन्मुखीकरण कार्यशाला में मूल्य आधारित दृष्टिकोण विकसित करने तथा उसे कैसे अपने कार्य व व्यवहार में शामिल किया जाए इस प्रक्रिया को तैयार करने के प्रयास किए गए।

पत्रकार फेलोज़ज़ ने सवाल उठाए कि उनकी अपनी भाषा, दृष्टिकोण, प्रोफेशनल इथिक्स हैं। संस्थान की तय पद्धति, पाठक की पसंद, माध्यम की मांग आदि के आधार पर उनका कार्य और प्राथमिकताएं तय होती है। ऐसे में संवैधानिक मूल्यों को कार्य में समाहित करना जॉब की प्राथमिकता नहीं होती है। तब संवैधानिक मूल्यों के क्रियान्वयन को थ्योरी के दायरे से बाहर निकाल कर व्यवहार में कैसे शामिल किया जा सकता है? प्रश्न यह भी हुआ कि सामाजिक मूल्य और संवैधानिक मूल्यों में बड़ा अंतर है। सामाजिक मूल्य कई स्तरों पर संवैधानिक मूल्यों के विपरीत नजर आते हैं। इस अंतरविरोध को कैसे दूर किया जाए? सोशल मीडिया के प्रभाव के इस दौर में हिट्स (क्लिक्स) और पाठकों की पसंद के आधार पर खबरों की प्राथमिकता तय हो रही है। ऐसे समय में संवैधानिक मूल्यों को केंद्र में रख कर पत्रकारिता कैसे करें?

वहीं, वकील साथियों के लिए अलग तरह की मुश्किल थी। आमतौर पर संवैधानिक मूल्यों से संबंधित प्रकरणों की चर्चा हाईकोर्ट या सुप्रीम कोर्ट में ही होती है। जिला स्तर पर ऐसे मामलों को लेकर जागरूकता और क्रियान्वयन न्यूनतम ही है। जिला स्तर के न्यायालयों में केस के दौरान कैसे संवैधानिक मूल्यों को केंद्र में रखा जाए तथा कैसे वकील साथी अपने दैनिक कार्य व्यवहार में इन मूल्यों के प्रति सचेत रहें, यह व्यवहारिक रूप से महत्वपूर्ण चुनौती थी।

हम पहले ही तय कर चुके थे कि इस फैलोशिप को पूर्ण करने का पैमाना केवल कमरे में चर्चा करना या व्याख्या करना भर नहीं है। ऐसा भी नहीं है कि एक बार चयन के उपरांत प्रारंभ हुई प्रक्रिया अंतिम रिपोर्ट प्रस्तुत करने के बाद खत्म हो जाएगी। फैलोशिप में आपसदारी के माध्यम से हम संवैधानिक मूल्यों के प्रति अपने बोध को अधिक स्पष्ट करेंगे। उम्मीद करेंगे कि इस दौरान आई चेतना फेलोज़ के समग्र कार्य व्यवहार में परिलक्षित हो। इसलिए समय-समय पर संवाद, मार्गदर्शन, समीक्षा बैठकों के माध्यम से संवैधानिक मूल्यों को जानने, मानने और अपनाने की प्रक्रिया जारी रखी गई।

हमारा उद्देश्य था कि फैलोशिप उपरांत प्रत्येक फेलोज़ज़ संवैधानिक मूल्यों से जुड़ाव स्वयं महसूस करें तथा अपने कार्य आचरण में स्वत: ही इन मूल्यों के प्रति सजग, सतर्क और क्रियाशील हो। इस लक्ष्य में अनुभवी मेंटर्स असाधारण सहयोगी साबित हुए। 50 वर्ष तक कार्य का अनुभव रखने वाले वरिष्ठतम पत्रकार और अधिवक्ता ने इस प्रक्रिया में मेंटर होना स्वीकार किया। फेलोज़ के कार्य और व्यवहार में संवैधानिक मूल्यों के बोध को शामिल करवाने के लक्ष्य के दौरान मेंटर्स ने पाया कि माह में एक बार बात करने या केवल उन्मुखीकरण शिविर से बात नहीं बनेगी। इसलिए सतत संवाद की प्रक्रिया को अपनाया गया। इन संवादों में फेलोज़ साथियों ने पहले औपचारिक रूख ही रखा। सम्मानीय मेंटर्स ने भी अनुभव और वरिष्ठता के सारे दायरों को तोड़ कर फेलोज़ साथियों से स्वयं कॉल कर संवाद कायम किया। इस पहल का परिणाम यह हुआ कि धीरे-धीरे साथियों ने खुल कर संशय, प्रश्न, अपनी बात, अनुभव रखना शुरू किया। एक तरह से हम फेलोज़ साथियों की स्वाभाविक 'झिझक', अनुभव उसे उपजे एक खास तरह के 'ईगो' और 'हमें सब आता है' जैसे दायरों की दीवारों को एक हद तक तोड़ने में सफल हुए हैं।

फेलोज़ साथियों द्वारा मेंटर के साथ चर्चाओं तथा व्यक्तिगत संवादों में यह निष्कर्ष निकला कि कार्यों की प्रगति पर बात करने के लिए ही नहीं बल्कि संवैधानिक मूल्यों के प्रति समझ विकसित करने तथा जिज्ञासाओं, उलझनों व सवालों को संबोधित करने के लिए नियमित संवाद किया जाना चाहिए। इस संवाद के लिए ऑनलाइन संवाद सत्र आरंभ किए गए ताकि प्रदेश के विभिन्न हिस्सों में रहने वाले फेलोज़ साथी आपस में बात कर सकें।

एक अन्य चुनौती यह थी कि संवैधानिक मूल्यों को जान, समझ लिया लेकिन अब तक हुई आंतरिक और व्यवहारिक

प्रगति का आकलन कैसे किया जाए? कैसे बताया जाए कि संवैधानिक मूल्यों की जो समझ बनी है वह कार्य और व्यवहार में लागू हो रही है या नहीं? व्यवहार में प्रगति को कैसे मापा जाएगा? कोई पैमाना तो था नहीं इसलिए विकसित हुए बोध का मापने के लिए टूल्स तैयार किए गए। स्व आकलन इसका श्रेष्ठ और सटीक साधन हो सकता है। फेलोज़ ने खुद छह माह के दौरान स्वयं में आए परिवर्तनों का आकलन किया है। इसके साथ ही फेलोज़ साथियों के साथ निरंतर संपर्क में रहने वाले मेंटर ने भी इस प्रगति को जांचा है। इसके लिए भी एक टूल तैयार किया गया है। खुद पर नजर रखी जाने लगी तो परिवर्तन के उदाहरण भी सामने आए।

स्व आकलन प्रक्रिया का परिणाम यह रहा कि फेलोज़ ने स्वयं अपने भीतर झांकना तथा परिवर्तन की आवश्यकता को महसूस किया। इस प्रक्रिया से आए परिवर्तन स्थाई रहने की उम्मीद की जा सकती है। हमारा उद्देश्य था कि फैलोशिप उपरांत प्रत्येक फेलोज़ संवैधानिक मूल्यों से जुड़ाव महसूस करें तथा अपने कार्य आचरण में स्वत: ही इन मूल्यों के प्रति सजग, सतर्क और क्रियाशील हो। यह दिखाई भी दे रहा है।

जहां तक स्थूल परिणामों की बात है तो तीन वर्षों में 48 पत्रकारों फेलोज़ पत्रकारों द्वारा 300 से अधिक समाचार/ आलेख का प्रकाशन, 250 से अधिक खबरों का संवैधानिक मूल्यों की दृष्टि से पुनर्लेखन, 12 वकील फेलोज़ द्वारा 125 केस का प्रवर्तन, संवैधानिक मूल्यों की दृष्टि से महत्वपूर्ण अदालतों के 55 फैसलों का संक्षिप्तीकरण, 500 से अधिक लोगों को विधिक परामर्श, वकील फेलोज़ द्वारा विभिन्न कानूनों व अधिनियमों पर 10 बुकलेट तैयार की गई है। यह तो वांछित सूचक हैं, वास्तव में, पूरी प्रक्रिया को संवाद आधारित बनाने का सुफल यह हुआ कि पत्रकार और वकील फेलोज़ साथियों के बीच के दायरे टूटते गए। न केवल हाईकोर्ट में वकालत कर रहे फेलोज़ ने जिला अदालतों में कार्य कर रहे साथी फेलोज़ को विभिन्न मामलों पर सलाह दी और सहयोग किया है बल्कि पत्रकार साथियों को उनकी खबरों में विधिन की दृष्टि से सुधार में सहयोग दिया है। पत्रकार साथियों ने वकील फेलोज़ साथियों के कार्य में खबरों के प्रकाशन के माध्यम से सहयोग दिया है। बात मैदानी आंदोलनों और जन जागरूकता तक पहुंची और लिखने-पढ़ने तक सीमित रहने वाली फैलोशिप ने नवाचार के उदाहरण स्थापित किए।

इस तरह 'संविधान संवाद' कार्यक्रम वास्तव में पत्रकार और वकील फेलोज़ के साथ किया जाने वाला एक बाह्य कार्य न हो कर संस्था के रूप में 'विकास संवाद' और इसके कर्ताओं के रूप में हम सभी की एक विशिष्ट यात्रा का माध्यम बना। तीन सालों में हम सभी ने एक यात्रा की है, अपने जीवन और अपने कार्य को संवैधानिक मूल्यपरक बनाने की कोशिशों की यात्रा। 'संविधान संवाद' का कार्य आरंभ करते हुए यह सोचा गया था कि जिन संवैधानिक मूल्यों के आत्मबोध, चेतना और क्रियान्वयन की प्रतिबद्धता की उम्मीद फेलोज़ साथियों से की जा रही है, उन पैमानों पर स्वयं को भी जांचा जाएगा। इसी सोच का परिणाम है कि विकास संवाद ने आम प्रचलित तरीकों और कार्यप्रणालियों के दायरे को तोड़ कर स्वयं को संवैधानिक मूल्यों पर खरा उतारने का हर संभव प्रयत्न किया। विकास संवाद ने अपना 'चार्टर ऑफ गर्वनेंस' बना कर तय किया कि संवैधानिक मूल्यों का पालन कार्य का ढंग ही नहीं बल्कि सोच, व्यवहार और क्रियान्वयन का हिस्सा बने। संवैधानिक मूल्यों, यथा, न्याय, स्वतंत्रता, समता-समानता, गरिमा, बंधुता को विकास संवाद की कार्य प्रणाली का अभिन्न और अनिवार्य अंग बनाया गया।

क्रियान्वयन का यह स्वरूप 'संविधान संवाद फैलोशिप' के संचालन में भी प्रतिबिंबित हुआ। इस फैलोशिप के तीन वर्ष वाकई में परिवर्तन के तीन चरण की तरह महसूस होते हैं। जितना फेलोज़ ने जाना, समझा और सीखा उतना ही 'विकास संवाद' ने स्वयं में भी दर्ज किया। आज तीन वर्षों की इस यात्रा के अंतिम पड़ाव पर खड़े हो कर अतीत की ओर झांकता हूं तो एक सुनहरा दृश्य कौंध जाता है। फैलोशिप के आरंभ से लेकर अंत तक, चयन से लेकर सहभागिता के प्रमाणन तक, तैयारी चर्चाओं से लेकर अनुभव अभिव्यक्ति के संवाद सत्रों तक, उन्मुखीकरण से लेकर विशेषज्ञों के प्रशिक्षण सत्रों तक,

व्यक्तिगत मुलाकातों से लेकर व्याख्यान व चर्चाओं तक के सभी पड़ाव अपने विशिष्ट योगदान के कारण रजत रेखा की तरह चमक उठते हैं।

विकास संवाद ने इस दौरान 4 मैन्युअल, 2 पुस्तकों तथा 36 संदर्भ पुस्तिकाओं का निर्माण किया। संवैधानिक मूल्यों पर जागरूकता के लिए कैलेंडर, पोस्टर और उतरती सीढ़ी-चढ़ती सीढ़ी खेल का तैयार किया गया। हिंदी में तथ्यपरक जानकारी उपलब्ध करवाने के लिए 'संविधान संवाद' वेबसाइट का संचालन किया जा रहा है। इस वेबसाइट पर पाठकों का स्नेह उत्साहवर्धक है। आंकड़े बताते है कि अप्रैल 24 से मार्च 25 तक कुल 1,79, 669 विजिटर्स (कुल 949906 हिट्स) इस वेबसाइट तक पहुंचे। संवैधानिक मूल्यों के प्रति जागरूकता कार्य की वृहत समुदाय में पहुंच के लिए तीन वार्षिक संविधान संवाद व्याख्यान तथा जिला स्तर पर 10 संवाद सत्रों और शैक्षणिक संस्थाओं में कार्यशालाओं का आयोजन किया गया। संविधान निर्माण की प्रक्रिया, संविधान के विशेष प्रावधानों और संशोधनों को समझाने के लिए केरिकेचर की पोस्टर प्रदर्शनी का निर्माण तथा इसे वीडियो फार्मेट में प्रस्तुत करते हुए 'संविधान और हम' शृंखला तैयार की गई।

संवैधानिक मूल्यों की जानकारी, समझ और क्रियान्वयन हर पायदान पर आत्मचेतना का विषय है। संवैधानिक मूल्यों की जानकारी और समझ होना ही पर्याप्त नहीं है। असल मुद्दा है आचरण में संवैधानिक मूल्यों की उपस्थिति। बीते तीन वर्षों में अपने व्याख्यान और संवाद के जरिए आत्म चेतना की इस प्रक्रिया को सहज, सरल और समझयुक्त बनाने के लिए प्रख्यात लेखक, विचारक श्री पुरुषोत्तम अग्रवाल, शिक्षाविद्-स्तंभकार श्री प्रतापभानु मेहता, संवैधानिक मामलों के जानकार, सुप्रीम कोर्ट के वकील श्री गौतम भाटिया, भारतीय जन संचार संस्थान के प्राध्यापक प्रो. आनंद प्रधान और एडवोकेट सुश्री आभा सिंघल जोशी, अधिवक्ता और लेखक विराग गुप्ता, सामाजिक कार्यकर्ता अनवर जाफरी, पत्रकार मीना कोटवाल, शिक्षाविद् अमन मदान, सहित 17 वें राष्ट्रीय संवाद, केसला में शामिल हुए अतिथि वक्ताओं सम्मानीय देवाजी टोफा, अरविंद मोहन, अरुण त्रिपाठी, जयशंकर गुप्ता, डॉ. अजय सोडानी, विजय ताम्बे, रजनी बख्शी, रीता भाटिया, अमन नम्र, पुष्यमित्र के प्रति आभारी हैं।

इस फैलोशिप कार्यक्रम में यदि कुछ हासिल है तो इसका आधार श्रेष्ठ फेलोज़ का चयन तथा पूरी प्रक्रिया के दौरान उनका धैर्यपूर्वक मार्गदर्शन है। इस संबल के लिए चयन समिति के सदस्य तथा मेंटर्स सर्वश्री अभिमन्यु श्रेष्ठा, चंद्रकांत नायडू, चिन्मय मिश्र, देशदीप सक्सेना, एनके सिंह, राजेश बादल, श्रावणी सरकार, सुनील कुमार गुप्ता और विभूति झा के प्रति हम कृतज्ञता व्यक्त करते हैं। संवैधानिक मूल्यों की समझ की इस प्रक्रिया को सम्पन्न करने में सामाजिक कार्यकर्ता सर्वश्री आरएन स्याग, बिपिन कुमार, अंबर फातमी, कार्तिक शर्मा का निरंतर सहयोग मिला है, आप सभी के प्रति आभार।

यह संपूर्ण कार्यक्रम अजीम प्रेमजी फाउंडेशन की दृष्टि और विचार का विस्तार है। विकास संवाद पर विश्वास जताने के लिए हम अजीम प्रेमजी फाउंडेशन के आभारी हैं। इस यात्रा की कल्पना से लेकर क्रियान्वयन तक हमें सहयोग के लिए सर्वश्री जुल्फिकार हैदर, समीरा अहमद, मैत्रेयी शंकर, सत्यम श्रीवास्तव का धन्यवाद।

हम उन सभी पत्रकार और वकील साथियों का भी आभार व्यक्त करना चाहते हैं जिन्होंने हम पर भरोसा दिखाया और इस प्रक्रिया में शामिल हुए। यह और बात है कि मानकों के अनुसार तय संख्या में ही फेलोज़ का चयन हो सका लेकिन इस कार्य में भाग लेने वाले सभी हमारे साथ जुड़े रहे।

अंत में, जब मैं इस पड़ाव पर पलट कर देखता हूं तो पाता हूं कि हमारे पास उपलब्धियों का विराट संसार है। हम दुनिया बदलने के लिए नहीं बल्कि स्वयं में बदलाव की यात्रा पर चले थे। इस यात्रा के हर पड़ाव पर सीख और अनुभव की एक प्रेरक कहानी है। हमने उम्मीद की थी कि फेलोज़ केवल वांछित संख्या में खबरें/आलेख लिखे ही नहीं बल्कि वे संवैधानिक मूल्यों को जाने और अपने कार्य व्यवहार में उन्हें अपनाएं भी। उनकी हर खबर और आचरण संवैधानिक मूल्यपरक हो।

यह फैलोशिप संवैधानिक मूल्यों के प्रति अपने व्यक्तिगत जुड़ाव को जांचने, कमियों को पूरा करने तथा बेहतर नागरिक और इंसान बनने का अवसर साबित हुई। व्यवहार में परिवर्तन की जो अपेक्षा हमने संविधान संवाद फैलोशिप में की है, उस बदलाव का मापन स्थूल नहीं है। यह ऐसा सूक्ष्म कार्य है जो दीर्घकालिक प्रभाव रखता है। इस लिहाज से हमारे लिए भी यह सीखने की प्रक्रिया रही है। हर एक फेलोज़ के रूप में हमारे पास 60 अनुभव हैं। यानी हर एक फेलोज़ हमारे लिए एक केस स्टडी की तरह है और हर फेलोज़ के पास अपनी विशिष्ट उपलब्धि है। हमारे फेलोज़ साथियों ने मूल्यपरक जीवन के मानक गढ़े। भेदभाव, वंचन और शोषण से आहत समुदाय का विश्वास जीता। यह वह उपलब्धि है जो परिणाम में वांछित नहीं थी।

यह यात्रा है, अनवरत जारी रहने वाली यात्रा, मूल्यों के पैमाने पर स्वयं को, विचार को और आचरण को जांचते रहने की यात्रा। मुझे उम्मीद ही नहीं पूरा विश्वास है कि जिन पैमानों पर कुछ कमी रह गई है वह आगत में पूर्ण होगी। अवश्य पूर्ण होगी क्योंकि यदि यात्रा अनवरत रहे तो आत्मबोध की कोई भी प्रक्रिया कभी अपूर्ण नहीं रहती।

शुभेच्छाएं

– पंकज शुक्ला
कार्यक्रम समन्वयक
'संविधान संवाद'

क्या कहते हो शुद्ध-अशुद्ध
अगर मन नहीं निर्मल, तो सब बेकार।

क्या ढोना किताबों का बोझ
अगर हृदय में न हो विस्फोट।

क्या करते हो लेकर मृदंग-खड़ताल
अगर पांडुरंग न रीझे।

क्या करना ज्ञान की बातें
जब करनी नहीं है वैसी।

तुका कहे, क्या करोगे दांभिक प्रतिष्ठा का
जब न हो हित भीतर।

– तुकाराम

संवैधानिक मूल्यों की राह पर

हमारा सफ़र

संविधान संवाद

सम्मति

यात्रा, अनुभव और अभिव्यक्ति

विकास संवाद

संवैधानिक मूल्यों को व्यवहार और जीवन में उतारना

अनवर जाफरी

परिचय

अनवर जाफ़री पिछले चार दशक से सामाजिक कार्यों में सक्रिय हैं। वर्तमान में वे समावेश सोसाइटी के निदेशक हैं। इससे पहले, वे लंबे समय तक एकलव्य संस्था से जुड़े रहे। उन्होंने पंचायती राज कानून और स्वशासन पर व्यापक और लंबी अवधि तक काम किया है।

अनगिनत सदियों से समुदाय का जीवन पुराने रीति रिवाजों, धार्मिक मूल्यों और राजा-रजवाड़ों की सोच के आधार पर संचालित होता आया है। अक्सर इन कारणों से आपसी टकराव और विभाजन भी हुए हैं। लंबे संघर्षों के बाद दुनिया के अनेक राज्यों ने जनतांत्रिक संविधान अपनाये हैं। भारत में संवैधानिक व्यवस्था को स्थापित हुए 75 वर्ष हो चुके हैं। पर जैसा हम और देशों और अपने अनुभव के आधार पर देखते हैं नयी राजनितिक व्यवस्था बनने के बाद भी संविधान के सिद्धांतों और मूल्यों कों व्यवहार में समाज की जड़ों तक ले जाने में लंबा समय लग सकता है। और इतना समय बीतने के बाद भी संविधान को लेकर विभिन्न विचारधाराओं के बीच कई विरोधाभास बने रहते हैं।

संविधान के व्याख्या की प्रक्रिया हमारे देश में बड़ी तीव्रता से कई स्तरों और विभिन्न मंचों पर लगातार चलती रही है। ऐसी स्थिति में एक नागरिक की हैसियत से हमारी भूमिका क्या होनी चाहिए और हम संविधान के मूल्यों को अपने जीवन में कैसे उतारें यह सवाल बहुत ही प्रासंगिक बन जाते हैं। यहां पर इस चर्चा को हम वकीलों और पत्रकारों के काम और रोज़मर्रा के व्यवहार के संदर्भ में रखना चाहते हैं। इस का एक ख़ास कारण यह भी है कि इन दोनों व्यवसायों की गिनती नि:संदेह ही संविधान के मुख्य रखवालों में की जाती रही है।

न्याय का प्रश्न

संवैधानिक मूल्यों में न्याय का स्थान सबसे अहम है। जहां तक पत्रकारों की बात है उन से उम्मीद की जाती है कि अन्याय, भ्रष्टाचार या भेदभाव को हर मौके पर उजागर करें - भले ही यह लोकप्रिय न हो या जोखिम भरा हो। वे ख़बरें निष्पक्ष रूप से दिखाएं, हाशिए पर पड़े लोगों और कमज़ोर तबकों को आवाज़ दें। और ऐसी सनसनीख़ेज़ ख़बरें देने से बचें जिन से किसी को नाजायज़ नुक़सान पहूंचे। वकीलों के संदर्भ में बात करें तो हम देखते हैं कि हमारे देश में बहुत लोग न्याय से वंचित इसलिये रह जाते हैं क्योंकि वे वकील नहीं रख पाते। वकील अगर यह कोशिश यह करें कि हर किसी को न्याय मिल सके चाहे उन को अपनी सेवा नि:शुल्क ही क्यों न देनी पड़े तो न्याय की पहुंच बहुत बढ़ जाएगी। वकीलो का फ़र्ज़ बनता है कि अपने मुवक्किलों को पूरी ईमानदारी से सलाह दें न कि केवल लाभ कमाने के नज़रिये से। और वकील यह भी याद रखें कि न्याय प्रणाली को मज़बूत बनाने में उनकी कितनी महत्वपूर्ण भूमिका है ताकि वे बेवजह मुकदमेबाज़ी करने या धोखाधड़ी को बिलकुल बढ़ावा न दें।

आज़ादी का मूल्य

हमारी अभिव्यक्ति की आज़ादी भी बहुत महत्वपूर्ण है पत्रकार उस की रक्षा कर सकते हैं - सत्ता से सवाल पूछने के

अधिकार को उन्हें ही सुरक्षित रखना होगा। अपने लेखन और सभी अन्य तरीकों से उन्हें अलग अलग विचारों को जगह देनी होगी ख़ास करके जिन विचारों से वे सहमत न भी हों, उन आवाज़ों को न दबाएँ। इस संदर्भ में और लोगों के साथ मिल कर ऐसी सेंसरशिप का विरोध करना ज़रूरी होगा जो संवैधानिक स्वतंत्रताओं को चोट पहुंचा सकती है।

आज़ादी के संदर्भ में वकीलों की ख़ास भूमिका नागरिक स्वतंत्रता और मानवाधिकार के मामलों में पैरवी करने की है।वे लागातार अपने मुवक्किलों को उनके मौलिक अधिकारों के बारे में जागरूक कर सकते हैं, और अपने केसों में अंतरात्मा, विश्वास और आस्था को बचा कर रख सकते हैं।

समानता का मूल्य

पत्रकारों कि रिपोर्टिंग में रूढ़िवादिता की बिलकुल जगह नहीं होनी चाहिए। जाति, लिंग, धर्म या विकलांगता पर संवेदनशील और बिना किसी भेदभाव की भाषा का वे उपयोग करें। वे असमानता की कहानियों को सामने लाएं ताकि उस के प्रति जागरूकता बढ़े और नीतियों में बदलाव किया जाए। पत्रकारों की यह भी ज़िम्मेदीरी बनती है कि वे सभी के दृष्टिकोणों को जगह दें, बहुसंख्यक-अल्पसंख्यक, अमीर-गरीब, शहर-गांव इन में बराबरी रहे। इसी प्रकार से वकीलों को ध्यान देना होगा कि उनकी वकालत में किसी प्रकार का पक्षपात न हो - हर मुवक्किल को वे समान सम्मान दें। समानता के मूल्य को आगे बढ़ाने में उन का एक ख़ास योगदान यह होगा कि वे कमज़ोर समुदायों से आने वाले युवा वकीलों को मार्गदर्शन दें और उन की मदद करें। हमारी न्याय प्रणाली बड़ी ही पेचीदा और आम नागरिक को परेशान कर देने वाली है न्याय प्रणाली को सबके लिए सुलभ बनाने वाले कानूनी सुधारों का वकील ख़ास समर्थन करें।

बंधुत्व

बंधुत्व के संदर्भ में पत्रकार अपनी कहानियों में सामाजिक सद्भाव बनाएं और नफरत फैलाने वाली बातों और अफवाहों को काटें। वे एकता, समावेशन और साझी पहचान की कहानियों को बढ़ावा दें। और ऐसी भाषा से बचें जो समुदायों के बीच दरार पैदा करे। वकीलों की ख़ास भूमिका झगड़ों को सुलझाने में गरिमा और संबंधों का सम्मान बनाए रखने में होती है। जहां तक उचित हो, वे अपने मुवक्किलों को शांतिपूर्ण और निष्पक्ष समझौतों के लिए प्रेरित करें जिसे दूसरी तरह से कह सकते हैं कि अपनी कानूनी विशेषज्ञता से समाज में पुल बनाएं, दीवारें नहीं ।

धर्मनिरपेक्षता का मूल्य

सामाजिक और राजनातिक कारणों से धर्मनिरपेक्षता का मुद्दा लंबे अर्से से संवेदनशील और जटिल बन चुका है। इस संदर्भ में यह चुनौतीपूर्ण पर लाज़मी है कि सभी समुदायों की रिपोर्टिंग निडर और निष्पक्ष होकर की जाए और ऐसी अफवाहों को न फैलाया जाए जो सांप्रदायिक तनाव बढ़ाएँ। संविधान के इस मूल्य को हम तभी ताकत दे सकते हैं जब हम पक्के सबूत और ज़िम्मेदारी से रिपोर्टिंग करें और जहां दिखे सांप्रदायिक नफरत और कट्टरता को उजागर करें।

कई जगहों पर अल्पसंख्यकों के अधिकारों की रक्षा के केस लड़ने के लिए वकील नहीं मिलते हैं। अगर उन का पक्ष सही है तो हिम्मत करके वकीलों को उन के पक्ष में सामने आना चाहिए। वकील संविधान की धर्मनिरपेक्ष भावना को नुकसान पहुँचाने वाले कानूनों या कार्रवाइयों को चुनौती दें सकते हैं। यह सब करने के लिए अलग-अलग धर्मों के मुवक्किलों का प्रतिनिधित्व करते समय ज़रूरी है कि वे अपने व्यक्तिगत पूर्वाग्रहों को अलग रखें।

यहां हम ने संवैधानिक मूल्यों को व्यवहारिक जीवन और व्यवसाय में उतारने के लिए कुछ सुझाव रखे हैं। ज़ाहिर है यह बातें कह देना आसान है पर इन को अमल में लाना कई तरह की चुनौतियों से भरा हुआ है। इन चुनौतियों का सामना करते हुए ही हम संविधान को अपने समाज और देश में और मज़बूत स्थिति में पहुंचा पाएंगे।

India's Transition from Feudal States to Democracy

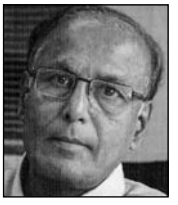

Chandrakant Naidu

India's transformation from a fragmented mosaic of princely states and colonial territories into a vibrant, even if deficient, democracy is probably the most extraordinary political transition in the modern world.

At Independence in 1947, India was not a nation in the conventional sense but a vast collage of over 565 princely states, British-administered provinces, tribal regions, and rural fiefdoms, many of which were governed by hereditary rulers with deeply entrenched feudal hierarchies. That it managed to consolidate, centralise, and democratise within a few decades-and continues to function as the world's largest democracy-is a remarkable feat.

Yet this transformation has not been without flaws, contradictions, or reversals. While India's democratic institutions have shown resilience, they have also been shaped and often constrained by the legacies of feudalism, caste, class privilege, and regionalism. It is an educating experience to explore the trajectory of India's post-feudal evolution, highlighting its democratic achievements and ongoing failures.

The Historical Backdrop: Feudal Foundations

India's feudalism has been layered-ranging from zamindari under the Mughals and the British to localized chieftaincies, princely kingdoms, and caste-based village hierarchies. Rather than dismantling these feudal structures, the Brtish rulers institutionalized them through revenue systems like the Permanent Settlement and the Mahal Wari system that empowered landlords and intermediaries while impoverishing peasants.

By 1947, India inherited a deeply unequal and hierarchical society. Over two-thirds of the land was owned by a small elite. Social mobility was minimal, and political participation was virtually non-existent outside elite circles. That such a society could democratise peacefully was immensely doubted by many Western observers. Democratic Thrust:

Introduction

Chandrakant Naidu has worked with mainstream newspapers like Indian Express, The Hindustan Times, Free Press Journal for over 35 years. He has been the editor of Heartland editions of Hindustan Times for over12 years. Besides feeling the social and political texture of Chhattisgarh, Jharkhand, Uttarakhand, Uttar Pradesh, Bihar, Rajasthan and Madhya Pradesh Chandrakant Naidu worked in Chandigarh through the newsiest period affecting Punjab, Haryana, J& K and Himachal Pradesh between 1980 and '86. He is one of our esteemed jury members and fellowship mentors.

Three key developments helped India shed its feudal skin

Integration of Princely States: Under the leadership of Sardar Vallabhbhai Patel India managed to persuade, pressure, or militarily annex princely states into the Union. This was a remarkable exercise in state-building and central consolidation that laid the foundation for national unity.

The Constitution (1950): India's adoption of a liberal, secular, and democratic Constitution established a parliamentary system, universal adult franchise, and an independent judiciary. Unlike many post-colonial states, India extended the right to vote to all adults-regardless of literacy, caste, gender, or class-from the very beginning.

Land Reforms and Abolition of Privy Purses: Though uneven and poorly implemented in many regions, the post-independence land reforms and the eventual abolition of royal privileges in the 1970s (under Indira Gandhi) signalled a move away from feudal patronage.

These early steps were bold and ambitious. They established a formal democratic framework, even if social and economic realities remained unequal.

Successes of India's Democratic Transformation

Electoral Democracy: India has held regular, largely free and fair elections at both national and state levels. The peaceful transfer of power-despite political upheavals, assassinations, and emergency rule-remains a core achievement.

Federalism and Linguistic Reorganization: The reorganization of states along linguistic lines (starting in 1956) diffused regional tensions and allowed for greater autonomy within a federal framework, accommodating India's vast diversity.

Rise of Subaltern Politics: Over time, historically marginalized communities-Dalits, OBCs, Adivasis-began to assert their rights and political agency through parties like the BSP, Samajwadi Party, and regional formations. This shift, often described as the "second democratic upsurge," challenged upper-caste dominance in politics.

Judiciary and Media as Watchdogs: India's judiciary has, at times, acted as a bulwark against executive excesses, while the press (despite recent setbacks) has historically played a crucial role in exposing corruption and mobilizing public opinion.

Panchayati Raj and Local Governance: The 73rd and 74th Constitutional Amendments empowered local self-governance and reserved seats for women and SC/STs in local bodies, attempting to democratize governance from below.

Persistent democratic failures

Feudal Culture in Politics: While formal structures changed, feudal attitudes often persisted. Political dynasties, personality cults, and the treatment of voters as clients or dependents rather than citizens are remnants of feudal patronage politics. Leaders are often addressed as "Raja," "Netaji," or "Mai-Baap," revealing the enduring verticality of power.

Land and Caste Inequality: Land redistribution has been partial at best. In many states, especially in the Hindi heartland, a small, landed elite continues to dominate rural politics. Caste remains a powerful determinant of social and economic mobility, despite affirmative action policies.

Criminalization and Money Power: A significant number of elected representatives face serious criminal charges. Political campaigns require vast sums of money, reinforcing elite capture and making it difficult for ordinary citizens to contest elections.

Democratic Backsliding and Centralization: In recent years, concerns have grown about the erosion of democratic norms-rising authoritarianism, curbs on dissent, the weakening of institutions like the Election Commission and judiciary, and the use of investigative agencies to target political opponents. These trends suggest a re-centralization of power and a weakening of constitutional

checks and balances.

Erosion of Civil Liberties: Crackdowns on civil society, student movements, and independent media have undermined the democratic spirit of free expression and association-values essential to any participatory democracy.

An Unfinished Journey

India's transition from a feudal and colonial society to a modern democratic republic is a story of extraordinary ambition and relative success. No other post-colonial state of comparable size and diversity has managed to preserve democratic continuity for so long. And yet, this transformation remains deeply incomplete.

Feudalism in India has not vanished-it has morphed into new forms of socio-political control: caste-based vote banks, dynastic politics, patronage networks, and authoritarian populism. Formal democracy coexists with deep social inequality and institutional fragility. The challenge today is not only to preserve electoral democracy but to deepen it-by ensuring transparency, equity, accountability, and genuine decentralization.

That brings us back to the Constitution of India which offers a lasting solution. The Constitution of India, a document born out of tireless efforts of nearly 300 eminent luminaries from diverse fields and with conflicting ideologies has played an extraordinarily important role in India's democratic transformation. In fact it is the very foundation of that transformation.

The Constitution adopted in 1950 marked the formal transformation from a collection of princely states and colonial provinces to a sovereign, democratic republic. It laid down the following principles:

- ✶ Universal adult suffrage (right to vote), Fundamental rights and liberties, Parliamentary system of government. This was a radical change from the centuries-old rule of the elite.
- ✶ India is home to many religions, languages, castes, and ethnicities. The Constitution created a common framework that integrated these differences under the idea of "unity in diversity."
- ✶ Federalism ensured regional autonomy while maintaining national integrity. It recognized many languages and promoted cultural inclusion.
- ✶ Secularism prevented the dominance of any one religion.
- ✶ This inclusiveness was essential for bringing diverse feudal and colonial units into a common democratic project.

The Constitution established independent institutions-the Election Commission, the judiciary, the Comptroller and Auditor General, etc.-to safeguard democracy.

These institutions helped curb authoritarian tendencies by creating checks and balances.

They allowed democratic norms to survive even during crises such as the Emergency (1975-77).

India's transition to democracy was not merely political-it aimed at social and economic transformation. The Constitution included:

- ✶ Abolition of untouchability, Reservations for scheduled castes, tribes, and later other backward classes
- ✶ Directive Principles of State Policy guiding welfare measures

- ✶ These constitutional instruments targeted centuries of social inequality, ensuring that democracy was not just procedural but also aspirational.
- ✶ The Constitution allowed for regular, peaceful elections and changes of government, while many postcolonial countries were plagued by coups, civil wars or dictatorshipIt provided a legal framework for amending itself.
- ✶ The Constitution allowed for adaptation without violent change-more than 100 amendments reflect India's emerging democratic needs.
- ✶ By delegating power to "we, the people," the Constitution legitimized the new order and gave citizens a sense of ownership. It empowered the poorest and most marginalized to participate in governance.
- ✶ It established the idea that the government is accountable to the people.
- ✶ Sadly, while the Constitution has been central, its role has often been tested:
- ✶ During the Emergency, constitutional rights were suspended.
- ✶ Increasing centralization of power, the misuse of ordinances or judicial delays have undermined some democratic safeguards.
- ✶ Social and economic inequalities remain significant, challenging the Constitution's promise of justice and equality.
- ✶ Nevertheless, the resilience of democratic institutions, which often refer to constitutional provisions, has helped India recover from these shocks.

The Constitution: Cornerstone of India's Democratic Transformation

The Constitution of India is not just a legal document but the engine of India's democratic transformation. It provided the vision, structure, and safeguards needed to move a fragmented, hierarchical society toward inclusive governance. Although this journey remains incomplete, the Constitution remains the most important enabler and protector of Indian democracy.

When India emerged from the shadow of British colonialism in 1947, it was a country of extraordinary diversity-culturally fragmented, socially hierarchical, and economically underdeveloped. Yet, within three years, it had carried out one of the most ambitious political experiments in history: the adoption of a written constitution that laid the foundation for a sovereign, socialist, secular, and democratic republic.

More than just a legal document, the Constitution of India is the blueprint for India's transition from a feudal and colonial past to a modern democracy. Its role in India's democratic transformation is not just foundational-it is also existential

Is there a threat to the Constitution? While a dictatorial dispensation invoked the provisions of Emergency to clamp down on fundamental right 50 years, we have been witnessing curbs on liberties through uninvoked emergency. The presentation dispensation has been selective in enforcement of legal provisions and the people need to be sensitised towards the Constitutional rights and duties to check such tendencies by even-handed enforcement of law.

भारतीय संविधान में निहित अंतरराष्ट्रीयवाद

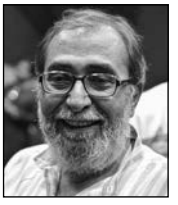

चिन्मय मिश्र

"मैं ऐसे संविधान की रचना के लिए प्रयत्न करूंगा जो भारत को हर तरह की गुलामी से और किसी का आश्रित होने की भावना से मुक्त कर देगा और यदि जरूरत पड़े तो उसे पाप करने का अधिकार देगा। मैं ऐसे भारत के लिए कार्य करूंगा, जिसमें गरीब से गरीब आदमियों को लगे कि भारत उनका अपना देश है, जिसके निर्माण में उनका महत्वपूर्ण हाथ है। उसमें स्त्रियां समान अधिकारों का उपयोग करेंगी। चूंकि हम बाकी की दुनिया के साथ शांति से रहेंगे और न हम दूसरों का शोषण करेंगे और ना अपना होने देंगे, इसलिए हमारी ऐसी छोटी से छोटी सेना होगी जिसकी कि कल्पना की जा सकती है। उस भारत में ऐसे समस्त देशी या विदेशी हितों का आदर किया जाएगा, जिनका देश के करोड़ों मूल नागरिकों के हितों के साथ कोई संघर्ष नहीं होगा। मैं व्यक्तिगत रूप में देशी और विदेशी के भेद से नफरत करता हूं। यह मेरे सपनों का भारत है।इससे कम किसी चीज से मुझे संतोष नहीं होगा।"

- महात्मा गांधी, यंग इंडिया 10-9-31 (आलेख के संपादित अंश)

गांधी के सपनों का भारत, भारत नामक सपने से अलग नहीं था। कराची में 29 मार्च 1931 को सरदार वल्लभ भाई पटेल की अध्यक्षता में कांग्रेस का पूर्ण अधिवेशन हुआ। इसमें 'पूर्ण स्वराज' के लक्ष्य को दोहराया गया था। साथ ही 18 बिंदु वाला 'कराची संकल्प' भी पारित हुआ। जब हम इस संकल्प को पढ़ते हैं, तो यह धारणा बनती है, यह संकल्प अंततः भारतीय संविधान का मूलाधार बना। इसी के साथ भारत में प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से संविधान निर्माण की प्रक्रिया और विमर्श शुरू हो गयी थी। संभवत: इसी क्रम में महात्मा गांधी ने करीब 6 माह के अंतराल से भारतीय संविधान के संबंध में अपनी बात कही और इसे भारत की भौगोलिक सीमाओं से आगे ले जाकर एक वैश्विक दस्तावेज की तरह तैयार करने की नींव रखी। गौरतलब है भारत उपरोक्त कथनों के करीब 16 वर्षों बाद आजाद हुआ और कराची संकल्प और महात्मा गांधी की एक विश्व की परिकल्पना को आत्मसात करते हुए इस पर बहस चलती रही और इस दौरान संविधान संबंधित अनेक मसौदे भी देश के सामने आए।

परिचय

शोधकर्ता, कला समीक्षक एवं लेखक चिन्मय मिश्र ने सर्वोदय प्रेस सर्विस इंदौर में वर्ष 2006 से वर्ष 2017 तक कार्यकारी संपादक के रूप में कार्य किया है। मध्यप्रदेश आदिवासी लोक कला अकादमी के लिए चिन्मय मिश्र ने भारतीय पारंपरिक वस्त्र परंपरा पर 10 वर्ष तक संकलन, दस्तावेजीकरण एवं प्रदर्शनी के साथ देश में करीब 300 केंद्रों का भ्रमण किया है। भारतीय पारंपरिक वस्त्र छपाई परंपरा पर पुस्तक 'अंकन', भारतीय पारंपरिक वस्त्र बनाई परंपरा पर पुस्तक 'तंतुजा' भारतीय साड़ी परंपरा, रेशमी वस्त्र परंपरा, कशीदाकारी एवं बिछायत परंपरा पर चार मोनोलॉग का प्रकाशन हुआ है। चिन्मय मिश्र वर्तमान में अध्यक्ष ग्राम सेवा मंडल, गोपुरी वर्धा हैं।

आज हम गौर करें तो पाते हैं कि भारतीय संविधान एक ठहरा या ठिठका हुआ दस्तावेज नहीं है। वस्तुतः यह एक ऐसा दस्तावेज है जिसकी परिकल्पना संभवतः भारत में लिखे या सोचे गए सबसे प्रारंभिक विचार के समानांतर प्रारंभ हो गई

थी। यह प्रक्रिया 26 जनवरी 1950 को भी नहीं ठहरी जब हमारा संविधान हम सबके द्वारा अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित किया गया। गौर से देखने पर यह एक वैश्विक दस्तावेज जैसा प्रतीत होता है और इसे वैश्विक दृष्टिकोण रखते हुए ही देखा समझा जाना चाहिए।

भारतीय संविधान के अनुच्छेद-51 के अनुसार! "अंतराष्ट्रीय शांति और सुरक्षा की अभिवृद्धि Promotion of International Peace and Security" के अंतर्गत कहा गया है, राज्य,

- ✶ अंतर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा की अभिवृद्धि का,
- ✶ राष्ट्रों के बीच न्याय संगत और सम्मानपूर्ण संबंध बनाए रखने का
- ✶ संगठित लोगों के एकदूसरे से व्यवहारों में अंतर्राष्ट्रीय विधि और संधि बाध्यताओं के प्रति आदर बढ़ाने का
- ✶ अंतर्राष्ट्रीय विवादों के माध्यास्थम (Arbitration) द्वारा निपटने के लिए प्रोत्साहन देने का प्रयास करेगा।

अर्थात हमने एक बेहद दूरदृष्टि परक वैश्विक पहल को संविधान में मूर्त रूप दिया है।

भारतीय संविधान के इस पक्ष को और भी बेहतर ढंग से "मूल अधिकार" वाले हिस्से से समझा जा सकता है। इससे संबंधित अनुच्छेद क्रमांक 14 "राज्य क्षेत्र में किसी व्यक्ति को विधि के समक्ष समता से या विधियों के समान संरक्षण से वंचित नहीं करेगा।" यहां "नागरिक" नहीं "व्यक्ति" शब्द का प्रयोग किया गया है। वही अनुच्छेद 15 से 19 तक भारतीय नागरिकों को विशिष्टता देते हैं। इसके बाद अनुच्छेद 20 से 28 तक पुनः प्रत्येक निवासी को मूलभूत अधिकारों की प्राप्ति का हकदार मानते हैं।

हम थोड़ा पीछे लौटते हैं। 14 अगस्त 1947 की मध्य रात्रि को पं जवाहरलाल नेहरू ने संविधान सभा से आजाद भारत को दिए पहले भाषण में कहा था, "भारत के सपने दुनिया के सपने भी हैं। क्योंकि आज सभी राष्ट्र एकदूसरे से इतनी जुड़े हुए हैं कि कोई अलग रहने की कल्पना भी नहीं कर सकता।" वह आगे कहते हैं, "भारत संसार में अपना उपयुक्त स्थान ग्रहण करेगा और संसार व्यापी शांति और मनुष्य मात्र के कल्याण के लिए योगदान करेगा।"

गौरतलब है वे भारत को विश्व गुरु, या सर्वोच्च नहीं बनाना चाह रहे थे बल्कि उपयुक्त स्थान के प्रति प्रतिबद्धता जता रहे थे।

वहीं, 13 दिसंबर 1946 को संविधान सभा में प्रस्तुत उद्देश्य पत्र में पंडित नेहरू कहते हैं, "मैं पहले गठित संविधान सभाओं के बारे में भी सोचता हूं कि कैसे संविधान ने महान अमेरिकी राष्ट्र को बनाया। मेरा दिमाग उस महान क्रांति की ओर जाता है, जो 150 वर्ष पूर्व हुई थी। यह गरिमापूर्ण और खूबसूरत पेरिस शहर में हुई थी, जहां पर भयानक तकलीफों के बीच स्वतंत्रता की अनेक लड़ाईयां लड़ी गई थीं और वहां तब भी राजा और दरबारी इसके बीच अड़ंगा डाल रहे थे कि संविधान सभा अपना काम ना कर सके। इस सदन को यह याद रखना होगा कि उन्हें संविधान सभा चलाने के लिए एक कमरा तक उपलब्ध कराने को मना कर दिया गया था। इसके पश्चात वह सारे लोग एक खुले टेनिस कोर्ट में इकट्ठा हुए और वहां शपथ ली। वे राजा और अन्य अधिकारियों के विरोध के बावजूद मिलते रहे। तभी उनकी शपथ "टेनिस कोर्ट की शपथ" कहलाती है। जब तक संविधान बना नहीं लिया वे वहां से हटे नहीं। यही पवित्र भावना यहां सबमें भी प्रभावित होती रहनी चाहिए।" इसी क्रम में वे रूसी क्रांति को याद करते हैं और अपनी बात को आगे बढ़ते हुए कहते हैं, "महोदय, हम भारत के लिए संविधान बना रहे हैं और जाहिर है यहां जो कुछ भारत के लिए करना चाहते हैं, उसका जबरदस्त प्रभाव पूरे विश्व पर पड़ेगा। यह केवल इसलिए नहीं कि दुनिया के पटल पर एक नया स्वतंत्र राष्ट्र उभरा है, परंतु तथ्य तो यह है कि भारत अपने आप में एक ऐसा देश है जो कि अपनी विशाल आबादी और क्षेत्रफल के हिसाब से महत्वपूर्ण है बल्कि उसके अथाह संसाधन और उन संसाधनों के इस्तेमाल की उसकी क्षमता के चलते वह दुनिया के कारोबार में महत्वपूर्ण भूमिका निभा

सकता है। आज जब हम स्वतंत्र होने के कगार पर बैठे हैं, हमने विश्व की गतिविधियों में महत्वपूर्ण भूमिका निभानी शुरू कर दी है। इसलिए यह उचित ही होगा कि हमारा संविधान हमेशा इस अंतरराष्ट्रीय आयाम को अपने मस्तिष्क में रखे। हम विश्व के साथ दोस्ताना पहल करना चाहते हैं। हम सभी देशों से मित्रता चाहते हैं। विचलित कर देने वाले इतिहास के बावजूद हम इंग्लैंड से मित्रता रखना चाहते हैं।" संविधान के उद्देश्य पत्र में पं नेहरू का यह कथन स्पष्ट करता है कि भारत ने अपनी शुरुआत खाली स्लेट से की और सारे आग्रहों, पूर्वाग्रहों और दुराग्रहों को दरकिनार कर संविधान की रचना का कार्य शुरू किया। उद्देश्य पत्र पर सहमति जताते हुए पुरुषोत्तम दास टंडन ने कहा था, "हम अपने पुरातन काल में "अशोक" के समय के सदन को याद कर सकते हैं। वे दृश्य हमारी आँखों के सामने आ जाते हैं। हमें अमेरिका, फ्रांस और रूस जैसे देशों के सदनों की जानकारी भी है। यह सभी स्वतंत्र राष्ट्र संविधान के ढांचे (Framework) में ही कार्यरत हैं। हम भी अपना संविधान निर्माण करने के लिए यहां इकट्ठे हुए हैं। हम अन्य देशों के साथ सहयोग चाहते हैं। हम अकेले नहीं रहना चाहते। हम सम्मानपूर्वक इस विश्व का हिस्सा बनना चाहते हैं। हम अन्य राष्ट्रों के साथ सहयोग करके उनकी संकट में मदद करना चाहते हैं। हम आज जो करने जा रहे हैं, वह विश्व में महान घटना मानी जाएगी और यह विश्व के विकास में मददगार सिद्ध होगी।"

तो, यह भारतीय संविधान के निर्माण की भूमिका है, जिसका दृष्टिकोण वैश्विक है। गौर करिए भारत का एक हिस्सा अलग राष्ट्र पाकिस्तान बन गया था, लेकिन उसके प्रति भी कोई कटुता या बैरभाव संविधान सभा प्रकट नहीं करती। वस्तुतः विश्ववाद का यह विचार एकाएक नहीं आया। इसके पीछे भारतीय सभ्यता और संस्कृति की लंबी यात्रा रही है। इस लंबी यात्रा को संक्षेप में समझते हैं,

ऋग्वेद में एक शब्द आया है, "वैश्वानर" यानी "विश्व मानव"। अतः भारतीय संस्कृति विश्व मानव की संस्कृति है। इसका सीधा सा अर्थ है पूरे संसार में जितने भी मानव अंश या नस्ल हैं उनकी भारत में मौजूदगी रही है। एक अर्थ में भारत छोटा विश्व ही है। अतः हमारी राष्ट्रीयता "भारतीय राष्ट्रीयता" के दायरे में बंध कर नहीं रह सकती। इसे अंतरराष्ट्रीयता का रूप देना अनिवार्य है और हमारे पुरखों ने ऐसा किया भी। तभी तो हमारा संविधान ऐसा बन पाया। हमें साधारण राष्ट्रवाद से ऊपर उठाना ही होगा। संविधान बंधुता की भी बात करता है। गौरतलब है हमारे यहां "वंदे मातरम" काफी लोकप्रिय है। परंतु रवींद्रनाथ टैगोर कहते थे, "हमें वंदे मातरम की तरह "वंदे भ्रातरम" भी कहना चाहिए। वंदे मातरम तो सभी कहते हैं, परंतु वंदे भ्रातरम कोई नहीं कहता। भाई-भाई आपस में लड़ते रहें तो क्या माँ को अच्छा लगेगा? इसलिए सब भाइयों को प्रेम से रहना चाहिए। सब भाई-भाई की तरह रहें।" यदि परिपूर्णता में देखें तो भ्रातत्व में भी समानता की कमी रह जाती है। इसे लेकर भी ऋग्वेद ने एक बेहतर सुंदर वाक्य की रचना की है, "अन्येष्ठास: अकनिष्ठास: एते संभ्रातरों वावृधु" अर्थात भाई-भाई के बीच भी कोई बड़ा कोई छोटा होता है। तो हम ऐसे भाई होंगे कि हमारे बीच न कोई छोटा होगा न कोई बड़ा" यही विश्वबंधुत्व की भावना भारतीय संविधान में भी छलकती है। इसमें समता, समानता, बंधुता और विश्व बंधुत्व की भावना की पीछे यही विचार कार्य कर रहा है।

वहीं तुलसीदास कहते हैं, "विश्व विकाशी काशी" यानी सारे विश्व को विकसित करने वाली, सारे विश्व को प्रकाश देने वाली काशी नगरी है। इसी तरह भारतीय दर्शन का दोहरा विचार है। पहला मैं सर्व (सबमें) मैं हूं और दूसरा है मुझमें सर्व (सब) हैं। यह एक बेहद रचनात्मक सूत्र वाक्य है। वहीँ काशी से जुड़े सारनाथ में बुद्ध ने कहा था, "बैर से बैर नहीं मिटता। अबैर से का नाश होगा। निबैरता में ही शक्ति निहित है।" वहीं वर्तमान वैश्विक आचरण हमारे आपके सामने है। इसीलिए भारतीय संविधान शांति और मध्यस्थता के माध्यम से विश्व को संचालित करना चाहता है। अपनी प्रस्तावना में संविधान प्रत्येक मानवीय मूल्य का समावेश करता है।

भारतीय संविधान के निर्माण के 75 वर्ष हो गए हैं। इस दौरान वैश्विक परिस्थितियों में बड़ी तेजी से परिवर्तन आया है। दर्शन (Philosopy) एक शाखा कहती है, "दरअसल ज्ञान और विचार कमान से निकल गए तीर हैं। एकबार छूट गए तो वापस नहीं आ सकते। हम कहते हैं, शस्त्र खतरनाक है, उन पर नियंत्रण रखना चाहिए। परन्तु अब शास्त्रों पर नियंत्रण रख पाना असंभव है। वे बढ़ते ही जायेंगे। सवाल उनके दुरूपयोग को रोकने का है। अब अग्नि को ही लें। आप इससे घर जला सकते है और खाना भी पका सकते है। उपयोग तो हम पर ही निर्भर है। जब,मनुष्य एक शक्ति खोज लेता है, तो उसे दिमाग से बाहर निकाल पाना उसके बस में नही रहता। इसका समाधान इसी में है कि ज्ञान का जितना विस्तार हो उसी के सामानांतर प्रेम और सहयोग को भी उसी मात्रा में बढाये जाने की जरूरत है। भारतीय संविधान का निर्माण द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति के करीब 15 महीनों बाद शुरू हुआ था। अतएव भारतीय मनीषियों के मन में दूसरे विश्वयुद्ध की व्यापकता, हिरोशिमा-नागासाकी की विभीषिका (परमाणु विस्फोट) और यहूदियों का कत्लेआम सजीव था। दूसरे विश्वयुद्ध की अवधि में यूरोप की शांति स्थापना को लेकर महात्मा गांधी से अपेक्षा भी उनके सामने थी। इसलिए, वे भारतीय हस्तक्षेप के महत्व को समझ पा रहे थे। वे एक ऐसी दुनिया रचना चाहते थे, जहां न्यूनतम टकराव हो और यदि हो तो विवाद आपसी बातचीत और मध्यस्थता से सुलझा लिया जाए।

एक चीनी दार्शनिक ने बताया कि पच्चीस सौ साल पहले लोग इतने संतुष्ट रहते थे कि कभी अपना गांव छोड़कर बाहर नहीं निकले। वे जब कभी कुत्तों की आवाज सुनते तो अंदाज लगाते कि कुछ दूरी पर दूसरा गांव है। परंतु वे वहां कभी गए नहीं क्योंकि इसकी जरुरत ही नहीं पड़ी। उनमें न आपस में बैर था न प्रेम। लेकिन आज? हमारा आपसी प्रेम ख़त्म हो रहा है। पड़ौसी से भी प्रेम न के बराबर है। हजारों किलोमीटर दूर स्थित अमेरिका, रूस, फ्रांस, ब्रिटेन, जापान आदि हमारे मित्र हैं और हमारे पडौसियों, पाकिस्तान, चीन, बांग्लादेश, म्यांमार, नेपाल, श्रीलंका, मालदीव, से हमारे मधुर संबंध नहीं है। गाजा में हजारों बच्चों सहित अनगिनत लोगों की हत्या हो रही है। हम चुप हैं। इन हत्याओं से अब हम दुखी नहीं होते। अब तो हमें शायद गुस्सा भी नहीं आता। इजरायल को अपने से 2500 किलोमीटर दूर ईरान खतरा है। परन्तु फिलिस्तीनियों को वह मनुष्य ही नहीं मानता। हम यदि पडौसियों को ही मित्र नहीं बना पा रहे हैं तो विश्व शांति में कैसे योगदान देंगे?भारतीय संविधान का अनुच्छेद-51 यही सब तो समझा रहा है। सवाल मानवीय गरिमा का है।

विनोबा "जय जगत" कहते हैं। वे समझाते है "भारत विचित्र सा राष्ट्र है। महाराष्ट्र, कर्नाटक, तमिलनाडु, का निवासी स्नान करने कावेरी, तुंगभद्रा या गोदावरी में जाता है। इसके बावजूद कहता है, कि "मैं गंगास्नान को जाता हूँ।" ज्ञानदेव कहते हैं, "भागीरथ की तरह गौतम के लिए भी भगवान ने गंगा भेजी है।" गौतम की गंगा गोदावरी है। इतना ही नहीं भारत में घरों में नलों के जल से नहाने वाला ब्यक्ति जिस बर्तन का उपयोग करता है उसे लोग "गंगाल" यानी गंगालय ही पुकारते हैं। यानी संतुष्टि भाव से ही जीवन जीना होगा। हमें वर्तमान संक्रमित नारों से बचना होगा और अखिल-विश्व-मानव-कृति जो हमारी सांस्कृतिक देन है, उसे अपनाना होगा।" हमें यह भी समझना होगा कि भारत एक अपनापन से भरा राष्ट्र है, जहां दुनिया भर से मुख्तलिफ़ कौमें आईं। लोगों को यह गलतफ़हमी है कि यहां सभी हमलावर बनकर ही आए। कई आश्रय की खोज में भी यहां आए। ईसा मसीह की मृत्यु के 70-80 वर्षों के भीतर सेंट थामस यहां आ गए थे। ईसाई धर्म पहले भारत में आया उसके बाद यूरोप में पहुंचा। पारसियों ने यहीं शरण पाई। शक, हूण, यवन, गुर्जर, मुस्लिम, मुग़ल भले ही आक्रमणकर्ता होकर यहां आए हों, पर यहां के सहजीवन की धारणा में समाहित हो गए। संभवतः विश्व मानुष्य के बाद "विश्व पुष्ट ग्रामे अहिमन्नातुरुम" यानी हमारे गांव परिपुष्ट विश्व बने की भावना ने उपरोक्त सभी को यही का बना लिया। भारतीय संस्कृति जड़ों में वापसी की संस्कृति है और भारतीय संविधान उन जड़ों को पुष्ट करता है जहां विश्व लौट सके।

पेरीक्लीज ने अपने प्रसिद्ध उद्बोधन "फ्यूनरल ओरेशान" में कहा था, "नीति तय करने वाले लोग तो थोड़े ही होते हैं, मगर

उनका खरा-खोटा पन देखना जानना, कहना हर आदमी का काम और हक़ है। भारतीय संविधान के निर्माता खरे लोग थे, तभी तो हम आज इस स्थिति में पहुंच पाए हैं। भारतीय संविधान विश्वशांति और वैश्विक भाईचारे की बात समझाता है। इतना ही नहीं वह इस हेतु प्रयत्न करने का प्रावधान भी करता है। इसीलिए संविधान की रक्षा की जानी चाहिए। इसका दायरा बढे और परिवर्तन हों तो बेहद ध्यान से। संविधान काटने-छांटने, जोड़ने-मरोड़ने अपने जैसे बौने कद में बदल दिए जाने की चीज नहीं है। हमें सोचना होगा कि ऐसे कौन-कौन से उपाय होना है जो संविधान में नहीं हैं, संविधान से बाहर हैं, मगर फिर भी जो स्वतंत्रता और व्यक्ति के विकास से मेल खाते है। हमें यह निश्चित कराना होगा कि हमारे नियम-कानून आदमी की आजादी को सहारा देकर आगे बढ़ाएं।

महात्मा गांधी ने जीवन में दो बातें पकड़ी। "सत्यवदधर्मचर" यानी सच बोलों और सही आचरण करो। इसी के दृष्टिगत उन्होंने भारत की स्वतंत्रता की अलख को ब्रिटेन में भी जलाए रखा। एक गुलाम देश का बाशिंदा शासक या मालिक के देश में जाकर भी अपने देश की स्वाधीनता की बात करता है और हजारों लोग उसे सुनते हैं और उससे सहमति जताते हैं। यही निडरता भारतीय संविधान में परिलिक्षित होती है। आज सारी दुनिया पुनः युद्ध और अशांति का शिकार होती जा रही है। क्या भारत के नीति निर्माता भारतीय संविधान का पुनर्पाठ कर अपनी जिम्मेदारी को निभाने करने को तैयार होंगे? शायद नहीं। ऐसा क्यों होगा, यही हम सबको समझना है।

आदम गोंडवी की पंक्तियां हैं:

यक्ष प्रश्नों में उलझ कर रह गई बूढ़ी सदी,
यह परीक्षा की घड़ी है क्या हमारे व्यास की?

Offline and Left Behind: India's Battle for Digital Equality

Deshdeep Saxena

Seventy years ago, in 1955, Dr. Bhimrao Ambedkar, in an interview with the BBC, expressed deep concern about inequality. He warned that democracy would not function under "a social structure that is not compatible with parliamentary democracy." At the time, Ambedkar was referring primarily to social and economic inequality. Seven decades later, the crisis has not only intensified but has also acquired new dimensions.

Beyond equality, the constitutional values of justice, liberty and fraternity are intended to promote the unity and integrity of the nation. However, in recent times a large segment of society-including politicians and public officials-appears to lack the spirit of these values. To make matters worse, those who are meant to be their custodians often emerge as the principal violators.

Social Regression

India has a long-standing history of inequality particularly affecting the poor and marginalized. For centuries, these groups were denied justice and liberty in various forms. The element of fraternity was consistently absent. As time passed and the nation progressed from one century to another, societal attitudes remained largely unchanged perpetuating multiple forms of discrimination. In the current political era, the situation appears to be regressing resulting in a significant erosion of these core constitutional values.

In recent years, India has witnessed a concerning shift in its political and social landscape-one that threatens the foundational ideals enshrined in the Constitution. While the Constitution of India promises justice, liberty, equality and fraternity to all citizens, the lived experiences of many-particularly the poor, marginalized castes, religious minorities and tribal communities-tell a different story.

Political discourse has increasingly polarized public opinion, often deepening existing societal divides rather than bridging them. Laws and policies-both enacted and proposed-have at times appeared to prioritize majoritarian interests over individual rights, sparking widespread debate about the health of India's democratic ethos.

Crackdowns on dissent, restrictions on press freedom and the marginalization of critical voices point to a shrinking democratic space. As a result, the lofty constitutional values once envisioned

Introduction

Journalist, author, and blogger Deshdeep Saxena has been in the profession for over three decades. He has worked in both broadcast and print media. Since leaving The Times of India in 2022, he has been working as an independent journalist, contributing to The Quint, Mongabay-India, and other platforms. Deshdeep Saxena was a Fellow in the second year of the Fellowship and joined the programme as a Mentor in the third year. Deshdeep Saxena, in his fellowship, has analysed the status of Scheduled Castes and Scheduled Tribes in the light of constitutional values.

by the framers of independent India now seem under siege-not by external forces, but from within the very system meant to protect them.

Take, for instance, the Hathras case of 2020, where a Dalit woman was brutally assaulted and her body was cremated by authorities without the family's consent-allegedly to suppress caste-related outrage. This case highlighted not only the persistence of caste violence but also how institutions sometimes fail to protect the most vulnerable. The arrest of Siddique Kappan, a Kerala-based journalist who was on his way to cover the infamous Hathras case, further underscores the violation of a core constitutional value: freedom.

In August 2023, the lynching of 18-year-old Dalit youth Nitin Ahirwar by influential villagers in Sagar district caused a sensation. His mother, who tried to save him, was also beaten and stripped and their home was looted and destroyed. But his sister Anjana, an undergraduate student, fought bravely against the perpetrators, who were allegedly backed by a former home minister of the state.

In late May 2024, Nitin's uncle, Rajendra Ahirwar, was murdered-another chilling episode in a series of targeted acts against their family. Accompanying his body was Anjana, a fierce and unyielding voice for justice. She died under suspicious circumstances, reportedly after "falling" from the hearse. But those who knew Anjana understand that her death was not an accident-it was the culmination of years of resistance. Since 2019, she had been fighting back against molestation and harassment, challenging the entrenched power of the privileged with nothing but her courage and conviction. All she and her family ever asked for was dignity and equality. That demand, simple and just, was met with silence, denial and ultimately, tragedy. Anjana endured and resisted until the very end-longing for justice that never came.

Let us not reduce her to another statistic, another name in a footnote of a report. Let us remember her as she truly was-a woman who fought for dignity and refused to bow. If her struggle teaches us anything, it's that the demand for equality is still seen as an act of defiance-and that's the injustice we must all confront.

India's deep inequalities aren't new. For centuries, entire communities were excluded from schools, temples, land ownership and justice systems. The caste system ensured that opportunity remained tightly controlled. Colonial rule added another layer of exploitation.

After independence, the Constitution tried to reset the clock. It banned untouchability, guaranteed rights and introduced affirmative action. But society didn't change overnight. While we've made progress, many of those old attitudes still linger beneath the surface-and sometimes, right out in the open.

Why Fraternity Matters More Than Ever

Of all the values in the Constitution, fraternity is probably the least understood and the least practiced. It's not about being best friends with everyone-it's about treating each other with basic respect and a sense of shared belonging. In a country as diverse as India, that's not just idealism-it's survival. When people are divided by religion, caste or language, when hateful speech spreads faster than facts and when violence becomes normalized, we lose the sense of unity that fraternity stands for. Without that unity, liberty and equality can't thrive.

Fraternity means standing up for each other's rights, even when we don't share the same background. For example, when citizens across religious lines formed human chains in solidarity during the anti-CAA protests, it was a powerful display of unity. The way Sikh communities con-

sistently run langars (community kitchens) for people of all faiths or how people across India donated oxygen cylinders and hospital beds during the COVID-19 crisis without asking who they were helping-these are examples of fraternity at work. Even simple acts like speaking out against caste-based discrimination in schools or workplaces show that the idea of brotherhood isn't abstract-it's real and it's necessary.

Lessons from the Pandemic: A Harsh Exposure of Inequality

The COVID-19 pandemic laid bare the consequences of digital disparity in India. As schools, offices and public services shifted online, the digital divide became more than an economic or technological issue-it became a human rights crisis.

Children from affluent urban families transitioned to online learning with relative ease, accessing virtual classrooms via laptops, high-speed internet and educational software. In stark contrast, millions of students in rural and low-income households were forced out of the education system. Lacking devices, connectivity or even basic digital literacy, these children were effectively excluded from their right to education.

For many parents, the cost of a smartphone or an internet data pack was a luxury they could not afford. Teachers too often lacked the training and infrastructure to adapt to online platforms. This digital exclusion created a generational setback that the education system is still struggling to recover from.

Moreover, during lockdowns-when access to healthcare and essential government services moved online-those without digital access were left in the lurch. Even post-pandemic, the transition to digital-first service models has continued unabated, frequently at the expense of in-person alternatives.

Technology and Inequality: A New Frontier of Exclusion

Amid social regression and a visible digital divide during and after the pandemic, there has been considerable technological advancement-particularly in communication. In a time when technology has revolutionized nearly every aspect of human life-from how we communicate and learn to how we bank, work and access healthcare-India stands at a crucial crossroads. On one hand, the nation has made remarkable strides in digital innovation and connectivity. On the other, deep digital inequality continues to marginalize large sections of the population, further widening the socio-economic divide.

In addition to the unaffordability of essential digital tools such as smartphones, laptops and computers, a significant portion of the population remains digitally illiterate. A large number of people in India still lack access to the internet.

Several studies have examined digital inequality. Defining digital literacy in 2023, the Dattopant Thengadi National Board for Workers Education & Development, under the Ministry of Labour & Employment, stated: "If at least one person in the household has the ability to operate a computer and use the internet (among individuals who are 5 years of age and older), the household is defined as digitally literate."

The Board's report revealed that only 38% of households in India are digitally literate. In urban areas, digital literacy is relatively higher at 61%, compared to just 25% in rural areas. By occupational profile in rural India, households that reported receiving regular wages or salaries from non-agricultural occupations have the highest percentage of digitally literate households at around 53%.

In contrast, casual workers in the agriculture sector have the lowest level of digital literacy at just 13%. Scheduled Tribes have the lowest overall digital literacy at the household level, at 21%.

Initiatives such as the Pradhan Mantri Gramin Digital Saksharta Abhiyaan (PMGDISHA) were launched with the goal of making six crore people in rural India digitally literate. Touted as the world's largest digital literacy programme, PMGDISHA was launched in 2017 with the aim of reaching 60 million rural residents. As of 2023, approximately 2.76 crore candidates have been certified as digitally literate under the scheme. A report noted that the programme aims not only to bridge the digital divide but also to enhance the livelihoods of beneficiaries through the use of technology.

A 2024 study by the Centre for Economic and Social Studies (CESS) found that, on average, only 12% of individuals over the age of 15 in India are computer literate or possess information and communication technology (ICT) skills.

The study, titled Inequalities in Computer Literacy in India, was conducted by Prof. Chakradhar Jadhav, Assistant Professor in the Department of Economics at CESS, and Prof. Prashant Kumar Choudhary from the Department of Public Policy at the Manipal Academy of Higher Education. It revealed that while 15.6% of Indians can send emails with attachments, only 1.4% are able to write a computer program using a specialized programming language. The study analyzed data from the 78th round of the National Sample Survey (NSS) 2020–21, which covered 11.75 lakh respondents across 2.76 lakh households throughout India.

Another report, **The India Inequality Report 2022:** Digital Divide by Oxfam-a global movement of people working to end poverty and injustice by tackling inequality-sheds light on the impact of the digital divide on inequality in India during the pandemic. It identifies the lack of access to Information and Communication Technologies (ICT) as a major driver of this divide and points out that approximately 70% of the population has poor or no connectivity to digital services. Government schemes such as BharatNet, which aim to provide digital connectivity in rural India, have also failed to deliver effective results. Among the poorest 20% of households, only 2.7% have access to a computer and just 8.9% to internet facilities.

The report also highlights the social, political and environmental factors that determine who goes online, for how long and who doesn't. For instance, only 38% of households in the country are digitally literate. Additionally, just 31% of the rural population uses the internet compared to 67% of the urban population.

It is also worth noting that conventional literacy demonstrates a significant gap between urban and rural areas. According to the 2011 Census, the overall literacy rate in India was 74.04%, with 84.11% in urban areas and 67.77% in rural areas.

Yet another report, DIGITAL 2025: INDIA, produced by DataReportal-an online reference platform offering data-driven insights-stated that as of January 2025, India had 806 million internet users. "This means that India's internet penetration rate stood at 55.3% of the total population at the start of the year," the report revealed. These figures also suggest that 652 million people in India remained offline at the beginning of 2025, representing 44.7% of the population. India's total population stood at 1.46 billion in January 2025.

Furthermore, significant disparities in internet access persist. According to the Indian Telecom Services Performance Indicator Report, the country has a tele-density of 84.45%, but only 58.29% of rural areas are connected to the internet. Moreover, just 4.25% of Indians have access to wired broadband.

The total number of internet subscribers decreased from 971.50 million at the end of September 2024 to 970.16 million at the end of December 2024, registering a quarterly decline of 0.14%. Of the 970.16 million internet subscribers, 41.21 million were wired and 928.96 million were wireless, the report said.

Despite boasting one of the largest populations of internet users in the world, India continues to face a stark digital divide-one that not only limits access to essential services but also threatens the dignity and rights of millions. More concerning is that this gap is not evenly distributed. It disproportionately affects rural areas, economically marginalized groups, women, persons with disabilities and senior citizens. Access to smartphones, laptops, reliable electricity and broadband remains elusive for many, and digital literacy is another significant barrier.

In essence, while India has embraced the digital revolution, a significant portion of its population has been left behind-unable to participate meaningfully in this transformation.

However, in a landmark decision in April 2025, the Supreme Court of India recognized digital access to services as a fundamental right, opening a new chapter in the ongoing struggle for digital equity.

The Language and Accessibility Challenge

Even when infrastructure exists, accessibility issues persist. Most digital platforms in India-especially in the banking, health and government sectors-are predominantly available in English or Hindi, limiting access for those who speak regional languages or dialects.

Further, digital interfaces often assume a level of literacy, visual ability and technological familiarity that many citizens-especially older adults or persons with disabilities-do not possess. This can render critical services like telemedicine, digital payments or government portals effectively inaccessible.

The user experience of these platforms is rarely inclusive. For instance, a blind person navigating a website without screen reader compatibility or a senior citizen attempting to complete an online KYC (Know Your Customer) verification without biometric capabilities often finds themselves excluded-not due to any personal failing, but because of poor design and lack of consideration.

These statistics point to a glaring digital infrastructure deficit in rural and remote areas. Even when mobile internet is available, network speeds are inconsistent and power outages or data caps can limit usage.

The digital divide is not unique to India. The United Nations Development Programme (UNDP) estimates that 2.6 billion people globally remain offline, with the vast majority residing in developing nations.

The UNDP has acknowledged the severity of the digital crisis, particularly in developing and underdeveloped countries. In its Sustainable Development Goal (SDG) Digital Acceleration Agenda, the UN agency stated:

“The recent breakthroughs in digital technology have unleashed unprecedented opportunities and with them new avenues for digital innovation in our race against time to fulfil the promise of the 2030 Agenda-our global community’s shared plan for a greener, more sustainable and more inclusive future for all.”

“With 2.6 billion people globally still offline, unable to take advantage of our ever-accelerating digital world, the International Telecommunication Union (ITU) and the United Nations Development

Programme (UNDP) are driving new efforts to ensure that everyone can benefit from the ongoing digital transformation, including through universal and meaningful connectivity."

Bridging digital divide imperative for life of dignity

In a landmark development from India's perspective, the Supreme Court of India on April 30, 2025, recognized digital access to services as a fundamental right. This ruling is expected to mark a turning point in ensuring equitable access to digital infrastructure for disadvantaged groups.

The bench of Justices J.B. Pardiwala and R. Mahadevan was hearing two Public Interest Litigations (PILs), in which the petitioners' physical disabilities-rather than financial or educational limitations-impeded their access to digital services. One petitioner, an acid attack survivor with severe facial disfigurement, failed to pass her bank's Know Your Customer (KYC) process because she was unable to blink-an RBI-mandated biometric requirement. The other petitioner was 100% visually impaired. While the petitions initially sought modified KYC norms, the Supreme Court addressed the broader issue of digital inclusion.

The Court held that the right to life and liberty under Article 21 of the Constitution encompasses the right to live with dignity and to earn a livelihood. By bringing digital access to services under Article 21-on the grounds that access to essential services, governance, education, healthcare and economic opportunities is increasingly mediated by digital platforms-the Court declared:

"Bridging the digital divide is no longer a matter of policy discretion but an imperative for a life of dignity."

It further invoked the principle of substantive equality, underscoring the need to address the structural roots of inequality.

While the Supreme Court has taken a decisive step in affirming the right to digital access, the onus now lies on the government to implement comprehensive and inclusive digital reforms.

Conclusion: Toward a More Inclusive Digital Future

India's digital revolution has been both inspiring and incomplete. While we celebrate our status as a global tech hub and a leader in digital payments, we must also confront the reality that millions of our fellow citizens remain excluded from the digital world.

The Supreme Court's decision is not just a legal milestone-it is a moral compass. Digital access is no longer optional or aspirational; it is a constitutional right. Failure to provide equitable access can now be challenged in courts. What we need next is inclusive policy design for public digital infrastructure-one that prioritizes accessibility, affordability and language diversity.

Legal experts note that this will also require increased budget allocations, enabling the government to significantly invest in broadband expansion, digital literacy and tech-for-good initiatives. Additionally, the private sector-including banks, telecom service providers, ed-tech firms and others-must ensure their platforms are more inclusive and compliant with accessibility standards.

This ruling reaffirms that technology must serve humanity, not deepen divides. It reminds us that access to the internet, digital platforms and essential online services is not a luxury, but a necessity-for dignity, equality and opportunity.

The road ahead will be challenging, but it is also filled with promise. If India can harness its technological prowess to build an inclusive digital society, it won't just uplift the marginalized-it will unlock the full potential of over a billion people.

And that, in the truest sense, would be a Digital India worth celebrating.

Looking at the Values Espoused By the Indian Constitution Through a Lens of Buddhism

Guru Sharan Sachdev

The Indian Constitution, often hailed as a transformative social contract, articulates a vision rooted in justice, equality, liberty, and fraternity. These foundational values are not merely legal constructs; they are deeply intertwined with India's civilizational ethos. Amongst the many philosophical traditions that have influenced India's moral and ethical imagination, Buddhism stands out for its profound emphasis on compassion, non-violence, interdependence, and mindful governance. This article explores how the values enshrined in the Indian Constitution resonate with Buddhist principles, offering a lens through which constitutional ideals may be not only interpreted but embodied.

Introduction

Guru Sharan Sachdev is a management consultant and governance advisor with nearly five decades of experience spanning industry and the social sector. He has facilitated health sector reforms and mentored state governments in Madhya Pradesh and Odisha, as well as UNICEF, DfID, and civil society institutions. Presently, he is serving as a Mentor at Vikas Samvad Samiti towards contributing across institutional development, strategic communication, and knowledge management.

Values Enshrined in the Constitution of India

The longest written Constitution in the world, the Indian Constitution lays down the basic structure and the framework of India's polity. It is built on the foundations of certain fundamental values that have been embedded in it by the makers of the Constitution to ensure that there should be fairness and justice for every citizen of India. The inclusion of the Fundamental Rights in the Constitution seeks to further this thought. Its role is to provide fundamental guarantees and freedoms for every individual or community to live with dignity. It seeks to reinforce the values which the Indian society has upheld for centuries. Dr B R Ambedkar said, "Constitution is not a mere lawyers' document. It is a vehicle of life, and its spirit is always the spirit of age". Nehru, in his speech titled, 'Tryst With Destiny', delivered after midnight of 14th August 1947 had said, "We have to build the noble mansion of free India where 'ALL' her children may dwell". Notably, this mansion needs to be built by its dwellers, all of them, and all of us, and only then the country can be united and free and equal in the truest sense.

The Preamble to the Constitution of India states: "We, the people of India having solemnly resolved to constitute India into a Sovereign, Socialistic, Secular, Democratic, Republic and to secure all its citizens: Justice, social, economic and political; Liberty, of thought, expression belief, faith and worship; Equality, of status and of opportunity; and to promote among them all; Fraternity, assuring the dignity of the individual and the unity and integrity of the Nation; in our Constituent Assembly this twenty-sixth day of November, 1949, do hereby adopt, enact and give to ourselves this Constitution." Thus, our Constitution lays down that in the eyes of law everyone should have equal status, to no one justice be denied, everyone should have liberty of thought and expression, and to practice his own faith and belief, and the dignity of each individual should be ensured. The

basic values enshrined in the Constitution are Democracy, Socialism, and Secularism which emphasize the following principles:

1. **Democratic principles** such as freedom, equality, tolerance, readiness to see the other's point of view, willingness to give and take, ability to adjust in and work with the groups,
2. **Socialist principles** such as respect for and commitment to equality in status and opportunity, maximizing production and wealth and equitable distribution of wealth, and
3. **Secular principles** such as respect for all religions, freedom of worship, and readiness to see and manage civic affairs without reference to religion.

Baba Saheb Ambedkar wanted to establish a harmonized Indian nation through the constitutional values, because he could realize that the lofty ideals of the Constitution would remain unfulfilled if the inherent contradictions of the society are not effectively addressed. It is here that the teachings of Buddha become a strong point of reference for addressing the inherent contradictions in the Indian society.

What is Dhamma?

Unlike other religions where the founders have sought to claim divinity for themselves and their revelation and/or salvation, Buddha believed that the principle must live by itself and not by the authority of man.

Dhamma, Buddha's religion is not a revelation. He looked at his religion as a discovery. He sought to relate the discovery as the result of inquiry and investigation into the conditions of human life and gaining an insight into the working of human instincts with which the man is born, the way these are moulded over time resulting in the occurrence of dispositions – affecting him and those around him. He called upon the people to become well-versed in the practice right behavior. "When you hear a sound with the ear, or smell a scent with the nose, taste a taste with the tongue, or with body touch things tangible, and when with mind you are conscious of a thing, be not charmed with its general appearance or its details", Buddha states. The essence is on being possessed with mindfulness and self-control.

To maintain purity of life, to reach perfection in life, to give up craving, to believe that all compound things are impermanent, live in Nibbana (exercising enough control over passions so as to enable one to walk on the path of righteousness) and to believe that Karma (the duty) is the instrument of moral order is DHAMMA. The purity of life is further manifested in purity of body (abstaining from taking life, from sinful living, from stealing. It also reflects in purity of speech – staying away from falsehood. Likewise, the purity of mind has to do with being aware of covetous or malevolent of heart. Abandoning the malevolence recurring not in future forms the practice of securing and sustaining purity of mind.

What is Saddhamma?

Cleansing the mind of its impurities and making the world a kingdom of righteousness comprise the functions of Saddhamma. Dhamma is Saddhamma when it makes learning open to all, it teaches that merely learning is not enough (so as to avoid sophistry) and that when it teaches that what is needed is Pradanya (insight). Buddha also draws attention to the fact that for Dhamma to be Saddhamma, it must promote Maitri (fellowship) from the perspective of 'Sheel' (moral grace) alongside Karuna (compassion).

[1] The references to Buddha's teachings have been drawn from the book by Dr B R Ambedkar, titled, 'The Buddha and his Dhamma', 1956.

He calls for the preponderance of Maitri over and above Karuna. Buddha further calls for the need to pull down all social barriers – breaking down the barriers between man and man, teaching that 'worth' is the measure of man and not the 'birth' and that Dhamma to be Saddhamma must promote equality between man and man.

Historical Confluence: Dharma and Constitutional Morality

The term "Dharma" in Buddhist thought transcends religious dogma-it represents the natural law, the moral order of the universe, and the ethical compass guiding human conduct. When Dr. B.R. Ambedkar, a prominent architect of the Indian Constitution and an ardent follower of Buddhism, referred to "constitutional morality," his invocation was akin to a modern form of Dharma-a commitment to higher ethical principles governing statecraft and citizenship. Buddhism's historical appeal to rationality, egalitarianism, and ethical self-restraint played a catalytic role in shaping Ambedkar's critique of caste and his vision for a just society. The Constitution thus becomes a secular vehicle for values that are, in essence, deeply spiritual and humanistic.

Justice: From Legal Remedy to Compassionate Equity

The Preamble to the Indian Constitution begins with the promise of Justice-social, economic, and political. In Buddhism, justice is not punitive but restorative. It seeks balance through compassion and understanding. The principle of Karuna (compassion) urges action not only to alleviate suffering but to restructure systems that cause it.

- **Social Justice** aligns with the Buddhist rejection of caste and hierarchy. The Buddha's Sangha accepted individuals irrespective of social status, making equality a cornerstone of communal life.
- **Economic Justice,** viewed through the Middle Way, discourages both extreme austerity and indulgence. It emphasizes equitable distribution and mindful consumption-values mirrored in state-led welfare provisions and redistributive policies.
- **Political Justice** echoes the Buddhist ideal of Bhikkhu Sanghas-deliberative assemblies that practiced consensus and ethical governance, prefiguring democratic institutions.

Liberty: Liberation from Suffering and Tyranny

The Constitution guarantees liberty of thought, expression, belief, faith, and worship. Buddhism's approach to liberty centers on liberation from Dukkha (suffering), rooted in ignorance, craving, and attachment. Spiritual liberty is inseparable from social freedom.

- Freedom of thought and expression aligns with the Buddha's invitation to question, debate, and experiment with ideas. The Kalama Sutta, which encourages critical thinking and rejection of blind faith, echoes the spirit of free inquiry enshrined in Article 19.
- Freedom of belief and worship is supported by Buddhism's pluralism. The Buddha taught in a way that accommodated local contexts, encouraging diverse pathways to truth. This tolerance reinforces India's secular ethos.

In both frameworks, liberty is not license-it is the outcome of ethical discipline and mindfulness, exercised with regard to others' dignity.

Equality: Dismantling Structural Oppression

Equality-before the law and in opportunity-is another cardinal constitutional value. Buddhism's

egalitarian impulse is evident in its radical rejection of Brahmanical supremacy and its opening of monastic life to all castes and genders.

- **Gender Equality** finds precedent in the inclusion of nuns in the Sangha, even though historical debates around patriarchy persist.
- **Caste Abolition** was not merely symbolic in Buddhist practice-it was structural. The Buddha's teachings centered human worth around ethical conduct, not birth.
- **Universal Personhood,** upheld by the Constitution's Articles 14 to 17, reflects the Buddhist perspective that all beings possess the potential for Bodhi-awakening-irrespective of social identity.
- **The Samata (equanimity) principle** in Buddhism fosters social relations free of pride and prejudice, much like the Constitution's vision of equality before law.

Fraternity: Interconnectedness and Collective Responsibility

Fraternity, a vital element of the Preamble, holds society together. It is a value that finds deep resonance in Buddhism through the doctrine of Pratītyasamutpāda (dependent origination), which teaches that all phenomena arise in relation.

- **Interdependence,** not individualism, is the basis for social harmony. The Sangha's ethic of mutual care shows how fraternity emerges from shared values and responsibilities.
- **Ahimsa** (non-violence) and Metta (loving-kindness) are practices that build solidarity, soften divisions, and nurture empathy-pillars for peaceful coexistence.
- **Social Cohesion** is fostered not through uniformity, but through recognition of difference and mutual respect, resonating with India's pluralist constitutional identity.

Buddhism's relational worldview enriches the constitutional imperative of fraternity, turning it into a lived ethic of community and compassion.

Secularism: Sacred Without Doctrine

India's secularism is distinctive-not a strict separation of religion and state, but a principled equidistance. Buddhism, often described as non-theistic or trans-theistic, provides a paradigm of spiritual practice without dogma. Its moral teachings are adaptable to civic life and do not depend on supernatural authority. This approach allows Buddhist ethics to inform public life in a secular framework. The Constitution's commitment to respect all faiths while privileging none mirrors Buddhism's inclusivity and ethical neutrality.

Democratic Ethos: Sangha as Prototype

The Sangha, a monastic and lay community governed by ethical consensus and debate, is an early form of participatory governance. Decisions were made collectively, with respect for dissent and process. The Rule of Law in the Constitution finds parallel in the Vinaya (disciplinary code), which governed the Sangha with procedural clarity and moral restraint. Representation and Dialogue were integral to Sangha deliberations, echoing the democratic ideals of equality in decision-making. Democracy in both traditions is not only institutional-it is spiritual, requiring mindfulness, empathy, and shared vision.

Key Values Espoused by Buddhism

- The premise of Buddhism rests on the belief that it is not a revelation. Rather, it is an inquest into the conditions of human life and gaining an insight into the working of human instincts and that people ought to become versed in the practice right behavior. The essence is on being possessed with mindfulness and self-control.
- Cleansing the mind of its impurities and making the world a kingdom of righteousness comprise the functions of Saddhamma.
- Buddha also draws attention to the fact that for Dhamma to be Saddhamma, it must promote Maitri (fellowship) from the perspective of 'Sheel' (moral grace) alongside Karuna (compassion). He calls for the preponderance of Maitri over and above Karuna.
- All social barriers must be broken down. Breaking down the barriers between man and man, teaching that 'worth' is the measure of man and not the 'birth' and that Dhamma to be Saddhamma must promote equality between man and man.
- Mere Morality is not Enough. It must be Sacred and Universal.

Toward a Dharma Constitutionalism

A Buddhism-inspired constitutionalism might emphasize:

- Restorative rather than retributive justice
- Mindfulness in policymaking
- Institutions grounded in empathy and sustainability
- Holistic inclusion of marginalized voices
- A civic culture anchored in compassion and interdependence

Such a model would not sacralize the state but humanize it-infusing law with lived ethics and mutual care. A constitutionalism inspired by Buddhist values would mean replacing adversarial legalism with restorative justice, cultivating empathy in policy-making, designing institutions that support mindfulness, simplicity, and sustainability, centering vulnerable voices through inclusive governance, and aligning developmental goals with compassion-driven ethics. In this light, Dharma constitutionalism is not about sacralising the state but rehumanizing it. It is about rooting legality in ethical relationality.

Conclusion

The Indian Constitution and Buddhism, though born in different eras, share a quest for justice, dignity, and peaceful coexistence. One offers a normative structure; the other, an ethical compass. Together, they illuminate a path where governance is not just a matter of laws but a practice of values-nurtured through empathy, equity, and presence.

Viewing the Indian Constitution through the lens of Buddhism offers a moral deepening of its values. It illuminates pathways where legal norms meet ethical wisdom, where justice becomes compassion, and where fraternity becomes interdependence. Both the Constitution and Buddhism offer a vision of life anchored in dignity, equity, and care. In an age marked by polarization and injustice, this convergence reminds us that a truly democratic society is not merely built-it is cultivated, with mindfulness and mutuality at its core.

विकास संवाद की एक चौथाई सदी की संविधान यात्रा

एन.के. सिंह

लगभग एक चौथाई सदी बीत गई, पर लगता है जैसे कल की ही बात हो। भोपाल में दैनिक भास्कर ज्वाइन किए मुझे थोड़ा समय ही हुआ था। एक दिन दफ्तर के मेरे कमरे में एक दुबला पतला, मद्धम स्वर में बात करने वाला, अपनी उम्र से बड़ा दिखने की नाकामयाब कोशिश करता एक शर्मीला नौजवान दाखिल हुआ। हाथ में लेखों का एक पुलिंदा, ऐसे लेख जो दिखते ही मुझे भा गए। वे लेख बुंदेलखंड के बदनाम सामाजिक-आर्थिक ताने-बाने के जमीनी दस्तावेज थे, जिसे आजकल हिंदी के अखबार वाले ग्राउंड रिपोर्ट कहते हैं। नपी तुली, सहज भाषा में एक संजीदा और सजग पत्रकार जैसी ऑब्जेक्टिव रिपोर्टिंग। उनमें आंकड़ों के आवरण जाल की तह में जाकर एक समाजशास्त्री की पैनी नजर से परिवर्तन को भांपने की कूवत झलक रही थी। उन लेखों के विषय वही थे जहां मैं अखबार को ले जाना चाहता था – खेतिहर मजदूरों का पलायन, देहात के दलित, महिलाओं के अधिकार, हाशिए पर धकेले जा रहे आदिवासी।

पी. सांईनाथ कहते हैं, ‘‘**हिंदुस्तान के देहात ‘इस ग्रह का सबसे जटिल हिस्सा’ हैं। एक रूरल रिपोर्टर की नजर अर्थशास्त्री की और समझ समाजशास्त्री की होनी चाहिए।**’’

उन लेखों में वही खूबी थी। लेखक थे सचिन कुमार जैन। परिचय हुआ। पता चला पत्रकार की नौकरी छोड़कर उन्होंने अपनी धूनी मध्य प्रदेश के देहाती इलाकों में रमाई है। दो दशक से ज्यादा हो गए, उनका चिमटा आज भी उसी जगह गड़ा है जिसके बारे में सुमित्रानंदन पंत ने कहा था:

भारतमाता
ग्रामवासिनी।
खेतों में फैला है श्यामल
धूल भरा मैला सा आँचल,
गंगा यमुना में आँसू जल,
मिट्टी की प्रतिमा
उदासिनी।

परिचय

40 वर्ष से अधिक समय तक पत्रकारिता में सक्रिय एनके सिंह नईदुनिया, इंडिया टुडे, हिंदुस्तान टाइम्स, इंडियन एक्सप्रेस, पीपुल्स समाचार, दैनिक भास्कर के कई संस्करणों में संपादन कार्य कर चुके हैं। एनके सिंह द्वारा उठाए गए विषयों पर सुप्रीम कोर्ट ने कई बार पहल की और पीड़ितों को न्याय दिलाने की शुरुआत की। इनमें पत्थर खदानों में काम कर रहे बंधुआ मजदूरों, मंदसौर में स्लेट-पेंसिल उद्योग के मजदूरों में सिलिकोसिस बीमारी, केसला फायर रेंज में बमों की खोल बीनने वाले गरीब कबाड़ियों का मुद्दा एक है। वे संविधान संवाद फैलोशिप के सम्मानित ज्यूरी सदस्य हैं।

'विकास संवाद' की 'संविधान यात्रा' एक चौथाई सदी पहले ही प्रारंभ हो गई थी – भले उसकी औपचारिक शुरूआत हाल के वर्षों में हुई हो। जिन विषयों पर 'विकास संवाद' ने अपनी शुरुआत से नजर रखी है, वे वही विषय हैं जो हमारे संविधान की आत्मा को छूते हैं; बाल अधिकार, नारी सशक्तिकरण, आर्थिक और सामाजिक समानता, धार्मिक स्वतंत्रता, मनुष्य की गरिमा और आजादी। मैं सौभाग्यशाली हूं कि इस यात्रा को मुझे लगातार करीब से देखने का मौका मिला है।

मैं मानता हूं कि मध्य प्रदेश की पत्रकारिता में सामाजिक सरोकार से सम्बंधित रिपोर्टिंग को जगह दिलाने में और गहन, शोधपरक पत्रकारिता को बढ़ावा देने में 'विकास संवाद' की लगातार कोशिशों का बड़ा योगदान रहा है। अखबारों की रिपोर्टिंग के लिए ऐसे विषय 'सेक्सी' नहीं समझे जाते, मार्केट में चलते नहीं हैं। अखबार आर्थिक रूप से संपन्न तबकों में अपनी पैठ बढ़ाना चाहते हैं, ताकि उन आंकड़ों के बल पर उन्हें विज्ञापन मिल सकें और वे अपना खर्चा निकाल सकें।

'दैनिक भास्कर' ज्वाइन करने के बाद से मैं इस उधेड़ बुन में लगा था कि सामाजिक सरोकार वाले विषय भी हमारे पन्नों पर उचित जगह पा सकें। बाद में 'द हिंदू' में इस बारे में एक लेख भी छपा था कि कैसे भास्कर में इस तरह की कोशिशें की जा रही हैं। इन कोशिशों में मदद के लिए भी मैं सचिन जैन और विकास संवाद का सदा आभारी रहूंगा।

"रहिमन गली है सांकरी, दूजो ना ठहराहिं।
आपु अहै तो हरि नहीं, हरि तो आपुन नाहिं॥"

– रहीम

रहीम कहते हैं कि (मन की) गली संकरी है, उसमें एक साथ दो लोग नहीं गुज़र सकते? यदि वहां तुम यानी तुम्हारा अहंकार है तो परमात्मा के लिए वहां कोई ठौर नहीं और अगर वहां परमात्मा का निवास है तो अहंकार का क्या काम! यानी मन ही वह प्रेम की गली है, जहां अहंकार और भगवान एक साथ नहीं गुज़र सकते, एक साथ नहीं रह सकते।

मेरा अनुभव: मूल्यों से जुड़ाव की यात्रा

पूजा सिंह

शहर के अंधेरे को इक चराग़ काफ़ी है
सौ चराग़ जलते हैं इक चराग़ जलने से।
– एहतिशाम अख्तर

संवैधानिक मूल्य। सरल नजर आने वाला गहरा और जटिल विषय। संवैधानिक मूल्य यानी हमारे संविधान की आत्मा। वे मूल्य जो एक व्यक्ति को मनुष्य बनाते हैं। उसमें मनुष्यता का गुण पैदा करते हैं। इन मूल्यों को केवल शब्दों के माध्यम से नहीं बल्कि अपने व्यवहार, चेतना और सामाजिक स्तर पर भी अपनाना हमारा प्राथमिक कर्तव्य है। संविधान फैलोशिप से जुड़ने के तीन साल बाद आज जब मैं पीछे मुड़कर देखती हूं तो मूल्यों से जुड़ने की अपनी इस यात्रा को कहीं अधिक तटस्थ रूप से देख पाती हूं। बहुत कुछ है जो याद आता है।

औपचारिक शिक्षा में शामिल होने के बाद विद्यालयों, पाठ्यक्रमों और सार्वजनिक संवादों में मेरा परिचय इन मूल्यों से होता रहा। हमने नागरिक शास्त्र की किताबों में एक विषय के रूप में अपने अधिकारों और कर्तव्यों के बारे में पढ़ा। इस बात ने नागरिक बोध को बहुत हद तक आकार भी दिया। एक राष्ट्र के नागरिकों के रूप में एकजुट करने का काम भी किया। परंतु इस दौरान बहुत से लोग मुझ जैसे भी रहे। ऐसे लोग जिन्होंने इसे पाठ्यक्रम की अन्य सामग्री की तरह ही लिया। उस पढ़ाई की तरह जो बोरिंग होती है। वह पढ़ाई जो नंबर पाने के लिए की जाती है। वह परीक्षा जो अगली कक्षा में पहुंचने के लिए दी जाती है। इस तरह संविधान और संविधान की उद्देशिका, संवैधानिक मूल्यों से जो परिचय हुआ वह कभी स्थायी स्मृति का हिस्सा नहीं बन सका।

परिचय

2006 से पत्रकारिता में सक्रिय पूजा सिंह आईएएनएस, नेटवर्क 18, दैनिक भास्कर, तहलका, शुक्रवार सहित देश के कई प्रतिष्ठित मीडिया संस्थानों में अलग-अलग भूमिकाओं का निर्वाह कर चुकी हैं। अपनी पत्रकारिता में पूजा सिंह ने महिलाओं, जल संकट और जनजातीय समुदायों पर लेखन एवं कार्य को केंद्र में रखा है। स्वतंत्र लेखन के साथ वे इन दिनों विकास संवाद भोपाल में कार्यरत हैं।

मेरे लिए वास्तविक अर्थों में संवैधानिक मूल्यों से परिचय का सिलसिला 2020 में शुरू हुआ जब मुझे सचिन जी (सचिन कुमार जैन) की पुस्तक 'भारतीय संविधान की विकास गाथा' से गुजरने का मौका मिला। यह वह दौर था जब कोविड की महामारी ने देश में दस्तक दी ही थी। मैं उस पुस्तक की ऋणी हूं क्योंकि उसने न केवल मुझे कोविड महामारी के दौर की मानसिक चिंताओं से बचाया बल्कि संविधान के सफर के साथ एकांत में समय बिताने का अवसर भी दिया।

इस पुस्तक को पढ़ने के बाद मैंने न केवल संविधान के महत्व को समझा बल्कि मूल्यों और अधिकारों को भी जाना। यही कारण है कि एक सजग नागरिक के रूप में मुझे अपनी जिम्मेदारी का कहीं अधिक बेहतर अहसास हुआ। कुछ समय बाद मैं औपचारिक रूप से विकास संवाद के साथ जुड़ गई और उसके बाद जो हुआ वह भारतीय संविधान और संवैधानिक मूल्यों के विविध आयामों को जानने और समझने की एक ऐसी यात्रा है जो निरंतर चलती ही जा रही है।

तीन वर्षों की इस अवधि में मेरी भूमिका कई बार बदलती रही। मैंने आरंभ से ही विभिन्न पत्रकार और अधिवक्ता फेलोज की अब तक की यात्रा को न केवल दर्ज किया बल्कि उनके ही द्वारा मुहैया कराए गए इनपुट के आधार पर उनका एक आकलन करने की प्रक्रिया में भी शामिल रही। शुरुआत में जब बड़ी संख्या में फेलोज मूल्यों और अधिकारों के बीच के अंतर को लेकर आश्वस्त नहीं थे और जब वे संविधान का अर्थ मौलिक अधिकारों और कर्तव्यों मात्र से लगाते तो मुझे अपनी यात्रा याद आती। आखिर संविधान जैसे विशद और व्यापक विषय के विद्यार्थी ही तो हैं हम और सीखने की एक निरंतर प्रक्रिया के सहभागी भी।

संवैधानिक मूल्यों से जुड़ी तीन साल की फैलोशिप के दौरान हमारी टीम, वरिष्ठ मेंटोर्स, वरिष्ठ और कनिष्ठ पत्रकारों तथा अधिवक्ता साथियों के साथ का सफर एक उल्लेखनीय यात्रा रहा। हर कदम पर नए अनुभव। 'अरे! ऐसे तो सोचा ही नहीं', 'अरे! ऐसे तो देखा ही नहीं।' लेकिन इस फैलोशिप की यही तो खूबसूरती थी। जो देखा नहीं, सोचा नहीं वह सामने था। हर स्तर पर एक नई, अनजानी चुनौती से दो-चार होने का रोमांच।

पत्रकार और अधिवक्ता फेलोज के साथ हुए अपने संवाद और उनके आकलन की बात करें तो यह एक बहुत ही रोचक यात्रा रही। हर फेलो अपने आप में विशेष थे। सबकी अपनी परवरिश अपनी पृष्ठभूमि थी। इनको अगर अलग अलग बांटें तो हम देख सकते हैं ज्यादातर फेलोज संवैधानिक मूल्य और अधिकार के अंतर को लेकर स्पष्ट नहीं थे। यह पहली और सबसे बड़ी चुनौती थी।

मूल्य कहां थे?

खुशकिस्मती है कि संविधान फैलोशिप में फेलोज के प्रारंभिक चयन से लेकर उनके फैलोशिप पूरा करके बाहर निकलने तक हर कदम पर उनकी यात्रा को परखने का मौका भी मिला। लगभग सभी फेलोज के लिए यह यात्रा अपनी समझ को बेहतर बनाने की रही। पत्रकार फेलोज हों या अधिवक्ता फेलोज सभी का जोर आरंभ में अधिकारों पर ही था। पत्रकारों ने अधिकारों पर केंद्रित खबरें लिखी थीं और अधिवक्ताओं ने पीड़ितों को अधिकार दिलाने के लिए मुकदमे लड़े थे। अधिवक्ताओं ने कहा कि उन्होंने संविधान को हमेशा 'सुप्रीम रूल बुक' माना। पत्रकार साथियों ने कहा कि उन्होंने कभी ख्याल ही नहीं किया कि खबर लिखते समय गरिमा, बंधुता, समता-समानता जैसे मूल्यों का भी ध्यान रखा जा सकता है। वे केवल अधिकारों पर ही ध्यान देते रहे।

मूल्यों को लेकर पत्रकार और अधिवक्ता फेलोज की समझ क्या है? यह प्रश्न बार-बार सामने आ रहा था। उन्होंने भी खुले दिल से स्वीकार किया कि वे संविधान के प्रावधानों में केवल मौलिक अधिकारों से ही परिचित थे। यह स्वीकारोक्ति संवैधानिक मूल्यों को जानने-मानने और अपनाने की दिशा में बढ़ा हुआ पहला कदम था।

व्यक्ति से मनुष्य बनने का सफ़र

सबसे पहला काम था अपने जीवन में मूल्यों को पहचानना, उन्हें अपनाना। ज्यादातर फेलोज ने अपने निजी जीवन, पियर ग्रुप, परिवार और आसपास के जन-जीवन के साथ व्यवहार में मूल्यों के महत्व को रेखांकित करना शुरू किया। इसके साथ ही शुरू हुआ सकारात्मक उदाहरणों का सिलसिला। यह सिलसिला एक व्यक्ति के मनुष्य बनने का भी था। यानी शारीरिक अस्तित्व से आगे बढ़कर नैतिक और सामाजिक चेतना की ओर अग्रसर होने का सफ़र।

एक फेलो ने बताया कि उसने अपने परिवार में पीढ़ियों से चली आ रही उस परंपरा के विरुद्ध तीखी आपत्ति जताई जिसके अंतर्गत कुछ खास समुदाय के लोगों के लिए चाय के अलग प्याले थे, या जिन्हें उनके घर आने पर कुर्सी या तख्त के बजाय

जमीन पर बैठना पड़ता था। उन्होंने अपने परिवार को समता-समानता के मूल्यों के बारे में समझाया और घर में शुरू की गई यह पहल पूरे क्षेत्र में एक सकारात्मक अभियान की तरह फैल गई। कहने को यह एक छोटी सी पहल थी लेकिन इसके परिणाम उतने ही उत्साहवर्धक रहे।

समानता यही तो है, बिना किसी भेदभाव के हर किसी के साथ समान व्यवहार करना। सबको एक बराबर समझना। इसी तरह समता कहती है कि जो जरूरतमंद हो उसे ज्यादा मिले। फिर चाहे बात सम्मान की हो या संसाधनों की। समता तभी आएगी जब जिसके पास कम है उसे ज्यादा दिया जाएगा। इसे एक उदाहरण से समझ सकते हैं। स्कूल जाने वाले तीन बच्चे हैं, उनमें एक के पैरों में समस्या है। सभी को किताब-कॉपी और ड्रेस मिलनी चाहिए। यह समानता है। जिस बच्चे के पैर खराब हैं उसे व्हीलचेयर मिलनी चाहिए। यह समता है। ये दोनों मूल्य आगे जाकर न्याय के मूल्य का निर्माण करते हैं।

एक पत्रकार को केवल तथ्यों की प्रस्तुति करने तक सीमित रहना चाहिए या फिर उसे सब्जेक्ट या पीड़ित की सहायता भी करनी चाहिए। यह बहुत पुरानी बहस है जो आज भी प्रासंगिक बनी हुई है। निष्पक्ष पत्रकारिता का तकाजा है कि पत्रकार को तटस्थ ढंग से तथ्य पेश करने चाहिए। वहीं मूल्य आधारित पत्रकारिता कहती है कि यदि संभव हो तो पीड़ित की सहायता भी करनी ही चाहिए। क्योंकि एक पत्रकार का काम खबर लिखने के साथ-साथ सच के साथ खड़े होने का भी है।

संविधान फैलोशिप की एक फेलो ने निष्पक्ष और मूल्य आधारित पत्रकारिता के बीच की इस दीवार को गिराया। उन्होंने यौन प्रताड़ना की शिकार एक महिला की न केवल काउंसलिंग करवाई बल्कि उसके भीतर यह साहस पैदा किया कि वह अपना केस स्वयं लड़ सके और आततायी की आंखों में आंखे डालते हुए एक ही दफ्तर में काम कर सके।

एक-एक कर ऐसे तमाम उदाहरण हमारे सामने आए जहां फेलो साथियों ने बताया कि इस फैलोशिप से जुड़ने के बाद वे खबर के विषय से निरपेक्ष नहीं रहते। स्वयं को उससे जोड़कर देखते हैं, समानुभूति पैदा करने की कोशिश करते हैं। ये मूल्य अब उनके पेशेवर जीवन का हिस्सा बन चुके हैं और यह आश्वस्ति है कि उनसे ये मूल्य आने वाली पीढ़ियों में स्थानांतरित होंगे। पूरी उम्मीद है कि ये छोटे-छोटे बदलाव आगे चलकर बड़ा सामाजिक बदलाव लाने में मदद करेंगे।

नैतिक-अनैतिक का द्वंद्व

बचपन में हमारा मानस जिस तरह तैयार होता है, उसके प्रतिबिंब ताउम्र हमें दिखाई देते हैं। नैतिक और अनैतिक की बहस तो एक शाश्वत बहस है। इनसे जुड़े दो प्रश्न बचपन से मेरे मन में कौंधते थे। ये शाश्वत अनुत्तरित प्रश्न थे। या कहें इनके जवाब में दुविधा थी। ये प्रश्न मुझसे पहले वाली पीढ़ियों के समक्ष भी उत्पन्न हुए या किसी ने उनके सामने रखे। वहां से ये प्रश्न मेरे सामने आए।

क्या किसी भूखे को भोजन न देना अपराध है?
क्या भूख के कारण चोरी करना अपराध है?

इन प्रश्नों के उत्तर हम जानते ही हैं। किसी भूखे व्यक्ति को भोजन नहीं देना कानून अपराध नहीं है। परंतु यह हमारी नैतिक और संवैधानिक जिम्मेदारी तो है ही कि हम अपनी जानकारी में किसी दूसरे व्यक्ति को कम से कम भूख से नहीं मरने दें। हम किसी भूखे व्यक्ति को भोजन न दें तो इसके लिए कोई अदालत हमें सजा नहीं दे सकती। लेकिन क्या यह नैतिक होगा? क्या हम जिस बंधुता को जीने का वादा खुद से करते हैं, उसके अनुरूप होगा? नहीं।

अब आते हैं दूसरे प्रश्न पर। भूखे व्यक्ति द्वारा अपना पेट भरने के लिए चोरी करना कानूनन एक अपराध है क्योंकि कानून का बुनियादी सिद्धांत कहता है कि चोरी गलत है चाहे कोई भूखा ही क्यों न हो।

बहरहाल, कुछ वर्ष पहले इटली की सर्वोच्च अदालत ने इस विषय पर एक अभूतपूर्व दृष्टांत पेश किया। दरअसल रोमन ऑस्ट्रियाकोव नामक एक यूक्रेनी व्यक्ति जो इटली के जेनोवा शहर में बेघर की तरह रह रहा था उसने खाने के लिए रोटी खरीदी लेकिन उसने दुकानदार को चीज के पैसे नहीं दिए। निचली अदालत ने इसके लिए उसे 6 महीने की कैद की सजा सुनाई।

मामला इटली की सर्वोच्च अदालत पहुंचा और उसने एक ऐतिहासिक निर्णय में कहा, 'आपात स्थिति में भोजन की जरूरत के लिए की गई यह छोटी सी चोरी अपराध नहीं मानी जा सकती।' न्यायालय ने कहा कि यह 'चोरी' नहीं बल्कि 'जरूरत' थी। कहा गया, 'संविधान और मानवाधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा के अनुसार हर व्यक्ति को गरिमा के साथ जीने का कानूनी अधिकार है। अगर कोई व्यक्ति पूरी तरह भूखा है और जीवित रहने के लिए कुछ लेने को मजबूर है तो ऐसी स्थिति में की गई चोरी अपराध नहीं है।'

स्पष्ट है कि उपरोक्त दोनों मामले केवल कानूनी नहीं हैं। वे नैतिकता, करुणा, बंधुता और मानवीय गरिमा से संबंध रखने वाले मामले भी हैं। वे मनुष्य पर मनुष्य की आस्था और विश्वास से जुड़े मामले हैं। दो व्यक्तियों के बीच भरोसा कायम करना, उनमें आपसी प्रेम और स्नेह का विकास करना, उनमें बंधुत्व का बोध विकसित करना ये हर नागरिक की सामूहिक जिम्मेदारी और दायित्व हैं।

'प्यासे को पानी पिलाना और भूखे को रोटी खिलाना, सब पुण्यों से बड़ा होता है,' बचपन से यही सुना है।

मेरा दोस्त शाहिद कहता है, **"मोहम्मद साहब ने कहा है कि मजदूर का पसीना सूखने के पहले उसकी मजदूरी दे दो।"**

दोनों ही बातें हमें कुछ बताती हैं। अपने व्यवहार में नैतिक रहना। दूसरों की गरिमा का ध्यान रखना। मन में करुणा का भाव होना। दूसरों के साथ बंधुत्व का होना।

ये उन्हीं संवैधानिक मूल्यों का हिस्सा हैं जिन्हें बहुत बाद में चलकर हमने अपने संविधान की उद्देशिका में पढ़ा और मैंने, इस संविधान फैलोशिप से जुड़ने के बाद उन्हें गुना-बुना। क्या हमने इन्हें पहले भी देखा-सुना है? ऐसा क्यों है कि बचपन से ही किसी न किसी रूप में इनसे हमारा वास्ता पड़ता रहा है।

इसलिए क्योंकि ये हमारे जीवन में शामिल नैतिक मूल्य ही हैं। वही मूल्य जो हमने अपनी बचपन की कक्षाओं में पढ़े और जिन्हें हम अपने जीवन में उतार पाने का प्रण लेते हुए बड़े हुए।

नैतिक मूल्य

हमारा जीवन विभिन्न प्रकार के द्वैत के सहारे आगे बढ़ा है। काला-गोरा, अच्छा-बुरा, सच-झूठ, दूर-पास। चीजों को द्वैत में बांटकर समझने की कोशिश करना मनुष्य की बुनियादी प्रकृति और प्रवृत्ति है। हालांकि यह सच भी है कि द्वैत सभी पहलुओं को शामिल नहीं कर पाता लेकिन जैसा कि मैंने कहा वह हमारी विचार प्रक्रिया का प्रस्थान बिंदु है।

मूल्य अच्छे और बुरे के बीच के चुनाव में अच्छे के पक्ष में चयन करने की हमारी क्षमता पर असर डालते हैं। ये वे मूल्य हैं जो मनुष्य होने भर के कारण हमारे भीतर स्वत: पैदा हो जाते हैं। हमारा परिवार और समाज उन मूल्यों को खाद-पानी देते हैं, उनकी जड़ें मजबूत करने में मदद करते हैं। नैतिक मूल्य एक सच्चरित्र और ईमानदार नागरिक के निर्माण का आधार होते हैं।

ये जड़ें इतनी मजबूत होती हैं कि बालक से किशोर और युवा तथा उससे भी अधिक उम्रदराज होते जाने के बावजूद वे

नैतिक मूल्य हमारे आदर्श बने रहते हैं। कुल मिलाकर वही निर्धारित करते हैं कि हम कैसे नागरिक बनेंगे।

हमारे बुनियादी मूल्य

सत्य और ईमान

सत्य और ईमान किसी भी व्यक्ति के सबसे बुनियादी मूल्य होते हैं। हम बचपन से सीखते हैं कि सच बोलना हमेशा अच्छा होता है। सच बोलने पर हमें बहुत सारे झूठ याद करने की जरूरत नहीं होती क्योंकि सत्य तो स्वयं प्रमाणित होता है। सचाई एक ऐसा गुण है जो आगे चलकर एक ईमानदार नागरिक तैयार करता है।

गरिमा का ध्यान

हम बच्चों को सिखाते हैं कि वे दूसरों की गरिमा का ध्यान रखें। बड़ों का सम्मान करें और छोटों को समुचित प्यार और आदर दें। बचपन से इन्हें अमल में लाने वाला बच्चा बड़ा होकर एक संवेदनशील व्यक्ति बनता है जो दूसरों से प्रेम करता है, जिसमें देखभाल का भाव होता है।

सहानुभूति और समानुभूति

सहानुभूति और समानुभूति दोनों एक से लगते हुए भी अलग-अलग हैं। सहानुभूति का अर्थ जहां दूसरों के प्रति दया भाव का रखना है वहीं समानुभूति का अर्थ है किसी व्यक्ति की मुश्किलों को उसके नजरिये से समझने का प्रयास करना। स्वयं को उसके स्थान पर रखकर देखना कि उसे कैसा महसूस हो रहा होगा। ये दोनों भी हमारे बुनियादी मूल्य हैं।

न्याय

न्याय के मूल्य को समझना अत्यंत आवश्यक है। यही वह मूल्य है जो समाज में निष्पक्षता, पारदर्शिता, समता और समानता लाता है। एक समतापूर्ण समाज की स्थापना में योगदान करता है। अन्याय के विरुद्ध उठने वाली हर आवाज एक समतापूर्ण समाज की दिशा में कदम होती है।

करुणा

दूसरों की परिस्थितियों में स्वयं को डालकर यानी समानुभूति की अवस्था को महसूस करके हम यह जान सकते हैं कि दूसरों को मुश्किल परिस्थितियों में कैसा महसूस होता है। यह हमारे भीतर करुणा का भाव पैदा करने में सक्षम है।

इन मूल्यों को जीवन में उतारकर हम एक मूल्य आधारित नागरिक और समाज तैयार करने की दिशा में कदम बढ़ा सकते हैं। परंतु यह इतना आसान भी नहीं है।

मूल्य बहुस्तरीय संरचना हैं

हमारा जीवन जिन मूल्यों के इर्दगिर्द बनता है, उनके कई स्तर होते हैं। ये मूल्य व्यक्तिगत तो होते ही हैं, साथ ही वे सामाजिक और आध्यात्मिक भी होते हैं। ये मूल्य हमारे कामकाज, जीवन में लिए जाने वाले निर्णयों और हमारे व्यक्तिगत और सामाजिक व्यवहार को प्रभावित करने वाले होते हैं।

व्यक्तिगत मूल्यों की बात करें तो ये वे मूल्य हैं जो एक व्यक्ति के रूप में हमारे लिए महत्वपूर्ण होते हैं। उदाहरण के लिए सत्यनिष्ठा और स्वतंत्रता जैसे मूल्य व्यक्ति के व्यक्तिगत जीवन से जुड़े होते हैं और उसे प्रभावित करते हैं। इसी तरह कुछ

मूल्य हमें समाज और संस्कृति से जोड़ते हैं और एक सभ्य समाज में सामंजस्य के साथ रहने के लिए आवश्यक भी हैं। उदाहरण के लिए न्याय का मूल्य। यह मूल्य तय करता है कि हम एक 'जस्ट सोसाइटी' का निर्माण करें। एक ऐसा समाज बनाएं जहां सबके साथ उचित व्यवहार हो, किसी के साथ अन्याय न हो, किसी के साथ जाति-धर्म, लिंग, संप्रदाय या भाषा आदि के कारण भेदभाव न किया जाए।

ये मूल्य ही हैं जो हमें जीवन में सही और गलत का भेद बताते हैं और सही फैसलों पर पहुंचने में हमारी मदद करते हैं।

मूल्य बहुस्तरीय और जटिल संरचनाओं से निर्मित होते हैं। मूल्य एक रेखीय संरचना नहीं होते। उनके कई आयाम और प्रभाव होते हैं। इसका एक अर्थ यह भी है कि मूल्यों को अलग-अलग ढंग से समझा और लागू किया जा सकता है। कई मूल्य हमारे लगातार हुए अनुभवों से निर्मित होते हैं तो कई मूल्य सामाजिक-सांस्कृतिक अपेक्षाओं से संचालित होते हैं। कई बार मूल्य साधन होते हैं तो कई बार उन्हें पाना ही हमारा अंतिम उद्देश्य होता है। हम कुछ मूल्यों को दूसरों पर वरीयता देते हैं क्योंकि मूल्य हमारे सोच, चयन परिस्थितियों और सामाजिक-सांस्कृतिक परिवेश पर निर्भर करते हैं। हमारे आंतरिक विश्वास कई बार सामाजिक हकीकतों से टकराते हैं।

मूल्य संघर्ष

जब भी मूल्यों में किसी तरह का टकराव होता है। जब भी हमारे आंतरिक मूल्य हमारे सामाजिक मूल्यों से टकराते हैं, तब मूल्यों के बीच एक किस्म का संघर्ष उत्पन्न होता है। यह संघर्ष हमें व्यक्तिगत स्तर पर, सामाजिक स्तर पर और यहां तक कि मानसिक और नैतिक स्तर पर भी प्रभावित कर सकता है।

यह टकराव हमारे भीतर एक तरह के असमंजस और दबाव को जन्म देता है। परंतु अंतत: यह तो व्यक्ति को ही तय करना होता है कि वह दबावों के आगे झुकेगा या अपने मूल्यों पर अडिग रहेगा। इसी से पता चलता है कि हम कैसा समाज निर्मित कर रहे हैं। यह संघर्ष हमारे सामने बार-बार आता है। हम इससे कैसे निपटते हैं वह इस बात पर निर्भर करता है कि हमने मूल्यों को सचमुच में समझा और अपनाया है या बस किताब में लिखे कुछ शब्दों और परीक्षा में आने वाले कुछ सवालों की तरह उनके 'सही जवाब' भर तैयार कर लिए हैं।

स्पष्ट है कि संवैधानिक मूल्य केवल कानून की सर्वोच्च किताब यानी संविधान में लिखे गए कुछ कानूनी शब्द नहीं हैं। ये मूल्य हमारे जीवन, हमारे नैतिक आधार, सामाजिक व्यवहार के अभिन्न अंग हैं, उनके मूल स्तंभ हैं। ये मूल्य हमारे जीवन में तभी स्थायी जगह बना सकते हैं जब हम इन्हें निरंतर खुद को टटोलें और यह परख करते रहें कि हम अपने जीवन में न्याय, बंधुता, गरिमा, समता और समानता जैसे मूल्यों को जगह दे पा रहे हैं या नहीं, इन्हें जी पा रहे हैं अथवा नहीं।

हमें स्वयं से यह पूछते रहना होगा कि हमने संविधान की उद्देशिका के माध्यम से तो इन मूल्यों को आत्मार्पित कर लिया लेकिन क्या हमने इन्हें अमल में लाया? क्या हमने अपने घरेलू सहायकों के साथ दोहरा व्यवहार समाप्त किया? क्या हमने कड़ी धूप में सामान पहुंचाने घर आए किसी डिलीवरी बॉय को पानी पूछा? क्या हमसे अलग धर्म वाले किसी साथी को देखकर हमारे मन में एक पल को भी यह ख्याल नहीं आया कि यह हमसे अलग है? क्या हमने घर के बच्चों की स्वतंत्रता का भी ध्यान रखा या हम केवल अपने मन की बात ही उन पर थोपते रहे?

हमें खुद भी यह याद रखना होगा और आने वाली पीढ़ियों को भी बताना होगा कि संविधान केवल कानून की एक किताब नहीं है बल्कि वह हमारा नैतिक और सामाजिक मार्गदर्शक भी है। संवैधानिक मूल्यों को अपनाकर हम न केवल अच्छे नागरिक बनते हैं बल्कि एक बेहतर समाज के निर्माण की दिशा में अपने हिस्से का योगदान भी करते हैं।

कैसे पहुंचे घर-घर संविधान?

राजेश बादल

परिचय

राजेश बादल पिछले अड़तालीस साल से गंभीर और सामाजिक सरोकारों वाली पत्रकारिता के लिए जाने जाते हैं। राज्य सभा टीवी के लगातार कई साल तक संस्थापक संपादक और कार्यकारी निदेशक रहे राजेशबादल मध्यप्रदेश के पहले टीवी पत्रकार और भोपाल दूरदर्शन के पहले न्यूज़ एंकर हैं। एक साथ पच्चीस से अधिक टीवी कार्यक्रमों के लिए काम करने का रिकॉर्ड उनके नाम है। प्रिंट, टीवी और वेबमीडिया में कार्य में सिद्ध राजेश बादल की टीवी श्रृंखलाएं, साक्षात्कार, आलेख और पुस्तकों ने लोकप्रियता और सम्मान पाई हैं। वे फैलोशिप के सम्मानित ज्यूरी सदस्य और मेंटर रहे हैं।

मुझे याद है कि पूर्व मुख्य न्यायाधीश न्यायमूर्ति चंद्रचूड़ ने सेवानिवृति से पहले भारत और बांग्लादेश के संविधान के बारे में बेहद संवेदनशील व्याख्या पेश की थी। बांग्लादेश की राजधानी ढाका के एक अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन में उन्होंने कहा था कि भारत और बांग्लादेश ने अपने संविधानों को जीवित दस्तावेज़ के रूप में मान्यता दी है। दोनों राष्ट्र संवैधानिक और न्यायिक प्रणाली और परंपराओं को साझा करते हैं और एक दूसरे की न्यायपालिका के फैसलों का बारीकी से अध्ययन करते हैं। इसका मुख्य उद्देश्य यही है कि इन देशों में मजबूत राजनीतिक ढांचे की बदौलत संवैधानिक स्थिरता बनी रहे। इसके मद्देनजर इन संविधानों को जनता ने खुद चुने हुए प्रतिनिधियों के जरिये अपने लिए रचा और गढ़ा है। अफसोस बांग्लादेश में इन दिनों एक ऐसी हुकूमत राज कर रही है,जो खुद संवैधानिक ढंग से चुनकर नहीं आई है लेकिन वह अपने संविधान को बदल रही है। भारत में हमारे पास निर्वाचित सरकार है, लेकिन हम देखते हैं कि संवैधानिक संस्थानों और प्रक्रिया का क्षरण हो रहा है। दोनों देशों की अवाम अपने-अपने विरोधाभासों के साथ जी रही है। इसके बावजूद भारत ने संवैधानिक लोकतांत्रिक ढांचे को काफी हद तक बचाकर रखा है। भारतीय संविधान आज संसार का सर्वश्रेष्ठ लिखित संविधान है। सारा विश्व हैरत से इसे देखता है। जब अंग्रेज हिंदुस्तान से गए थे तो वे एक अभिशप्त और खंडित राष्ट्र छोड़ गए थे। तमाम यूरोपीय और पश्चिमी विद्वान तथा राजनयिक उस समय डंके की चोट पर लिख रहे थे कि भारत जल्द ही बिखर जाएगा। एक देश की अवधारणा असफल होगी लेकिन यह आशंकाएं झूठी साबित हुईं। हमने अपने लोकतंत्र को बचाकर तो रखा पर कड़वा सच यह है कि आज प्राणविहीन लोकतंत्र हमारे सामने है। इजिप्ट के पिरामिडों में रखी ममी की तरह। संविधान वाली ऐसी लोकतांत्रिक देह आप सदियों तक मसाला डालकर सुरक्षित रख सकते हैं लेकिन वह धड़कती ज़िंदगी का प्रतीक नहीं बन सकती।

लौटते हैं चंद्रचूड़ के जीवित संविधान वाले कथन पर। उन्होंने भारतीय उप महाद्वीप की परंपरागत न्याय शैली का पुरज़ोर समर्थन किया था। चंद्रचूड़ ने न्यायालयों को मध्यस्थ परंपरा की ओर लौटने पर जोर दिया था। हिंदुस्तान में सैकड़ों साल तक पंचायतें इस मध्यस्थ परंपरा का निर्वाह करती रही हैं। इससे आपसी संबंधों में कड़वाहट नहीं घुलती और शीघ्र ही सब कुछ सामान्य हो जाता है। अरसे तक मुकदमें चलते रहें। उसके बाद एक व्यक्ति जीत जाए, दूसरा हार जाए तो यह कुछ कुछ जंग में जीत-हार जैसी सोच विकसित करता है। यह दरअसल औपनिवेशिक संस्कृति का ही एक रूप है। मेरा मानना है कि इसमें अधिनायकवादी बीज

छिपे हैं और यह स्वस्थ्य समाज बनाने की ओर देश को नहीं ले जाते । यह एक व्यक्ति को दूसरे के खिलाफ खड़ा करता है। अंग्रेज हुकूमत यही तो करती थी। उसका कुछ मानसिक प्रभाव हमारी न्याय पद्धति पर आज भी दिखाई देता है। अदालतों पर मुकदमों का भारी भरकम बोझ इसी की देन है। भारतीय नागरिक संवैधानिक प्रावधानों तथा न्याय कानूनों को सिर्फ सरकार और अदालतों के काम आने वाली प्रक्रिया का हिस्सा समझने लगा है। वह सोचने लगा है कि उसका इसमें कोई योगदान नहीं है। वह तटस्थ और उदासीन है।

हमारे लोकतंत्र के लिए यह गंभीर चेतावनी है। भारतीय परंपरागत न्याय प्रणाली का दर्शन ऐसा नहीं है। वह ए और बी के बीच उदारतापूर्वक मध्यस्थता के जरिये मामला निपटाने में भरोसा करती है। इसलिए जरूरी है कि न्यायालय औपनिवेशिक असर की काली छाया से मुक्त हों। महत्वपूर्ण यह भी है कि गुलामी के दिनों में न्यायाधीशों की भूमिका सौ फीसदी निष्पक्ष नहीं थी। उन्हें पारिवारिक और सामाजिक मामलों में तो आजादी थी लेकिन प्रशासनिक और राजनीतिक मामलों में वे निर्देशित व्यवस्था का पालन करते थे। क्रांतिकारियों और सत्याग्रहियों के मामलों में वे निष्पक्ष नहीं होते थे। उन्हें तंत्र का समर्थन करना ही पड़ता था। खेद है कि उस दौर की विकराल स्याह परछाईं आज भी मौजूद है।

हमारे लोकतंत्र के इस महत्वपूर्ण अनुष्ठान की हीरक जयंती पर यह सवाल तो बनता है कि क्या भारतीय लोकतंत्र वाकई संविधान और संसद को सलाम करने के लिए परिपक्व हो चुका है? उमर के लिहाज से देखें तो वाकई संसद और संविधान बुजुर्ग हो गए हैं मगर, दशकों बाद भी संसार के इस उम्दा संविधान को हम अपना नहीं पाए हैं। हमने उसे सिर्फ अदालतों का संचालन करने वाली नियमावली और सरकारी तंत्र का नियामक समझ लिया है। हम लोकतंत्र की इस गीता से कट गए हैं। रोजमर्रा की जिंदगी में संविधान की भावना या मंशा कहीं खो गई है। हमने ऐसा समाज बनाया है, जो अच्छे इंजीनियर, काबिल डॉक्टर, ज्ञानवान शिक्षाशास्त्री, शोधी वैज्ञानिक, पूंजी से लदे-फदे उद्योगपति और कुशल अधिकारी पैदा करता है, लेकिन उन्हें ज़िम्मेदार भारतीय नहीं बनाता। विकृत शिक्षा प्रणाली का ही यह परिणाम है कि हमारे वैज्ञानिकों, राजनेताओं, प्रोफेसरों, सर्जनों और कारोबारियों को संविधान का क, ख, ग भी नहीं आता। वे अपना काम कुशलता से कर सकते हैं। इस गर्वबोध से वे जीते भी रहते हैं। उन्हें अफसोस नहीं है कि वे उस संविधान से परिचित नहीं हैं, जिसने उन्हें संसार के सामने शान और सम्मान से जीने का अवसर दिया है। सदियों की ग़ुलामी के बाद आजाद भारत जिस नींव पर खड़ा है, उस नींव की शिलाओं से आज का हिंदुस्तान परिचित नहीं है। हमने जम्हूरियत के लिए जो तंत्र खड़ा किया है, उसी से बगावत कर बैठे हैं।

महात्मा गांधी ने 7 मई 1931 को अपने अखबार 'यंग इंडिया' में लिखा था कि मनुष्य की बनाई किसी संस्था में ख़तरा नहीं हो- यह संभव नहीं है। संस्था जितनी बड़ी होगी, उसका दुरूपयोग भी उतना ही बड़ा होगा। लोकतंत्र बड़ी संस्था है। इसलिए उसका दुरूपयोग हो सकता है। लेकिन उसका इलाज लोकतंत्र से बचना नहीं, बल्कि दुरूपयोग की आशंका को कम से कम करना है। पर हम ऐसा नहीं कर पाए। हमने लोकतंत्र में दुरूपयोग होते रहने दिया। इसलिए कि हम संविधान के प्रति ईमानदार नहीं थे। डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने इसका अनुमान पहले ही कर लिया था। उन्होंने देश को चेतावनी देते हुए लिखा था कि संविधान चाहे जितना अच्छा बना लिया जाए, अगर क्रियान्वयन करने वाले लोग बुरे हों तो वह संविधान किसी काम का नहीं रह जाता। आज भारत में हम कार्यपालिका, न्यायपालिका और व्यवस्थापिका में मूल्यों की गिरावट तथा गैर जिम्मेदारी देख रहे हैं तो कारण यही है कि हमने तंत्र में अच्छे लोगों की राह में रोड़े खड़े किए और सियासत के दरवाजे धनबल, बाहुबल और छलबल से चुनाव जीतने वालों के लिए खोल दिए। ऐसे लोगों के लिए न तो संविधान की भावना का कोई मतलब था और न संसद की गरिमा से उनको लेना देना था। आज का नौजवान डॉक्टर, इंजीनियर या पुलिस वाला तो बनना चाहता है,पर वह लोकतंत्र की मुख्यधारा में शामिल नहीं होना चाहता। जो युवा राजनीति में स्वयं को

स्थापित कर रहे है, उसमें बहुमत उनका है, जो राजनीति को धंधा समझकर आते हैं। हमारी आबादी का बड़ा वर्ग संविधान के बारे में कपोल कल्पित कहानियों पर भरोसा कर लेता है। वह उस जमात में शामिल हो जाता है जो संविधान का मखौल उड़ाने में कोई संकोच नहीं करती। विश्व के डेढ़-दो सौ राष्ट्र यदि भारतीय संविधान को श्रेष्ठतम मानते हैं तो इसीलिए कि यह वास्तव में सारे मुल्कों के संविधानों से बेहतर है। अमेरिका में आधी आबादी को मताधिकार के लिए 130 साल तक संघर्ष करना पड़ा। भारत में संविधान लागू होने के पहले दिन से ही महिलाओं को मताधिकार प्राप्त है। भारतीय संविधान पहले दिन से अपने नागरिकों से भेदभाव नहीं करता। दूसरी ओर अमेरिका में अश्वेतों को वोट का हक पाने के लिए 80 साल संघर्ष करना पड़ा था।

जब संविधान नामक नियामक संस्था हमारे बीच आई थी तो उस समय के हमारे पूर्वजों या प्रतीक पुरुषों ने उसे गीता जैसा मान दिया। अरसे तक संविधान के नए बीजों से लोकतांत्रिक फसल उगती रही। अरसे तक हमें यह प्रयोग कामयाब भी दिखाई दिया। इसलिए कि संविधान में हिंदुस्तान के बगीचे में मौजूद सारे फूल अपनी अपनी सुगंध के साथ उपस्थित थे। कोई एक फूल अपने आपको राजा फूल नहीं कह सकता था। सभी पुष्प इस गुलशन में अपनी अलग महक के साथ उपस्थित थे। लेकिन बाद में लगने लगा कि शायद हमें स्वयं अपनी इस सुगंध से अरुचि हो गई है। उसका असर सियासत पर दिखाई दिया और धीरे धीरे भारतीय उपवन से जम्हूरियत की यह खुशबू कम होती गई। पुराना सामंत बोध अपने नए विकृत स्वरूप में चुपचाप दाख़िल होता रहा।

बकौल राजेंद्र माथुर," जो हमने देखा है ,वही कर रहे हैं। शासक विदेशी थे,इसलिए शासन प्रक्रिया भी हमारे लिए विदेशी हो गई। अब स्वराज है, लेकिन हालत ज्यों की त्यों है। हम इस देश को ऐसे लूट रहे हैं,जैसे यह देश हमारा नहीं,बल्कि और किसी का हो। एक माने में भारत पर आज भी उन्ही शासकों का राज है। जनता और शासकों के बीच जो संगीतमय जुगलबंदी प्रजातंत्र में चलती है,वह हमारे यहां गायब है। मंत्री बनना या आई ए एस परीक्षा में पास होना हमारे यहां इतना महत्वपूर्ण क्यों है ? क्योंकि रेखा के उस पार जो विश्व है,वह अलग है। वह विजेताओं का विश्व है। अंग्रेज चले गए, लेकिन रेखा के उस पार उनके साम्राज्य का प्रतिबिम्ब मौजूद है। जो आदमी नायब तहसीलदार बन जाता है,वह भी रेखा के उस पार चला जाता है और विदेशी लुटेरा बन जाता है। महात्मा गांधी अगर राज्य का महत्व कम करना चाहते थे तो उसके पीछे अनेक प्रबल कारण थे। बड़ा कारण यह था कि हजार बरस से भूखे मरने वाले देश को पहले मौसंबी के रस की जरुरत थी, दाल बाफलों की नहीं। गांधी जानते होंगे कि भारत के बंदर ने कभी राज्य का उस्तरा पकड़ा ही नहीं है। शनैः शनैः इस देश की शासनेन्द्रिय का विकास होगा। सत्ता की सीमा और जनता की महिमा यह देश सीख सके, इसके लिए कुछ वर्षों तक भारत को गांधी जैसे नेताओं की आवश्यकता थी, जो कुर्सी-मुखी नहीं, जन-मुखी होते। वे जनता को और शासकों को सिखाते कि अपने घर में नियम और संयम से कैसे रहा जाता है। लेकिन हुआ यह कि राम नाम से प्रजातंत्र की ओर करंट इतनी तेजी से बढ़ा है कि शॉर्ट सर्किट हो गया और सारे देश में घुप्प अंधेरा छाया हुआ है। यानी 15 अगस्त,1947 के पहले भी अंधेरा था और अब भी है। एक हजार साल बाद लुटेरे गए हैं और हमारा घर हमें वापस मिला है। हम, जो प्रेतों की तरह बल्लियों और खपरैलों पर बैठे थे, अब नीचे आ गए हैं। पर हम भूल गए हैं कि घर में कैसे रहा जाता है। संयम और स्नेह के वे कौन से तंतु हैं, रिश्तों का वह कौन सा ताना बाना है, जो परिवार को गरिमा और संतोष प्रदान करता है - हमें नहीं मालूम।"

राष्ट्रीय समस्याओं पर लंबे समय तक हमने संसद को गंभीर चर्चाएं करते देखा है। उनका समाधान निकालते भी देखा है। अब यह सिलसिला चटक गया है। पहले सरकार प्रतिपक्ष से मिलकर हल खोजने का प्रयास करती थी। पर, अब प्रतिपक्ष नदारद है। सरकार को भी प्रतिपक्ष की जरुरत नहीं रही। प्रतिपक्ष जैसी भूमिका निभाने वाला पत्रकार गायब है। जिम्मेदार

मतदाता अनुपस्थित है। जवाबदेह जनप्रतिनिधि कहीं गुम हो गए हैं। लोकतंत्र में छोटे राजनीतिक दलों का भी समान महत्व है। उनकी उपेक्षा सामूहिक नेतृत्व की मूल भावना के ख़िलाफ़ है। हालिया, लोकसभा में पहली बार संविधान के अनुच्छेद 93 का पालन नहीं हुआ। प्रावधान है कि लोकसभा शीघ्र अति शीघ्र अध्यक्ष-उपाध्यक्ष का चुनाव करेगी। पांच वर्षों में कोई उपाध्यक्ष नहीं चुना गया। आमतौर पर यह पद प्रतिपक्ष के पास रहा है। मगर, पूरे पांच बरस लोकसभा को उपाध्यक्ष नहीं मिला। इससे पहले की लोकसभा में भी इस परंपरा का पालन नहीं हुआ। सत्तारूढ़ दल ने अपने गठबंधन के एक दल को यह पद दिया था। इस बार विपक्ष का आकार पिछली लोकसभा से बहुत बड़ा है, फिर भी प्रतिपक्ष को लोकसभा उपाध्यक्ष नहीं मिला है। आज साक्षरता प्रतिशत अस्सी पार होने का दावा किया जा रहा है और संसद पुस्तकालय सूना रहता है। हमारे कई सांसद हिंदी में एक पंक्ति शुद्ध नहीं लिख पाते तो किस साक्षर संस्कृति की बात करें? संविधान सभा की चर्चाओं में मसला उठा था कि संसद और विधानसभाओं में निर्वाचित जन प्रतिनिधियों का स्नातक होना अनिवार्य कर दिया जाए। तर्क दिया गया था कि भारत की केवल 18 फ़ीसदी आबादी साक्षर है। ऐसे में स्नातक होने की आड़ लेकर कोई ग़लत व्यक्ति चुन कर आ सकता है। भविष्य में जब देश पढ़ लिख जाएगा तो बौद्धिक रूप से संपन्न जन प्रतिनिधि चुनकर आने लगेंगे। उस समय स्नातक पर ज़ोर दिया जाए। उसके बाद किसी ने ध्यान नहीं दिया और नवसामंतवाद हावी हो गया। अब बाहुबल और धनबल से समृद्ध कारोबारी ही चुनाव लड़ने में सक्षम हैं। वे स्नातक तो हैं लेकिन नैतिक और बौद्धिक स्तर पर दिवालिया हैं। कमजोर आर्थिक स्थिति वाले ईमानदार नौजवान लोकतांत्रिक अनुष्ठान में आहुति नहीं दे पाते। यह चिंता कौन कर रहा है? हमारे संविधान की यह मंशा तो यक़ीनन नहीं थी। अब यक्ष प्रश्न यह है कि संविधान से बेख़बर एक निरक्षर भारत को किस घंटी से जगाया जाए? क्या अपनी रोी रोटी से जूझ रहे समाज के अंतिम छोर पर बैठे नागरिक से हमारा कोई संवैधानिक मसलों पर कोई संवाद हो रहा है ? क्या हम उसके मौलिक अधिकारों की रक्षा कर पा रहे हैं ? अथवा हम यह भी उसे बता पा रहे हैं कि वह पचहत्तर साल से ऐसी व्यवस्था में जी रहा है, जो उसे बंधुता, समानता, गरिमा, न्याय, भेदभावरहित और अभिव्यक्ति की गारंटी देती है। मेरा उत्तर तो निश्चित रूप से नकारात्मक है। हम ऐसा कुछ नहीं कर पाए हैं। पर, क्या हम आगे भी यह सिलसिला जारी रखना चाहते हैं? यदि नहीं तो फिर समाज से सीधे संवाद के लिए कौन से वर्ग हो सकते हैं। मेरी दृष्टि में शिक्षक, अधिवक्ता, डॉक्टर और स्वयंसेवी संगठनों से जुड़े लोग इस संवाद को अपने हाथ में ले सकते हैं।

हालांकि, इस दिशा में कुछ काम हो रहा है और मुझे इससे कुछ कुछ संतोष भी है। मुल्क की प्रतिष्ठित स्वयंसेवी संस्था 'विकास संवाद' ने हालिया दौर में संविधान को समाज के अंतिम छोर तक पहुंचाने के लिए कुछ सराहनीय प्रयास किए हैं। इस पवित्र लोकतांत्रिक संवैधानिक अनुष्ठान में मुझे भी एक आहुति डालने का अवसर मिला है। कुछेक बरस पहले इस संस्था ने वकीलों और पत्रकारों को साथ में लेकर समाज के उस वर्ग तक पहुंचने का प्रयास प्रारंभ किया था, जो संविधान के उपयोगी रूप से परिचित नहीं था। इस प्रक्रिया में प्रतिवर्ष कुछ अधिवक्ताओं तथा कुछ समर्पित पत्रकारों का चुनाव किया गया और उन्हें विषय के कुछ जानकारों के साथ जोड़ा गया। मेरे साथ भी करीब एक दर्जन पत्रकारों ने शोधार्थी की तरह काम किया और संविधान को स्थानीय स्तर तक पहुंचाया। मैं कह सकता हूं कि यह प्रयोग बेशक छोटे स्तर पर किया गया, मगर, इसके सकारात्मक परिणाम सामने आए। अगर यह प्रयोग मध्यप्रदेश में क़ामयाब हो सकता है तो शेष भारत में इस अनुष्ठान को विस्तार देने में हमारा-आपका सहयोग अत्यंत आवश्यक है। कभी 'विकास संवाद' अकेला ही मंजिल की ओर चल पड़ा था, लेकिन लोग साथ आते गए और कारवां बनता गया। इस कारवां को घर-घर ले जाने वाली ज़िद और संकल्प की जरूरत है। आइए! हम इस कारवां को आगे बढ़ाएं।

मूल्यों के अर्थ और भारतीय संदर्भ

सचिन कुमार जैन

परिचय

विगत 25 वर्षों से समाज से जुड़े बुनियादी मुद्दों पर सामाजिक संस्थाओं के साथ मिलकर शिक्षण, प्रशिक्षण, संवाद, शोध अध्ययन एवं लेखन कर रहे सचिन कुमार जैन संविधान और संवैधानिक मूल्यों के गहन अध्येता एवं विश्लेषक के रूप में पहचाने जा रहे हैं। सचिन कुमार जैन की 70 से अधिक पुस्तक-पुस्तिकाओं तथा विभिन्न प्रसार माध्यमों में करीब 2,000 आलेख प्रकाशित हुए हैं। वर्ष 2017 में अशोका फेलो के रूप में चयनित सचिन कुमार जैन वर्तमान में विकास संवाद के संस्थापक निदेशक के रूप में कार्यरत हैं।

दुनिया के अन्य समाजों की भांति भारतीय समाज भी मूल्यों से संचालित होता आया है। यहां सामाजिक व्यवस्था के साथ-साथ निजी और सार्वजनिक व्यवहारों के निर्धारण में भी मूल्यों की अहम भूमिका है। हमारे सामाजिक मूल्यों (जो आगे चलकर संवैधानिक मूल्यों के रूप में प्रतिफलित हुए) और धर्म, दर्शन और आध्यात्म के बीच बहुत गहरा संबंध रहा है। हमारी सामाजिक विसंगतियां चाहे जिन कारणों से भी उपजी हों, उनकी पृष्ठभूमि में इन तीनों तत्वों की मौजूदगी नज़र आती है। संभवतः यही कारण है कि राजसत्ताओं की ताकत भी इनसे ही निर्धारित होती रही है। सामाजिक अध्ययन यह भी बताते हैं कि सामाजिक-आर्थिक असमानता, शोषण और भेदभाव को स्थापित करने में भी धार्मिक रूढ़िवादिता ने अत्यधिक प्रभावी भूमिका निभाई है। यह भी तथ्य है कि सामाजिक चिंताओं और बुराइयों को समाप्त करने की पहल भी आध्यात्म और दर्शन के माध्यम से होती रही है।

भारत के विविध दर्शनों में व्यक्ति की चेतना यानी उसके भीतर के विकास पर सबसे ज्यादा जोर दिया गया, जबकि रूढ़िवादी धार्मिक परंपराओं के माध्यम से बाहरी आडंबर, कर्मकांडों, जाति आधारित विभाजन और ऊंच-नीच को सामाजिक मान्यता प्रदान की गई। यह समझना आवश्यक है कि भारतीय समाज की विसंगतियों के स्रोत कहां हैं और उन्हें किस तरह मान्यता मिली? इसके बाद इस प्रश्न का उत्तर खोजा जाना चाहिए कि इन विसंगतियों को चुनौती देने की शक्ति दार्शनिकों, संतों, सूफियों और सामाजिक नागरिक कार्यकर्ताओं को कहां से प्राप्त होती रही? यह शक्ति थी उनके मूल्यों की और मूल्यों के प्रति विश्वास की।

सह-अस्तित्व हमारे बुनियादी मूल्यों में से एक है। हमारे यहां दो परस्पर विरोधी विचार एक साथ रह सकते हैं। यह एक सहज और बुनियादी मूल्य है। जब मानव और मानव समाज को परिभाषित करने का अवसर आता है, तब यह माना जाता है कि समाज केवल मानवों से नहीं बनता है। इसका निर्माण पूरी पारिस्थितिकी के एक हिस्से के रूप में हुआ है और इसीलिए प्रकृति का सम्मान और संरक्षण किया जाना जरूरी है।

मूल्यों का अर्थ

मूल्यों से तात्पर्य उन आदर्शों, विश्वासों और नैतिकताओं से है, जिन्हें समाज अपनाता है और जो उसके व्यवहार और निर्णयों का मार्गदर्शन करते हैं। जब कोई व्यक्ति या समुदाय किन्हीं मूल्यों को अपना लेता है, तब वह विपरीत परिस्थितियों

में अपने हितों को त्याग कर भी उनका पालन सुनिश्चित करता है। ऐसा नहीं होता है कि व्यक्ति या समाज यह शर्त रखे कि अगर दूसरा व्यक्ति अहिंसा का पालन करेगा तो ही मैं अहिंसा का पालन करूंगा; बल्कि जब कोई अहिंसा को मूल्य के रूप में अपना लेता है, तब किसी के द्वारा हिंसा किए जाने के बाद भी वह स्वयं अहिंसा को ही धारण किए रहता है। मूल्यों के प्रभाव को जीवन के हर क्षेत्र में महसूस किया जा सकता है। व्यक्तिगत, सामाजिक, व्यावसायिक और राजनैतिक, हर स्तर पर मूल्यों के महत्व को देखा-समझा जा सकता है।

मूल्यों को कई श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है जो हैं: नैतिक मूल्य, सामाजिक मूल्य, धार्मिक मूल्य, आर्थिक मूल्य, राजनैतिक मूल्य, सांस्कृतिक मूल्य और संवैधानिक मूल्य आदि। मूल्य सकारात्मक भी हो सकते हैं और प्रतिगामी भी। सकारात्मक मूल्य जहां देश और समाज की प्रगति का माध्यम बनते हैं वहीं प्रतिगामी मूल्य समाज को पीछे ले जाने वाली रूढ़ियों के रूप में सामने आते हैं। समता-समानता, बंधुता, लोकतंत्र आदि जहां सकारात्मक मूल्य हैं वहीं जातिवाद, भेदभाव, अंधविश्वास आदि प्रतिगामी मूल्यों के उदाहरण हैं।

मूल्यों का प्रभाव

समाज की विसंगतियों को पहचानने और उनमें बेहतर बदलाव लाने की क्षमता वही लोग विकसित कर पाते हैं जो अपने जीवन में मूल्यों को वरीयता देते हैं। जिन लोगों के जीवन में मानवीय गरिमा, समता-समानता, व्यक्ति की स्वतंत्रता, न्याय आदि मूल्य विकसित होते हैं, वही सामाजिक बदलाव की पहल कर पाते हैं।

सच तो यह भी है कि केवल निजी जीवन में मूल्यों को अपनाने से समाज नहीं बदलता है, समाज में परिवर्तन के लिए यह आवश्यक है कि व्यवस्था को मूल्य आधारित बनाया जाए। यही वजह है कि लोकतंत्र को शासन व्यवस्था का अपेक्षाकृत बेहतर विकल्प माना जाता है। संप्रभुता की अवधारणा भी इसी कड़ी का हिस्सा है। इस अवधारणा के तहत प्रत्येक देश और समाज को अपनी स्वतंत्रता को व्यवहार में लाते हुए अपनी पहचान को बनाए रखने और निर्णय लेने का अधिकार होता है। मूल्यों की यह शृंखला व्यक्ति, परिवार, समुदाय से होती हुई संस्थागत पहल तक जा पहुंचती है।

भारतीय संविधान में बंधुता, न्याय, लोकतंत्र, व्यक्ति की स्वतंत्रता, शोषण से मुक्ति सरीखे मूल्यों और अधिकारों का विचार तभी नहीं जन्मा था, जब संविधान लिखा जा रहा था। ये सभी मूल्य, विचार और व्यवस्थाएं भारत की दार्शनिक परंपराओं, सामाजिक बदलाव के आंदोलनों और स्वतंत्रता संग्राम की प्रयोगशाला में निर्मित हो चुके थे। इन सबसे जुड़े रहने, इन्हें जानते-समझते रहने, भारतीय संविधान को स्थापित करने के लिए नागरिक शिक्षण प्रक्रिया को धरातल पर लागू करना जरूरी है।

सामाजिक परिवर्तन और मूल्य

निजी जीवन में अपनाए जाने वाले मूल्यों का जब सामाजिक स्तर पर विस्तार होता है तब एक मूल्य आधारित समाज तैयार होता है। यही वजह है कि मूल्य सामाजिक परिवर्तन कि किसी भी ठोस पहल के आवश्यक तत्व हैं। सामाजिक परिवर्तन का कोई भी कार्यक्रम और सामाजिक कार्यकर्ताओं की भूमिका समाज को तभी जोड़ पाती है, जब वे अपनी प्रतिबद्धता को मूल्यों के आधार पर स्थापित कर पाते हैं। लोग, समूह, युवा या समाज बदलाव की किसी भी पहल से किसी व्यक्ति या संस्था के नाम की बदौलत नहीं बल्कि उनके विचारों और सपनों के कारण जुड़ते हैं। यह जुड़ाव तभी स्थाई रूप ले पाता है, जब उक्त संगठन और सामाजिक कार्यकर्ता सत्यनिष्ठा, पारदर्शिता, सह-अस्तित्व, गरिमा, विचारों की स्वतंत्रता सरीखे मूल्यों का पालन करते हुए दिखाई दें।

मूल्यों का भारतीय दर्शन

करीब 2,700 साल पहले भारत में ऐसे विचारों और दर्शनों का उद्भव हुआ, जो एक-दूसरे से बिल्कुल विपरीत थे। एक दर्शन मानता था कि ईश्वर है और उसी ने सृष्टि की रचना की है, लेकिन दूसरा दर्शन कहता था कि ईश्वर का कोई अस्तित्व नहीं है और न ही इस सृष्टि की रचना किसी ईश्वर ने की है। उस कालखंड में अनेक परस्पर विरोधी विचार और विश्वास पनपे और उन्होंने एक दूसरे को खत्म करने की चेष्टा नहीं की। यही सह-अस्तित्व के मूल्य का प्रमाण है।

उत्तर वैदिक काल में जब भारत के समाज में विसंगतियां आनी शुरू हुईं, तब विविध दार्शनिक दृष्टिकोण उभरे और उन सभी ने समाज में अपना-अपना स्थान बनाया। उस दौर में यह माना जा रहा था कि सृष्टि की उत्पत्ति ईश्वर ने की है। उसी दौर में बौद्ध और जैन दर्शन अस्तित्व में आए, जो ईश्वरीय सत्ता में विश्वास नहीं रखते हैं।

महर्षि कपिल का सांख्य दर्शन

सत्य को प्रमाण से समर्थित होना चाहिए। बिना प्रमाण के सत्य का अस्तित्व नहीं है। सत्य को सिद्ध करने के दो प्रमाण हैं–

प्रत्यक्ष और अनुमान। प्रत्यक्ष प्रमाण का अर्थ है मन के माध्यम से विद्यमान वस्तु की जानकारी।

अनुमान के तीन प्रकार हैं

कारण से कार्य का अनुमान (बादलों से वर्षा), कार्य से कारण का अनुमान (नीचे नदी में बाढ़ होने पर यह अनुमान कि घाटी के ऊपर बारिश हुई) और सादृश्य के आधार पर अनुमान (एक व्यक्ति का एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना)।

सांख्य दर्शन इस सिद्धांत को अस्वीकार करता है कि सृष्टि की उत्पत्ति किसी सृष्टिकर्ता ने की है। यह दर्शन मानता है कि हर वस्तु अपने कारण से उत्पन्न होती है। वास्तव में नई उत्पत्ति कुछ होती ही नहीं है।

पुण्य कस्सप अथवा पूर्ण कश्यप (अक्रियावाद) – कर्म का आत्मा पर किसी भी तरह से कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। चाहे कोई किसी भी काम को करे, चाहे कराए। चाहे कोई किसी को घायल करे, चाहे किसी से मरवा दे। आत्मा पर किसी भी बात का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। जब कोई आदमी मरता है, तो उसके शरीर से सभी तत्व उन मूल तत्वों में जा मिलते हैं, जिनसे वह शरीर बना है। मरने के बाद कुछ नहीं बचता, न शरीर और न आत्मा।

मक्खली गोसाल (नियतिवाद) – यह भाग्यवादी या पूर्व निश्चयवादी दर्शन है। इसके अनुसार न तो कोई कुछ कर सकता है और न होने से रोक सकता है, घटनाएं घटती हैं। कोई अपनी इच्छाओं से उन घटनाओं को बदल नहीं सकता है। हर व्यक्ति को अपने सांसारिक अनुभवों से गुज़रना ही पड़ता है।

अजीत केसकम्बल (उच्छेद वाद) – उच्छेद वाद कहता है कि मृत्यु के बाद कुछ भी शेष नहीं रहता है। यज्ञ और होम में कुछ नहीं रखा है। कर्मों के कोई फल और प्रभाव नहीं होते, जिन्हें आत्मा को भोगना पड़े। न कहीं कोई स्वर्ग है और न ही कहीं नरक है। संसार में आदमी का निर्माण दुखों के कुछ तत्वों से हुआ है। आत्मा उनसे बच नहीं सकती। आत्मा को बार-बार जन्म लेना ही होता है। चौरासी लाख योनियों में जन्म लेने के बाद कष्टों और दुखों का अवसान होगा।

पकुध कच्चान (सप्तनित्यवाद) प्राणी का निर्माण सात तत्वों से होता है – पृथ्वी, जल, तेज, वायु, सुख, दुःख और आत्मा। हर तत्व एक दूसरे से स्वतंत्र हैं और ये एक दूसरे को प्रभावित नहीं करते हैं। इनका किसी भी तरह से नाश नहीं हो सकता है।

संजय बेलट्ठीपुत्त (विक्षेपवाद/संदेहवाद) – पूर्ण, असंदिग्ध या विश्वसनीय ज्ञान की प्राप्ति असंभव है। जो मैं महसूस करता हूं, वही स्वीकार करता हूं। अगर मुझे महसूस होगा कि स्वर्ग है, तो मैं स्वीकार करूंगा और अगर लगेगा कि स्वर्ग नहीं है तो मैं उसे स्वीकार नहीं करूंगा। इसमें कर्मों के फल की अवधारणा से इनकार किया गया।

चातुर्याम संवर वाद (महावीर/निगंठ नाथ पुत्त) आत्मा को पूर्व जन्मों के पाप कर्मों तथा इस जन्म के पाप कर्मों के परिणामस्वरूप पुनर्जन्म लेना पड़ता है। इसीलिए तप करके बुरे कर्मों का नाश करना चाहिए।

जैन दर्शन (स्यादवाद)

जैन दर्शन के अनुसार भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से देखे जाने के कारण हर प्रकार का ज्ञान भी अलग-अलग हो सकता है। केवल दो ('सत्य' और 'असत्य') नहीं, बल्कि सात स्तरीय तर्क पद्धति। ज्ञान की यह विभिन्नता सात प्रकार की हो सकती है

1. स्यात्-अस्ति (है)
2. स्यात्-नास्ति (नहीं है)
3. स्यात् अस्ति च नास्ति च (है और नहीं है)
4. स्यात् अवक्तव्यम् (कहा नहीं जा सकता)
5. स्यात् अस्ति च अवक्तव्यम् च (है किन्तु कहा नहीं जा सकता)
6. स्यात् नास्ति च अवक्तव्यम् च (नहीं है और कहा नहीं जा सकता)
7. स्यात् अस्ति च नास्ति च अवक्तव्यम् च (है, नहीं है और कहा नहीं जा सकता)।

स्यात् को वस्तु माना जा सकता है, विचार माना जा सकता है, दृश्य माना जा सकता है, अनुभव माना जा सकता है, जीव माना जा सकता है। और स्यादवाद का दर्शन मानता है कि स्यात् किसी विशेष परिस्थिति में 'हैं', और किसी परिस्थिति में 'नहीं है'। वह हैं भी और नहीं भी हैं। स्यात् है या नहीं, यह व्यक्त नहीं किया जा सकता है। फिर स्यात् है तो, लेकिन कहा नहीं जा सकता कि वह है, स्यात् नहीं है, लेकिन यह कहा भी नहीं जा सकता कि वह नहीं है। और फिर एक स्थिति ऐसी आती है जब यह माना जाता है कि स्यात् है, स्यात् नहीं है और कहा भी नहीं जा सकता।

वास्तव में स्यात् स्थान, परिस्थिति, अनुभव, अनुभूति और ज्ञान सापेक्ष है। जो, जिसे, जहां, जिस परिस्थिति में अनुभव हो, उससे ही तय होता है कि स्यात् का रूप क्या है!

बौद्ध दर्शन

गौतम बुद्ध ने 'करुणा' को एक अनिवार्य जीवन मूल्य माना है। उनकी जीवन यात्रा को देखें तो उनके व्यवहार में करुणा होने के असंख्य उदाहरण नजर आते हैं। डॉ. बी. आर. अम्बेडकर अपनी पुस्तक 'भगवान बुद्ध और उनका धम्म' में गौतम बुद्ध से जुड़ी एक कहानी का उल्लेख करते हैं। कहानी के मुताबिक शाक्य समुदाय में 'वप्रमंगल' नाम का एक ग्रामीण पर्व मनाया जाता था। यह एक प्रथा थी, जिसमें हर शाक्य को अपने हाथों से हल जोतना होता था और खेत में काम करना होता था। सिद्धार्थ ने इस प्रथा का हमेशा पालन किया क्योंकि उनका मानना था कि हम जीवन में कुछ भी करें, कुछ भी हों, हर अवस्था में शारीरिक श्रम सबसे सम्माननीय श्रम है।

एक बार सिद्धार्थ अपने पिता के खेतों पर गए और वहां उन्होंने देखा कि कई मजदूर खेतों पर श्रम कर रहे हैं। वे खेत जोत रहे हैं, पानी रोकने के बांध बना रहे हैं लेकिन भीषण धूप में भी उनके शरीर पर पूरे कपड़े नहीं हैं। यह देखकर उन्होंने अपने

मित्रों से कहा कि 'क्या यह उचित है कि एक आदमी दूसरे आदमी का शोषण करे? यह कैसे ठीक हो सकता है कि मजदूर मेहनत करे और मालिक उसकी मजदूरी के परिणामों से जीवन का आनंद उठाए? सिद्धार्थ समाज में प्रचलित व्यवस्थाओं का जिस तरह विश्लेषण कर रहे थे, उनके मूल में 'मानवीय मूल्य' ही थे।

सिद्धार्थ समाज के योद्धा समूह (क्षत्रिय) से संबंध रखते थे। उन्हें शस्त्रों को चलाने की शिक्षा प्रदान की गई थी, लेकिन उनका सोचना था कि किसी भी प्राणी को अनावश्यक पीड़ा और आघात नहीं पहुंचाना चाहिए। जब उनके मित्र शिकार करने जाते, तो सिद्धार्थ हमेशा उनके साथ शिकार पर जाने से इंकार कर देते थे। उनके मित्र कहते कि तुम भले शिकार मत करना, लेकिन यह देखने के लिए तो चलो कि तुम्हारे मित्रों का निशाना कितना अचूक है? सिद्धार्थ सदैव इसका यही उत्तर देते कि उन्हें निर्दोष प्राणियों का वध होते देखना भी पसंद नहीं है।

उनकी मां (प्रजापति गौतमी) उन्हें समझाने का प्रयास करतीं, "तुम एक क्षत्रिय हो और लड़ना तुम्हारा कर्तव्य है। युद्ध कौशल शिकार के जरिये ही सीखा जा सकता है।" तब सिद्धार्थ उनसे कहते, "मां, एक खत्तिय (क्षत्रिय) को क्यों लड़ना चाहिए?" गौतमी कहतीं, "क्योंकि यह उनका कर्तव्य है। इसी से राज्य की सुरक्षा होती है।" तब सिद्धार्थ कहते, "लेकिन मां, यह बताओ कि एक आदमी का कर्तव्य यह कैसे हो सकता है कि वह दूसरे आदमी को मारे! यदि सब क्षत्रिय एक दूसरे से प्रेम करें, तो क्या बिना किसी को मारे वे राज्य की सुरक्षा नहीं कर पाएंगे?"

बुद्ध के मन में ऐसे तमाम प्रश्न उमड़ते रहते थे। आत्म ज्ञान की तलाश में तपस्या कर रहे बुद्ध को एक दिन प्यास लगी। वे सरोवर के पास गए। वहां उन्होंने एक अद्भुत दृश्य देखा।

एक गिलहरी मुंह में एक फल लिए सरोवर के पास आई। फल उससे छूटकर सरोवर में गिर गया। गिलहरी ने देखा कि फल पानी की गहराई में जा रहा है।

गिलहरी ने पानी में छलांग लगी दी। उसने अपना शरीर पानी मे भिगोया और बाहर आ गई। बाहर आकर उसने अपने शरीर पर लगा पानी झाड़ दिया और पुनः सरोवर में कूद गई।

उसने यह क्रम जारी रखा। बुद्ध उसे देख रहे थे लेकिन गिलहरी इस बात से अनजान थी। वह लगातार अपने काम में जुटी रही। बुद्ध सोचने लगे, यह कैसी गिलहरी है! सरोवर का जल यह कभी नहीं सुखा सकेगी लेकिन इसने हिम्मत नहीं हारी। यह पूरी शक्ति लगाकर सरोवर को खाली करने में जुटी है।

बुद्ध के मन में एक विचार आया। उन्होंने सोचा कि यह तो गिलहरी है, फिर भी अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में जुटी है। मैं तो मनुष्य हूं। आत्म ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ तो मन में निराशा के भाव आने लगे। इस प्रकार उन्होंने पुन: तपस्या में जुट जाने का संकल्प लिया।

आखिरकार एक दिन उन्हें आत्म ज्ञान प्राप्त हो गया और वे भगवान बुद्ध कहलाए।

अगर हम सजग रहते हैं, अगर हम अपने आसपास घट रही घटनाओं को देख पाते हैं, उनके मायनों को महसूस कर पाते हैं। अगर हमारा दिमाग पूर्वाग्रहों और धारणाओं से मुक्त है तो हमें हर दिन अपने प्रश्नों के उत्तर मिलते रह सकते हैं।

समता, व्यक्ति की गरिमा, करुणा, अपने लक्ष्य के प्रति निष्ठा सरीखे मूल्यों से ही बौद्ध दर्शन का उद्भव होता है। स्वाभाविक है कि इस दर्शन की उत्पत्ति सामाजिक अनुभवों से ही हुई। तभी तो भारतीय संदर्भ में करुणा और समानता के मूल्य का विस्तार बहुत व्यापक है।

न हि वेरेन वेरानि, सम्मन्तीध कुदाचनं। अवेरेन च सम्मन्ति, एस धम्मो सनन्तनो।

इस संसार में वैर (शत्रुता) से वैर कभी शांत नहीं होते, समाप्त नहीं होते। अ-वैर (मैत्री, प्रेम) से ही शांत होते हैं, समाप्त होते हैं। यही सदा से चला आ रहे संसार का सनातन सत्य है। यही प्रकृति का नियम है, यही सनातन धम्म है।

सब्बे तसन्ति दण्डस्स, सब्बेसं जीवितं पियं। अत्तानं उपमं कत्वा, न हनेय्य न घातये॥

दंड, अस्त्र-शस्त्र की चोट, पीड़ा से सभी डरते हैं और सबको अपना जीवन प्रिय है, ज़िंदा रहना सबको प्रिय लगता है। अतः सभी को अपने जैसा समझकर, अपने अनुभव के आधार पर सबके सुख-दुःख को जानकर, न किसी को चोट पहुंचाएं, न मारें और न मारने के लिए प्रेरित करें, न किसी को उकसाएं।

भक्ति आंदोलन और मूल्य

यदि हम भक्ति आंदोलन के दौर के साहित्य को देखें तो हमें पता चलता है कि उस काल में कर्मकांडों, मूर्ति पूजा, तीर्थाटन की अपेक्षा मानवीय मूल्यों पर ज्यादा जोर दिया जा रहा था। इसका एक उद्देश्य समाज में मौजूद जातिवादी, सामाजिक और धार्मिक कुरीतियों को दूर करना भी था।

भक्ति आंदोलन की शुरुआत दक्षिण भारत में सातवीं शताब्दी के आसपास हुई और इसका विकास बारहवीं शताब्दी तक होता रहा। इसका दूसरा चरण तेरहवीं शताब्दी से सोलहवीं शताब्दी तक आकार लेता रहा।

भारत में इस्लाम के आगमन के बाद हिंदू धर्म की विसंगतियों की समीक्षा और उन्हें नकारे जाने की स्थितियां बनने लगीं। अब दूसरे धर्म अपनाने के विकल्प भी सामने आने लगे। तब धार्मिक समूहों और गुरुओं ने यह संदेश देना शुरू किया कि ईश्वर एक है। वह निराकार है। बाहरी आडम्बर और कर्मकांड करना धर्म की अनिवार्य शर्त नहीं है। अच्छे काम करने से ही जीवन बेहतर होता है।

दक्षिण भारत में तमिल वैष्णव संत अलवार और शैव संत नयनारों ने भक्ति आंदोलन को ठोस स्वरूप प्रदान किया। भक्ति आंदोलन धार्मिक विचारों को व्यापक बनाने का लक्ष्य लेकर आगे बढ़ा। नागरिक पहल के नज़रिये से भक्ति आंदोलन इसलिए महत्वपूर्ण है क्योंकि इसमें धर्म के नाम पर स्थापित हुई सामाजिक विसंगतियों को दूर करने की पहल शामिल थी। यह माना गया कि धार्मिक विचार अलग-अलग हो सकते हैं, लेकिन मनुष्यों में एकता जरूरी तत्व है।

वास्तव में भक्ति आंदोलन में कर्मकांडों, मूर्ति पूजा, तीर्थाटन की अपेक्षा मानवीय मूल्यों पर ज्यादा जोर दिया जा रहा था। इसका उद्देश्य समाज में मौजूद जातिवादी, सामाजिक और धार्मिक कुरीतियों को दूर करना था।

भारत में समाज, सामाजिक व्यवस्था और धर्म के बीच के सह-संबंधों में संतुलन लाने के लिए रामानंद, कबीरदास, दादू दयाल, रैदास, गुरुनानक, सुंदरदास जैसे संतों ने प्रचलित सिद्धांतों को बदलने की पहल की। रामानंद ने जातिवादी व्यवस्था को चुनौती दी और सभी धर्मों एवं जातियों के लोगों को अपना शिष्य बनाया। उनके शिष्यों में कबीर (जुलाहा समुदाय), सेना (नाई समुदाय) और रैदास (चर्मकार समुदाय) से संबद्ध थे। यही दौर था जब सूफी-संतों ने उदारता, सहिष्णुता, आपसी सद्भाव अपनाकर ईश्वर एक ही है सरीखे विचारों की वकालत की।

कबीर ने सद्भाव और समानता के सिद्धांत को महत्व देते हुए अंधविश्वास, आडम्बर, मूर्ति पूजा, अवतारवाद जैसी सोच को चुनौती दी। उन्होंने अपने जीवन काल में ही हिंदू-मुस्लिम सद्भाव की बातें कहीं थीं।

गुरु नानक ने भी बाहरी आडम्बरों, जातिवादी व्यवस्था, छुआछूत, उंच-नीच, मूर्तिपूजा, अंधविश्वास आदि की आलोचना

की। उनका विचार मानवतावादी था।

रैदास चर्मकार समुदाय से आते थे और सभी धर्मों के मूल सिद्धांतों में एकरूपता देखते थे। मध्य काल में भक्ति आंदोलन को सामाजिक बदलाव का रूप देने में महाराष्ट्र के संतों नामदेव, संत ज्ञानेश्वर, एकनाथ, तुकाराम और रामदास ने बहुत अहम भूमिका निभाई।

पंद्रहवीं शताब्दी में भारत में सिख धर्म की शुरुआत हुई। इसे गुरुनानक देव द्वारा स्थापित किया गया। सिख धर्म मानता है कि ईश्वर एक ही है, हर व्यक्ति बुनियादी रूप से अच्छा है और दूसरों की मदद करके ईश्वर के करीब पहुंचा जा सकता है। सिख धर्म मानता है कि वंचितों, उपेक्षितों और गरीबों की सेवा और सहायता करना उसका कर्तव्य है। हमेशा पूरी ईमानदारी से अपना कर्तव्य निभाना चाहिए और हर वक्त ईश्वर को अपने ध्यान में रखना चाहिए।

यहां भक्तिकाल के कवि संत कबीर की कुछ बातों का उल्लेख जरूरी है ताकि यह प्रमाणित किया जा सके कि निर्गुण संत परंपरा के लोग समावेशी और न्याय परक समाज की संकल्पना करते थे। समाज के व्यवहार के बारे में कबीर ने कहा –

ऐसी बानी बोलिए, मन का आपा खोइ। अपना तन सीतल करै, औरन कौं सुख होइ॥

यानी ऐसी भाषा बोलनी चाहिए, जिससे अपना मन भी अनियंत्रित न हो, तन शीतल हो और दूसरों को भी सुख ही हो। भाषा वास्तव में हिंसा और वैमनस्यता को बढ़ा भी सकती है और उसे फैलने से रोक भी सकती है। इसी बात को भारतीय संविधान में लोक व्यवस्था, बंधुता और परस्परता के केंद्र में रखा भी गया है।

काबा फिर कासी भया, राम भया रहीम। मोट चून मैदा भया, बैठ कबीर जीम॥

मुझे जब तक ज्ञान नहीं था, तब तक काबा और काशी में भेद कर रहा था, जब ज्ञान हो गया तब राम-रहीम का भेद मिट गया और काबा और काशी एक हो गए। मन की कमजोरियों के कारण मोटा आटा समझता था, असल बात समझ आने पर वह मैदे जैसा बारीक हो गया है और अब उसे मैं आराम से जीम रहा हूं।

कबीर यह नहीं कहते कि जब कोई साम्राज्य अच्छा होगा तो समाज और लोग अच्छे हो जाएंगे। वे तो लोगों के जीवन को सार्थक बनाने के रास्ते बताते हैं। कबीर कहते हैं –

साँच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप। जाके हिरदै सांच है ताकै हृदय आप॥

इसका अर्थ है कि सच्चाई के बराबर कोई तप नहीं है, झूठ और गलत आचरण के बराबर का कोई पाप नहीं है। जिनके हृदय में सच्चाई है, उसी के हृदय में ईश्वर का निवास है।

साधु ऐसा चाहिए, जैसा सूप सुभाय। सार-सार को गहि रहे, थोथा देई उड़ाय।

संसार को ऐसे सज्जनों की जरूरत है, जैसे अनाज साफ़ करने वाला सूपड़ा होता है यानी जो सार्थकता को बचा लें और निरर्थकता को उड़ा कर दूर कर दें।

तिनका कबहूं न निंदिये, जो पांवन तर होय। कबहूं उड़ि आंखन पड़े तो पीर घनेरी होए।

छोटे से तिनके की भी कभी निंदा नहीं करना या उसे कमज़ोर मत समझना अगर वह उड़ कर आंख में पड़ जाए तो बहुत गहरी पीड़ा देता है।

जब धर्म की बात आती है, तब वे समाज की संकुचित मानसिकता पर सवाल करते हैं।

हिंदू कहे मोहि राम पियारा, तुर्क कहें रहमाना। आपस में दोउ लड़ी-लड़ी मुए, मर्म न कोउ जाना।

यानी हिंदू कहते हैं कि हमें राम प्यारे हैं और तुर्क यानी मुसलमान कहते हैं कि हमें रहमान प्यारे हैं; इस बात पर दोनों लड़ लड़ मरते हैं, लेकिन इनका मर्म यानी राम और रहमान का अर्थ इन्होंने जाना ही नहीं।

यह जानना दिलचस्प है कि पहली बार एक बेहतर, पंथनिरपेक्ष, समतामूलक समाज की संकल्पना केवल संविधान सभा के दिमाग में नहीं आई थी। तकरीबन 600 साल से अधिक पहले बनारस में जन्मे संत कवि रैदास (वर्ष 1398-1518) की इन पंक्तियों से समझा जा सकता है कि वे कैसे समाज की कल्पना करते थे :

ऐसा चाहूं राज मैं जहां, मिलै सबन को अन्न। छोट बड़ो सब सम बसै, रैदास रहै प्रसन्न॥
रैदास कनक और कंगन माहि, जिमि अंतर कछु नाहिं। तैसे ही अंतर नहीं, हिन्दुअन तुरकन माहि॥
हरि-सा हीरा छांड कै, करै आन की आस। ते नर जमपुर जाहिंगे, सत भाषै रविदास॥
कह रैदास तेरी भगति दूरि है, भाग बड़े सो पावै। तजि अभिमान मेटि आपा पर, पिपिलक हवै चुनि खावै॥
जाति-जाति में जाति हैं, जो केतन के पात। रैदास मनुष ना जुड़ सके, जब तक जाति न जात॥
कृष्ण करीम राम हरि राघव, जब लग एक न पेखा। वेद कतेब कुरान पुरानन, सहज एक नहिं देखा॥
हिंदू तुरक नहीं कछु भेदा, सभी मह एक रक्त और मासा। दोऊ एकऊ दूजा नाहीं, पेख्यो सोइ रैदासा॥
वर्णाश्रम अभिमान तजि, पद रज बंदहिजासु की। सन्देह-ग्रन्थि खण्डन-निपन, बानि विमुल रैदास की॥
जात-पात के फेर मह, उरझि रहे सब लोग। मानुषता को खात है, रैदास जात का रोग॥
जब सभ करि दो हाथ पग, दोउ नैन दोउ कान। रविदास पृथक कैसे भये, हिन्दु मुसलमान॥

रैदास चाहते थे कि हमारा देश, समाज ऐसा बने, जहां सब एक समान हों और सभी को पर्याप्त भोजन मिले। वह मानते थे कि जब तक जाति नहीं जाएगी, तब तक मनुष्य आपस में जुड़ नहीं सकते हैं। हिन्दुओं और मुसलमानों में कोई अंतर नहीं है। दोनों में एक जैसा रक्त है, एक जैसा मांस है। जब दोनों के शरीर में दो हाथ हैं, दो पैर हैं, दो आंखें, दो कान हैं, तो हिंदू और मुसलमान अलग कैसे हुए?

मस्जिद सों कुछ घिन नहीं, मंदिर सों नहीं पिआर। दोए मंह अल्लाह राम नहीं, कहै रैदास चमार॥

रैदास कहते हैं कि मुझे मस्जिद से घृणा नहीं है और न ही मुझे मंदिर से प्रेम है। वे कहते हैं कि सत्य तो यह है कि अल्लाह न तो मस्जिद में निवास करता है और न ही राम मंदिर में निवास करते हैं।

ऊंचे कुल के कारणै, ब्राह्मन कोय न होय। जउ जानहि ब्रह्म आत्मा, रैदास कहि ब्राह्मन सोय॥

केवल किसी ऊंचे कुल या जाति में जन्म लेने के कारण कोई ब्राह्मण नहीं बन जाता है। ब्राह्मण वो होता है है जो आत्मा को, ब्रहात्मा को जान लेता है।

इसी तरह मलूकदास ने हर तरह के भेद को खारिज किया। उनकी बात से बंधुत्व के सिद्धांत का सूत्रपात होता नज़र आता है। बंधुत्व का अर्थ होता है यह समझ लेना कि सभी इन्सानों, जीव-जंतुओं का अस्तित्व एक साथ होना ही सबसे सार्थक नियम है। उन्होंने कहा,

सबहिन के हम सबै हमारे। जीव जंतु मोहि लगै पियारे।
तीनों लोक हमारी माया। अंत कतहुँ से कोइ नहि लाया।

छत्तिस पवन हमारी जात। हमहीं दिन और हमहीं रात।
हमहीं तरवर कीट पतंगा। हमहीं दुर्गा हमहीं गंगा।
हमहीं मुल्ला हमहीं क़ाज़ी। तीरथ वरत हमारो बाज़ी।
हमहीं पंडित हमीं बैरागी। हमहीं सूम हमीं हैं त्यागी।
हमहीं देव औ हमही दानौ। भावै जा को जैसा मानों।
हमहीं दसरथ हमहीं राम। हमरे क्रोध हमारे काम।
हमह रावन हमहीं कंस। हमहीं मारा अपना बंस।
हमही जियावैं हमहीं मारैं। हमहीं बोरैं हमहीं तारैं।
जहां तहां सब जोति हमारी। हमहीं पुरुष हम्ही हैं नारी।

भारतीय सामाजिक दर्शन और सामाजिक परिवर्तन की तमाम पहलों में मूल्यों की अनिवार्य भूमिका रही है। मूल्यों ने न केवल इन पहलों को एक उद्देश्य प्रदान किया बल्कि उन्हें वांछित दिशा देने में भी मदद की। भारत में सामाजिक बदलाव का अध्ययन करते हुए मूल्यों के भारतीय संदर्भों को जानना-समझना आवश्यक है।

उन्नीसवीं-बीसवीं शताब्दी: एक निर्णायक मोड़

भारतीय समाज में मूल्य आधारित परिवर्तन के लिहाज से उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी एक निर्णायक मोड़ है। उस समय भारत ब्रिटिश उपनिवेश के अधीन था, परतंत्र और गुलाम देश था, लेकिन समानांतर रूप से भीतरी गुलामी यानी लैंगिक और जातिवादी व्यवस्था के शोषण से स्वतंत्रता को उपनिवेशवाद से मुक्ति की बुनियादी तैयारी के रूप में स्वीकार किया गया। इस दौर में उत्तर से दक्षिण और पूरब से पश्चिम तक भारतीय समाज में सुधार के सघन प्रयास हुए।

उन्नीसवीं और बीसवीं सदी में ऐसे अनेक समाज सुधारक हुए जिन्होंने मूल्य आधारित समाज की स्थापना के लिए अपने-अपने ढंग से काम किया। इनमें राजा राम मोहन राय, सावित्री बाई फुले, सर सैय्यद अहमद खां, अयोथी थास, मिर्जा गुलाम अहमद कादियान, दयानंद सरस्वती, पंडिता रमाबाई, आत्माराम पांडुरंग, नारायण गुरु से लेकर डॉ बी. आर. अम्बेडकर और महात्मा गांधी जैसे नाम शामिल हैं।

अयोथी थास

अयोथी थास दक्षिण भारत में 'समता मूलक समाज' का सपना देखने वाले शुरुआती लोगों में शामिल थे। थास का जन्म 20 मई 1845 को तत्कालीन मद्रास (तमिलनाडु) के निकट रोयापेटा में 'अछूत और अतिशूद्र' मानी जाने वाली 'परियाह' जाति में हुआ था।

थास ने ही दक्षिण भारत की सामाजिक व्यवस्था और जाति व्यवस्था को चुनौती देने वाले ईवी रामास्वामी पेरियार को प्रेरित किया था। डॉ. अम्बेडकर से बहुत पहले थास ने भी जाति प्रथा के उन्मूलन के लिए दलितों को बौद्ध धर्म अपनाने के लिए प्रेरित किया था।

थास आधुनिक भारत के दलित समुदाय में जन्मे पहले ऐसे व्यक्ति थे, जिसने जाति व्यवस्था और सामाजिक-आर्थिक शोषण की व्यवस्था को ऐतिहासिक, धार्मिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक संदर्भ में एक साथ देखा, समझा, उन पर अध्ययन किया और फिर जाति मुक्त समाज के लिए संघर्ष किया।

नारायण गुरु

वर्ष 1856 में अस्पृश्य माने जाने वाले एजवा समुदाय के एक परिवार में जन्मे श्री नारायण गुरु स्वामी आजीवन धर्म और जाति की संकीर्णता से मुक्त एक आदर्श जीवन के लिए काम करते रहे। नाराणय गुरु के जन्म के समय केरल का समाज ब्राह्मण और गैर-ब्राह्मण में बंटा हुआ था। उन्होंने अपना पूरा जीवन मानवीय समता, न्याय एवं बंधुता आधारित समाज बनाने के लिए समर्पित कर दिया।

पंडिता रमा बाई

पंडिता रमा बाई (1858-1922) पहली महिला थीं जिन्हें संस्कृत विद्वान के रूप में पहचान मिली और 'पंडिता' की उपाधि दी गई थी। उनके काम और अभियान का मकसद महिलाओं की शिक्षा और बाल विवाह की व्यवस्था को बदलना था। रमा बाई की पहल के प्रभावी परिणाम निकले और चिकित्सा शिक्षा में महिलाओं को स्थान मिला।

सावित्री बाई फुले

नौ साल की उम्र में सावित्री बाई का विवाह 12 साल के जोतिबा फुले के साथ कर दिया गया था। सावित्री बाई और जोतिबा फुले दोनों शिक्षा के महत्व को समझते थे इसलिए उन्होंने वर्ष 1848 में पुणे के भिडेवाडा में उपेक्षित जातियों की लड़कियों की शिक्षा के लिए स्कूल खोला। शुरू में इसमें छह लड़कियों ने दाखिला लिया। फिर वर्ष 1849 में वयस्क उम्र के व्यक्तियों के लिए भी स्कूल खोला। इसमें सभी जातियों के व्यक्तियों को दाखिला दिया गया ताकि आपसी भेदभाव समाप्त हो। प्रभावशाली जातियों का मानना था कि वंचित जातियों के बच्चों को शिक्षा देना पाप कर्म है। जब सावित्री बाई बच्चों को पढ़ाने के लिए स्कूल जातीं, तब उन पर गोबर और कीचड़ फेंका जाता, उन्हें पत्थर मारे जाते।

राजकुमार शुक्ल

राजकुमार शुक्ल। यह नाम दरअसल तप, संघर्ष, भरोसे और प्रतिबद्धता का प्रतिरूप है। राजकुमार शुक्ल की कहानी का उल्लेख महात्मा गांधी से पहले करने का कारण यह है कि देश को समझने में महात्मा गांधी की वास्तविक मदद उन्होंने ही की थी।

राजकुमार शुक्ल चंपारण के एक किसान थे। वे अपने इलाके में नील की खेती करने के लिए मजबूर लोगों की हालत से बहुत दुखी थे। उन्हें विश्वास था कि चंपारण में नील की खेती के कारण होने वाले शोषण से मुक्ति केवल महात्मा गांधी ही दिला सकते हैं।

उन्होंने ही महात्मा गांधी के चंपारण सत्याग्रह की व्यवस्था की। गांधी के चंपारण से चले जाने के बाद भी वे लगातार सांगठनिक काम करते रहे।

महात्मा गांधी और मूल्य

महात्मा गांधी के जीवन और उनके कामकाज में उनके मूल्यों और उनकी विचारधारा को स्पष्ट महसूस किया जा सकता है। गांधी ने अपने जीवन में सत्य, अहिंसा, आत्मनिर्भरता और सहिष्णुता जैसे मूल्यों को न केवल अपनाया बल्कि व्यापक समाज में इनकी स्थापना के लिए भी उन्होंने निरंतर काम किया।

गांधी का जीवन एक पारदर्शी जीवन था और वह ईमानदारी को सर्वोपरि मानते थे। वह मानते थे कि हिंसा को अपनाने के

बजाय प्रेम और करुणा की मदद से ही स्थायी परिवर्तन लाया जा सकता है। वह जाति, धर्म और भाषा जैसे बंधनों से परे समता और समानता के पक्षधर थे।

दक्षिण अफ्रीका से भारत वापसी के बाद चंपारण के किसान राजकुमार शुक्ल के लगातार आग्रह करने के बाद गांधी वहां गए। महात्मा गांधी किसी भी विषय का समग्र अध्ययन किए बिना कोई नज़रिया और कार्यक्रम नहीं बनाते थे। चंपारण के रैयतों और नील की खेती करने वालों की स्थिति के बारे में भी उन्होंने अध्ययन से ही शुरुआत की।

महात्मा गांधी ने लिखा है, "इन मुकदमों को पढ़ने के बाद मेरी राय तो यह बनी है कि अब हमें ये मुकदमे लड़ना ही बंद कर देना चाहिए। ऐसे मुकदमों से लाभ बहुत कम होता है। यहां रैयत इतनी कुचली गई है कि जहां सब इतने भयभीत रहते हैं, वहां कचहरियों के मार्फ़त थोड़ा ही इलाज हो सकता है। लोगों के लिए सच्ची दवा तो उनके डर को भगाना है। जब तक यह तिनकठिया प्रथा रद्द न हो, तब तक हम चैन से बैठ ही नहीं सकते।"

आखिरकार समुदाय के साथ अपने प्रयासों से गांधी तिनकठिया प्रथा रद्द करवाकर लोगों को राहत दिलाने में कामयाब रहे। यह उनका पहला सत्याग्रह था जिसने सही मायनों में उन्हें राष्ट्रीय नेता के रूप में स्थापित कर दिया।

चौरीचौरा कांड – कठिन विकल्प का चयन

हमें चौरीचौरा कांड को भी याद रखना चाहिए। जलियांवाला बाग़ हत्याकांड के बाद महात्मा गांधी ने असहयोग आंदोलन की शुरुआत की। आंदोलन के बीच में गोरखपुर जिले के चौरीचौरा नामक स्थान पर असहयोग आंदोलन के आंदोलनकारियों के विरुद्ध स्थानीय दरोगा गुप्तेश्वर सिंह और अन्य पुलिसकर्मियों ने हिंसा का सहारा लिया। इसके विरुद्ध 4 फ़रवरी 1922 को आंदोलनकारियों ने बड़ा धरना किया, जिससे निपटने के लिए सशस्त्र पुलिस बल भेजा गया। भीड़ को डराने के लिए पुलिस ने गोलियां चलाईं और तीन आंदोलनकारी मारे गए। गुस्साई भीड़ ने चौकी में आग लगा दी। इस घटना में तीन नागरिकों और 22 पुलिसकर्मियों की मृत्यु हो गई।

चौरीचौरा की घटना के बाद महात्मा गांधी ने 12 फरवरी 1922 को असहयोग आंदोलन को समाप्त करने की घोषणा पर दी। वे किसी भी कीमत पर हिंसा के माध्यम से स्वतंत्रता हासिल नहीं करना चाहते थे।

यह उदाहरण बताता है कि जब किसी बात को मूल्य के रूप में स्वीकार कर लिया जाता है, तब उस पर कायम रहा जाता है। उस पर कोई समझौता नहीं किया जाता है।

डॉ. अम्बेडकर का आर्थिक लोकतंत्र

डॉ. बी.आर. अम्बेडकर लोकतंत्र को एक ऐसे दृष्टिकोण के रूप में देखते थे जो मानव अस्तित्व के हर पहलू को प्रभावित करता है। आर्थिक लोकतंत्र को लेकर उनका नज़रिया आर्थिक असमानता को कम करने और सामाजिक न्याय को बढ़ावा देने में राज्य की भूमिका को प्रमुख मानता है। वह यह भी मानते हैं कि राजनीतिक लोकतंत्र को शक्तिशाली बनाने के लिए सामाजिक और आर्थिक समानता की आवश्यकता है।

स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान ही आर्थिक लोकतंत्र की बात भी होने लगी थी। डॉ. अम्बेडकर ने बार-बार दोहराया था कि केवल राजनीतिक लोकतंत्र आ जाने से भारत का भला नहीं होगा। सामाजिक लोकतंत्र और आर्थिक लोकतंत्र के बिना राजनीतिक लोकतंत्र के कोई मायने नहीं रह जाएंगे।

अगर हम कहें कि अब भारत में सभी को वोट देकर अपनी सरकार बनाने का अधिकार है, लेकिन दूसरी तरफ लोग

गरीबी, भूखमरी में जिएं, कुछ लोगों के पास देश की 90 प्रतिशत संपत्ति हो और बाकी के पास कुछ न हो, तब लोगों का राजनीतिक लोकतंत्र में कितना विश्वास रह जाएगा? इसी तरह लोग वोट तो दे सकेंगे लेकिन गांव के कुएं से पानी नहीं भर सकेंगे, परंपरा के नाम पर महिलाओं को प्रताड़ित किया जाता रहेगा, तो राजनीतिक लोकतंत्र में किसका विश्वास रह जाएगा?

भारतीय संविधान: दार्शनिक संदर्भों का महत्व

इसी प्रकार भारतीय संविधान और उसके मूल्यों की बात करें तो दार्शनिक संदर्भ भी बहुत महत्वपूर्ण हैं। इन्हीं संदर्भों की बदौलत भारतीय संविधान एक जीवंत और गतिशील दस्तावेज के रूप में सामने आ सका और देश के विकास तथा नागरिकों के कल्याण की प्रेरणा बन सका।

भारतीय संविधान का पहला मूल संदर्भ जुड़ता है भारत की दार्शनिक परंपराओं से। इन परंपराओं में मानव के अस्तित्व के प्रश्न पर विविध विचार हैं, प्रकृति के साथ गहरा रिश्ता है, असहमतियां हैं, अहिंसा, असंचय और करुणा के मूल्य हैं, विश्व को एक कुटुंब मानने की दृढ़ता है। प्राचीन भारतीय दर्शन में धर्म और न्याय की अवधारणाएं बहुत महत्वपूर्ण थीं। भारतीय दर्शन में समाज के प्रति कर्तव्यबोध भी हमेशा से महत्वपूर्ण रहा है। लेकिन जब सत्ता अपने हितों को स्थापित करने के लिए जातिगत भेदभाव और लैंगिक असमानता के नियम लागू कर देती है, तब दार्शनिक परम्पराएं लोक व्यवहार से बाहर हो जाती हैं और सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था विसंगतियों से भर जाती है। इस पृष्ठभूमि में भारतीय संविधान हमें अपने मूल दार्शनिक चिंतन की तरफ लेकर जाता है। वह विश्व शांति, समता, समानता, शोषण से मुक्ति, सबको न्याय, सबकी गरिमा जैसे मूल्यों को व्यवस्था के आधारभूत मूल्य के रूप में स्थापित करता है।

भारतीय समाज विविधताओं से भरा है। यहां असंख्य जाति-धर्म और संस्कृतियां हैं। इन विविधताओं के बीच एक चीज जो हमें एक राष्ट्र के रूप में एकजुट रखती है वह हैं मूल्य। आज जब हम तमाम वैश्विक चुनौतियों से दो-चार हैं, इन मूल्यों को जानना-मानना और अपनाना हमारी सामाजिक और नैतिक जिम्मेदारी है। इनका पालन करके ही हम एक समतामूलक और गरिमामय समाज का निर्माण कर पाएंगे।

"सबहिन के हम सबै हमारे। जीव जंतु मोहि लगै पियारे।
तीनों लोक हमारी माया। अंत कतहुं से कोइ नहि लाया।।"

– मलूकदास

हम सभी के हैं और सभी हमारे हैं। मुझे सभी जीव-जंतु प्यारे लगते हैं। तीनों ही लोक यानी भौतिक जगत मेरी ही माया हैं यानी प्राणी और ब्रह्म दोनों एक हैं। यहां कुछ भी कहीं और से नहीं लाया गया है।

Rekindling the Light of Constitutional Values: As Within, So Without

Sravani Sarkar

It should actually have been difficult to absorb the idea. What was the need to even talk about, let alone initiate a full-fledged fellowship programme with focus on 'Constitutional Values'?

The values enshrined in the Indian Constitution should not have been something alien to Indian society. Why did they need discussion, reappraisal or introspection, let alone a renewed attempt to imbibe, after seven decades of its adoption?

Apparently, the values such as justice, liberty, equality and fraternity have been deeply woven into India's social-cultural milieu. These were supposed to be the very values that defined India – one of the most ancient civilizations in the world.

In selecting the values to be incorporated into the preamble, the architects of the Indian Constitution probably did not have to look far and beyond. They seemingly selected these values as much with the confidence of them being deeply rooted in the Indian psyche; as with the hope and dream that they will continue to define India's socio-political and cultural character in posterity. But when this idea was propounded in 2022 by Vikas Samvad Samiti – to initiate fellowships for journalists and advocates focusing on Constitutional Values it actually did not take much effort to absorb the notion.

Rather, there was a feeling of relief and a flicker of hope. This was because, 70 years after the adoption of Indian Constitution, the Indian socio-political state of affairs seemed to me at the crossroads where it required a clearly lighted path to follow.

Growing up in a multi-language, multi-cultural setting, social values and ethics – the very basis of Constitutional Values were sort of inbuilt in me.

It is not that there weren't examples of decadence of these values and ethics around me even then. But these examples seemed comparatively far and wide and only served to strengthen my resolve of upholding my own values and ethics, especially after I became a professional journalist.

As a journalist I felt it was a greater responsibility upon me to not only uphold the values and ethics at a personal and professional level. But there is no harm in acknowledging that I was never conscious of the fact that in upholding this responsibility, I was actually upholding the Constitutional Values. This was perhaps because the socio-political atmosphere was not yet openly marred.

Introduction

Sravani Sarkar is a journalist with experience of over 30 years. Her focus area of work has been the development sector. She has worked extensively in Madhya Pradesh and Chhattisgarh as well as in Maharashtra with national level print media organisations. She is recipient of several awards. She has also been associated with different fellowships as a selection panel member and mentor. She loves traveling across the country, studying and documenting issues affecting socioeconomic development. She is one of our esteemed jury members and Samvidhan Samvad fellowship mentors.

But since a while, the scenario unfolding around me has seemed quite unreal. During the past few years, many things and people started looking almost unrecognizable to me in their socio-political context.

The discordance, the hatred, the divisiveness, the aggression bordering on violence was prevalent and quite difficult to digest. It was too uncomfortably close to one.

Frankly, the most suitable option seemed to be severing some ties, avoiding some groups and platforms and ignoring some situations. But taking that option only brought guilt and frustration rather than relief or hope.

At such point, came the opportunity to become part of a process that aimed at rekindling the ethos of Constitutional Values in the personal and professional conduct of two crucial professional groups of people – the journalists and the lawyers. I had been an outside associate of Vikas Samvad in its long-drawn effort to ensure food and nutrition rights of people in Madhya Pradesh and beyond as a jury member of its fellowship programme on this topic.

The issue related health, nutrition, rights had always been close to my heart and as a professional journalist I always tried my best to shine light on them. Being a jury member of a fellowship based on these issues for close to a decade was thus an extremely satisfying experience for me.

But I was not prepared for the feelings that becoming a part of the fellowship programme focusing on Constitutional Values churned inside me. It seemed that finally I had found a way to do my bit in my own way towards what I felt was much needed course correction in the Indian socio-political journey ahead.

Since I was still working full-time as a professional journalist, the association started only on the outside. Initially, my role was limited to be a part of the jury for selection of working journalists from Madhya Pradesh for yearlong fellowships.

Even this limited role was a great honour and experience, especially because the other members of the jury were all my seniors, with extensive knowledge and deep insight. They are beacons not only as professionals but also as human beings. And the new light that I saw them in was that they were all flag bearers of the ethos of Indian Constitution in their own way.

As the process started, it became clear to me that a big part of my esteem for these jury members and the proponents of the idea (of fellowships on Constitutional Values) from within Vikas Samvad had to do with how these personalities represented the Indian value system – the very values that are embedded in the Indian Constitution.

The opportunity to hold discussions with them on the Constitutional Values as well as allied topics has been a great learning experience that continues. Each of the meeting opportunities has brought forth newer aspects, provided fresh ideas to ruminate upon and view things in newer light.

The Experience Within And Without

The selection process itself brought before us a string of proposals of aspirants, who were supposed to select newsy and issues-based topics to work upon, albeit in the light of constitutional values.

The proposals came from a wide array of journalists – fresh to those with decades of experience, coming from mofussil places to the big cities, freelancers to those working with small banners and with big media houses.

Irrespective of the category they came from, the one thing their proposals highlighted was the fact that the there was but little awareness about Constitutional Values even among journalists, at least in Madhya Pradesh.

Aspirants were shortlisted and called for personal interviews and during this process it became very clear that indeed there was little consciousness or knowledge on Constitutional values. Almost all of them confused constitutional rights (and often duties) with values – a very common confusion prevalent across the society.

Journalists are considered as conduits of information and opinion making, so the fact that they were basically unaware of Constitutional Values did not augur well, especially in the current circumstances. But this is probably the basic reason that the idea of the fellowship had to be mooted. So rather than getting disappointed, the focus was laid on starting right from the beginning.

Selected journalists were provided handholding in the form of mentors (from among the jury members and outside) and a module was prepared to provide inputs to the fellows in a phased manner. This included a process right from introducing the values to them to instilling the values at personal level and implementing them in their professional work.

Series of workshops, expert lectures and regular inputs from mentors and Vikas Samvad team was provided to the fellows.

The effort was not only to help them work on their selected journalistic topics using the lens of Constitutional values, but also to prepare them to absorb the values internally and spread it around them as much as possible. The concept of developing peer groups by the fellows was another step towards this.

Initially, I would look at the fellows from a distance, during the periodic review workshops and often I was surprised at how changed some of them seemed within a few months. Right from their vocabulary to their mannerisms (obvious in their presentations) to their very thinking process, there would be sea change in some of them. Others might not have undergone such palpable change, but there was no doubt about the change. Only the degrees varied.

An Integral Part

However, it was during the past year that I became very closely associated with the process; as having resigned my job finally became open to take upon the mentorship of four journalist fellows.

I knew that it was a big responsibility and initially I even had some doubts about my own capability of fulfilling this task well. But, I wanted to do as much as possible and as best possible towards the larger goal and so I prepared myself for the role.

And the past year has really been an invigorating journey where I learnt a lot myself and was probably able to widen the way of learning and awareness for my mentees too.

The yearlong process had me go that much deeper into the making of the Indian Constitution. I understood the dream that the makers of the Constitution had for India while drafting and adopting the Constitution and the confidence that they seemed to have on the Indian people to carry the values forward.

It became clearer to me that these makers attempted to give formal and binding shape to the existing Indian social values and ethos in the Constitution.

There was no alien concept in there. It all came from our ancient set of values and our way of life.

But they seemed to be aware of the violations and decadence of the values such as justice, liberty, equality and fraternity threatening the social fabric of the country as it emerged as a free nation after almost 200 years of servitude.

The very process of gaining independence was steeped in literal geographic, political and social division of the country and consequent large-scale violence. The Constitution makers were naturally concerned and wanted to ensure that the values and ethos of the country was protected, preserved and conserved in a formal and legal manner (in the form of Fundamental Rights and Duties).

Simply put, embedding the basic human and social values into the preamble of the Constitution was their way of stamping them into the very soul and the working framework of the country. They wanted to see that not only were the values protected but that they thrived as the country matured.

So, it seems much more unfortunate that we lost track somewhere and things came to an end when a section of the Indian people felt it necessary to attempt to rekindle the light that we should have naturally inherited from our civilization and our Constitution.

With that clarity, I constantly engaged with not only with the four fellows under my mentorship, but also with the other fellows who reached out and others I had the opportunity to interact with during the periodic workshops.

Learning While Imparting

The engagement with fellows and the periodic exchange of knowledge with my co-mentors and other experts apart from Vikas Samvad team opened up for me an interesting vista of learning while imparting.

To answer the various queries raised by the fellows and to resolve the practical problems faced by them to implement Constitutional Values in their journalistic writing, I had to delve far deeper into the various aspects of these values than I had ever before.

It made me understand the fact that while as a person and professional I might have been broadly adhering to the Constitutional Values quite naturally, there was yet something wanting.

The most important of these lacunae was that I had never tried to stop the decadence or spread the values among those around me and rather often mocked those who failed to adhere to the values.

Looking back, I could see that I could have probably done far more to stem the violation and decadence of values around me, if I had openly pointed out, discussed and tried to find the best solution in the given circumstances.

I could understand that being an island while adhering to values was not much useful as the decadence only grows and spreads around you. Unless one openly engages with any such instance – positive or negative and attempts to take it to a logical conclusion, the job is not complete.

One might feel quite happy and satisfied with oneself for having lived up to the values and ethics, but one failed to stem the rot around. This realization made me appreciate and value the opportunity to become a part of the fellowship programme far more than I had thought initially.

I feel that being a part of the process has provided me with the opportunity to not only learn and introspect a lot, but also to make an attempt to repair to an extent the jagged edges that I had been leaving behind. It has certainly been a journey of change as much within as without and I am grateful for it!

वह मुझे संविधान जीना सिखा गए...शुक्रिया फैलोज़

सुनील कुमार गुप्ता

तीन साल पहले जब विकास संवाद की संविधान संवाद फैलोशिप के साथ एक जूरी सदस्य और मेंटर के रूप में भूमिका निभाना शुरू की, तब संविधान को गहराई से समझने का सुनहरा अवसर मानकर इस दायित्व को स्वीकार किया। तब यह सिर्फ एक दायित्व जैसा लगा, जिसमें अपने अनुभव साझा करना, मार्गदर्शन करना और फैलोज को संविधान की मूल भावना से परिचित कराना था। धीरे-धीरे यह यात्रा बाह्य दायित्व से मेरे लिए एक आंतरिक परिवर्तन की प्रक्रिया बन गई। यह यात्रा सिर्फ फैलोज़ को उनकी अध्ययन यात्रा, कहानियों को गढ़ने के तौर-तरीकों, उनमें संवैधानिक मूल्यों की तलाश, उनकी पहचान, संवेदनाओं, अनुभवों, अभिव्यक्ति के बारे में बात करने, सिखाने की नहीं, बल्कि स्वयं अपनी धारणाओं, पूर्वाग्रहों और चुप्पियों से लड़ने की भी यात्रा रही।

इन तीन वर्ष में तकरीबन 12 मीडिया फैलोज़ के साथ मेंटर के रूप में सीधे जुड़कर काम किया और कुल 45 फेलोज़ को काम करते देखा, सुना। इसके अलावा अधिवक्ता फेलोज़ की बड़ी संख्या थी, जो अपने-अपने मेंटर के दिखाए रास्ते पर चलते हुए कानूनी मामलों को संवैधानिक मूल्यों के नजरिये से पढ़-लड़ और गढ़ रहे थे और एक अलहदा मूल्य आधारित हस्तक्षेप की इबारत लिख रहे थे।

इस फैलोशिप की खास यह बात रही, इसमें चयनित युवा फेलो मध्य प्रदेश के अलग-अलग अंचलों के जिलों, शहरों, दूरदराज गांवों, कस्बों से हाशिये पर खड़े समुदायों, विविध जाति, धर्म, लिंग और आर्थिक व सामाजिक परिवेश से प्रतिनिधित्व करते हुए यात्रा के सहभागी थे। कई युवा साथी समाज के उन तबकों से थे या उनके बीच रहते, जीते, देखते आए थे, जहां समानता सिर्फ किताबों में होती है, जिंदगी में नहीं।

साथियों के मैदानी अनुभवों को जान कर यह भी शिद्दत से महसूस करने का अवसर मिला कि 'हम भारत के लोग' वाक्य से शुरू होने वाले संविधान की प्रस्तावना में निहित न्याय, स्वतंत्रता, समानता, बंधुता, गरिमा जैसे मूल्य केवल कागजी शब्द नहीं हैं, इन्हें सरल शब्दों में सबके बीच पहुंचना चाहिए। वास्तव में ये ही मानवीय मूल्य हैं। हर मूल्य दूसरे के बिना अधूरा है, लेकिन संविधान संवाद फैलोशिप के दौरान मैं अपने अनुभवों के आधार पर विशेष रूप से समता और समानता के मूल्य को रेखांकित करना चाहूंगा। साथ ही यह उल्लेख करना चाहूंगा कि पितृसत्तात्मक सोच से उपजी

परिचय

सामाजिक, विकास परक, राजनीतिक विषयों पर तीन दशक से भी अधिक समय से सक्रिय पत्रकार सुनील कुमार गुप्ता देशबंधु, दैनिक जागरण, नेटवर्क-18 जैसे मीडिया संस्थानों में संपादकीय दायित्व का निर्वहन करने के बाद इन दिनों स्वतंत्र लेखन कर रहे हैं। आपका मीडिया कंसलटेंट के रूप में कार्य के अतिरिक्त पुस्तक, शोध लेखन, पाठन, संपादन, प्रकाशन कार्यों से जुड़ाव रहा है। आपने सामाजिक संस्थाओं के साथ जुड़कर सीखने, सिखाने की प्रक्रिया में सहभागिता की है। अभिनय, गायन, कविता, शायरी, जीवन, घुमक्कड़ी में विशेष रुचि रखने वाले सुनील कुमार गुप्ता संविधान संवाद फैलोशिप में ज्यूरी सदस्य तथा मेंटर हैं।

परंपराओं, रूढ़ियों, कुप्रथाओं, अंधविश्वासों के नाम पर लैंगिक असमानता, भेदभाव की प्रथाएं समाज में किस कदर गहरे जड़ें जमाए बैठी हैं। संविधान संवाद फैलोशिप किस तरह से दूसरों को जगाने ही नहीं, बल्कि स्वयं के जागने, व्यवहार परिवर्तन और समाज के लिए अपनी भूमिका तय करने में मदद करती है।

गांव की मिट्टी में उतरने, घर में दाखिल होने लगा संविधान

स्वभाव से बेहद संकोची नर्मदापुरम जिले से एक मीडिया फैलो रहे अक्षय नेमा फैलोशिप के दौरान चर्चा करते हुए कई बार व्यथित से हो जाते थे। वे कहते हैं, "जुझारपुर, मलोथर बांदरी, रैसलपुर जैसे गांवों में जाकर लोगों से संविधान की बात करता हूं तो वे हँसने लगते हैं, तब मेरे मन में सवाल उठता है कि क्या संविधान पढ़े-लिखे लोगों की ही जुबान है?"

जब अक्षय सांगाखेड़ा ग्राम पंचायत की सरपंच सावित्री बाई धुर्वे की जमीन से उठ कुर्सी पर बैठने तक के सफर और लैंगिक भेदभाव के दंश और पद पर पहुंचने के बाद सामाजिक नजरिये में बदलाव के बारे में बताते हैं तो मुझे लगता है कि कैसे समता और समानता के संवैधानिक मूल्य कागजों से निकलकर गांव की मिट्टी पर उतरते हैं। उस समय मुझे महसूस होता है कि इस सफर में कितना टकराव, टूटन और अकेलापन रहा होगा।

अक्षय की कहानी सुनने के बाद यह तो जाहिर होता है कि अधिकांश गांवों में पंचायत के कामकाज तो महिला पंचो-सरपंच के पति, ससुर-जेठ, भाई-भतीजे ही संभाल रहे हैं, लेकिन जब यह पता चलता है कि सावित्री बाई के सरपंच बनने के बाद महिला पंच साथ बैठकर फैसले भी कर रही हैं। लड़कियों का स्कूल खोलने का फैसला हुआ है। महिलाएं पंच-सरपंच तक पहुंचकर अपनी समस्याएं बताने लगी हैं। गांव में शराबबंदी को लेकर लड़ाई लड़ी जा रही हैं। जब कोई लड़की कहती है कि अब मैं रात में बेखौफ निकल सकती हूं, तब यह सब जानकर खुशी होती है कि संविधान सचमुच घर की चौखट के भीतर भी प्रवेश कर रहा है, लैंगिक भेदभाव से लड़ते हुए समानता की नई इबारत लिख रहा है।

जब अक्षय छुआछूत मिटाने की शुरूआत अपने घर से करते हैं, जब वे सांप्रदायिक सद्भाव बिगाड़ने वाली एक घटना के वक्त मोहर्रम के जुलूस के दौरान पुजारी द्वारा शरबत बांटने और दीपावली के त्योहार पर मुस्लिम परिवार द्वारा दीप और मिठाइयां भेंट करने की खबर लिखते हैं तो बंधुता के मूल्य को पल्लवित, पोषित कर रहे होते हैं।

हम आईना साफ करते रहे, चेहरे पर धूल थी

वहीं स्वभाव और लेखन में मुखर एक फेलो ममता यादव जब दर्जनों चिंतकों, वरिष्ठ पत्रकारों और समकालीनों से संवाद के बाद यह हकीकत सामने लाती हैं कि जैसे नेपोलियन बोनापार्ट के वक्त की कहावत है कि 'सेना पेट के बल चलती है, याने किसी भी सैनिक को पेट भर खाना मिलना चाहिए', वैसी ही घर चलाने की चुनौती एक पत्रकार के सामने होती है. असुरक्षित जिंदगी, असुरक्षित रोजगार, अनिश्चित काम के घंटे, वेतन विसंगति, मीडिया मालिकोंसत्ता-नौकरशाहों का गठजोड़, बाजार के सामने उनका नतमस्तक हो जाना उसके पत्रकारीय कार्य-व्यवहार और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को भी प्रभावित करता है और विश्वसनीयता में गिरावट का कारण बनता है। वे अपने लेखन में सारे संवैधानिक मूल्य खो देता है। किसी के इशारे पर या अपनी नासमझी अथवा अंसवेदनशीलता से किसी की भी निजता और गरिमा के मूल्यों को ध्वस्त कर देता है। मीडिया में जेंडर भेदभाव के चलते महिला पत्रकारों के सामने अभद्र, असमान व्यवहार, काम, वेतन और सुरक्षा को लेकर तो और कठिन चुनौतियां हैं। जब वे बताती हैं कि अधिकांश संस्थानों में महिला शौचालय तक नहीं हैं, तो संविधान का अनुच्छेद 21 (जीवन और गरिमा का अधिकार-मूल्य) एक असल सवाल बनकर सामने आता है।

अधिवक्ताओं की संवैधानिक चेतना

पेशे से वकील फैलो नवेंदु मिश्रा जब अपने क्षेत्र में नागरिक अधिकारों के लिए आवाज उठाने वाली सिविल सोसायटी की पहल और बच्चों, युवाओं को संवैधानिक मूल्यों का पाठ पढ़ाने का अनुभव साझा करते हैं, तो लगता है कि सदियों की चुप्पी टूट रही है, संविधान रोशन होने लगा है। अधिवक्ता अमोल श्रीवास्तव जब पूरे अध्ययन, दलीलों और उदाहरणों के साथ पदोन्नति में आरक्षण का सवाल उठाते हैं, तो विश्वास जागता है कि जाति, धर्म, लिंग से परे समता और समानता के लिए उनकी पैरवी संवैधानिक मूल्यों को पुनर्स्थापित करने में जरूर कामयाब होगी।

यह केवल एक्टिविज्म नहीं है, निदा रहमान की मुखरता

एक अन्य फेलो निदा रहमान जब मुस्लिम परिवारों में तीन तलाक के फैसले और संपत्ति में उत्तराधिकार को लेकर मुखर होती हैं, तो महसूस होता है कि वे सिर्फ एक्टिविज़्म नहीं कर रहीं, वे डर के खिलाफ खड़ी हो रही हैं, और समाज को खड़ा कर रही हैं।

अंधविश्वास से संविधान की ओर

शहडोल से संविधान संवाद फेलो शुभम सिंह बघेल की आदिवासी समुदाय में 'दागना' जैसे अंधविश्वास से बच्चों की मौतों की खबर को सामने लाते हुए जब खुद इस अंधविश्वास के खिलाफ लोगों को जागरूक करने की साझा पहल करते हैं, रैलियां निकालते हैं, एक टीम साथ लेकर लोगों से मिलते हैं, तो लोगों के बीच संविधान दस्तक दे रहा होता है।

एक सवाल भी उठा कि दागना जैसी कुप्रथा के पीछे कारण क्या है, जवाब खोजने पर पाते हैं कि आदिवासी समुदाय के लोग शिक्षा, सोच, व्यवहार और आर्थिक स्तर पर इतने सक्षम नहीं है कि स्वास्थ्य सुविधाओं तक उनकी आसान पहुंच हो सके। इस कुप्रथा के लिए वे व्यवस्था भी जिम्मेदार है, जो कमजोर, वंचित वर्ग को बुनियादी स्वास्थ्य सुविधाएं भी मुहैया नहीं करा पाई है। ऐसे में लाचार लोग अंधविश्वासों की जकड़न से मुक्ति की चाहत के बाद भी मुक्त नहीं हो पाते, क्योंकि कोई और रास्ता नहीं सूझता, लेकिन शुभम की कोशिशें एक विश्वास देती हैं कि संविधान सिर्फ कानून नहीं, जागरूकता की मशाल भी है।

नीति नहीं, नीयत की लड़ाई

कार्यस्थल पर महिलाओं से लैंगिक आधार पर भेदभाव, प्रताड़ना विषय पर काम करने वाली रुचि वर्मा जब एक पूर्व वरिष्ठ आईएएस महिला अफसर के हवाले से लिखती हैं कि लैंगिक भेदभाव और भ्रष्टाचार के कारण महिला आइएएस अफसरों को बड़े विभाग नहीं मिलते, वरिष्ठ अफसर हमारी तुलना अपनी आराम तलब बीवियों के करते हैं और कहते हैं इन्हें तो घर बैठना चाहिए। तीन गुना काम के बावजूद थोड़ा-बहुत प्रोत्साहन मिल पाता है। महिला अधिकारियों पर तो 9 टू 5 आईएएस अधिकारी होने का ठप्पा लगा हुआ है। कमोबेश यही स्थिति महिला आईपीएस अफसरों की है। इसके अलावा रुचि डिंडौरी जिले में कन्या विवाह योजना के तहत आयोजित सामूहिक विवाह कार्यक्रम में दुल्हनों के प्रेग्नेंसी टेस्ट, ग्वालियर के संगीत महाविद्यालय की महिला कर्मियों और भोपाल के सबसे बड़े सरकारी अस्पताल में नर्सों के सेक्सुअल हैरेसमेंट के आरोपों पर स्टोरी करती हैं और आरोपियों के अपनी-अपनी जगह जमे रहने पर सवाल करती हैं कि अगर संविधान अनुच्छेद -21 सभी को गरिमा के साथ जीवन जीने का अधिकार देता है, तो फिर ये भेदभाव क्यों? ये तमाम कहानियां साबित करती हैं कि समाज में बदलाव नियमों से ज्यादा सोच और व्यवहार से आता है। ये कहानियां यह भी बताती हैं कि चाहे दुल्हनों का प्रेग्नेंसी टेस्ट किए जाने का विरोध हो या नर्सों द्वारा प्रताड़ना के खिलाफ आवाज उठाना, जब

कोई महिला इस असमानता के खिलाफ खड़ी होती है, तो वे सिर्फ अपने लिए नहीं, बल्कि आने वाली पीढ़ियों के लिए रास्ता बना रही होती हैं।

ट्रांसजेंडर समुदायः पहचान और गरिमा का संघर्ष

एक अन्य फेलो शिवांगी सक्सेना के साथ ट्रांसजेंडर अधिकारों पर एक मेंटर के रूप में काम करते हुए पाया कि आज भी ट्रांसजेंडर हों या अन्य लैंगिक पहचान के लोग, आज भी स्वीकार्यता, पहचान और आत्मसम्मान के लिए जूझ रहे हैं। आज भी समाज में स्त्री-पुरूष के इतर किसी लैंगिक पहचान या लैंगिक व्यवहार की स्वीकार्यता नहीं बन पाई है, उन्हें हिकारत से देखा जाता है, भद्दी गालियां दी जाती हैं और उपेक्षा की जाती। समूचा व्यवस्था-तंत्र भी इसी नकारात्मक मानसिकता का शिकार है। हर जगह महिला के लिए सीट, महिला के लिए लाइन, महिलाओं के लिए हेल्पलाइन नंबर लिखा मिला जाएगा, महिला शौचालय-पुरूष शौचालय मिल जाएंगे, लेकिन ट्रांसजेंडर के लिए कहीं कोई व्यवस्था नहीं है। न आजीविका, न इलाज, न इंसाफ। एक ट्रांसजेंडर देवी सवाल उठाती हैं, "ट्रांसजेंडर के लिए जेंडर न्यूट्रल वॉशरूम क्यों नहीं है?" शिवांगी का अध्ययन बताता है कि केरल, कर्नाटक, तमिलनाडु जैसे राज्यों में, जहां ट्रांसजेंडर को परिवार, समाज में स्वीकृति मिली है, वहां ट्रांसजेंडर अमूमन दरवाजों पर गाते-बजाते, भीख मांगते नहीं दिखेंगे, वे पढ़ते-लिखते, ऊंचे ओहदों पर काम करते मिल जाएंगे, लेकिन उत्तर भारत में उपेक्षा और अस्वीकार्यता की दीवारें अभी भी मजबूत हैं।

यहां डिप्रेशन, मेंटल ट्रामा, एचआईवी-एड्स के शिकार ट्रांसजेंडर की बहुत बड़ी संख्या है। इनका दैहिक शोषण बहुत ज्यादा होता है। इसके बावजूद एक सुखद सच्चाई यह भी है कि मप्र में भी ट्रांसजेंडर के अलावा अन्य लैंगिक पहचान, व्यवहार वाले लोग समाज में अपनी पहचान सामने लाने की कोशिश करने लगे हैं। ट्रांसमेन के लिए इंदौर में फाउंडेशन चलाने वाले निकुंज तापीश, भोपाल में ट्रांसजेंडर के लिए सरकारी योजनाओं का लाभ दिलाने और उनकी स्वास्थ्य सुविधाओं को लेकर लंबे समय से काम कर रहे अब्दुल माजिद, भोपाल निवासी पहली ट्रांसजेंडर महिला माउंटेनियर किट्टू जैसे लोग परिवर्तन की लौ जलाए हुए हैं। हाशिए पर जी रहे इस समुदाय के लोगों में यह विश्वास जगाने का प्रयास कर रहे हैं कि संविधान में निहित समानता और गरिमा के मूल्य सबके लिए हैं।

...और अंत में

हर फेलो की अपनी कहानियां हैं, जिनके घूमते आईनों में मूल्यों की तलाश में भटकती जिंदगी के अक्स नजर आते हैं। इन तीन वर्ष की यात्रा में मैंने फेलोज को जीवन में संविधान देखना, पढ़ना, मूल्य परखना सिखाया, पर फैलोज़ मुझे संविधान जीना सिखा गए। मैंने उनकी कहानियों में पाया कि समानता रोजमर्रा के व्यवहार, भाषा और चुप्पियों में छिपी होती है। मैंने जाना कि चाहे अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की बात हो या न्याय अथवा समानता की बात, कुछ भी बिना संघर्ष के हासिल नहीं होता। मूल्य एक सतत् अभ्यास हैं, यह यात्रा अभी समाप्त नहीं हुई है। यह तो शुरूआत है-संविधान को जीने, समझने और सबके लिए समानता सुनिश्चित करने की। एक कोशिश है संवाद के जरिए संवैधानिक मूल्यों के बीज रोपने की। निंदाई, गुड़ाई, खाद-पानी, देखभाल का काम खुद को करना होगा। विश्वास है नजर बदलेगी, तो नजरिया बदल ही जाएगा।... शुक्रिया फेलोज़।

संवैधानिक मूल्य और विधि व्यवसाय

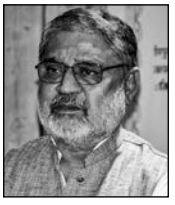

विभूति झा

Today hundred percent recruitment to the Bench is from the Bar starting from the subordinate judiciary to the higher judiciary. You cannot find honest and hardworking Judges unless you find honest and and hardworking lawyers in their chambers. Time has come when Society in general, respective Bar Council of the states and the Judges should take note of the warning Bells and take remedial steps and nip the evil on the curse in the bud...

- Supreme Court of India (AIR 2003 SC 308)

(आज निचली अदालतों से लेकर उच्चतर अदालतों तक शत-प्रतिशत जज वकीलों के बीच से ही नियुक्त किए जाते हैं। आपको ईमानदार और परिश्रमी जज मिल ही नहीं सकते जब तक कि आपके पास ईमानदार और परिश्रमी वकील न हों। अब समय आ गया है, जब हमारे समाज, हमारे राज्यों की बार कौंसिल और न्यायाधीशों को खतरे की घंटियों की ओर ध्यान देना चाहिये और (आज परिलक्षित हो रहे) इस अभिशाप या पतन को दुरुस्त करने के लिये प्रयत्न करना चाहिये।)

- सर्वोच्च न्यायालय (ए.आई.आर. 2003 एस.सी. 308)

दो दशक से भी पहले हमारे सर्वोच्च न्यायालय द्वारा वकील के व्यावसायिक दुराचार से सम्बन्धित इस मामले में व्यक्त की गई चिंता आज और भी अधिक गंभीर तथा प्रासंगिक हो गई है। इस उल्लेख से यह भी स्पष्ट है कि हमारी न्याय व्यवस्था की धुरी वास्तव में देश का वकील समुदाय है, न कि न्यायाधीशगण, जैसी कि आम धारणा है क्योंकि वकीलों के बीच से ही न्यायाधीश बनते हैं और इस नियुक्ति के लिए वकालत का अनुभव होता प्रारंभिक शर्त है। विडंबना यह है कि हिंदी भाषा में अन्य उपयुक्त शब्द न होने से हमें वकालत को 'विधि व्यवसाय' कहना पड़ता है जबकि संविधान और विभिन्न कानूनों-नियमों तथा सर्वोच्च न्यायालय के निर्णयों में यह स्पष्ट है कि वकालत कोई 'व्यवसाय' नहीं है, वरन् न्याय प्रदान किए जाने के लिए निर्वाह किया जाने वाला दायित्व है।

परिचय

अधिवक्ता-लेखक विभूति झा ने सागर विश्वविद्यालय से एम.ए. और एल.एल. बी. किया। तत्पश्चात जे.एन. यू. (नई दिल्ली) से समाज विज्ञान में शोधकार्य किया। विभूति झा ने 1979 में भोपाल में वकालत शुरू की। भोपाल गैस त्रासदी मामले में गैस पीड़ितों की ओर से किया गया उनका कार्य वकालत में मील का पत्थर माना जाता है। जिला अदालत से लेकर सर्वोच्च न्यायालय तक में पैरवी कर चुके विभूति झा ने 2007 से वकालत और नगरीय समाज से दूर बना ली। वे मध्य प्रदेश के मंडला और अलीराजपुर ज़िलों के सुदूर गांवों में आदिवासियों के साथ निवास करते हुए 'ग्रामसभा' के माध्यम से सशक्तिकरण के लिए प्रयास कर रहे हैं।

"The central function of the legal profession is to help promotion of administration of justice ..."

और यह कि "Law is no trade, briefs no merchandise..."

वकालत एक व्यवसाय न हो कर न्याय की स्थापना की दिशा में विधि शिक्षा में पारंगत व्यक्ति का योगदान है, इस दृष्टि से इसे 'विधि व्यवसायी' न कहकर 'विधि श्रमिक' कहना अधिक उचित और गरिमामय हो सकता है। वकालत के लिए पूंजी की अनिवार्यता नहीं है वरन् वकील का विधि ज्ञान ही उसकी क्षमता है और ईमानदारी तथा लगन उसकी पूंजी है।

हमारे संविधान में नियमित व्यवस्थाओं और अधिनियमों की स्थापना और रक्षा करने का दायित्व मूल रूप से वकीलों के समुदाय का है, वे ही सबसे अधिक समाज से जुड़े हुए और समाज के प्रति जवाबदेह हैं। हमारे संविधान निर्माताओं ने "राज्य" को परिभाषित करते हुए पूरी सतर्कता और दूरदृष्टि के साथ न्यायपालिका को इससे अलग रखा है। संविधान के अनुच्छेद 12 में 'State' या 'राज्य' को परिभाषित करते हुए इसके अंतर्गत भारत सरकार, संसद, राज्यों की सरकारें, विधायिका तथा सभी स्थानीय व अन्य अधिकरणों या केंद्र सरकार के नियंत्रण में सारे अधिकरणों को सम्मिलित किया गया है, जिनके विरुद्ध मूलभूत अधिकारों के उल्लेखन को चुनौती दी जा सकती है लेकिन न्यायपालिका इसमें शामिल नहीं है, क्योंकि मूलभूत अभिकारों का संरक्षण और पोषण न्यायपालिका का कर्तव्य है। और न्यायपालिका का तात्पर्य ही है मूलरूप से भारत का वकील समुदाय वकील ही न्यायपालिका के सदस्य बनते हैं और वकील पीड़ित को न्याय दिलाने के लिये पैरवी करते हैं। यह वास्तविकता है कि यदि संविधान की स्थापनाओं, मूल्यों, भावनाओं और आदर्शों का राज्य द्वारा हनन हो रहा है तो इसक लिये सबसे अधिक जिम्मेदारी और जवाबदारी वकील समुदाय की ही कही जा सकती है। क्या एक आम नागरिक और यहाँ तक कि उनका हित संरक्षण करने वाली संस्थाएँ भी वकीलों की मदद के बिना सक्षम न्यायालय तक पहुँच पाने और न्याय के लिए लड़ पाने की कल्पना भी कर सकते हैं?

संविधान का अनुच्छेद 141 यह उपबंध करता है कि सप्रीम कोर्ट द्वारा की गई की कानून व्याख्या अर्थात् सुप्रीम कोर्ट द्वारा घोषित कानून ही पूरे देश में सभी न्यायालयों पर बंधनकारी होगा, यानी सुप्रीम कोर्ट द्वारा घोषित कानून ही इस देश का कानून होगा। अनुच्छेद 142 में यह व्यवस्था है कि सुप्रीम कोर्ट 'संपूर्ण न्याय' करने की दिशा में उसके समक्ष लंबित किसी भी मामले में कोई भी आवश्यक आदेश या दिशा-निर्देश पारित कर सकता है। अर्थात् सर्वोच्च न्यायालय के क्षेत्राधिकार में संपूर्ण न्याय के लिए आवश्यक आदेश पारित करने का अधिकार अंतर्निहित है और ऐसा आदेश पूरे देश पर प्रभावी होगा। अनुच्छेद 144 में यह स्पष्ट प्रावधान है कि पूरे देश में प्रत्येक सिविल (अर्थात् प्रशासनिक) और जुडीशियल (अर्थात् न्यायिक) अधिकारी या अधिकरण सुप्रीम कोर्ट के अधीन रहते हुए उसके द्वारा दिए गए प्रत्येक आदेश या निर्देश का पालन करने/ कराने के लिए बाध्य होंगे।

संविधान के अनुच्छेद 141, 142 144 के प्रावधानों को एक साथ देखने से यह स्पष्ट रूप से प्रकट होता है कि संविधान की प्रस्तावना में उल्लिखित आदर्शों, संविधान में प्रदत्त मूलभूत अधिकारों और नीति निर्देशों की भावना को मूर्तरूप देने और उनकी रक्षा करने का दायित्व मुख्य रूप से सुप्रीम कोर्ट में निहित हैं और इन आदर्शों तथा भावनाओं का संरक्षण ही भारत में प्रजातंत्र तथा सामाजिक न्याय को पुष्ट कर सकता है। हम जानते हैं कि सुप्रीम कोर्ट का अर्थ देश की राजधानी में सुशोभित एक भवन नहीं है वरन् वहाँ बैठकर न्याय प्रदान करने वाले न्यायाधीशगण हैं, जो वकील समुदाय से ही निकल कर आए हैं, और वे वकील हैं जो न्यायालय के समक्ष तर्क रखते हुए न्याय प्रदान में मददगार होते हैं और जो न्यायालय के अधिकारी हैं। इस परिप्रेक्ष्य में वकीलों से संबंधित कुछ कानूनी प्रावधानों को समझना उचित होगा। Advocates Act, 1961 (एडवोकेट्स एक्ट) वह कानून एनरोलमेंट, प्रैक्टिस और आचरण को प्रावधानित करता है। इस अधिनियम के अंतर्गत किसी भी राज्य की स्टेट बार कौंसिल में एनरोल होने के बाद एक वकील देश में कहीं भी और किसी भी न्यायालय या अधिकरण में उपस्थित होकर पैरवी करने के लिए अधिकृत हो जाता है। यद्यपि राज्यों में उक्त न्यायालयों तथा सुप्रीम कोर्ट में उपस्थित हो कर पैरवी करने के लिये कुछ विशेष शर्तों का पालन करना होता है। 21 वर्ष की आयु पूरी करने वाला

प्रत्येक भारतीय नागरिक विधि स्नातक होने के बाद वकील बनने की पात्रता रखता है। जैसा कि धारा 24 में प्रावधानित है। धारा 24-ए में उन अपवादों का उल्लेख है जिनके आधार पर वकील बनने की पात्रता से वंचित हो जाएगा-

(अ) चारित्रिक दोषों पर आधारित अपराध में सजायाफ्ता

(ब) छुआछूत से संबंधित अपराध (अस्पृश्यता अपराध अधिनियम 1955) के अंतर्गत सजायाफ्तर

(स) चारित्रिक दोषों पर आधारित किसी मामले में राज्य की सेवा से निष्कासित।

इन अपवादों के अंत में जोड़े गए 'परंतुक' की ओर ध्यान देना बहुत आवश्यक है :

"परंतु वकील के रूप में मान्यता प्राप्त करने में उपरोक्त रुकावटें/ अपवाद उस व्यक्ति की सजा काटकर छूटने या निष्कासित होने की दो वर्ष की अवधि पूरी होने पर अपने आप समाप्त हो जाएगी।"

अर्थात् किसी भी गंभीर से गंभीर अपराध में सजा काटने के बाद दो वर्ष की अवधि बीतने पर वह व्यक्ति वकालत में सम्माननीय पेशे का सदस्य हो सकता है। और इसी तरह चारित्रिक पतन के आधार पर राज्य की नौकरी से बर्खास्तगी के दो साल बाद वह व्यक्ति एक 'चरित्रवान' अधिवक्ता बनने की पात्रता रखता है।

गुजरात उच्च न्यायालय ने 1982 में पारित एक निर्णय में कहा था :

It is for the legal profession to consider whether it would like to continue to admit persons who have been convicted of offences involving mural turpitude of accepting illegal gratification, rape, dacoity forgery etc. To be enrolled as members merely because two years have elapsed after date of their release from immprisionment.

(वकील समुदाय को यह विचार करना चाहिए कि क्या वह ऐसे व्यक्तियों को अपना सदस्य बनाता रहेगा जिन्हें चारित्रिक पतन यथा भष्टाचार, व्यभिचार, डकैती, फोर्जरी आदि का दोषी पाया जा कर दंडित किया जा चुका है और सजा काट चुका है?)

यह प्रश्न आज भी अनुत्तरित है और ऐसे लोग वकालत के पेशे को सुशोभित करते हुए 'कानून की रक्षा और स्थापना' का बीड़ा उठाए हुए हैं।

ऐसी जानकारी नहीं है कि वकील समुदाय, बार कौंसिल ऑफ इंडिया या किसी स्टेर बार कौंसिल द्वारा आज तक यह मांग उठाई गई हो कि एडवोकेट एक्ट के इस प्रावधान में संशोधन किया जाए।

इस पृष्ठभूमि में हाई कोर्ट और सुप्रीम कोर्ट में नियुक्ति संबंधी प्रावधानों को देखना भी जरूरी होगा। संविधान का अनुच्छेद 217 हाईकोर्ट के न्यायाधीशों की नियुक्ति को प्रावधानित करता है 217 (2) में उल्लिखित है कि किन लोगों में से जज बनाए जाएंगे।

Art. 217 (2) A person shall not be qualified for appointment on a Judge of a Hingh Court unless he is a citizen of India and

(a) has for at least ten years held a judicial office in the territory of India; on

(6) has for at least ten years been an advocate of High Court...."

अर्थात् 10 साल की अवधि तक न्यायिक अधिकारी के पद पर कार्य करने वाले अथवा 10 साल की अवधि तक किसी उच्च न्यायालय में वकालत करने वाले व्यक्ति को हाई कोर्ट जज बनने की पात्रता होगी। सर्वोच्च न्यायालय तथा कुछ

उच्च न्यायालयों ने यह व्यवस्था दी है कि 10 साल तक डिस्ट्रिक्ट कोर्ट में वकालत करने वाला वकील भी पात्रता रखता है। न्यायिक अधिकारी में बीच से आने वाले व्यक्ति भी मूलत: उन्हीं वकीलों में से सेवा में आए हैं जिन्हें एडवोकेट्स एक्ट के अंतर्गत एनरोल किया गया था।

लगभग ऐसे ही प्रावधान अनुच्छेद 124 के अंतर्गत सुप्रीमकोर्ट के जज की नियुक्ति के संबंध में है यहाँ नियुक्ति के लिए किसी हाई कोर्ट में कम से 5 साल जज रहे या किसी हाई कोर्ट या सुप्रीम कोर्ट में कम से कम 10 साल वकालत करने वाले व्यक्ति अथवा प्रतिष्ठित न्यायविद पात्र होंगे।

संविधान में जितना लिखित है, उतना ही अलिखित भी है। संविधान निर्माताओं के अनुभव, आदर्शों, मान्यताओं पर आधारित सोच बहुत कुछ अलिखित है। संविधान लागू होने के बाद इतने वर्षों में स्थापित तथा पूर्व से चली आ रही परम्पराएं, प्रथाएँ कन्वेंशन्स संवैधानिक व्यवस्था का हिस्सा है जो अलिखित हैं। हमारा देश और समाज जिस दिशा में आज बढ़ रहा है, उसमें यह निरंतर देखने को मिल रहा है कि हमारे देश का शासन तंत्र संविधान की अलिखित मर्यादाओं और मान्यताओं का सम्मान नहीं कर रहा है, संवैधानिक प्रावधानों की मन-माफिक व्याख्या कर रहा है। न्यायपालिका पर दबाव निरंतर बढ़ता जा रहा है, मूल अधिकारों और नीति निर्देशक सिद्धांतों के हनन की प्रवृत्ति निरंतर बढ़ती जा रही है। ऐसे समय में वकील समुदाय को समाज और संविधान के प्रति और अधिक संवेदनशील तथा जागरूक होने की आवश्यकता है, तभी हमें समाज और सामाजिक न्याय के प्रति कटिबद्ध न्यायाधीश मिल सकते हैं। लेकिन न्यायाधीशों की नियुक्ति से संबंधित संवैधानिक प्रावधानों और वकीलों से संबंधित एडवोकेट्स एक्ट के प्रावधानों को एकसाथ देखने से यह आशंका और भय होना स्वाभाविक है कि चारित्रिक पतन और भ्रष्टाचार के लिए दंडित हो चुके व्यक्तियों में से जो वकील बने हैं, उन्हीं में से कुछ न्यायाधीश भी बनाए जाने लगेंकोई कानूनी रोके तो नहीं है। शासन तंत्र जिस दिशा में आगे बढ़ रहा है, जिस तरीके से फैसले ले रहा है। उसमें सब कुछ संभव है। ऐसी आशंकाओं को निर्मूल करने के लिए वकील समुदाय को ही आगे आना पड़ेगा। वकील केवल अपने मुवक्किल के प्रति ही नहीं वरन् समाज के प्रति भी उत्तरदायी है और सबसे अधिक संविधान की रक्षा के लिए प्रतिबद्ध हैं। व्यक्तिगत और आर्थिक हितों से ऊपर उठकर भी अपने सामाजिक दायित्वों का पालन करना आज सबसे बड़ी आवश्यकता है, बहुत बड़ी जिम्मेदारी है प्रत्यके वकील की। देश में वकीलों की शीर्षस्थ वैधानिक संस्था 'बार कौंसिल ऑफ इंडिया' ने वकीलों के आचरण और व्यवहार से संबंधित नियम बनाए हैं। एडवोकेट्स एक्ट बीट, 1961 की धारा 49 के अंतर्गत प्रदत्त अधिकारों के प्रयोग में बनाए गए 'बार कौंसिल ऑफ इंडिया रूल्स, 1975' के दूसरे अध्याय में इनका उल्लेख है। इनमें से कुछ नियमों की ओर ध्यान देना उचित होगा :-

नियम 46 -

"Every Advocate shall in the practice of the profession of law bear in mind that any one genuinely in need of a Lawyer is entitled to legal assistance even though he cannot pay for it fully or adequately and that within the limits of an Advocate's economic condition, free legal assistance to the indigent and oppressed is one of the highest obligations an Advocate owes to Society."

(वंचित और उत्पीड़ित को अपनी सामर्थ्य के अनुसार मुफ़्त कानूनी सहायता प्रदान करना प्रत्येक वकील की समाज के प्रति उच्चतम दायित्व है।)

सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक उत्पीड़ित के खिलाफ और सामाजिक न्याय के हित में जो वकील अपनी विशिष्ट सामाजिक स्थिति और बौद्धिक सिद्धहस्तता के साथ खड़ा नहीं होता, वह समाज और अपने पेशे के प्रति दायित्व निर्वाह में चूक रहा है।

हमारे देश में वकीलों के सामाजिक योगदान की गौरवशाली और महान परंपरा रही है। गांधी और नेहरू मूलतः वकील थे, हालांकि गांधी ने कभी भारत में वकालत नहीं की और नेहरू एक तरह से शौकिया वकील थे। लेकिन मोतीलाल नेहरू, तेज बहादुर सप्रू, मोहम्मद अली जिन्ना और भूलाभाई देसाई जैसे लोगों को हम कैसे नजरअंदाज कर सकते हैं? इनमें से प्रत्येक अत्यंत प्रतिष्ठित, व्यस्त और सम्पन्न उच्चतम स्तर का वकील होते हुए अपने पेशे को छोड़े बिना समाज के लिए सर्वस्व न्यौछावर करने के लिए तत्पर होता था। भारत को आजादी दिलाने में वकीलों की अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका रही है। आजादी के बाद भी संविधान निर्माण और राष्ट्र निर्माण में न केवल डॉ. अम्बेडकर वरन् डॉ. सर हरीसिंहगौर जसे अनेक उच्चतम स्तर के वकीलों और न्यायविदों की भूमिका रही है। हम सब इन्हें याद करते हैं, इनका सम्मान करते हैं लेकिन हममें से कितने लोग उनके आदर्शों से प्रेरित होकर समाज के प्रति अपने दायित्वों का निर्वाह करने का सचेतन प्रयत्न करते हैं?

जीरस पी.एल. भगवती, जस्टिस कृष्णा अय्यर, जस्टिस डी.ए. देसाई जैसे सुप्रीम कोर्ट के सामाजिक प्रतिबद्धता वाले न्यायाधीशों की पहल पर 80 के दशक में पीआईएल, लोक अदालत और फिर मुफ्त कानूनी सहायता प्रदान करने की शुरुआत की गई जो निरंतर जारी है और जिसने एक संस्थागत तथा औपचारिक रूप ले लिया है। किन्तु यह प्रत्येक वकील द्वारा अपने दायित्व निर्वाह में प्रदान की जाने वाली कानूनी सहायता का विकल्प नहीं है। यह तो एक तरह से वकीलों की सामाजिक प्रतिबद्धता में कमी और अपने दायित्व के प्रति उदासीनता का घोतक है कि सुप्रीम कोर्ट के न्यायाधीशों को इस दिशा में सोचना पड़ा। विभिन्न रूपों में उत्पीड़न का शिकार हो रहे वंचित व्यक्तियों और समुदायों को वकीलों की प्रतिबद्धता, सहृदयता तथा सामाजिक न्याय के प्रति दायित्व निर्वाह में तत्परता से ही न्याय की कुछ आशा हो सकती है, न कि संस्थागत प्रयास से। एक गांव, एक कस्बे, एक मोहल्ले से लेकर देश की राजधानी तक ऐसे अनगिनत, वंचित, उत्पीड़ित लोग और समुदाय है जिन्हें हर कदम पर अन्याय भुगतना पड़ता है। क्या संस्थागत कानूनी मदद उन्हें उपलब्ध है या उनके लिये पर्याप्त विकल्प हैं? सिर्फ न्यायलयों में ही नहीं वरन् न्यायालय के पहले और न्यायालय के बाहर भी कानूनी मदद निरंतर आवश्यक है जो वकील ही उपलब्ध करवा सकते हैं और जिसका कोई विकल्प नहीं है।

लगभग आधी शताब्दी पूर्व वकालत के पेशे में दाखिल होने के बाद तीन दशक तक सिविल जज के न्यायालय से सुप्रीम कोर्ट तक में पैरवी करने के अपने अनुभव और फिर न्यायलयीन प्रक्रिया से मुक्त होकर लगभग दो दशक बाहर रहकर देखने के बाद मैं कह सकता हूँ कि बहुत ही इने-गिने वकील इस तरह की प्रतिबद्धता लिए हुए दिखाई दिए। इन्हें उंगलियों में गिना जा सकता है। बेहद अफसोस और चिंता की बात यह है कि निचली अदालतों में काम करने वाले गाँव, कस्बे, छोटे शहरों के वकीलों में यह संख्या बहुत ही कम हैनगण्य है, जबकि सबसे अधिक आवश्यकता इन्हीं स्थानों पर है। हाई कोर्ट स्तर पर ऐसे वकीलों की संख्या इससे थोड़ी ही अधिक है जबकि सुप्रीम कोर्ट के स्तर पर कुछ अधिक संख्या में ऐसे वकील कार्यरत हैं। यह सचमुच चिंता का विषय है। ऐसे निराशाजनक माहौल में 'विकास संवाद' की 'संविधान फैलोशिप' में अंतर्गत काम कर रहे वकीलों में पिछले तीन सालों काम कर रहे वकीलों में पिछले तीन सालों में सामाजिक प्रतिबद्धता के साथ मुफ्त कानूनी सहायता उपलब्ध करवाने के प्रति बढ़ती जागरूकता और तत्परता सचमुच एक बहुत छोटे स्तर पर आशा की किरण की तरह. दिखाई देती है। आवश्यकता है ऐसे प्रयासों की निरंतरता और देश के विभिन्न केंद्रों में ऐसी ही पहल का होना। हम एक सार्थक प्रयास ही कर सकते हैं।

संवैधानिक मूल्यों की राह पर

हमारा सफ़र

संविधान संवाद
वरिष्ठ पत्रकार फैलोशिप 2022–25

यात्रा, अनुभव और अभिव्यक्ति

विकास संवाद

मीडिया: संवैधानिक मूल्यों की रक्षा में भूमिका

अजय बोकिल

परिचय

बीते तीन दशक से पत्रकारिता में सक्रिय अजय बोकिल नईदुनिया (इंदौर व भोपाल संस्करण), प्रदेश टुडे, दैनिक सुबह सवेरे में विभिन्न दायित्व निभा चुके हैं। अजय बोकिल अपने राजनीतिक, ऐतिहासिक, सामाजिक और सांस्कृतिक संदर्भों पर आधारित स्तंभों के कारण चर्चित रहते हैं। आपको जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी पुरस्कार, मराठी साहित्य अकादेमी द्वारा सुदीर्घ कार्य के लिए सम्मान सहित विभिन्न अलंकरण प्रदान किए गए हैं।

देश में आजादी के अमृत काल में यह सवाल शिद्दत से उठ रहा है कि जिसे लोकतंत्र का चौथा स्तंभ कहा जाता है, उस मीडिया की संवैधानिक मूल्यों की रक्षा में क्या भूमिका है? क्योंकि इन्ही मूल्यों की बदौलत भारत में लोकतंत्र कायम है और इन्ही मूल्यों की वजह से मीडिया को अभिव्यक्ति की आजादी और काम करने की स्वतंत्रता हासिल है। सत्तातंत्र का सच जनता तक न पहुंचे इसके लिए उस पर अंकुश लगाने के प्रयास तो पहले भी होते रहे हैं, लेकिन बीते एक दशक में पिछले दरवाजे अथवा सीधे तौर पर अभिव्यक्ति की आजादी को नियंत्रित करने अथवा उसका इस्तेमाल अपने हितों में करने की प्रवृत्ति तेजी से बढ़ी है। इसका नतीजा यह है कि बहुतांश में मीडिया की भूमिका महज सत्ता के अनुकूल व्यवहार करने तथा अपने व्यावसायिक हितों की संरक्षा करने तक केंद्रित होती जा रही है।

कई बार सरकारों पर यह आरोप लगा है कि वे मीडिया और खासकर इलेक्ट्रॉनिक और प्रिंट मीडिया पर परोक्ष नियंत्रण की कोशिश कर रही हैं, जबकि ऐसा करना अथवा करने की कोशिश करना अभिव्यक्ति की आजादी और व्यक्ति की स्वतंत्रता जैसे अधिकारों को नकारना है। इन दबावों के चलते मीडिया का व्यवहार दो तरह से दिखाई पड़ता हैएक, जो सत्ता-तंत्र के आगे शरणागत है और जिसका काम केवल सत्ता के अनुकूल आचरण करना है तथा दूसरा वह है, जो पत्रकारिता के बुनियादी मूल्यों को कायम रखते हुए अपना काम करने की कोशिश कर रहा है।

दुविधा की ऐसी स्थिति उस आपात काल में भी नहीं बनी थी, जब मीडिया पर सीधे सेंसरशिप लागू कर दी गई थी। यह भी पहली बार देखने में आ रहा है कि संवैधानिक मूल्यों की खातिर सत्ता-तंत्र से पंगा लेने वाले मीडिया को देशद्रोही तक कहा जा रहा है, जबकि मीडिया खुद लोकतंत्र और संविधान का जनरक्षक है, क्योंकि मीडिया की स्वतंत्रता और निष्पक्षता का सीधा संबंध भारत के नागरिक की स्वतंत्रता से है।

सरकार का पक्ष

इनमें से कई बातें ऐसी हैं, जिनके ठोस प्रमाण देना शायद मुश्किल हों, लेकिन उसे महसूसा जा सकता है। समाचार चैनलों पर इस तरह के परोक्ष दबाव का मामला सुप्रीम कोर्ट तक पहुंचा था। तब भारत सरकार की ओर से सॉलिसिटर जनरल तुषार मेहता ने सुप्रीम कोर्ट में बयान दिया था कि भारत सरकार टीवी चैनलों के कंटेंट पर कोई नियंत्रण रखना नहीं चाहती, क्योंकि वह मीडिया के अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के अधिकार का सम्मान करती है। इसी प्रकार पत्रकार अर्णब गोस्वामी बनाम महाराष्ट्र सरकार मामले में सुप्रीम कोर्ट के तत्कालीन न्यायाधीश डी.वाय. चंद्रचूड ने कहा था कि यदि मीडिया को

बांध दिया जाएगा, तो नागरिक स्वतंत्रता भी अस्तित्व में नहीं रहेगी।

मीडिया की ताकत

इसमें शक नहीं कि मीडिया आज देश में बहुत ताकतवर संस्था है। आजादी की लड़ाई में लोगों को प्रेरित करने में मीडिया ने अहम भूमिका निभाई। आजादी के बाद भी मीडिया का संवैधानिक मूल्यों के अघोषित रक्षक और विकास की दृष्टि से महत्वपूर्ण किरदार रहा है, लेकिन एक-डेढ़ दशक पहले सोशल मीडिया के उद्भव के साथ अनियंत्रित मीडिया की ऐसी बाढ़ आ गई है, जहां सच और झूठ का अंतर ही मानो समाप्त हो गया है। पहले सामूहिकता और समाज पर होने वाले उसके असर को ध्यान में रखते हुए मीडिया काम करता था, लेकिन अब ऐसा नहीं है। वह भी समाज को बांटकर और व्यावसायिक हितों को ध्यान में रखकर काम कर रहा है।

सोशल मीडिया ने व्यक्तिवादी और व्यक्ति केंद्रित मीडिया का विश्व इतना विस्तृत कर दिया है कि उस पर अंकुश लगाना लगभग असंभव है। सोशल मीडिया के साथ 'एजेंडा पत्रकारिता' की विधा भी तेजी से पनपी है। यह ऐसी विधा है, जहां संवैधानिक तो ठीक किसी भी मूल्य के कोई मायने नहीं हैं।

मीडिया की भूमिका

सोशल मीडिया की अराजकता के इस दौर में यह सवाल गंभीरता से उठ रहा है कि आखिर संवैधानिक मूल्यों को सहेजने और उसकी पवित्रता कायम रखने में आज मीडिया की भूमिका क्या है? कैसी है और कितनी है? है भी या नहीं?

मानवीय मूल्यों की कसौटियां

इसके लिए मीडिया के व्यवहार को हमें संविधान की उद्देशिका में दिए गए शाश्वत मानवीय मूल्यों की कसौटी पर कसना होगा। ये हैं-

1. **सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय।**
2. **विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतंत्रता।**
3. **प्रतिष्ठा और अवसर की समता।**
4. **राष्ट्र की एकता अखंडता।**
5. **व्यक्ति की गरिमा सुनिश्चित करने वाली बंधुता को बढ़ाना।**

हमें देखना होगा कि क्या मीडिया आज इन मूल्यों को सहेजने के मकसद से काम कर रहा है या नहीं? मीडिया समाचार, विचार, विमर्श तथा बहसों की प्रस्तुति इन मूल्यों के अनुरूप है या नहीं? मीडिया में आज जो कुछ और जिस नीयत से परोसा जा रहा है, वह संविधान की आत्मा के अनुरूप है या नहीं? है तो इसके पीछे कौनसे कारण हैं और नहीं है, तो किन कारणों से ऐसी स्थिति बन रही है।

यह सवाल इसलिए महत्वपूर्ण है कि यदि मीडिया ने संवैधानिक मूल्यों को सहेजने का काम नहीं किया, तो देश में विभाजन और विखंडन की स्थिति बनेगी और सामाजिक बंटवारा समूचे देश को ही खंड-खंड कर देगा। मीडिया पर यह बहुत बड़ा दायित्व है कि वह हर हाल में संवैधानिक मूल्यों की रक्षा और संरक्षण का काम करे, ताकि आने वाली पीढ़ियां यह न कहें कि 21वीं सदी के पूर्वार्द्ध में मीडिया की भूमिका पक्षपातपूर्ण अथवा अदूरदर्शी तथा देशहित के विरुद्ध थी।

लोकतंत्र के प्रतिज्ञा-पत्र की ज्योति

मीडिया की इस भूमिका का महत्व इसलिए भी है, क्योंकि हमारे संविधान की उद्देशिका में ही विचार स्वातंत्र्य की गारंटी दी गई है। इसी का और विस्तार अनुच्छेद 19(1) में अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता और बोलने की आजादी के अधिकार के रूप में किया गया है। यानी भारत के नागरिकों को अपनी बात कहने, उसका प्रसार करने तथा किसी भी माध्यम से संचार करने का अधिकार दिया गया है। यह अपने आप में बहुत महत्वपूर्ण इसलिए है, क्योंकि संविधान निर्माताओं को इस बात का बखूबी एहसास था कि अभिव्यक्ति की आजादी के बगैर न तो लोकतंत्र जीवित रह सकता है और न ही राजनीतिक स्वतंत्रता का कोई अर्थ है।

यह विचार भी आजादी के आंदोलन में हिंदी और भारतीय भाषाओं के प्रेस व पत्रकारों की सक्रिय भूमिका के कारण ही अस्तित्व में आया। प्रेस, जिसे अब समग्रता में मीडिया कहा जाने लगा है, का महत्व आज भी अक्षुण्ण है। एक प्रकरण में सुप्रीम कोर्ट ने भारत में मीडिया की भूमिका को 'लोकतंत्र के प्रतिज्ञा-पत्र की ज्योति' निरूपित किया था। इसीलिए मीडिया को लोकतंत्र का चौथा स्तंभ भी कहा जाता है। मीडिया के इस तेवर को इमर्जेंसी में लागू सेंसरशिप भी नहीं झुका सकी, क्योंकि उस कठिन समय में भी संविधान के बुनियादी मूल्यों का रक्षा कवच बनकर खड़ा रहा।

आज मीडिया पर सीधा अंकुश नहीं है, बावजूद इसके मीडिया रेंगने और आरती उतारने की मुद्रा में ज्यादा दिखता है। आज जमीनी सचाई यह है कि सर्व-समावेशिता के तमाम दावों के बावजूद असहिष्णुता बढ़ रही है और किसी भी प्रकार का विरोधी स्वर व्यवस्था को मंजूर नहीं है।

रंगराजन एवं अन्य विरुद्ध जगजीवन राम व अन्य प्रकरण में सुप्रीम कोर्ट ने खुली आलोचना करते हुए कहा था कि अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को सीमित करने के लिए सरकारी नीति वैध आधार नहीं है। असहिष्णुता लोकतंत्र के लिए उतनी ही हानिकारक है, जितनी कि किसी व्यक्ति के लिए।

एजेंडा पत्रकारिता का दौर

मीडिया की स्वतंत्रता और निष्पक्षता को लेकर बीते कुछ सालों में कई सवाल उठे हैं, खासकर आर्थिक घोटालों, धार्मिक तनावों और एक खास नरेटिव तैयार करने, जिससे कि सत्ता पक्ष को फायदा हो, लेकिन अब तो ऐसा महसूस होने लगा है कि मीडिया खुद अपना एजेंडा चला रहा है, जिसके पीछे बाजार का दबाव तो है ही, साथ ही सत्ता पक्ष के प्रचार और हित-रक्षण की अघोषित जिम्मेदारी भी उसने ओढ़ ली है अथवा उसे ऐसा करने पर विवश किया जा रहा है। इससे आम जनता की उस अपेक्षा की उपेक्षा हो रही है, जिसके तहत सही और प्रामाणिक सूचना उस तक पहुंचनी चाहिए।

मीडिया के इस 'असंवैधानिक' व्यवहार के पीछे कारण

1. **पेड न्यूज :** पेड न्यूज भी एक तरह से असत्य और अपुष्ट समाचार का ही एक प्रकार है, जो किसी दल, संस्था या व्यक्ति से निश्चित धनराशि के बदले प्रकाशित की जाती है। यह शुद्ध रूप से एक व्यवसाय है, जिसमें पत्रकारिता के एथिक्स को ताक पर रख दिया जाता है।

2. **मीडिया का कॉर्पोरेटीकरण :** संसदीय स्थायी समिति ने 2013 में मीडिया के कॉर्पोरेटीकरण को लेकर एक रिपोर्ट भी पेश की थी, जिसमें अनुबंध आधारित पत्रकारिता और केंद्रीय सूचना प्रसारण मंत्रालय की जवाबदेही पर भी सवाल उठाए गए थे। मीडिया के कॉर्पोरेटीकरण से मीडिया संस्थानों में काम करने वालों की स्थितियां और हैसियत भी बदल गई है। इसने ट्रेड यूनियन आंदोलन को भी हाशिए पर पहुंचा दिया है।

3. **सोशल मीडिया का मनमाना उपयोग :** अब तो सोशल मीडिया का विस्तार असीमित और अमर्यादित हो चुका है। वह जनमत को प्रभावित करने की स्थिति में है। इसलिए निहित स्वार्थ सिद्धि के लिए इसका भरपूर दुरुपयोग हो रहा है।

4. **राजनीतिक लाभ :** राजनीतिक दल और दूसरे तमाम संगठन सोशल मीडिया की निरंकुशता का भरपूर फायदा उठा रहे हैं। वर्ष 2019 के लोकसभा चुनाव में सोशल मीडिया का इतना ज्यादा उपयोग हुआ कि कुछ लोगों ने इसे 'भारत के पहले व्हाट्सएप चुनाव' की संज्ञा दे दी। आज सोशल मीडिया चुनावी नरेटिव सेट करने की ताकत रखता है। हालांकि सोशल मीडिया की यह भूमिका एकतरफा है, ऐसा नहीं कहा जा सकता।

मीडिया की अलग-अलग भूमिका

वर्तमान में हमें मीडिया के तीन प्रकार देखने को मिल रहे हैं। तीनों अलग-अलग भूमिका में दिखाई पड़ते हैं।

1. **सरकारी मीडिया :** जो समाचार को या तो एकपक्षीय अथवा निरपेक्ष भाव से दिखाता, सुनाता है। इसका महत्व किसी भी मामले में सरकारी पक्ष को जानने की दृष्टि से अहम है।

2. **प्राइवेट मीडिया :** जिसका पब्लिक परसेप्शन बनाने में बहुत बड़ी भूमिका है। इसमें भी अखबारों की भूमिका अपेक्षाकृत बेहतर और संतुलित है, क्योंकि उनकी कोई वैधानिक जवाबदेही है। इलेक्ट्रॉनिक और सोशल मीडिया की बाढ़ में भी प्रिंट मीडिया अभी जीवन नौका की भूमिका निभा रहा है।

3. **सोशल मीडिया :** सोशल मीडिया, जिसे लोगों का मीडिया भी कहा जाता है, नया वैश्विक नरेटिव सेट करने, उसे बदलने अथवा भ्रमित करने में अहम भूमिका निभा रहा है, जिस पर नियंत्रण बहुत ही कठिन है।

आर्टिफिशियल इंटेलिंजेस (एआई) के खतरे

मीडिया में एआई की एंट्री मीडिया के परंपरागत एथिक्स, व्यवस्था और प्रतिमानों को ध्वस्त करने वाली है। अभी यह शुरूआती दौर में है, लेकिन इसका संवैधानिक मूल्यों को सहेजने या फिर उन्हें ध्वस्त करने में कितना उपयोग और कैसा दुरुपयोग होगा, यह अभी कहना मुश्किल है।

असमानता: अम्बेडकर की धरती पर संविधान की छाया

आदित्य सिंह

संविधान... यह शब्द मेरे लिए केवल एक कानूनी दस्तावेज नहीं, बल्कि एक जीवंत चेतना है। कुछ साल पहले जब मुझे इंदौर में रहने का अवसर मिला, तो मैंने जान-बूझकर महू को अपना ठिकाना चुना... यह जानते हुए कि यही वह भूमि है, जहां बाबा साहेब अम्बेडकर ने जन्म लिया था, जिन्होंने भारत का संविधान रचा। दिल्ली के भीड़भरे और तेज़ रफ्तार शहरी जीवन के बाद मैं शांति की तलाश में था, जो महू की शांत, सशक्त ज़मीन पर मुझे संभावित लगती थी, लेकिन जो देखा, वह मेरी कल्पना से अलग था।

परिचय

राजनीति शास्त्र में स्नातकोत्तर आदित्य सिंह को पत्रकारिता में 15 से ज्यादा वर्ष का अनुभव हैं। आदित्य सिंह ने एनडीटीवी, कुछ टीवी चैनलों के साथ ही दैनिक भास्कर, पत्रिका व नईदुनिया इंदौर में कार्य किया है। ग्रामीण पत्रकारिता को मंच देने के लिए देशगांव मीडिया फाउंडेशन की स्थापना की है।

महू में जातिगत विभाजन की गहराई और सामाजिक दूरियां उतनी ही तीव्र थीं, जितनी किसी अन्य कस्बे या शहर में, शायद और भी अधिक, क्योंकि यह वही ज़मीन थी, जहां समानता के विचार ने जन्म लिया था। यहां समरसता एक प्रदर्शन जैसा प्रतीत होती थी। अम्बेडकर जयंती पर एक ओर जब लोग गर्व से सम्मिलित होते हैं, वहीं दूसरी ओर कुछ लोग उसे तिरस्कार की दृष्टि से देखते हैं। मुझे आज भी वह दृश्य याद है, जब अम्बेडकर जयंती के आयोजन के दौरान एक पुलिसकर्मी, जिसने कलावा बांधा हुआ था, उसे एक महिला ने उलाहना देते हुए कहा कि 'शर्म आना चाहिए तुम्हें, अम्बेडकर की जन्मभूमि पर इस प्रतीक के साथ खड़े हो!' यह केवल प्रतीकात्मक टकराव नहीं था, यह उस गहरे वैचारिक भ्रम का प्रमाण था, जिसमें हम सब उलझे हुए हैं।

तब मुझे यह स्पष्ट हो गया था कि संविधान और अम्बेडकर की दृष्टि को न सिर्फ़ शोषित समाज पूरी तरह समझ पाया है, न शिक्षित वर्ग और न ही वह उच्चवर्गीय समाज, जो अपने आपको सुसंस्कृत मानता है। यह अनुभव मेरे संविधान संवाद फैलोशिप से पहले के हैं, लेकिन इन्ही अनुभवों ने मुझे उस यात्रा की ओर प्रेरित किया, जो फैलोशिप के दौरान और अधिक अर्थवान हो गई। इस फैलोशिप के ज़रिए हमने संविधान को न केवल पढ़ा, बल्कि उसमें उतरने, उसे महसूस करने और अपने आसपास के समाज में उसे तलाशने का प्रयास किया। मेरा विश्लेषणात्मक कार्य महू के स्थानीय अनुभवों और कथाओं को संवैधानिक मूल्यों के आलोक में देखने का था। प्रारंभ में यह रास्ता आसान नहीं था। भीतर से उपजी बेचैनी, उलझे हुए सवालों और एक सिरे से दूसरी ओर दौड़ते मन को थामना कठिन था, लेकिन जब तक बुनियादी मूल्य स्पष्ट नहीं होते, तब तक किसी दस्तावेज़ की भाषा केवल तकनीकी प्रतीत होती है।

संविधान संवाद ने मुझे उन मूल्यों से परिचित कराया, जिन्हें हम जानते तो थे, लेकिन आत्मसात नहीं कर पाए थे। फैलोशिप के दौरान मिली किताबों ने चाहे वह छोटी हो या गहन- मुझे यह समझने में मदद की कि संविधान का ढांचा जटिल जरूर है, पर उसके उद्देश्य मानवीय मूल्यों को सरल रूप में स्थापित करना है। यह कोई शुष्क कानूनी भाषा नहीं, बल्कि सह-अस्तित्व, गरिमा, समता और स्वतंत्रता की जीवंत अभिव्यक्ति है।

इन मूल्यों की गहराई को जानने के बाद ऐसा प्रतीत हुआ कि संविधान कोई बाहरी पाठ नहीं, बल्कि हमारे भीतर का दर्पण है। यह वह दस्तावेज़ है, जिसमें न केवल अधिकारों की बात की गई है, बल्कि कर्तव्यों की भी मौन पुकार छिपी हुई है। इसने मुझे अपने काम के प्रति और अधिक संवेदनशील एवं अपने लेखन के प्रति अधिक उत्तरदायी बना दिया। मुझे यह समझ में आया कि पत्रकारिता केवल तथ्य बताने का माध्यम नहीं है, बल्कि यह उन मूल्यों को अभिव्यक्त करने का औजार भी है, जो संविधान ने हमें दिए हैं।

जब हमें कहा गया कि ज़मीनी कहानियों को संवैधानिक मूल्यों के आधार पर लिखना है, तब मेरे पास पहले से कई अनुभव थे। अब जरूरत बस उन्हें संविधान की रोशनी में देखने की थी। पहले ये कहानियां केवल सामाजिक अन्याय की दस्तक लगती थीं, लेकिन अब वे लोकतंत्र की आत्मा के दरवाज़े पर खड़ी प्रतीत होती हैं।

मेरी पहली कहानी खिरनीखेड़ा नामक एक आदिवासी गांव से जुड़ी थी। साल 2024 की बारिश के दौरान जब गांव के एक युवक की मृत्यु हुई, तो अंतिम संस्कार की प्रक्रिया ने व्यवस्था की संवेदनहीनता को उजागर कर दिया। यह गांव इंदौर से गुजरने वाले हाईवे के पास है, लेकिन अब भी यहां श्मशान की व्यवस्था नहीं है। भारी बारिश में शव को नदी पार ले जाना पड़ा, क्योंकि पारंपरिक श्मशान दूसरी ओर था। शव का पूर्ण दाह-संस्कार नहीं हो पाया। क्या यह संवैधानिक गरिमा का उल्लंघन नहीं है? संविधान गरिमा से जीने और मरने, दोनों का अधिकार देता है, लेकिन ज़मीनी सच्चाई इससे उलट है।

एक और कहानी महू छावनी की है, जहां मैं खुद रहता हूं। पिछले पांच वर्ष से यहां स्थानीय निकाय चुनाव नहीं हुए हैं। देश के बाकी हिस्सों में नागरिक अपने प्रतिनिधि चुन सकते हैं, लेकिन छावनी क्षेत्रों में नागरिक केवल शासन की इकाई बनकर रह गए हैं। न उन्हें पार्षद चुनने का हक है, न स्थानीय निकायों में भागीदारी। निर्णय सेना और रक्षा मंत्रालय के अधिकारी लेते हैं, जो प्रशासनिक रूप से शक्तिशाली हैं, लेकिन सामाजिक रूप से नागरिकों के प्रति जवाबदेह नहीं।

यह स्थिति सिर्फ़ प्रतिनिधित्व के अधिकार का हनन नहीं है, बल्कि लोकतंत्र के मूल्यों स्वतंत्रता, भागीदारी और उत्तरदायित्व का भी ह्रास है। संवैधानिक दृष्टिकोण से देखें, तो यह केवल प्रशासनिक चूक नहीं, बल्कि नागरिकता की भावना को कुंद करने वाली स्थिति है। छावनी क्षेत्र में रहने वाले नागरिकों की असहमति, उनकी आवाज़ें और उनकी उम्मीदें अक्सर केवल कागजों में दर्ज होती हैं, ज़मीनी व्यवस्था में नहीं।

इन दो कहानियों ने मुझे समझाया कि संविधान केवल संसद की बहसों में नहीं जीता, वह जीता है उन गलियों में, जहां बच्चे स्कूल जाने का सपना देखते हैं, उन घाटों पर, जहां अंतिम यात्रा गरिमापूर्वक पूरी होना चाहिए और उन मोहल्लों में, जहां लोग अपने जन-प्रतिनिधियों को चुनने की चाह रखते हैं। ये वे स्थान हैं, जहां संविधान अपनी सबसे प्रामाणिक अभिव्यक्ति पाता है।

संविधान संवाद ने मुझे यह दृष्टि दी कि हर कहानी में संविधान की एक छाया होती है। कभी वह सवाल करती है, कभी पुकारती है, तो कभी कठोरता से चेतावनी देती है। ...और अब, मेरी कलम का उद्देश्य है कि इन कहानियों को उसी रोशनी में लिखा जाए। संविधान, अब मेरे लिए केवल एक किताब नहीं, बल्कि एक दृष्टिकोण है और पत्रकार होने के नाते, यही दृष्टिकोण मेरी जिम्मेदारी भी है।

महू छावनी में रहते हुए एक विषय ने मुझे सबसे ज्यादा विचलित कियातीन मुस्लिम बहनों की वह त्रासदी, जिसने मेरे सोचने का नजरिया ही बदल दिया। ये तीनों बहनें सामान्य पारिवारिक पृष्ठभूमि से थीं। पिता सेना में थे, सेवानिवृत्ति के बाद उनका निधन हो गया था। बड़ी बहन आशा कार्यकर्ता की तरह लोगों की मदद करती थीं, जबकि छोटी बहनें घरों में नौकरियां कर रही थीं। आर्थिक स्थिति नाजुक थी, लेकिन आत्मसम्मान बाकी था।

एक दिन अचानक खबर आई कि ये लड़कियां पाकिस्तान की जासूस हैं। अखबारों की सुर्खियां, पुलिस की बयानबाज़ी और अफवाहों की बाढ़सब कुछ इतनी तेजी से घटा कि इनकी ज़िंदगी पलभर में बदल गई। चार दिन तक नज़रबंद रहीं। मीडिया ने इन्हें आतंकवादी तक कह डाला। पुलिस ने भी बयानबाज़ी में कोई कसर नहीं छोड़ी।...और फिर चार दिन बाद, बिना किसी औपचारिक कार्रवाई के पुलिस लौट गई। कोई केस नहीं, कोई चार्ज नहीं, लेकिन इन बहनों की ज़िंदगी वहीं थम गई। बाद में मालूम हुआ कि एक बहन ने फेसबुक पर किसी पाकिस्तानी नागरिक से बात की थी और किसी ने इसे जासूसी का मामला बनाकर शिकायत कर दी। यह घटना 2022 की थी, लेकिन इसका असर आज तक जारी है। गांववालों ने बात करना छोड़ दिया। घर में राशन तक की कमी हो गई। बड़ी बहन के छोटे बेटे को गांव में किसी ने अखबार दिखाकर कहा, 'तेरी मां आतंकवादी है।' बच्चा रोता हुआ घर लौटा। उसे शायद 'आतंकवाद' का मतलब नहीं पता था, लेकिन अपमान की भाषा उसने समझ ली थी।

यह कहानी सिर्फ़ एक परिवार की नहीं, संविधान की उस भावना की भी है, जिसे गरिमा कहते हैं। मीडिया की गैर-जिम्मेदाराना रिपोर्टिंग, पुलिस की जल्दबाज़ी और समाज की चुप्पी ने इस गरिमा को रौंद डाला। जब मैंने इस घटना को अपने संस्थान में सही तरह से लिखने की कोशिश की, तो मुझे विरोध झेलना पड़ा। आखिरकार मैंने यह रिपोर्ट एक अन्य नाम से एक प्रतिष्ठित पोर्टल पर लिखी। नतीजा यह हुआ कि मुझे नौकरी छोड़नी पड़ी। ...पर संतोष इस बात का रहा कि मैंने वह लिखा जो सच था। संविधान संवाद के ज़रिए मैंने इस कहानी को फिर से लिखा, लेकिन इस बार संवैधानिक मूल्यों की रोशनी में। यह अनुभव कहीं अधिक स्पष्ट, गहरा और जरूरी था। अब मुझे समझ आने लगा है कि सामाजिक न्याय की बातें केवल नारों में नहीं, हमारे लेखन की सच्चाई में होना चाहिए। महू की ही बात करें तो, यहां सामाजिक न्याय की कल्पना और सच्चाई में लंबा फासला है। जातीय भेदभाव यहां आज भी उतना ही जीवित है, जितना इतिहास में था। श्मशान तक जातियों के अनुसार बंटे हुए हैं, मंदिरों में भी भेदभाव है। मैंने इन विषयों पर काम किया है और अब मूल्यों की दृष्टि से लिखना मेरे लिए अधिक जिम्मेदारी और समझ के साथ संभव हुआ है।

इसी महू में पर्यावरण की चिंता भी उभरी। यहां के लोग प्रकृति से प्रेम तो करते हैं, लेकिन उसका सम्मान नहीं। 2017 में राज्य सरकार द्वारा नर्मदा को जीवित इकाई घोषित करना एक प्रतीक था, लेकिन महू से निकलने वाली अन्य नदियां गंभीर, चंबल आदि-आज भी सूख रहीं हैं। इनमें से अधिकांश अपने उद्गम स्थल पर ही मृतप्राय हो चुकी हैं। इसका कारण केवल मौसम नहीं, हमारी लापरवाही भी है। चिप्स इंडस्ट्री ने गंभीर नदी को लगभग समाप्त कर दिया है। कोदरिया गांव में हर साल चिप्स के अस्थायी कारखाने लगते हैं। रसायनों से भरपूर अपशिष्ट जल गंभीर नदी में छोड़ा जाता है। अब वह नदी नहीं, एक बदबूदार नाला बन गई है। जो समाज नदियों को जीव मानता है, वही उन्हें मार भी रहा है। यह केवल पर्यावरणीय नहीं, नैतिक संकट है। इसी तरह पीथमपुर में भोपाल गैस त्रासदी का कचरा जलाए जाने का मामला भी मेरी रिपोर्टिंग का हिस्सा रहा। रामकी वेस्ट मैनेजमेंट प्लांट के विरोध में कई आंदोलन हुए, लेकिन न सुनवाई हुई, न इंसाफ़। स्थानीय लोगों को 'भोपाल' जितना अधिकार भी नहीं दिया गया। न हवा की चिंता, न पानी की। न आवाज़ उठाने की अनुमति।

इन सब अनुभवों ने संविधान को मेरी नज़रों में और गहरा बना दिया है। हर कहानी अब केवल खबर नहीं, एक मूल्य की प्रतिध्वनि लगती है। संविधान संवाद फैलोशिप ने न केवल लेखन को समृद्ध किया, बल्कि उसे ज़िम्मेदारी और संवेदनशीलता से जोड़ दिया।

'पीयर ग्रुप' के रूप में जो संवाद शुरू हुआ, वह अब एक साझा चेतना का रूप लेता जा रहा है। शायद यही इस यात्रा की सबसे बड़ी उपलब्धि है।

शहरी स्लम: शिक्षा से वंचित लोहपीटा समुदाय

अजय कुमार पटेल

परिचय

पत्रकारिता में स्नातकोत्तर अजय पटेल ने वूमन स्टडी में एमफिल किया है। अपने 11 वर्ष से अधिक के पत्रकारीय जीवन में अजय पटेल ने सहारा समय, नव प्रभात के अलावा दैनिक भास्कर के संपादकीय विभाग में कार्य किया है। छह वर्षों तक मप्र माध्यम की पत्रिका 'मप्र संदेश' में सहायक संपादक रहे हैं।

हम दुनिया के सबसे सशक्त 'शब्दों' में से एक हैं। यह बोलने वाले और सुनने वाले दोनों समूह को शामिल करता है। इसमें सामूहिक भावना व एक्शन महसूस होता है। तभी तो देश की सर्वोच्च पुस्तक संविधान की शुरूआत में ही पहली पंक्ति है, 'हम भारत के लोग...' यह वाक्य देश के सभी नागरिकों को सबसे बड़ी पहचान और संविधान में निहित शक्तियां प्रदान करना है। संविधान का मूल इसकी उद्देशिका में समाहित है, इसमें प्रयुक्त शब्द अपने आप में काफी महत्वपूर्ण हैं। इसमें 'सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक न्याय', 'प्रतिष्ठा और अवसर की समता' इसके साथ ही 'व्यक्ति की गरिमा, बंधुता', 'समाजवाद', 'लोकतांत्रिक व्यवस्था' और कई तरह की स्वतंत्रता की बात कही गई है। जहां एक ओर हमें कई तरह के अधिकार प्राप्त हैं, वहीं दूसरी ओर सरकार की मंशा कुछ और ही है, जिसकी वजह से न केवल नागरिकों के अधिकारों का हनन होता है, बल्कि संवैधानिक मूल्यों का भी ह्रास हो रहा है। उदाहरण के तौर पर अनुच्छेद 19 (6) में बताया गया है कि सभी नागरिकों को कोई भी पेशा, व्यवसाय, व्यापार या कारोबार करने की स्वतंत्रता है, लेकिन धरातल पर इसमें काफी विसंगतियां नजर आती हैं। कई परिवारों को कारोबार करने में दिक्कत आती है। ये समस्याएं आमतौर पर सरकारी-तंत्र द्वारा ही निर्मित होती हैं।

संविधान के अनुच्छेद 21 में बताया गया है कि प्राण या दैहिक स्वतंत्रता में अधिकार के कई प्रकार हैंइनमें 'प्राण के अधिकार' को शारीरिक बंधनों में नहीं बांधा गया है, बल्कि इसमें मानवीय सम्मान (गरिमा) और इनसे जुड़े अन्य पहलुओं को भी रखा गया है। इसमें स्वास्थ्य, स्वच्छता, शिक्षा, आवास और रोजगार जैसे अधिकार भी शामिल हैं। इसके साथ ही अनुच्छेद 21(A) में कहा गया है कि राज्य 6 से 14 वर्ष की आयु के सभी बच्चों को निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा उपलब्ध कराएगा। यह प्राविधान केवल आवश्यक शिक्षा के एक मौलिक अधिकार के अंतर्गत है, न कि उच्च या व्यावसायिक शिक्षा के संदर्भ में भी है। यह प्राविधान 86वें संवैधानिक संशोधन अधिनियम, 2002 के अंतर्गत किया गया था। 86वें संशोधन से पहले भी संविधान में भाग IV के अनुच्छेद 45 के तहत बच्चों के लिए निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा का प्राविधान था, लेकिन आजादी के वर्षों बाद भी आज कई ऐसे बच्चे हैं, जिनके लिए स्कूल किसी स्वप्न से कम नहीं, कुल मिलाकर कई ऐसे पहलू हैं, जिससे यह प्रतीत होता है कि न केवल संवैधानिक अधिकारों का हनन हो रहा है, बल्कि संवैधानिक मूल्यों में गिरावट आ रही है।

संविधान संवाद फैलोशिप के दौरान मैंने जो विषय चुना उसमें इस बात की पड़ताल करने का प्रयास किया गया कि कैसे वंचित वर्ग के बच्चों की शिक्षा में बाधाएं आती हैं, उनकी चुनौतियां क्या हैं? उनकी समस्याओं को कैसे हल किया जा सकता है? मैंने यह विषय इसलिए चुना, क्योंकि जब भी घर से दफ्तर या शहर के आस-पास निकलता, तो स्कूल के समय

में सड़कों के किनारे इस समुदाय के बच्चे खेलते हुए दिखते। कुछ बच्चों से चर्चा की, तो पता लगा कि इनमें से कइयों के दाखिले ही स्कूल में नहीं कराए हैं। परिवार की अपनी अलग समस्याएं थीं। तब इस विषय पर काम करने का विचार आया। इसके लिए मेरे द्वारा भोपाल में कोलार क्षेत्र की गरीब नगर बस्ती और गांधीनगर क्षेत्र की विकास नगर बस्ती का चयन किया गया। यहां भी हमने एक-एक समुदाय को चुना, जैसे गरीब नगर में लोहपीटा गाड़िया समुदाय और विकास नगर बस्ती में सहरिया समुदाय। यहां की रिपोर्टिंग के दौरान यह पाया कि कैसे यहां पर मूलभूत सुविधाएं न होने से इन वर्ग के लोगों को विभिन्न समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है। इस लेख में हम लोहपीटा समुदाय के बारे में जानेंगे।

ठहराव की तलाश में घुमंतू समाज

'बंजारा हूं मैं, निकला राह की तलाश में, भटक रहा इधर-उधर, भूख और प्यास में... घर नहीं है एक मेरा, ठिकाना खोजे फिर रहा हूं। गांव-गांव, गली-मोहल्ले होकर, शहर की ओर बढ़ रहा हूं... दिन बदले, शहर बदला, बदले साथी मेरे साथ में, पर मैं तो अभी भी चला जा रहा, अपनी राह की तलाश में... भिखारी नहीं हूं मैं, मैं भीख का नहीं खाता हूं... चलते-चलते कुछ काम कर, मैं चंद पैसे जुटा लेता हूं... भट्टी जैसी तपती धूप में, पल-पल जल रहा हूं, आंखों से सूखे आंसू, पीड़ा में बहा रहा हूं...'

किसी कवि द्वारा रचित ये पंक्तियां न केवल मध्यप्रदेश, बल्कि देश के कई हिस्सों में खानाबदोश जिंदगी बसर कर रहे विमुक्त, घुमक्कड़ एवं अर्ध-घुमक्कड़ समाज के ज्यादातर परिवारों पर सटीक बैठती हैं।

मध्यप्रदेश में विमुक्त, घुमक्कड़ एवं अर्द्ध-घुमक्कड़ जनजाति कल्याण विभाग के आंकड़ों के अनुसार विमुक्त, घुमंतू और अर्ध-घुमंतू जनजातियों की 51 जातियां हैं। 2012 में इन जनजातियों को आदिवासी विभाग से अलग कर दिया गया था। इसके अलग होने के बाद, अभी तक इस वर्ग का कोई सटीक सरकारी आंकड़े नहीं हैं, लेकिन कुछ न्यूज रिपोर्ट की मानें, तो एमपी में 50 लाख से अधिक विमुक्त, घुमंतू और अर्ध-घुमंतू जनजातियां हैं, जबकि भारतीय जनता पार्टी (भाजपा) के विमुक्त, घुम्मक्कड़ एवं अर्द्ध-घुमक्कड़ जनजाति प्रकोष्ठ के अनुसार 2019 में इनकी आबादी लगभग 60 लाख है। कांग्रेस का अनुमान भी इतनी ही आबादी का है। यह राज्य की कुल आबादी का 8 प्रतिशत के बराबर है। वर्ष 2011 की जनगणना के अनुसार राज्य की कुल आबादी 7.5 करोड़ है। वहीं, पूरे देश की बात करें, तो रेनका समिति 2008 की रिपोर्ट (2001 की जनगणना पर आधारित) के अनुसार देशभर में ऐसे 11 करोड़ से अधिक लोग हैं, जो विमुक्त, घुमंतू और अर्द्ध-घुमंतू जनजातियों से हैं। हालांकि इनकी संख्या अब अधिक भी हो सकती है। अश्वनि शर्मा, जो कि एक शोधार्थी और एक्टिविस्ट हैं, उन्होंने अपनी रिपोर्ट में लिखा है कि हमारे देश में घुमंतू समुदायों की आबादी लगभग 10 फीसदी है, यानी 13 करोड़ से अधिक, लेकिन पिछले 70 सालों में सरकारों की नीतिगत शून्यता और संस्थागत विफलता ने इस समाज की परेशानियों को चरम पर पहुंचा दिया है। आइए, विमुक्त, घुमक्कड़ एवं अर्द्ध-घुमक्कड़ जनजाति के ही एक वर्ग लोहपीटा गाड़िया समाज की बात करते हैं, जिन्हें कुछ स्थानों पर बंजारा समुदाय भी कहा जाता है। आवास योजनाओं और सामाजिक सुरक्षा जैसी बुनियादी सुविधाएं उनसे कोसों दूर हैं। शिक्षा, कौशल विकास, स्वास्थ्य सेवाओं और आवास की उचित व्यवस्था की कमी उन्हें सामाजिक न्याय से वंचित रख रही है।

पृष्ठभूमि

गाड़िया लोहार खानाबदोश जीवनशैली का पालन करते हैं। यह समुदाय लोहे की वस्तुओं को बनाने या उनकी मरम्मत करने का व्यवसाय करता है। इनकी आर्थिक स्थित काफी कमजोर है। गाड़िया लोहारों की राजनीतिक हिस्सेदारी कम है, क्योंकि वे अक्सर हाशिए पर रहने वाले और बुनियादी अधिकारों से वंचित समुदाय हैं। ये झुग्गियों में रहते हैं तथा सरकारी सेवाओं

एवं सामाजिक सुरक्षा योजनाओं तक उनकी पहुंच सीमित है। ऐतिहासिक दृष्टि से देखें, तो कई लेख और पुराने दस्तावेजों में इस बात का उल्लेख है कि गाड़िया लोहार मुख्यत: राजस्थान के मेवाड़ क्षेत्र, उदयपुर या चित्तौड़गढ़ से हैं। यूनेस्को कूरियर में अक्टूबर 1984 में लिखे लेख (The Gaduliya Lohars : India's wandering blacksmiths) में इस समुदाय के बारे में बताया गया है कि ये लोग अपने परिवारों के साथ बैलगाड़ी पर एक जगह से दूसरी जगह तक चलते जाते हैं। यह भी माना जाता है कि वे महाराणा प्रताप की सेना का हिस्सा थे। उनके पूर्वज महाराणा प्रताप की सेना के भरोसेमंद कर्मकार थे, जो लोहे के औजार और हथियार बनाते थे। सन 1568 ई. में जब मुगल सम्राट अकबर ने चित्तौड़गढ़ किले पर कब्जा कर लिया, तो गाड़िया लोहारों को भागने के लिए मजबूर होना पड़ा। अपनी मातृभूमि को खोने और राजा की हार के जवाब में, उन्होंने एक गंभीर शपथ ली'वे कभी भी किले में वापस नहीं लौटेंगे, न ही मेवाड़ को पुनः प्राप्त करने तक, कहीं और स्थायी रूप से बसेंगे।' लगभग 400 वर्ष तक इस समुदाय ने इन वादों का सख्ती से पालन किया। हालांकि कई गाड़िया लोहारों ने अपने पारंपरिक तरीकों को बदल दिया है। बड़े पैमाने पर इन्होंने अपने खानाबदोश रहवास को बंद कर दिया है और विभिन्न भारतीय राज्यों के शहरी क्षेत्रों में बस गए हैं। ये अक्सर सड़कों या रेलवे के पास उपलब्ध भूमि पर छोटी झोपड़ियां बनाकर रहते हुए दिख जाते हैं। उनकी स्थिति में गिरावाट दशकों से जारी है, जिसके चलते यह समाज हर मामलों में भारत के अन्य समुदायों से बहुत ज्यादा पिछड़ गया है। इस समाज की अवहेलना के लिए एक या दो सरकारें नहीं, बल्कि आजाद भारत की तमाम सरकारें दोषी हैं।

इस वर्ग के साथ कई प्रकार की समस्याएं हैं। इतिहासकार रीमा हूजा ने एक रिपोर्ट में बताया था कि गाड़िया लोहारों को 'भारत की भौतिक संस्कृति' में उनके योगदान के बावजूद 'इतिहास और वर्तमान दोनों' द्वारा पीड़ित किया गया है। समुदाय की सांस्कृतिक पहचान, जो उनके पारंपरिक लोहार के काम से बनी है, जो कि अब खत्म हो रही है, क्योंकि उनका पेशा अब न्यूनतम जीविका प्रदान करता है। समय के साथ इनकी सामाजिक-आर्थिक स्थिति में काफी गिरावट आई। इसके बावजूद, उन्होंने अपने मूल स्थान के कई सांस्कृतिक, धार्मिक और भाषाई तत्वों को बरकरार रखा है।

अंग्रेजों ने बनाया अपराधी!

सन 1871 में ब्रिटिश सरकार द्वारा लगभग 200 आदिवासी समूहों और अन्य जातियों के दमन के उद्देश्य से एक 'आपराधिक जनजाति अधिनियम' (सीटीए) लागू किया था। इस कानून के तहत घुमंतू समुदायों को जन्मजात अपराधी घोषित कर दिया गया था। इनमें ज़्यादातर वे जनजातियां थीं, जिन्होंने अंग्रेज़ों के आधिपत्य को स्वीकार नहीं किया था। इनके पारंपरिक कामों पर रोक लगा दी गई थी और इनकी स्वतंत्र चहलकदमी को प्रतिबंधित कर दिया गया था। उस समय यह होता था कि इन्हें नजदीक थानों में जाकर हाजिरी लगानी पड़ती थी। सन 1947 में देश को आजादी मिली। आजादी के बाद 31 अगस्त, 1952 को घुमंतू समुदायों को इस कानून से मुक्त किया गया, लेकिन यह आजादी भी झूठी साबित हुई, भारत सरकार ने इन समुदायों पर दूसरा अधिनियम लाद दिया, यानी अभ्यस्त अपराधकर्ता अधिनियम, जो पहले वाले कानून से थोड़ा हल्का था, लेकिन अंग्रेजों वाले भेदभाव को जारी रखे हुए है।

जस्टिस अभय एस ओक ने एक व्याख्यान के दौरान कहा था कि '1871 के क्रूर अधिनियम, आपराधिक जनजाति अधिनियम को निरस्त हुए 70 साल से ज़्यादा हो गए हैं, लेकिन इसके दुष्परिणाम हमें हर दिन परेशान करते हैं।' उन्होंने अपनी टिप्पणी में कहा था कि 'किसी समुदाय को अपराधियों का समुदाय बताना पूरी तरह से असंवैधानिक है, क्योंकि यह भारत के संविधान के अनुच्छेद 14, 15 और 21 का उल्लंघन है।'

उन्होंने कहा था कि 'किसी भी कठोर कानून के दुष्परिणाम वर्षों तक जारी रहते हैं। पीढ़ी-दर-पीढ़ी, 1871 अधिनियम

के शिकार हाशिए पर पड़े समुदायों के सदस्य कानूनों के दुष्परिणामों से पीड़ित हैं। औपनिवेशिक कानूनों ने पुलिस को इन समुदायों की निगरानी, अनिवार्य पंजीकरण और फिंगरप्रिंट लेने के व्यापक अधिकार प्रदान किए, जबकि इन प्राविधानों पर सवाल उठाने वाले अपराधी को कोई अधिकार नहीं दिया गया।'

भारतीय संविधान के आदर्शों को दोहराते अपने व्याख्यान का समापन करते हुए जस्टिस ओक ने कहा कि हमारा संविधान 26 जनवरी, 2025 को 75 वर्ष का हो जाएगा। अब समय आ गया है कि सभी को भारत के संविधान के तहत मौलिक कर्तव्य का पालन करने के लिए कहा जाए, जो अनुच्छेद 51 ए के खंड ए में प्रदान किया गया है, अर्थात संविधान का पालन करना और उसके आदर्शों का सम्मान करना। संविधान के आदर्शों को समझने के लिए किसी के लिए 395 अनुच्छेदों और 12 अनुसूचियों से युक्त संपूर्ण संविधान को पढ़ना आवश्यक नहीं है। कोई भी व्यक्ति संविधान के आदर्शों को इसकी प्रस्तावना पढ़कर समझ जाएगा। यह हमें सब कुछ बताती है। हमारे आदर्श न्यायसामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक, स्थिति की समानता और व्यक्तियों की गरिमा है। किसी खास समुदाय को अपराधियों का समुदाय मानना उन्हें संविधान द्वारा प्रदत्त अधिकारों का हनन है।'

गरीब नगर झुग्गी में जब मैंने लोगों से बात की, तो उनका कहना था कि ये लोहपीटा समुदाय हमारे सामने कई वर्षों से रह रहे हैं, लेकिन कभी चोरी या अन्य अपराध में संलिप्त नहीं दिखे। वहीं जब धारणा को लेकर बात हुई, तो उन्होंने स्वीकारा कि कई बार आसपास की कॉलोनी में लोग कहते हैं कि यह समुदाय आपराधिक गतिविधियों में संलिप्त होता है, लेकिन हमने कभी ऐसा महसूस नहीं किया।

आवास, शिक्षा और पानी जैसी बुनियादी समस्या से जूझे रहे हैं हम: मोहन चौहान

कोलार क्षेत्र की गरीब नगर बस्ती में लोहपीटा समाज के 10-12 परिवार रहते हैं। इनका कहना है कि ये पुश्तैनी रूप से चित्तौड़गढ़ के रहवासी हैं। लगभग 45 वर्ष से भोपाल में रह रहे हैं तथा कोलार की इस बस्ती (गरीब नगर) में 20 वर्ष से निवासरत हैं। गरीब नगर में आने से पहले ये 32 साल बैरागढ़ चीचली में रहते थे। इस समुदाय के एक साथी मोहन चौहान ने बताया कि 'अभी जिस जगह पर रह रहे हैं, इसका पट्टा तत्कालीन सरपंच बीएस वाजपेयी ने दिए थे। हमारे समुदाय के 10-12 परिवार यहां रहते हैं। हमें नल कनेक्शन नहीं दिया गया। बस्ती के हैंडपंप से पानी लेना पड़ता है। पानी की गुणवत्ता का पता नहीं। कभी-कभी स्वास्थ्य संबंधी समस्याएं भी होती हैं। हमें लोन नहीं मिलता, क्योंकि हमारा खुद का अवास नहीं है। पीएम आवास का मकान भी नहीं मिला। छह-सात परिवार ऐसे हैं, जिनके राशनकार्ड भी नहीं बने हैं। हमें कोई सरकारी मदद नहीं मिलती। हमारे परिवारों में से 16 से ज़्यादा बच्चे स्कूल नहीं जाते हैं। आठ परिवार काम की वजह से बाहर गए हुए हैं। कुछ आंध्रप्रदेश गए हैं, कुछ छत्तीसगढ़ और कुछ नागपुर के पास समुद्रगढ़ में हैं। ये परिवार साल के 8 से 10 महीने बाहर ही रहते हैं। हमारी कई पीढ़ियां अनपढ़ रह गईं। भविष्य के सपने न तो हम देखते हैं, न हमें आते हैं। हमारी आशाएं प्रतिदिन के जीवन तक ही सिमटी हुई हैं। बस, कट रहा है जीवन।'

हमारी कई पीढ़ियां अनपढ़ रह गईं: दिनेश चौहन

मोहन चौहान के भाई दिनेश चौहान का कहना है, 'हमारे एक घर में परिवार के तीन बच्चों की शादी हो गई, लेकिन एक ही कमरे में सभी रह रहे हैं। कुछ घर में 1 कमरे में 8 से 10 लोग रहते हैं। जहां तक शिक्षा की बात है, तो हमारी कई पीढ़ियां स्कूल नहीं जा पाईं, हम भी नहीं पढ़ पाए, हमारे बच्चे भी नहीं पढ़ पा रहे हैं। हम चाहते हैं कि हमारे बच्चे शिक्षित हों, पढ़ें और आगे बढ़ें। हम जैसा जीवन जीने को मजबूर हो रहे हैं, वैसा भविष्य हमारे बच्चों और आने वाली पीढ़ियों का न हो। ये बच्चे अगर शिक्षित नहीं हुए, तो ये ऐसे ही बेरोजगारी, भुखमरी की ओर आगे बढ़ता रहेंगे।'

भारतीय संविधान शिक्षा को एक मौलिक अधिकार मानता है और राज्य को इसे लागू करने की जिम्मेदारी है। यह सुनिश्चित करने के लिए कि हर बच्चे को शिक्षा प्राप्त हो सके, संविधान ने अनुच्छेद 21A और शिक्षा का अधिकार अधिनियम, 2009 जैसे प्राविधान किए हैं। संविधान के तहत शिक्षा एक मौलिक अधिकार है और किसी भी व्यक्ति को कोई अधिक कीमत देकर इससे वंचित नहीं किया जा सकता है।

मोहन की मां काफी बुजुर्ग हैं। वे खाट पर ही रहती हैं। उनकी वजह से मोहन और दिनेश बाहर कमाने के लिए नहीं जा पाते। मां का कहना है कि 'सरकार ने हमारे समुदाय के लिए कभी, कुछ भला नहीं किया। हमारे कागज नहीं बनते। सरकार ने आवास नहीं दिए। पीने के लिए पाइप लाइन का नल कनेक्शन नहीं।' वहीं, दिनेश आगे कहते हैं कि 'हम मुद्रा लोन के लिए बैंक गए थे, लेकिन आवास के कागजात (रजिस्ट्री) न होने से बैंक ने मना कर दिया। हमें पीएम आवास भी नहीं मिल रहा है।'

मोहन और दिनेश चौहान के द्वारा कही गई ये तमाम बातें एक झटके में सामाजिक, आर्थिक न्याय की बात को झुठला देती हैं। समानता और समता तो दूर तक दिखाई नहीं देती। भूमि, आवास और अन्य मूलभूत सुविधाओं के अभाव में जीवन जी रहे इस समुदाय की मुसीबत जबरन बेदखली की लगातार घटनाओं से और बढ़ जाती है। सरकार द्वारा पुनर्वास के अभाव से प्रभावित इस समुदाय के सभी परिवार बिना उपयुक्त आवास, पानी और स्वच्छता के बहुत बुरी दशा में संपूर्ण रूप से सुविधाहीन स्थान पर रहने को मजबूर हैं। आस-पास कोई शौचालय या स्नानागार न होने के कारण महिलाएं खुले में पूरे कपड़े पहन कर स्नान करने के लिए बाध्य होती हैं, जो उनके स्वास्थ्य, सुरक्षा, निजता एवं गरिमा जैसे मानवाधिकारों का खुला उल्लंघन है।

संयुक्त राष्ट्र की आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकारों की समिति के जनरल कॉमेंट 4, जिसे भारतीय न्यायालयों ने भी स्वीकार किया है, के अनुसार उचित आवास के मानवाधिकार का मतलब सिर्फ आश्रय (छत) की सुविधा देना ही नहीं है, बल्कि पानी, भोजन, स्वच्छता, बिजली और स्वास्थ्य सहित अन्य सुविधाओं एवं आधारभूत संरचना तक पहुंच सुनिश्चित करना भी है। गाड़िया लोहार बस्तियों की वर्तमान जीवन जीने की स्थिति में वहां के निवासियों के न सिर्फ उपयुक्त आवास के मानवाधिकार का उल्लंघन हो रहा है, बल्कि पानी, स्वच्छता, स्वास्थ्य और भोजन संबंधी मानवाधिकारों के साथ-साथ भारत के संविधान के अनुच्छेद 21 में वर्णित जीवन जीने के अधिकार का भी उल्लंघन हो रहा है।

चमेली सिंह बनाम उत्तरप्रदेश राज्य (1995) मामले में उच्चतम न्यायालय ने अनुच्छेद 21 के तहत जीवन के अधिकार और अनुच्छेद 19(1)(e) के तहत कहीं भी आने-जाने की स्वतंत्रता के घटक के रूप में 'आश्रय के अधिकार' को मान्यता दी थी। कोर्ट ने कहा था कि सरकार का संवैधानिक दायित्व है कि वह गरीबों को आवास मुहैया कराए। न्यायालय ने कहा कि आवास का अधिकार केवल जीवन का संरक्षण ही नहीं है, बल्कि यह शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक एवं धार्मिक विकास के लिए ज़रूरी है।

द इंडियन एक्सप्रेस की रिपोर्ट के अनुसार गाड़िया लोहार समुदाय की 55 फीसद आबादी के पास राशन कार्ड है, 97 फीसद लोगों के पास आधार कार्ड है और 84 फीसद के पास वोटर आईडी जैसे जरूरी पहचान दस्तावेज़ भी हैं। इसके बावजूद इन्हें न तो सरकारी योजनाओं की जानकारी मिलती है, न ही उनके लाभ।

कारवां पत्रिका में प्रकाशित एक लेख (घुमंतू समाज से सरकारी विश्वासघात के 70 साल) के अनुसार 'मध्यप्रदेश में 61 घुमंतू समुदाय हैं, जिनकी आबादी 70 लाख के करीब है। मध्यप्रदेश सरकार ने अपने बजट में घुमंतू समुदायों को कुछ नहीं दिया।' वहीं, 2020 के आंकड़ों का हवाला देते हुए इसमें लिखा गया था कि 'राजस्थान और मध्यप्रदेश के इन 10

फीसदी लोगों के पास बीपीएल (गरीबी रेखा से नीचे) राशन कार्ड तक नहीं हैं। इनके बुजुर्गों और विधवा महिलाओं को पेंशन नहीं मिलती। अकेले राजस्थान में 90 फीसदी घुमंतू लोग बीपीएल राशन कार्ड की श्रेणी से बाहर हैं। यही हालत मध्यप्रदेश समेत उत्तरप्रदेश, बिहार और महाराष्ट्र की है। इनके पास जमीन का पट्टा ना होने और स्थायी आवास ना दिखा पाने से जाति प्रमाण-पत्र नहीं बनता। बिना जाति प्रणाम-पत्र के इनको सरकारी सुविधाओं का लाभ भी नहीं मिलता।' इसमें आगे लिखा है कि 'आदिवासियों के लिए खास स्कूल हैं, लेकिन घुमंतू समुदायों के लिए एक भी समर्पित स्कूल नहीं है, जबकि हिंदुस्तान में 1200 से ज्यादा घुमंतू समुदाय हैं।'

क्या होना चाहिए?

हाउसिंग एंड लैंड राइट्स नेटवर्क्स (Housing and Land Rights Network यानी HLRN) ने इस समुदाय पर विस्तार से अध्ययन किया है। उनके द्वारा सुझाए गए उपायों के अनुसार 'गाड़िया लोहार समुदाय के सभी सदस्यों को आवश्यक सेवाएं, जैसेस्वच्छ पेयजल, बिजली और स्वच्छता की सुविधाएं प्राप्त होना चाहिए। इसके अलावा, राज्य के द्वारा यह प्रयास होना चाहिए कि समुदाय की पहुंच शिक्षा और स्वास्थ्य सेवाओं तक भी हो। गाड़िया लोहार बस्तियों में सार्वजनिक शौचालयों का निर्माण होना चाहिए, ताकि स्वच्छता, निजता और सम्मान के मानवाधिकार का उल्लंघन न हो तथा अभी खुले में शौच जाने और नहाने को बाध्य महिलाओं की सुरक्षा एवं गरिमा सुनिश्चित की जा सके। जहां सार्वजनिक शौचालय उपलब्ध हैं, वहां यह निर्देश दिया जाना चाहिए कि वे गाड़िया लोहार समुदायों से कोई फीस न लें और रात में भी शौचालय को खुला रखें। जब तक कि स्थायी शौचालय और स्नानागार न बन जाएं, तब तक जहां आवश्यक हो, वहां अस्थायी तौर पर तुरंत पूर्व निर्मित व चलित शौचालय रखा जाना चाहिए। समुदाय को शौचालय बनाने के लिए आर्थिक मदद भी दी जाना चाहिए।'

सरकार का क्या कहना है?

सरकार ने खुद स्वीकार किया कि इन्हें जबरन अपराधी बनाया जाता है। हाल ही में इस विभाग की समीक्षा करते हुए सीएम मोहन यादव ने कहा था "इनकी पुरानी पृष्ठभूमि अथवा पूर्व धारणा के आधार पर इन जातियों के सभी लोगों को अपराधी ना माना जाए। पुलिस द्वारा की गई कार्रवाई में भी जातिगत संबोधन से संबोधित ना किया जाए। अपराधियों की जानकारी में जातियों का उल्लेख नहीं किया जाए। इस तरह की असम्मानजनक शब्दावली से बचा जाना चाहिए।"

प्रदेश के मुख्यमंत्री अगर इस तरह से निर्देश दे रहे हैं, तो हम समझ ही सकते हैं कि इन समुदायों के साथ कैसा बर्ताव होता है। हालांकि सरकार घोषणा करने में कोई कसर नहीं छोड़ रही है, जैसेविमुक्ति दिवस पर 31 अगस्त, 2024 के राज्य स्तरीय कार्यक्रम के दौरान सीएम मोहन यादव ने कहा था कि प्राचीनकाल से घुमंतू एवं अर्द्ध-घुमंतू जातियों ने साहस और शौर्य के अनेक उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। विमुक्त, घुमंतू और अर्द्ध-घुमंतू जातियों के लोगों को विकास का पूरा लाभ मिलेगा। घुमंतू और अर्द्ध-घुमंतू जातियों के युवाओं तथा अन्य प्रतिभाओं को शिक्षा के साथ अच्छे भविष्य एवं कैरियर निर्माण के लिए राज्य सरकार पूर्ण सहयोग करेगी।

वहीं विमुक्त, घुमंतू और अर्ध-घुमंतू कल्याण राज्यमंत्री (स्वतंत्र प्रभार) कृष्णा गौर ने कहा है कि विमुक्त, घुमंतू एवं अर्द्ध-घुमंतू समुदाय के बच्चों के शैक्षिक विकास के लिए सरकार लगातार नए नवाचार कर रही है। इन जातियों के निवासियों, मजरों-टोलों और बस्तियों के विकास के लिए राज्य सरकार कृत-संकल्पित है, लेकिन तमाम बातें तब दिवा-स्वप्न साबित होती हैं, जब इस वर्ग के लोग अभावों में जीवनयापन करने को मजबूर हैं।

अन्य राज्यों की पहल

- ✶ पिछले साल एक खबर प्रकाशित हुई थी, जिसमें कहा गया था कि 'उत्तरप्रदेश को देश का जीरो गरीबी वाला राज्य बनाने के लिए सरकार प्रदेश के सभी वंचित एवं गरीब तबके को तेजी के साथ सरकारी सुविधाओं से जोड़ रही है। इसमें घुमंतू समुदाय भी शामिल है, जो उत्तरप्रदेश के सभी जिलों में घूम-घूमकर जीवनयापन करते हैं। सरकार ने लखनऊ के कलंदरखेड़ा में झुग्गी बनाकर निवास करने वाले घुमंतू समुदाय के परिवारों को जल्द ही बिजली, पानी, आवास आदि मूलभूत सुविधाएं प्रदान करने का फैसला किया है। इस कदम से घुमंतू समुदाय को प्रधानमंत्री आवास, वृद्धावस्था पेंशन, निराश्रित महिला पेंशन और मुख्यमंत्री सामूहिक विवाह जैसी सरकारी योजनाओं का लाभ प्राप्त हो सकेगा। इसके लिए विभिन्न विभागों के अधिकारी मिलकर सभी आवश्यक प्रमाण-पत्र उपलब्ध करा रहे हैं। सरकार के निर्णय से घुमंतू समुदाय के नागरिक काफी खुश हैं। उन्हें उम्मीद है कि सभी सरकारी सुविधाएं प्राप्त होने से उनके जीवन-स्तर में भी सुधार आएगा।' हालांकि अभी तक इसमें नया अपडेट नहीं मिला है।
- ✶ इसी साल फरवरी में राजस्थान सरकार ने एलान किया है कि 'सामाजिक न्याय एवं अधिकारिता विभाग ने मुख्यमंत्री घुमंतू आवास योजना लागू की है। अब घुमंतू समुदाय को रहने के लिए एक जगह से दूसरी जगह जाने की जरूरत नहीं होगी। उन्हें सरकार द्वारा एक ही जगह पर पक्का मकान दिया जाएगा। इस योजना के तहत प्रति आवेदक आवास निर्माण के लिए तीन किश्तों में 1.20 लाख रुपए की सहायता राशि दी जाएगी। पक्के घरों के अलावा स्वच्छ शौचालय के लिए 12 हजार रुपए और 90 दिवस की श्रमिक मानव दिवस के श्रम वेतन मनरेगा में 23 हजार 940 रुपए दिए जाएंगे।' अभी इसमें हितलाभ मिलने की जानकारी प्राप्त नहीं हुई है।

निष्कर्ष

भारतीय संविधान का अनुच्छेद 14 देश में समानता और कानून की सुरक्षा की गारंटी देता है। वहीं गरिमा का अधिकार जीवन के अधिकार का अभिन्न हिस्सा है और इसे अनुच्छेद 21 के तहत संरक्षित किया गया है। भेदभावपूर्ण व्यवहार को अनुच्छेद 14 (समानता का अधिकार) का उल्लंघन बताया गया, लेकिन विमुक्त, घुमंतू और अर्द्ध-घुमंतू समुदायों के संबंध में प्रचलित गलत एवं आपराधिक धारणाओं के कारण आज भी उन्हें स्थानीय प्रशासन और पुलिस द्वारा प्रताड़ित किया जाता है। इन समुदायों के सदस्यों के पास पेयजल, आश्रय और स्वच्छता आदि संबंधी बुनियादी सुविधाएं उपलब्ध नहीं हैं। इसके अलावा ये स्वास्थ्य देखभाल और शिक्षा जैसी सुविधाओं से वंचित हैं। चूंकि इन समुदायों के लोग प्रायः यात्रा पर रहते हैं, इसलिए इनका कोई स्थायी ठिकाना नहीं होता है। नतीजतन उनके पास सामाजिक सुरक्षा कवर का अभाव होता है और उन्हें राशनकार्ड, आधारकार्ड आदि भी नहीं जारी किए जाते हैं। इन समुदायों के अधिकांश लोगों के पास जाति प्रमाण-पत्र नहीं होता और इसलिए वे सरकारी कल्याण कार्यक्रमों का लाभ नहीं उठा पाते हैं। सरकार की तरफ से भी सिर्फ दिखाने के लिए घोषणाएं और योजनाएं सुनने में आती-जाती रहती हैं, किंतु धरातल पर उनका पालन या परिणाम प्रतीत नहीं होता है। यह सरकार की मंशा को दर्शाता है। इसके साथ ही समाज भी कई जगहों पर इन्हें दोहरे नजरिये से देखता है। स्वाभाविक है कि ऐसे विमुक्त, घुमंतू और अर्द्ध-घुमंतू समुदायों को न केवल सरकारों द्वारा मूलभूत सुविधाएं उपलब्ध कराने की दरकार है, बल्कि समाज में भी इनके प्रति बंधुता भाव जैसा परिवर्तन चाहिए।

Bhopal Gas Tragedy: Rs 5.26 per day as compensation

Anup Dutta

Imagine a street corner in Bhopal full of victims of the Bhopal Gas Tragedy of 02/03 December 1984, who received compensation: chatting, laughing, exchanging notes on the price rise affecting their pockets. Imagine footpaths spilling over with old and young survivors of the tragedy watching the world go by as they sip tea, discuss about grandchildren, cricket and the latest blockbuster.

The reality is: there is no such public space in Bhopal. Not even in the changing skyline of the City that came in the grip of deadly cloud of toxic gases from the Union Carbide Plant on the intervening night of 2-3 December 1984, enveloping the many small hutments and shanty colonies around the factory site. You can spot women in gown or salwar suit (without ironed) covering their heads with a chunni buying vegetables next to a young woman headed to a college or work, dressed in a spaghetti top and jeans. The social diversity is evident from Karond Chouraha to JP Nagar, from Shahjahanabad to Sindhi Colony to Bhopal Railway Station, at Ibrahimpura, Bhopal Talkies, Hamidia Road, Bharat Talkies, where the old crumbling wooden and rock slab panel houses are giving way to swanky new buildings. The post-Bhopal Gas Tragedy generation did not witness the closure of the Union Carbide Plant.

Another reality is the Supreme Court orders dated 14/15 February 1989 that awarded compensation to a limited number of next of kin of the dead and to a small section of the survivors. One such recipient of compensation is Bano Bi who with her husband (late Akbar Khan, a hotel manager) had received compensation of Rs 75,000/following the said 1989 Supreme Court order.

"The compensation was nothing against the loss we had to suffer because of the tragedy. I and my late husband permanently became allergic to many things, and we were never able to lead a normal life that we and one of our siblings enjoyed earlier," says Bano Bi who lives in a rented accommodation, close to Chirayu Hospital in old Bhopal's Shahjahanabad locality.

Introduction

Bhopal-based journalist Anup Dutta has freelanced for CNN, The Diplomat, Al Jazeera, BBC Hindi, The Hindu, Live Mint, Money Control, The Week, The Wire, The Print, Gaon Connection, The Tribune, News Click, E-Newsroom. He has been Chief Correspondent for Out Look, Mail Today, Senior Correspondent for Eenadu TV. A news story by Anup Dutta has been selected for the Thomson Writers Foundation's Stop Slavery Award 2022. Under the Samvidhan Samvaad Fellowship, he has looked at the fight for the rights of Bhopal gas victims from the perspective of constitutional values.

A huge portion of the compensation amount was spent on medical and health care, she said by adding that "the amount was not enough to buy a small house for the family." Over 39 years, it works out to a measly and unjust Rs 5.26 a day is what the family of Bano received. (1984-2023 = 39 years. 39 years X 365 days = 14235 days. Rs 75.000/divided by 14235 days = Rs 05.26 per

day). With every passing day, the average amount available a day would fall proportionately.

To understand the words of Bano Bi, let us first read the Supreme Court order. On February 15th, 1989, the Supreme Court allowed the Union Carbide Corporation (UCC) and Union Carbide India Limited (UCIL) to resolve the dispute (through full and final settlement of all claims) on payment of $470 million to the Union of India. The order said: "this court, considered it a compelling duty, both judicial and humane, to secure immediate relief to the victims." Some argue that the settlement amount was too little, and some others argue that the opportunity to seek adequate compensation from the Union Carbide Corporation and Union Carbide Corporation India Limited was lost.

However, the decision was welcomed by the then Madhya Pradesh Government headed by the Congress Party, now in opposition both in the State and at the Centre. "Motilal Vora, the Chief Minister, or top elected official, of Madhya Pradesh state, of which Bhopal is the capital, said he welcomed the ruling," wrote The New York Times in its news report titled 'Bhopal Payments by Union Carbide set at $470 million', published on February 15, 1989.

But his political opponents told Press Trust of India that the Government had "surrendered before the multinational company".

Surprisingly, the apex court order left behind several unanswered questions. Why were the concerns of Bhopal Disaster victims, who demanded adequate compensation for those who died and for those chronically ill survivors, with no hope of recovery, overlooked? Why were representatives of gas victims not consulted regarding the terms of the settlement? The larger issue is that the court order was met with widespread protest from within and outside Bhopal. The images and graphic accounts of the adverse impact of the disaster were horrific and have spread across the country and the world. Ordinary people joined protests against the Bhopal Disaster, from Goa to Guwahati, from Srinagar to Thiruvananthapuram, demanding justice, holding placards, singing "Hum Honge Kamyaab, Maan Mein Hai Vishwas" (meaning 'We shall succeed, we are confident'), the widely acclaimed anthem of Indian civil rights movement which fought for equality, justice peace and harmony.

These may seem small, helpless peaceful gestures but they all mattered; as every silence amplifies the harm and the horror left behind by the disaster. And in this context, a call to observe National Protest Day was given on 19 April, 1989 and the SCI's impugned order was challenged by way of review and writ petitions.

In March-April 1989, owing to widespread public protests, the Supreme Court decided to review the settlement. After admitting the review and writ petitions against the settlement that were filed in March 1989, the Supreme Court in order dated 4 th May, 1989 offered an explanation to justify the basis of the settlement. The SCI stated that the settlement was based on the assumptions that the number of deaths due to the disaster was just about 3,000 and that the number injured totalled only around 105,000.

However, it took 14 years for the 40 Claim Courts to complete the process of adjudication of all the claims, which numbered over 1,000,000. By March 2003, the awarded death claims stood at 5,295 (over 10,000 death claims were awarded compensation only for injuries although it was acknowledged that the victims were actually dead), while the awarded injury claims stood at 5,53,015. In other words, the actual number of dead and injured were five times more than the assumptions on which the settlement was based. In other words, the compensation amount of 470 million US Dollars (then Rs.705 crores) which was to be disbursed among 105,000 victims was actually disbursed among 570,000 victims! In other words, each gas victim on an average received less than

one-fifth of the claim amount each victim was entitled as per the terms of the settlement.

Navendu Mishra, the Labour MP for Stockport, UK, has drawn attention of the global public to the gross injustice that had been meted out to the Bhopal gas victims through the unjust Bhopal settlement. Urging the British Government to support an investigation into the Bhopal gas explosions, Mr Mishra, in his address to the House of Commons on 22 November 2022 said:

"The $470 million agreed resulted in 93% of claimants being awarded the equivalent of £380 each for what, in reality, are life-changing injuries. Over 38 years, it amounts to a measly and unjust 5p a day. The victims were not consulted during the settlement discussions and, understandably, many felt cheated by the compensation."

"Although it may seem far-fetched, it appears that corporates value a Bhopali survivor's life 100 times lesser than that of an Alaskan seabird, because in 1989 -the same year as the partial settlement-Exxon spent $51,000 on the rehabilitation of each bird affected by its oil disaster" added Navendu Mishra who has been an MP continuously since 12 December 2019.

The SC order seemingly dial up or down the capability of modern corporate giants who have ability to flatten a city in moments, contaminate the environment for decades and the effects of toxic gases and toxic waste are felt for generations. There are over 200,000 victims in Bhopal still suffering from the after-effects of the 2-3 December 1984 disaster.

The spurious claim that too much compensation has been paid to the gas victims totally mischaracterises the untold sufferings that the gas victims have been forced to undergo all these years.

Ten years back, in 2013, noted senior lawyer and Rajya Sabha MP Ram Jethmalani questioned the reason behind reducing the compensation claim for the Bhopal gas victims and said the new package announced by the GoM was a "pittance".

"I want to know who decided that the claim of USD 3.3 billion should be reduced to half a billion. I ask how did you (government) settle the USD 3.3 billion demand of compensation to just USD 470 million," he said. Mr Jethmalani's point was that when the Government decided to quantify the claims of the victims, it should have arrived at the figure after careful calculation and competent advice. But the compensation package provided by Union Carbide belied all expectations, he said, demanding action against the individual who instructed reducing the claim.

Moreover, apart from 500-odd flats built for 500-odd widows of gas victims, there are no state funded residential flats built for the needy gas victims. No public schools were built to provide free education to children of gas victims. Moreover, designated hospitals for gas victims lack adequate supply of essential medicines apart from the problem of poor diagnosis and treatment due to acute shortage of consultants and super-specialists.

Though there is a strong, sensible and logical case for the victims of such disasters to be adequately compensated, sadly in India, the right to compensation is not an enforceable right. In our country, the right to compensation rests only at the judge's discretion. The citizens, who are killed in accidents, unlawfully arrested, detained, tortured and even killed while in police custody are not guaranteed the right to compensation and with that lies great danger for the constitutional order. Your honour, my lord, sir… are you there… listening?

झगड़ा प्रथा: परंपरा बनाम संवैधानिक मूल्य

भानु ठाकुर

परिचय

इतिहास में स्नातकोत्तर भानु ठाकुर ने 22 वर्ष की अपनी पत्रकारिता के दौरान जैन टीवी और लाइव इंडिया न्यूज चैनल के प्रतिनिधि के रूप में कार्य किया। वे 2007 से 2025 तक पत्रिका के राजगढ़ ब्यूरो चीफ रहे हैं। सामाजिक मुद्दों की पत्रकारिता के लिए विशिष्ट पहचान बनाने वाले भानु ठाकुर ने राजगढ़ क्षेत्र में जारी झगड़ा प्रथा के उन्मूलन के लिए सक्रिय भूमिका निभाई है। इस फैलोशिप के दौरान उन्होंने झगड़ा प्रथा के कारणों की पड़ताल करते हुए समाधान पर कार्य किया है।

भारत के मध्य भाग में, जहां हरियाली की चादर ओढ़े खेत मुस्कुराते हैं, वहीं इन खेतों के बीच, गांव की किसी कच्ची दीवार के साए में बैठी एक स्त्री की आंखें अनकही वेदनाओं की गवाही देती हैं। उसका चेहरा चुप है, पर उसका मौन चीखता है। यह अकेली औरत नहीं है, यह झगड़ा प्रथा से पीड़ित उन हजारों महिलाओं और बच्चियों का चेहरा है, जिनकी आवाज़ें आज भी पंचायत की मनमानी और समाज के ठेकेदारों की तथाकथित मर्यादा में दबा दी जाती हैं।

झगड़ा प्रथा क्या है?

'झगड़ा' शब्द आमतौर पर दो पक्षों में विवाद का बोध कराता है, लेकिन मध्यप्रदेश के राजगढ़, शाजापुर, आगर मालवा, गुना, शिवपुरी और राजस्थान के कुछ क्षेत्रों में यह शब्द एक स्त्री की नियति बन चुका है। यहां झगड़ा प्रथा का अर्थ है, जब किसी लड़की या महिला की शादी बचपन में तय कर दी जाती है और वह युवावस्था में इसे स्वीकार करने से मना कर दे, या पति द्वारा त्यागी गई स्त्री पुनः विवाह करना चाहे, या पति की मृत्यु के बाद अपने अधिकारों के लिए खड़ी हो, तो पंचायत उसे झगड़ा मान लेती है। इसके बाद पंचायत तय करती है कि महिला की पुर्नव्यवस्था कैसे हो। बिना उसकी सहमति, बिना न्यायिक प्रक्रिया, केवल सामाजिक दबाव और पैसे के लेन-देन से तय होता है कि उसका जीवन कैसे चलेगा। लड़की के परिवार को तथाकथित 'झगड़ा राशि' देनी होती है, जो कभी भी कई लाख तक जा सकती है।

झगड़ा प्रथा का मूल रूप एक सामाजिक समाधान के तौर पर शुरू हुआ था। बाल सगाई या पारिवारिक अनुबंधों के टूटने पर आपसी सहमति से विवाद का निपटारा। पर समय के साथ इस सामाजिक संवाद को लालची और गैर-जिम्मेदार तत्वों ने हड़प लिया।

1980 के दशक के बाद यह प्रथा केवल सामाजिक समझौता न रहकर, एक संगठित शोषण तंत्र बन गई। अब यह तय करने का हक सिर्फ वरिष्ठ जनों तक सीमित नहीं रहा। इसमें दलाल, स्थानीय दबंग और स्वयंभू पंचायतें शामिल हो गईं, जो कानून को ताक पर रखकर अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए महिलाओं के जीवन का सौदा करती हैं।

सिर्फ पैसे की नहीं, इज्ज़त और अस्तित्व की लड़ाई -

- कई मामलों में लड़के पक्ष द्वारा धोखा देने के बावजूद लड़की के परिवार से ही झगड़ा राशि वसूली गई।
- जुर्माना न देने पर घरों में आग लगाई गई, पेड़ काट दिए गए, सामाजिक बहिष्कार किया गया।

- ✶ महिलाएं मानसिक प्रताड़ना से आत्महत्या तक कर चुकी हैं।
- ✶ लड़कियों को जबरन ब्याह दिया गया या घर बैठा दिया गया।
- ✶ कई परिवारों ने गरीबी में ज़मीन और घर तक गिरवी रख दिए।
- ✶ राजगढ़ जिले के 1605 गांवों में से शायद ही कोई गांव ऐसा हो जहां झगड़ा प्रथा का कोई प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष मामला न हो।

एक असंवैधानिक कुरीति की असलियत

भारत का संविधान हर नागरिक को समानता, गरिमा और न्याय का वादा करता है। झगड़ा प्रथा इन वादों की खुलेआम अवहेलना करती है।

संवैधानिक मूल्य क्या हैं? और यह प्रथा उन्हें कैसे तोड़ती है?

न्याय

भारतीय संविधान की प्रस्तावना सबसे पहले न्याय की बात करती है। वह कहता है कि सभी नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय मिलेगा।

झगड़ा प्रथा में क्या हो रहा है?

- ✶ एक महिला को बिना उसकी बात सुने दोषी ठहरा देना, न्याय के मूलभाव का अपमान है।
- ✶ पंचायतें पुरुषों के पक्ष में निर्णय देती हैं, और आर्थिक लेनदेन से फैसला खरीद लिया जाता है। यह आर्थिक अन्याय है।
- ✶ महिला की राजनीतिक स्वतंत्रता (यानी निर्णय लेने का अधिकार) पूरी तरह छीना जाता है। राजनीतिक न्याय का ह्रास है।

स्वतंत्रता

झगड़ा प्रथा स्त्रियों से उनकी चुनाव की स्वतंत्रता छीन लेती है।

- ✶ क्या वे पढ़ सकेंगी या नहीं?
- ✶ किससे विवाह करेंगी?
- ✶ तलाक के बाद जीवन कैसे बिताएंगी?

इन सब सवालों के जवाब वह खुद नहीं दे सकती। पंचायत या समाज का ठेकेदार देता है।

यह संविधान द्वारा दी गई स्वतंत्रता के साथ अन्याय है। स्वतंत्रता का अर्थ केवल बोलने की आज़ादी नहीं, बल्कि अपनी ज़िंदगी के निर्णय खुद लेने का हक भी है।

समता

भारतीय संविधान समानता को मूल अधिकार नहीं, मूल मूल्य मानता है। यह कहता है कि स्त्री और पुरुष समान हैं, न सोच में, न अवसर में भेद हो।

झगड़ा प्रथा का स्वरूप

- ✶ महिलाओं को पुरुषों से अलग, कमज़ोर और अधीनस्थ मानकर निर्णय लिया जाता है।
- ✶ लड़के की गलती पर भी झगड़ा राशि लड़की के परिवार से वसूली जाती है।
- ✶ पुरुष दूसरी शादी करे, तब भी स्त्री दोषी ठहराई जाती है।
- ✶ जहां एक ही घटना में स्त्री को दोषी ठहराया जाए, और पुरुष को छोड़ दिया जाए, वह समाज नहीं, शोषण है।

गरिमा

संविधान हर नागरिक को उसकी मानव गरिमा की रक्षा का आश्वासन देता है। विशेषकर महिलाओं के लिए यह गरिमा जीवन की आत्मा है।

झगड़ा प्रथा क्या करती है?

महिला की पहचान उसकी इच्छा से नहीं, पंचायत के हुक्म से तय की जाती है।

- ✶ यह प्रथा उसे वस्तु में परिवर्तित कर देती है, जिसका सौदा किया जा सकता है, उसकी सहमति, उसकी भावनाएं और उसके भविष्य की कोई कीमत नहीं होती।
- ✶ जब समाज किसी व्यक्ति की गरिमा नहीं पहचानता, तब वह उस संविधान की आत्मा को मार देता है, जो हमें मनुष्य होने का अधिकार देता है।

बंधुत्व

संविधान हमें केवल अधिकार नहीं देता, वह एक बंधुत्व आधारित समाज की कल्पना करता है, जिसमें हर कोई, हर किसी के साथ बराबरी का व्यवहार करे।झगड़ा प्रथा इस मूल्य को तोड़ती है।

- ✶ यह एक समुदाय को दूसरे पर प्रभुत्व का अधिकार देती है।
- ✶ यह पंचायतों को अछूत बना देती है, जिनके फैसले अंतिम माने जाते हैं।
- ✶ यह समाज में डर, असमानता और टकराव की भावना को जन्म देती है, जो बंधुत्व के विरुद्ध है।

झगड़ा प्रथा एक 'अनौपचारिक न्याय प्रणाली' है? कुछ लोग इसे सामाजिक न्याय की पारंपरिक विधि मानते हैं। पर क्या ऐसा न्याय जिसमें पीड़ित की बात न सुनी जाए, महिला की गरिमा को कुचला जाए, पैसे लेकर फैसला किया जाए, कानूनी प्रक्रिया को दरकिनार किया जाए, उसे न्याय कहा जा सकता है?

नहीं।

झगड़ा प्रथा, संवैधानिक मूल्यों को किस तरह खत्म करती है, सरल शब्दों में यूं समझें

गरिमा और स्वतंत्रता का हनन

संविधान का अनुच्छेद 21 प्रत्येक नागरिक को जीवन और व्यक्तिगत स्वतंत्रता का अधिकार देता है। लेकिन झगड़ा प्रथा इस अधिकार को कुचल देती है। महिला की इच्छा को पंचायत की चौपाल में दफना दिया जाता है।

समता के अधिकार का अपमान

अनुच्छेद 14 और 15 महिलाओं को समानता और भेदभाव से मुक्ति का अधिकार देते हैं। लेकिन इस प्रथा में लड़की को 'समस्या का समाधान' मान लिया जाता है, जबकि लड़के को अक्सर बख्श दिया जाता है।

न्याय की मूल भावना का गला घोंटना

झगड़ा प्रथा बिना सुनवाई, बिना दस्तावेज़, बिना न्यायिक प्रक्रिया के फैसला देती है। यह संविधान के प्राकृतिक न्याय सिद्धांत का सीधा उल्लंघन है।

बंधुत्व की अवधारणा का पतन

यह प्रथा समाज को दो वर्गों में बांटती है, निर्णय देने वाले और निर्णय झेलने वाले, पुरुष और महिला। यह संवैधानिक बंधुत्व की अवधारणा को तोड़ती है।

झगड़ा या शोषण?

यह प्रथा न केवल महिला की गरिमा को अपमानित करती है, बल्कि उसकी सुरक्षा और स्वतंत्रता को भी छीन लेती है। यह एक प्रकार का 'सांस्कृतिक बलात्कार' है, जो बिना शारीरिक जोर के भी महिला को मानसिक, सामाजिक और संवैधानिक रूप से तोड़ देता है। कुछ मामलों में तो ये झगड़ा प्रथा इतनी बर्बर हो जाती है कि महिला को उस पुरुष के घर ले जाकर बंद कर दिया जाता है, और कहा जाता है, अब यही तुम्हारा घर है। कई बार महिलाएं आत्महत्या तक कर लेती हैं क्योंकि वे न विरोध कर सकती हैं, न सह सकती हैं।

चुप क्यों हैं संस्थाएं?

झगड़ा प्रथा वर्षों से चली आ रही है, लेकिन इसके खिलाफ कोई सशक्त कानूनी कदम अब तक नहीं उठाया गया है। महिला आयोग, राज्य सरकारें, पुलिस सभी इससे वाकिफ हैं, लेकिन या तो वे इसे परंपरा मानकर चुप रही हैं, या फिर राजनीतिक और सामाजिक दबाव में कुछ कर नहीं पातीं। जब भी इस प्रथा के खिलाफ आवाज़ उठती है, तो उसे बाहरी हस्तक्षेप बताया जाता है। कहा जाता है, ये हमारे गांव की परंपरा है, इसमें बाहरवाले क्या बोलें? लेकिन सवाल यह है कि क्या परंपरा के नाम पर संविधान की हत्या की जा सकती है? हालांकि कुछ सामाजिक संगठन और महिला कार्यकर्ता इस प्रथा को खत्म करने के लिए काम कर रहे हैं। वे गांवों में जाकर महिलाओं को उनके दिए अधिकारों व मूल्य के बारे में जागरूक कर रहे हैं, उन्हें कानून की जानकारी दे रहे हैं। कुछ महिलाएं अब खुलकर बोलने लगी हैं, अदालत में केस भी लड़ रही हैं। हालांकि यह बदलाव बहुत धीमा है, लेकिन महत्वपूर्ण है। हर वह महिला जो इस अन्याय के खिलाफ खड़ी होती है, वह एक चुप समाज को झकझोरती है।

झगड़ा प्रथा का अंत जरूरी क्यों?

- ✶ यह भारतीय संविधान के मूल मूल्यों के खिलाफ है।
- ✶ यह महिला की मर्जी और गरिमा और उनके साथ किए जाने वाले न्याय का खुला उल्लंघन है।
- ✶ यह मानसिक और सामाजिक हिंसा का रूप है।
- ✶ यह असंवैधानिक पंचायतों की सत्ता को बढ़ावा देता है।
- ✶ यह समाज को पीछे की ओर ले जाता है, जहां महिलाएं केवल 'संपत्ति' थीं।

झगड़ा प्रथा का मूल्यों पर सीधा प्रहार

झगड़ा प्रथा का प्रभाव केवल आर्थिक नुकसान तक सीमित नहीं है, बल्कि यह महिलाओं के आत्मसम्मान, उनके जीवन के अधिकार और संवैधानिक मूल्यों पर भी सीधा हमला है। संविधान ने महिलाओं को पुरुषों के समान अधिकार दिए हैं, लेकिन इस प्रथा के चलते महिलाओं को दोयम दर्जे का नागरिक बना दिया जाता है। इस प्रथा के कारण लड़कियों की गरिमा को कोई ध्यान नहीं रखा जाता और न ही उनके साथ या उनकी स्वतंत्रता का ख्याल रखा जाता है। वही लड़को की तुलना उन्हें दी समानता से वंचित रखा जाता है। लड़कियों को शिक्षा और स्वतंत्रता से वंचित कर दिया जाता है और उन्हें पारिवारिक और सामाजिक दबाव में जीने के लिए मजबूर किया जाता है।

इस प्रथा को समाप्त करने के लिए कानून को और अधिक कठोर बनाया जाना चाहिए, साथ ही इसके पीड़ितों को सामाजिक और आर्थिक सहायता प्रदान की जानी चाहिए। पंचायतों को संवैधानिक ढांचे के भीतर लाने और गैर-कानूनी सामाजिक पंचायतों को समाप्त करने के लिए ठोस कदम उठाए जाने चाहिए। इसके अतिरिक्त, शिक्षा और जागरूकता अभियानों के माध्यम से समाज को यह समझाने की जरूरत है कि झगड़ा प्रथा न केवल अमानवीय है, बल्कि यह संविधान और लोकतांत्रिक मूल्यों के भी खिलाफ है।

इस कुप्रथा के खिलाफ लड़ाई केवल प्रशासन या कुछ संगठनों की नहीं हो सकती, बल्कि यह समाज की सामूहिक जिम्मेदारी है। जब तक हर व्यक्ति इसके खिलाफ नहीं खड़ा होगा, तब तक इसे समाप्त करना मुश्किल होगा। यह समय है कि हम अपने संवैधानिक अधिकारों को पहचाने, मूल्यों को समझे, उनका पालन करें और झगड़ा प्रथा जैसी अमानवीय प्रथाओं के खिलाफ एकजुट होकर संघर्ष करें। यदि हम ऐसा कर पाए तो यह समाज में महिलाओं और बच्चों के लिए एक सुरक्षित और सम्मानजनक वातावरण बनाने की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम होगा।

कार्रवाई का प्रावधान

कानूनी दृष्टि से देखें तो झगड़ा प्रथा के तहत कई धाराए लागू हो सकती हैं। भारतीय दंड संहिता आईपीसी की धारा 383 (जबरन वसूली), धारा 503 (धमकी देना) और धारा 506 (आपराधिक धमकी) के तहत झगड़ा प्रथा से जुड़े मामलों में अपराध दर्ज किए जा सकते हैं। इसके अलावा, बाल विवाह निषेध अधिनियम, 2006 के तहत 18 साल से कम उम्र की लड़की और 21 साल से कम उम्र के लड़के की शादी करवाना अपराध है। इस कानून के अनुसार, बाल विवाह में संलिप्त माता-पिता, पंचायतें और विवाह कराने वाले दोषियों पर कार्रवाई हो सकती है, जिसमें दो साल की सजा और एक लाख रुपये तक का जुर्माना लगाया जा सकता है।

जागरूकता अभियान चला रहे, पर अशिक्षा बन रही बाधा

प्रशासनिक स्तर पर झगड़ा प्रथा के खिलाफ कदम उठाए जा रहे हैं। गांव में जागरूकता अभियान और कार्यशालाएं आयोजित की जा रही हैं। कई स्वयंसेवी संस्थाए भी पीड़ित परिवारों के साथ खड़ी हो रही हैं। पिछले कुछ वर्षों में इस प्रथा से जुड़े आरोपियों पर आपराधिक प्रकरण दर्ज किए गए हैं, जिससे यह स्पष्ट होता है कि प्रशासनिक और कानूनी शिकंजा इस कुप्रथा पर कसता जा रहा है। हालांकि, सिर्फ कानून बनाने और प्रशासनिक कार्रवाइयां करने से इस समस्या का समाधान संभव नहीं है। झगड़ा प्रथा को समाप्त करने के लिए समाज के हर व्यक्ति को जागरूक होना होगा और मिलकर इसके खिलाफ आवाज उठानी होगी। संवैधानिक मूल्यों की रक्षा केवल सरकार और कानून की जिम्मेदारी नहीं है, बल्कि यह समाज के हर व्यक्ति का नैतिक दायित्व भी है।

झगड़ा प्रथा में बढ़ती दलालों की सक्रियता

झगड़ा प्रथा में बीते कुछ सालों से दलालों की सक्रियता तेजी से बड़ी है। जिसमें परिवार आपसी सहमति से यदि कोई झगड़ा तोड़ना भी चाहे या उसे मामले को खत्म करना चाहे तो दलाल अपने स्वार्थ को लेकर सामाजिक प्रतिष्ठा और पारिवारिक कमजोरी का हवाला बताते हुए कहीं ना कहीं लड़के पक्ष को झगड़ा लेने के लिए मजबूर कर देते हैं। लगातार उन्हें इस बात के लिए राजी करते हैं कि वह झगड़ा लेकर ही इस रिश्ते को खत्म करें।

झगड़ा प्रथा कितनी भारी

राजगढ़ में बीते कुछ दिनों से झगड़ा प्रथा के तहत आरोपी अपने झगड़ा को पकाने के लिए लड़की पक्ष के परिवार के सदस्यों का अपहरण करने लगे हैं। 28 दिसम्बर 2024 छापीहेड़ा थाना अंतर्गत आने वाले सेमली लोढ़ा गांव के रहने वाले अर्जुन पिता रंगलाल और उसके बेटे बृज तंवर को उसके जीजा देवकरण व अन्य रिश्तेदारों द्वारा 20 लाख रुपए देने का दबाव बनाया जा रहा था। ऐसा न करने पर 3 जनवरी को उन्होंने बताया की अर्जुन बदला हुआ नाम की बहन जो बगैर बताए घर से भागी थी, वह मिल गई है। इसलिए मिलने आ जाओ। यही सोचकर अर्जुन और उसके परिवार के लोग राजगढ़ पहुंचे। लेकिन यहां जीजा देवकरण तंवर और उसके अन्य साथियों ने मिलकर दोनों का अपहरण कर लिया और 2 दिन तक ठंड में जंगल में रखा। बाद में जब उन्हें लगा कि कहीं ना कहीं इस मामले की जानकारी पुलिस को लग गई है, तो उन्होंने छोड़ दिया और रिपोर्ट दर्ज न कराने की चेतावनी दी।

17 नबम्बर 2024

कालीपीठ थाना अंतर्गत आने वाले प्रेमपुरा में बीरम तंवर नाम का एक युवक का शव मिला। बीरम का मृत शरीर फांसी के फंदे के आधे कपड़े से लिपटा हुआ जमीन पर पड़ा था, जबकि फंदे का दूसरा भाग करीब 20 फीट ऊंचे पेड़ पर बंधा हुआ था। परिजनों का आरोप था कि झगड़ा की राशि न देने पर आरोपियों ने बीरम की हत्या की।

29 मई 2023

खिलचीपुर के पेट्रोल पंप से एक युवक का दिनदहाड़े अपहरण हो गया। युवक बीते कुछ दिनों से अपना घर छोड़कर राजगढ़ के राजपुरा से खिलचीपुर में रह रहा था और वहीं पर वह काम करता था। घटना के समय युवक एलकार मालवीय खिलचीपुर के एक मैरिज गार्डन में लाइट का काम कर रहा था। इसी दौरान वह अपने एक साथी पारस के साथ पेट्रोल डलवाने के लिए गए। इसी दौरान चार अपहरणकर्ता उसका अपहरण कर चले गए। पुलिस एफआईआर दर्ज कर आरोपियों को गिरफ्तार किया।

3 फरवरी 2023

होडा वाली माता मंदिर के यहां बैठकर झगड़ा की राशि तीन लाख रुपये की मांग की जा रही थी, लेकिन जब इस पर लड़की के परिजन राजी नहीं हुए तो बैठक खत्म करते हुए वह मौके से किशन लाल तंवर नाम के व्यक्ति के बेटे को उठाकर ले गए। ऐसे में किशन लाल की पत्नी सजन बाई ने पहले दांगी पुरा थाने में अपनी शिकायत दर्ज कराई। घटनास्थल राजगढ़ जिले का होने के कारण वहां सुनवाई नहीं हुई, जिसके बाद परिजन भोजपुर थाना में एफआईआर कराई गई।

28 अक्टूबर 2024

एक युवक पाडलिया माता से एक विवाहित महिला को ले गया, जिसके बदले में उसके भाई से विवाहित महिला के परिजन झगड़ा मांग रहे थे लेकिन न देने पर भाई का ही अपहरण कर ले गए। पुलिस ने आरोपियों को 2 दिन बाद गिरफ्तार किया।

22 अप्रैल 2025

राजगढ़ के बाकपुर में रहने वाली एक विधवा महिला से झगड़ा प्रथा में 11 लाख रुपए दिए जाने की मांग कर रहे थे। विधवा महिला की बच्ची की सगाई राजस्थान में की गई थी। कम उम्र होने के कारण उसे ससुराल नहीं भेज रहे थे। एक तरफ 11 लाख रुपए झगड़ा और दूसरी तरफ गांव के ही कुछ लोग उसे जबरन उठाकर ले जाने के लिए धमका रहे थे। ऐसे में महिला मांगी बाई की संदेह स्थिति में मौत हो गई। पुलिस इस पूरे मामले की जांच फिलहाल कर रही है। मृतका की बच्ची ने आरोप लगाया की उसकी मां ने डर के कारण जहर खाया।

19 मई 2023

देहरी जागीर में एक 14 साल की किशोरी ने आत्महत्या कर ली थी। पर्दे के पीछे कि यदि कहानी को समझें तो कहीं ना कहीं झगड़ा प्रथा ही इसके पीछे बताया गया। लेकिन मात्र 12 साल की उम्र में लड़की की शादी कर देना और 14 साल में ही उसे ससुराल वालों द्वारा गोना करने के लिए दबाव बनाए जाने का मामला भी कहीं ना कहीं पेचीदा है और इसमें चाहे लड़की के माता-पिता या फिर लड़के के परिजन दोनों की पक्ष की गलती कहीं जाएगी।

18 जुलाई 2021

कालीपीठ थाना के तहत एक महिला का विवाह बाल हुआ था, लेकिन पति ने उसे छोड़ दिया और एक अन्य महिला के साथ रहने लगा और पीड़ित से झगड़ा के रूप में पचास लाख रुपये की मांग की जा रही थी। समाज और परिजनों की समझाइश के बाद पति पत्नी को लेकर भी गया था, लेकिन बाद में मारपीट करते हुए उसे वापस भेज दिया और लगातार झगड़ा मांगा जा रहा। इसी कड़ी में आरोपियों ने पहले गांव में कुछ जगह फसल में आग लगाई। बाद में पिड़ावा के साथ ही झोपड़ियों में आग लगाकर अपना झगड़ा पकाने के प्रयास में झोपड़ी में आग लगा दी। जिसमे सो रहे वृद्धि हुई आगजनी का शिकार हो गए।

हमारी जिम्मेदारी क्या है?

यदि हम वाकई एक प्रगतिशील, संवैधानिक और न्यायप्रिय समाज बनाना चाहते हैं, तो हमें इस प्रथा के खिलाफ बोलना होगा। सिर्फ कानून से नहीं, बल्कि सोच से भी इस प्रथा का अंत करना होगा। हमें हर बेटी, महिला के लिए खड़ा होना होगा, जिन्हें आज भी उनकी मर्जी के बिना किसी दूसरे मर्द के साथ बाँट दिया जाता है। हमें पंचायतों को यह दिखाना होगा कि संविधान सबसे ऊपर है,परंपरा नहीं। झगड़ा प्रथा सिर्फ एक सामाजिक कुरीति नहीं, यह संविधान के खिलाफ एक संगठित विद्रोह है। यह उस आज़ादी के खिलाफ है जिसके लिए हमारे पूर्वजों ने संघर्ष किया। जब तक यह प्रथा जीवित है, तब तक हम एक लोकतांत्रिक और समानता पर आधारित राष्ट्र नहीं कहला सकते। यह समय है झगड़े को खत्म करने का, और इंसाफ को जीत दिलाने का।

मेरी यात्रा: प्रक्रिया ने झकझोर दिया, धारणाएं टूटी

चैतन्य दास सोनी

परिचय

पत्रकारिता में स्नातकोत्तर चैतन्य सोनी को पत्रकारिता में 23 वर्ष से अधिक का अनुभव है। इस दौरान चैतन्य सोनी ने यूएनआई, देशबंधु, दैनिक जागरण, दैनिक भास्कर, पत्रिका, वन इंडिया के लिए भोपाल व सागर में कार्य किया है। इनदिनों वे स्वतंत्र पत्रकार के रूप में कार्य कर रहे हैं।

करीब 23 साल की पत्रकारिता में हर दिन कुछ नई सीख देकर गया है। मैं कॉमर्स का विद्यार्थी रहा, फिर मास कम्युनिकेशन एंड जर्नलिज्म में मास्टर डिग्री कर कॅरियर प्रारंभ किया। साल 2001 के बाद से सागर, भोपाल, अशोकनगर इंदौर सहित देश की राजधानी दिल्ली में काम किया। अलग-अलग बीट में काम करने के दौरान हम अपने दिमाग में तय फॉर्मेट के अनुसार खबरें लिखते रहे। संपादकीय टीम-थोड़ा बहुत इधर-उधर संशोधन कर खबरों को प्रकाशित करता रहा। यह सिलसिला करीब 22 साल चला। बीच में 2010 से 2022 तक मुझे सागर जिले में हेल्थ रिपोर्टर के तौर पर पहचान मिली। जिस भी अखबार और संस्थान में नौकरी की, मुझे हेल्थ बीट की जिम्मेदारी सौंपी गई। खैर, इस दौरान सागर के बुंदेलखंड मेडिकल कॉलेज, जिला अस्पताल, शहर की छोटे-बड़े निजी अस्पतालों में जब-तब खबरों या मरीजों की मदद के लिए आना-जाना होता रहा। खूब खबरें लिखीं, कई खबरों को राष्ट्रीय स्तर तक प्रकाशित किया गया। मुझे लगता था कि मैंने अब तक सबसे बेहतर काम किया है। लोगों को अपनी पत्रकारिता के माध्यम से लाभ दिलाया, लेकिन जब संवैधानिक मूल्यों को जानने, समझने और मानने की दिशा में आगे बढ़ा, तो खुद को पहले पायदान पर पाया। अब महसूस होता है कि अपनी खबरों को कभी मूल्यों के नजरिये से देखा ही नहीं था।

संवैधानिक मूल्यों को आत्मसात करने के इस सफर की शुरूआत बीते साल हुई थी। मेरी मित्र व पत्रकारिता की सहपाठी ममता यादव ने एक दिन फोन कर बताया कि भोपाल में विकास संवाद संस्था है, जो संवैधानिक मूल्यों पर काम करती है और इसमें फैलोशिप प्रदान करते हैं, आवेदन करना चाहोगे? बात आगे बढ़ी और आखिरकार मेरा चयन फैलोशिप के लिए हो गया। जूरी ने 'मानवीय स्वास्थ्य एवं गरिमा' बुंदेलखंड में आयुष्मान योजना के प्रभाव का अध्ययन, विषय को फाइनल किया। मूल्यों की जानने और अपनाने की दिशा में यह पहला कदम था। विकास संवाद संस्था ने बीते 20-21 जुलाई, 2024 को भोपाल में हमारे फैलोशिप बैच का पहला संवाद शिविर आयोजित किया था। इस दौरान तक मैं संविधान मूल्यों को लेकर लगभग शून्य था। शिविर प्रारंभ होते ही एक नई यात्रा का शुभारंभ हुआ। हमारे मेंटर सर सुनील गुप्ताजी से लगातार संवैधानिक मूल्यों को लेकर चर्चा होती रही, उन्होंने बड़ी ही बारीकी से संवैधानिक मूल्यों को, जिनमें गरिमा, बंधुता, समानता, न्याय, स्वतंत्रता आदि विषयों को अलग-अलग उदाहरणों से समझाया। शिविर के दौरान हमें कुछ पुस्तकें और स्टडी मटेरियल मिला था। जब इनको पढ़ना प्रारंभ किया, तो पहले तो उबाऊ लगा, लेकिन धीरे-धीरे संविधान, मौलिक अधिकार, कर्तव्य और मूल्य समझ में आने लगे।

शिविरों के दौरान सचिन जैन सर, पंकज शुक्ला जी, हमारे मेंटर सुनील गुप्ता जी, चिन्यम मिश्र जी, श्रावणी सरकार जी,

नायडू सर सहित अन्य विशेषज्ञों ने संवैधानिक मूल्यों को जानने, मानने, समझने और अपनाने की प्रक्रिया को समझाया था... फिर समझ आया कि संवैधानिक मूल्य केवल किताबों में लिखे कोटेशन नहीं हैं! ये हमारे जीवन का अहम हिस्सा हैं, जो मां के गर्भ से हमारे साथ होते हैं और अंतिम क्षण तक हमारे साथ रहेंगे। इनके लिए हमें दूसरों से भी अपेक्षा होगी एवं दूसरों को हमसे भी यही अपेक्षा होगी। अब हमें संवैधानिक मूल्यों को जानने, मानने, समझने और आत्मसात करने की प्रक्रिया समझ आने लगी थी। हालांकि यह इतना आसान होने वाला नहीं था। हमारी सोच, हमारी धारणाएं, पारिवारिक एवं सामाजिक परिवेश तथा कार्यस्थल के माहौल में रहते हुए हमें संवैधानिक मूल्य आत्मसात करने थे, जो हमारी सोच, बोलचाल, व्यवहार और व्यक्तित्व में भी दिखने चाहिए... इस दिशा में धीरे-धीरे प्रयास करना शुरू किया। इसके साथ ही खबरों का कवरेज करने के दौरान पीड़ित पक्ष के साथ खड़े होकर उसकी गरिमा, उसके साथ न्याय एवं बंधुता को देखने और समझने का प्रयास कर अपनी खबरों में इन्हें समाहित करना शुरू किया।

हम मूल्यों को बाहर तलाश रहे थे, वे स्वयं के अंदर मिले

मूल्यों को जानने, मानने की प्रक्रिया के दौरान अलग-अलग अनुभूति और अनुभव हुए, लेकिन हम अभी भी मूल्यों को उनकी मूल भावना के अनुरूप पकड़ नहीं पा रहे थे, कहीं कुछ छूट रहा था, जिसे शब्दों में बयां नहीं किया जा सकता। एक दिन यूं ही किसी बात पर मेरी पत्नी और मेरे बीच किसी बात को लेकर बहस हो गई... मामला अबोला तक पहुंच गया। जाहिर है, मिडिल क्लास फैमिली में पिता का गुस्सा सबसे पहले बेटे पर उतरता है, सो यही हुआ। मेरे बेटे ने मुझसे कन्नी काटी और मुझे अपना गुस्सा निकालने का मौका मिल गया। पहले उसे भाषण सुनाए और जब कोई जवाब नहीं मिला, तो बेटे को झापड़ रसीद कर दिए! कुछ समय बाद गुस्से का वेग थमा और बेकसूर बेटे के आंसू देखे, तो अंदर से पीड़ा महसूस हुई। ठीक इसी समय मुझे यह भी आभास हुआ कि बगैर किसी बात के बहस के दौरान पत्नी और बेटे को अपमानित करना उनके संवैधानिक मूल्यों का ह्रास है। पत्नी और बेटे का भी अपना सम्मान है, उनकी भी गरिमा है। मैंने उनके साथ गलत व्यवहार किया था। यकीन मानिए, मैंने शाम को दोनों से सपाट शब्दों में अपनी गलती पर माफी मांगी। शायद उसी दिन मुझे मूल्यों का पहली बार आभास हुआ था कि मेरी ही नहीं, मेरे परिवार के हर सदस्य की भी गरिमा है, जिसका मुझे सम्मान करना चाहिए।

धारणाएं बना रखी थीं, प्रयास किया तो मूल्य समझ आए

समाज में हम जाति और धर्म के आधार पर अपने मित्रों एवं परिचित व्यक्तियों से दो तरह के चरित्र के साथ व्यवहार करते हैं। मेरे एक मुस्लिम मित्र हैं। हमारे करीब 25 साल पुराने संबंध हैं। उनके परिवार, भाभी और बच्चों से भी वार्तालाप है, लेकिन जैसे ही बात हिंदू-मुस्लिम की आती है, तो मन के अंदर अचानक एक लकीर-सी खिंच जाती थी। सोशल मीडिया पर मुस्लिमों द्वारा हिंदू समुदाय का धर्म भ्रष्ट करने के लिए जूठा कर भोजन खिलाने, चम्मच को जूठा करने, फलों में थूक लगाकर बाजार में बेचने, नालियों के पानी में फल धोकर हिंदू कॉलोनियों में बेचने के वायरल वीडियो देखकर लगता था कि सभी मुस्लिम परिवार ऐसा कर रहे हैं। हिंदू-मुस्लिम होने के कारण मिलना-जुलना तो जब-तब होता रहा, साथ घूमे... लेकिन कभी एक-दूसरे के घर भोजन करने नहीं गए। मीठी ईद पर हर बार अपने दोस्त के यहां से हमें सेवईं (सिवैयां) खाने का निमंत्रण मिलता रहा, लेकिन वही डर कि कहीं जूठा न परोस दें? फैलोशिप के दौरान हमारे सचिन जैन सर ने धारणाएं और पूर्वाग्रह को बड़े ही बेहतर तरीके से समझाया था। यह बात मन में बैठ गई। धारणाएं और पूर्वाग्रह पर जब चिंतन किया, तो पता चला कि यह तो हम खुद धारणा पालकर बैठे हैं। धीरे-धीरे प्रयास किए, मित्र से बात की, उसके घर पहुंचे और माता-पिताजी व भाभीजी से चर्चा के दौरान अपनी शंका बताई... सब कुछ सुनकर वे भी अचरज में पड़ गए। बोले, "क्या हम आपके घर आएंगे, तो आप हमें जूठा खिला सकते हैं? यदि नहीं, तो हम ऐसा आपके साथ क्यों करेंगे? सोशल

मीडिया पर दोनों धर्मों को बदनाम करने को लेकर इसी तरह का भ्रम फैलाया जाता रहा है। आप हमारे घर के सदस्य समान हैं।" उन्होंने न सिर्फ मेरी शंका का समाधान किया, बल्कि भरोसा भी दिलाया कि ऐसा कुछ नहीं है। अब हम दोनों मिल एक-दूसरे के घर बैठकर भोजन करते हैं। संभव है यदि विकास संवाद की फैलोशिप नहीं कर रहा होता, तो जीवन में यह शंका और इसका समाधान कभी नहीं तलाश पाता!

सब कुछ आसान लग रहा था, लेकिन हम उथले पानी में तैर रहे थे!

फैलोशिप के लिए मैंने 'मानवीय स्वास्थ्य एवं गरिमा' बुंदेलखंड में आयुष्मान योजना के प्रभाव का अध्ययन, विषय का चयन इसलिए किया था, क्योंकि मुझे लगता था कि 12 से 15 साल मैंने चिकित्सा क्षेत्र में काफी रिपोर्टिंग की है, मेरे अच्छे संबंध हैं, जिनका मुझे लाभ मिलेगा। जब फील्ड में संवैधानिक मूल्यों के साथ उतरा, तो समझ आया कि यह इतना आसान नहीं है, जितना मैं समझ रहा था। खैर, जैसे-जैसे मूल्यों के नजरिये से खबरों को देखना और लिखना प्रारंभ किया, तो समझ आया कि अभी तक तो हम केवल उथले पानी में उतरा रहे थे, मूल्यों की गहराई में तो कभी उतरे ही नहीं थे। पुरानी एक्सक्लूसिव खबरों को जब पलटकर देखते हैं, तो अब समझ आता है कि संवैधानिक मूल्यों के लिहाज से उनमें काफी कुछ छूट गया है। अपनी गलतियां अब समझ आती हैं।

प्राइवेट अस्पताल सिर्फ ग्राहक समझ रहे, न गरिमा, न सम्मान मिल रहा

फैलोशिप पर काम करते हुए सागर शहर के प्राइवेट अस्पतालों के दो ऐसे मामले सामने आए, जिन्होंने अंदर तक झकझोर दिया। इनमें मरीजों की गरिमा, बंधुता सहित न्याय तो ठीक, अस्पताल प्रबंधन मानवता तक भुला बैठे। बात मार्च 2025 की है। खबर आई कि सागर के बंसल अस्पताल ने एक मरीज का आयुष्मान कार्ड अस्वीकार कर दिया और करीब ढाई लाख रुपए बिल भरने के लिए दबाव बना रहे हैं। आयुष्मान का नाम सुनते ही कान खड़े हो गए। मरीज अशोक यादव के भाई, पत्नी एवं अन्य परिजनों से जब बात की, तो पता चला कि 24 घंटे से उनका मरीज बंसल अस्पताल में बंधक है तथा पैसे जमा न करने के कारण पत्नी और बच्चों तक को मिलने से मना कर दिया गया है। इलाज तो ठीक, यहां प्रबंधन एवं कर्मचारी सब माफिया-गैंग की तरह परिजनों से व्यवहार कर रहे थे। अस्पताल ने मरीज की गरिमा तो ठीक, बंधुता और न्याय जैसे मूल्यों को भी खूंटी पर टांग रखा था। मामला इसलिए संवेदनशील था कि मरीज मंत्री गोविंद सिंह राजपूत के विधानसभा क्षेत्र से आता है और उनके हस्तक्षेप के बाद भी मरीज को कोई राहत नहीं मिली। परिजन ने घर एवं जेवर गिरवी रखकर मरीज को अस्पताल से डिस्चार्ज कराया था। मामले में चूंकि मैं भी अपने साथियों सहित हस्तक्षेप कर रहा था, सो अस्पताल के पीआरओ के माध्यम से कुछ राशि जरूर कम करा सके।

लगभग एक महीने बाद ही ठीक इसी तरह का एक और मामला सागर के निजी डॉ. राय अस्पताल में सामने आया। इसमें भी आयुष्मान हितग्राही एवं बस एक्सीडेंट में घायल देवरी निवासी ममतारानी अहिरवार को भी अस्पताल में रुपयों के लिए अघोषित रूप से बंधक बना लिया था। अस्पताल ने आयुष्मान लेने से इंकार कर दिया और करीब डेढ़ लाख रुपए जमा करने के लिए दबाव बना रहा था। मामले में पीड़ित के परिजनों को जब सागर कलेक्टर के पास भेजा, तब प्रशासन ने एक्शन लिया और मरीज को अस्पताल से डिस्चार्ज कराया जा सका... ये दो उदाहरण तो महज बानगी हैं, ऐसे सैकड़ों आयुष्मान कार्डधारक मरीज परेशान हो रहे हैं। मैंने इन मरीजों के संदर्भ में जानकारी की, तो पता चला कि अस्पतालों में मानवता एवं संवैधानिक मूल्यों का कोई महत्व नहीं है। अस्पताल बस मरीजों को इलाज के नाम पर लूटने और बैंक बैलेंस बढ़ाने का काम कर रहे हैं। यहां सामान्य एवं आयुष्मान के माध्यम से उपचार कराने वाले मरीजों में भेदभाव भी किया जाता है। आयुष्मान के मरीजों को दोयम दर्जे का समझा जा रहा है।

सरकार की मंशा कुछ और थी, धरातल पर हो कुछ और रहा है

फैलोशिप के दौरान हमने फील्ड में जाकर जो देखा, महसूस किया और वास्तविकता मिली वह सरकारी दावों से इतर है। साल 2018 में केंद्र सरकार ने संविधान की मूल भावना के अनुरूप देश के आर्थिक रूप से अशक्त, वंचित, गरीब तबके के प्रत्येक व्यक्ति को संविधान की मूल भावना के अनुरूप सम्मान और गरिमा के साथ इलाज की सुविधा उपलब्ध कराने के लिए आयुष्मान भारत निरामयम योजना लॉन्च की थी, जिसमें पात्र परिवार के प्रत्येक व्यक्ति को साल में 5 लाख रुपए तक का मुफ्त इलाज प्रदान करने का प्राविधान किया गया है। सरकारी अस्पतालों के अलावा पूरे देश में निजी और लग्जरी अस्पतालों को भी अनुबंधित कर मरीजों को उनकी सुविधा का लाभ दिलाया जा रहा है... बात मप्र के बुंदेलखंड क्षेत्र की करें, तो यहां आयुष्मान मरीज के इलाज के नाम पर जमकर लूट मची है। क्या सरकारी और क्या प्राइवेट अस्पताल सभी एक रैकेट की तरह काम कर रहे हैं।

सागर के प्राइवेट अस्पतालों में तो आयुष्मान मरीजों को गुमराह कर भर्ती कर लिया जाता है और बाद में जबरिया पैसा जमा कराने के लिए मरीजों को बंधक बनाने जैसे मामले भी सामने आ रहे हैं। मरीजों के फर्जी ऑपरेशन तक की आशंका जानकार जता रहे हैं! मेरा अनुभव कहता है कि योजना में कुछ लूप होल छोड़े गए हैं, जिनका भरपूर फायदा मेडिकल इंडस्ट्री एवं निजी अस्पताल उठा रहे हैं। इनका लालच और मरीज को बलि का बकरा समझने की प्रवृत्ति के चलते मरीजों से लूट-खसोट जैसी स्थिति देखने में आती है। अमूमन यह स्थिति एकाध शहर या प्रदेश में नहीं वरन पूरे देश में बनी हुई है।

सागर संभाग के सरकारी अस्पतालों में मरीज को असंतोषजनक सुविधाएं और इलाज मिलता है, इस कारण वे प्राइवेट अस्पतालों का रुख कर रहे हैं, जहां आयुष्मान के मरीजों से दोयम दर्जे का व्यवहार तो किया ही जाता है, उन्हें हिकारत भरी नजरों से देखा जाता है। सामान्य एवं आयुष्मान कार्ड पर निर्भर मरीजों के इलाज, फॉलोअप तक में भेदभाव किया जा रहा है। हालांकि कुछ मरीजों को इस योजना से जीवनदान तक मिला है, लेकिन उनकी संख्या नाममात्र है, जिन्हें अपवाद कहा जा सकता है। इधर केंद्र सरकार आयुष्मान योजना की गाइड लाइन में लगातार सुधार और बदलाव कर रही है, ताकि लोगों को बेहतर से बेहतर इलाज की सुविधा मिल सके।

उम्मीद है भविष्य में संवैधानिक मूल्यों के मापदंडों पर महानगरों से लेकर दूरस्थ क्षेत्रों के नागरिकों को इस योजना का भरपूर लाभ मिल सकेगा।

किन्नर उत्तराधिकार: दया नहीं अधिकार की दरकार

दिनेश शुक्ला

"हम अपनों से कुछ नहीं छीनना चाहते। बस चाहते हैं कि हमें भी 'अपना' माना जाए।"

- गायत्री, भोपाल के मंगलवारा किन्नर समुदाय की एक सदस्य

'जिस परिवार में जन्म हुआ वहां लैंगिक आधार पर अगर संपत्ति के अधिकार, उत्तराधिकार से वंचित कर दिया जाए, यह गलत है।'

- संजना सखी, वैष्णव किन्नर अखाड़ा की महामंडलेश्वर

मोहब्बत की इमारत ताज महल के शहर आगरा की रहने वाली किन्नर देवेंद्र एस मंगलामुखी कहती हैं कि उनके समुदाय के लोगों को मुख्य धारा में लाने के लिए सरकारों को बड़े पैमाने पर काम करने की जरूरत है। मंगलामुखी देश की पहली किन्नर हैं, जिन्होंने दिल्ली विश्वविद्यालय से अंग्रेजी साहित्य में डॉक्टरेट किया है। वे कहती हैं कि 99 फीसदी किन्नर अपनी मर्जी से घर छोड़कर चले जाते हैं, जबकि पैतृक संपत्ति पर उनका अधिकार बनता है। मंगलामुखी कहती हैं, "मैं भीख नहीं मांगना चाहती हूं। मैं नौकरी करना चाहती हूं। हम जहां नौकरी के लिए जाते हैं, वहां देखकर ही हमें किनारे कर दिया जाता है।"

मंगलामुखी शिकायत भरे लहजे में कहती हैं "2014 में ट्रांसजेंडर बिल आने के बावजूद हम लोगों की स्थिति बहुत दयनीय है। कभी-कभी तो मुझे लगता है कि इतने सालों में हमारे लिए कुछ भी नहीं बदला है और मुझे भी सड़क पर उतरकर भीख मांगना चाहिए।" (DW के लिए आमिर अंसारी को दिए एक इंटरव्यू से)

परिचय

पत्रकारिता में स्नातकोत्तर दिनेश शुक्ला बीते 16 वर्ष की पत्रकारिता के दौरान एबीपी न्यूज, बीबीसी हिंदी, डीडी न्यूज, टाइम्स नाउ, रिपब्लिक टीवी, द प्रिंट, द क्विंट, न्यूज एक्सप्रेस आदि में कार्य कर चुके हैं। सक्रिय पत्रकारिता के साथ वे 'मप्र में मोबाइल पत्रकारिता' विषय पर पीएचडी कर रहे हैं। इस फैलोशिप में उन्होंने किन्नरों के उत्तराधिकार तथा संवैधानिक व नागरिक अधिकारों व उनकी सामाजिक स्थिति का अध्ययन किया है।

देवेंद्र एस. मंगलामुखी का यह बयान उत्तरप्रदेश में किन्नर समुदाय के लोगों को पैतृक खेतिहर भूमि पर अधिकार मिलने की खबर के बाद आया था। सन् 2020 में योगी आदित्यनाथ कैबिनेट ने उत्तरप्रदेश राजस्व संहिता (संशोधन) विधेयक, 2020 को मंजूरी दी थी, जिसे वहां के दोनों सदनों में पारित किया गया था। भारतीय संविधान देश के प्रत्येक नागरिक को मौलिक अधिकार प्रदान करता है तथा वे मौलिक अधिकार प्रत्येक नागरिक को मिलें, इसके लिए भारतीय संविधान में विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका तीन स्तंभ हैं। इन्हें दर्शाने के लिए हमारे राष्ट्रीय चिह्न अशोक की लाट में प्रतीकात्मक तौर पर यह दर्शाया गया है, जिसमें सामने से देखने पर तीन सिर वाला शेर दिखाई देता है, लेकिन इस शेर का चौथा सिर भी है, जो है तो, लेकिन दिखाई नहीं देता। वैसे ही, जैसे हमारे संविधान में किन्नर समुदाय को मिले अधिकार तो हैं, लेकिन वे स्पष्ट रूप से समाज में परिलक्षित नहीं होते, जिनमें से एक बड़ा अधिकार है संपत्ति और उत्तराधिकार।

पहचान से अधिकार तक

भारतीय संविधान केवल एक दस्तावेज़ नहीं, बल्कि उन मूल्यों की आत्मा है, जो 'सभी नागरिकों' को समानता, गरिमा और न्याय का वादा करता है, पर क्या यह वादा भारत के तीसरे लिंग, यानी ट्रांसजेंडर या किन्नर समुदाय तक पूरी तरह पहुंचा है? एक ओर हम चंद्रयान पर गर्व करते हैं, डिजिटल इंडिया की बात करते हैं, परंतु जब समाज के सबसे हाशिए पर खड़े समुदाय जैसे किन्नर के अधिकारों की बात आती है, तो हमारी संवेदनशीलता, संवैधानिक समझ और सामाजिक चेतना की असली परीक्षा होती है।

उस असमानता, उस मौन अन्याय और उस लाचारी को उठाने का यह प्रयास मात्र है, जो किन्नर समुदाय को विरासत और संपत्ति से जुड़े कानूनी अधिकारों में झेलनी पड़ती है। इसकी पृष्ठभूमि में हाल ही में मध्यप्रदेश के शिवपुरी जिले की करैरा तहसील में हुई गुरु आशा किन्नर की हत्या, अदालती फैसले और भोपाल की दो शिक्षित किन्नरों की आवाजें हैंजो समानता, गरिमा एवं बंधुता की लड़ाई लड़ रही हैं।

भारतीय समाज में किन्नर समुदाय की ऐतिहासिक स्थिति और संविधान में समानता का सपना

पहचान के परे: एक संघर्षशील इतिहास

भारतीय समाज में किन्नर समुदाय की उपस्थिति कोई नई नहीं है। प्राचीनकाल से ही वे सामाजिक और धार्मिक परंपराओं का हिस्सा रहे हैंकभी देवदूतों की भूमिका में, तो कभी श्रापित मानकर बहिष्कृत। पौराणिक तथा धार्मिक कथाओं की बात करें, तो महाभारत काल में अर्जुन को बृहन्नला के रूप में पेश किया गया है, जो वनवास के दौरान अज्ञातवास में बृहन्नला नामक एक किन्नर का वेश धारण कर विराट नगरी में राजा विराट की राजकुमारी उत्तरा को नृत्य और संगीत की शिक्षा देता है। इस प्रसंग से यह स्पष्ट होता है कि किन्नर समुदाय को नृत्य संगीत और कला में महारत हासिल थी और उन्हें समाज में सम्मानित स्थान प्राप्त था, तो दूसरा प्रमुख किन्नर पात्र शिखंडी जो राजा द्रुपद के यहां पैदा हुई तथा जिसको पूर्व जन्म में काशी नरेश की पुत्री अंबा माना जाता है, उसे एक योद्धा के रूप में पेश किया गया है, जबकि इरावन जो अर्जुन और नागकन्या उलूपी का पुत्र था और कुशल धनुर्धर तथा मायावी अस्त्रों का ज्ञाता था, उसने कुरुक्षेत्र के युद्ध में गांधार नरेश शकुनी के छह भाइयों का वध किया तथा अन्य बहुत से योद्धाओं को परास्त किया। इरावन को किन्नर समाज का देवता माना जाता है, कुछ किंवदंतियों के अनुसार किन्नर उसके साथ विवाह भी करते हैं। यही नहीं भगवान श्रीकृष्ण ने मोहनी रूप में इरावन से विवाह किया था, जब महाभारत के आठवें दिन इरावन युद्ध में वीरगति को प्राप्त हुआ, तो श्रीकृष्ण खुद को विधवा मानकर पूरे दिन विलाप करते रहे।

वहीं, रामायणकाल में भगवान राम के वनवास के दौरान, किन्नर समाज ने राम के साथ वनवास के लिए जाते हुए अयोध्या से प्रस्थान किया था और 14 वर्ष तक उनका इंतजार किया था। भगवान राम ने किन्नरों की भक्ति से प्रसन्न होकर उन्हें आशीर्वाद दिया था कि उनका आशीर्वाद हमेशा फलित होगा। इस तरह पौराणिक कथाओं के पात्रों में 'त्रिलिंगीय' अवधारणा की छाया देखी जा सकती है, परंतु वास्तविक जीवन में समाज ने इस समुदाय को हमेशा किनारे रखा।

किन्नर समुदाय पर शोध करने वाले शासकीय लक्ष्मीबाई उत्कृष्ठ महाविद्यालय ग्वालियर के समाजशास्त्र प्रोफेसर अयूब खान के अनुसार किन्नरों का एक समय वह वैभव था कि उनका पूरा साम्राज्य था, जिसके पांच किन्नर शासक हुए। यह साम्राज्य शर्की साम्राज्य के नाम से जाना जाता है और उन शासकों को शर्क कहा गया, जिसकी सीमा जौनपुर से लेकर कन्नौज, बाराबंकी, अलीगढ़ से लेकर इटावा तक थी।

मध्यकाल में भी भारत के दरबारों में किन्नरों की उपस्थिति उल्लेखनीय रही। विजयनगर साम्राज्य में किन्नरों को विशेषाधिकार प्राप्त थे। यही नहीं मुगल और मुस्लिम शासकों के समय सैकड़ों किन्नर हरम और शाही रसोई में नियुक्त रहते थे। इस समय के दौरान, कुछ हिजड़े इतने राजनीतिक रूप से प्रभावशाली हो गए कि उन्हें मुस्लिम शासकों, दरबारों और सेनाओं में सम्मानजनक पद मिल गए।

खिलजी काल (1290–1320 ई.) और किन्नरों की राजनीतिक चढ़ाई

खिलजी वंश के शासन में किन्नरों के दरबार में भूमिका शिखर पर पहुंची, विशेषकर अलाउद्दीन खिलजी के समय। किन्नर अब केवल सेवक नहीं रहे, बल्कि राजनीति में हस्तक्षेप करने लगे। मलिक काफूर, जो स्वयं एक किन्नर था, अलाउद्दीन का प्रिय बन गया और सेना का वज़ीर (मालिक नायब) नियुक्त हुआ। मलिक काफूर को मिली शक्ति किन्नरों के उभार का प्रतीक बन गई। हाल ही में बॉलीबुड फिल्मों में मलिक काफूर के पात्र को दिखाया गया, जिसके बाद लोगों का आकर्षण इस पात्र को लेकर बढ़ा।

मुगलकाल में किन्नरों को मिले ऊंचे पद

अकबर के दरबार में कई रईसों को किन्नरों के प्रति विशेष लगाव था। सईद ख़ान, याक़ूब ख़ान का पुत्र, 12,000 किन्नरों का समूह अपने साथ रखता था। इन किन्नरों में से ख़्वाजा सरा हिलाल बाद में जहांगीर की सेवा में आया और हिलालाबाद नगर की स्थापना की। इक्तियार ख़ान, सईद ख़ान का प्रतिनिधि (वकील) बना। इतिहार उसकी जागीर का फ़ौजदार बना। अकबर ने आगरा के लोहामंडी क्षेत्र में एक किन्नर संत 'यतीम शाह' के कहने पर मस्जिद बनवाई। यतीम शाह और उनके तीन शिष्य उसी मस्जिद के तहख़ाने में दफ़्न हैं। हर साल, शब-ए-बरात के बाद उनका 'उर्स' मनाया जाता है। आगरा के ग्वालियर रोड पर फिरोज़ खान का मकबरा स्थित है, जिन्होंने फिरोज़ाबाद नगर बसाया था। इतवारी ख़ान का मकबरा भी एक महान किन्नर की याद है।

ख़्वाजा सरा संस्था के तहत किन्नर दरबार और हरम के प्रशासनिक कार्यों में नियंत्रण करते थे। बाद में ख़्वाजा सरा एक प्रशासकीय उपाधि बन गई। नज़ीर शाही परिवार का दूत होता था। एक किन्नर, किसी अन्य सैनिक या प्रशासनिक विभाग में स्थानांतरित भी हो सकता था, ठीक वैसे ही, जैसे कोई सैनिक या अधिकारी। मुगलकाल में किन्नरों को सम्मान मिला। वे शाही महलों में विश्वस्त सेवक माने जाते थे।

itihasnama.com में डॉ. उदय प्रकाश किन्नर शासकों के शर्की साम्राज्य पर जानकारी देते हुए लिखते हैं कि सन् 1394 में सुल्तान फिरोज शाह तुगलक के एक हिजड़े गुलाम मलिक सरवर (ख्वाजा जहां) ने जौनपुर में शर्की राज्य की स्थापना की। मलिक सरवर, जो फिरोज शाह तुगलक के पुत्र सुल्तान नासिरूद्दीन मुहम्मद शाह का दास था, अपनी योग्यता के बल पर 1389 ई. में वजीर बना। सन 1394 ई. में उसे दोआब के विद्रोह को दबाने के लिए भेजा गया, जहां उसने अलीगढ़ से बिहार के तिरहुत तक के क्षेत्र पर अधिकार कर लिया। सुल्तान ने उसे 'मलिक-उश-शर्क' (पूर्व का स्वामी) और 'ख्वाजा-ए-जहां' की उपाधियां प्रदान कीं।

शर्की प्रमुख शासक

- **मुबारक शाह शर्की (1399-1402 ई.) :** मलिक सरवर की मृत्यु के बाद उसके दत्तक पुत्र मलिक क़रनफुल ने 'मुबारक शाह शर्की' के नाम से स्वयं को स्वतंत्र घोषित किया। उसने सुल्तान की उपाधि धारण की और अपने नाम का खुतबा पढ़वाया। हालांकि 1402 में उसकी मृत्यु हो गई।

- ✶ **इब्राहीम शाह शर्की (1402-1440 ई.) :** मुबारक शाह के छोटे भाई इब्राहीम शाह ने गद्दी संभाली। उसका शासन सांस्कृतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण रहा। उसने 'सिराज-ए-हिंद' की उपाधि धारण की और जौनपुर को मुस्लिम विद्या का केंद्र बनाया। उसके समय में 'शर्की शैली' की स्थापत्य कला का विकास हुआ और अटाला मस्जिद (1408 ई.) का निर्माण हुआ।

- ✶ **महमूद शाह शर्की (1440-1457 ई.) :** इब्राहीम शाह के पुत्र महमूद शाह ने चुनार किले को जीतने में सफलता पाई, लेकिन कालपी किले को नहीं जीत सका। उसने दिल्ली पर भी आक्रमण किया, परंतु बहलोल लोदी से पराजित हुआ। उसकी बेगम बीबी राजी ने लाल दरवाजा मस्जिद का निर्माण करवाया।

- ✶ **हुसैन शाह शर्की (1457-1479 ई.) :** शर्की वंश का अंतिम सुल्तान हुसैन शाह महत्वाकांक्षी शासक था। उसने उड़ीसा और ग्वालियर में सफलताएं प्राप्त कीं, लेकिन 1476 में बहलोल लोदी से पराजित हुआ और 1479 में जौनपुर से भागकर बंगाल के कहलगांव में शरण ली, जहां 1505 में उसकी मृत्यु हुई।

...किंतु ब्रिटिशकाल ने उनके अस्तित्व को 'अपराध' की श्रेणी में ला खड़ा किया। सन 1871 का 'क्रिमिनल ट्राइब्स एक्ट' उन्हें संदिग्ध और अपराधी घोषित करता है, जिसने समाज के मन में किन्नर समुदाय के प्रति ऐसी भावना विकसित कर दी, जिससे किन्नर समाज को अपराधी मान लिया। आजादी के बाद यह अधिनियम भले हटा दिया गया, पर मानसिकता और भेदभाव आज भी जीवित हैं।

'तीसरे लिंग' को केवल तीसरा दर्जा?

स्वतंत्र भारत का संविधान जब तैयार हुआ, तब उसमें 'सभी नागरिकों को समानता का अधिकार' (अनुच्छेद 14), 'विवेक की स्वतंत्रता' (अनुच्छेद 19) और 'जीवन व व्यक्तिगत स्वतंत्रता का अधिकार' (अनुच्छेद 21) शामिल किया गया, लेकिन इन अधिकारों की परछाईं किन्नर समुदाय तक नहीं पहुंची। सामाजिक दृष्टि से उन्हें 'अपवित्र', 'अशुभ' और 'अस्वीकार्य' समझा गया। परिवारों ने उन्हें त्यागा, समाज ने बहिष्कृत किया और राज्य ने लंबे समय तक उनके लिए कोई ठोस नीति नहीं बनाई। नतीजा यह हुआ कि लाखों लोग अपनी पहचान, अस्तित्व और अधिकारों के लिए लड़ते रहे।

नालसा बनाम भारत सरकार (2014) : संविधान की आत्मा की पुनर्स्थापना

भारत के इतिहास में एक अहम मोड़ आया, जब सुप्रीमकोर्ट ने भारतीय राष्ट्रीय विधिक सेवा प्राधिकरण (नालसा) बनाम भारत संघ (2014) के ऐतिहासिक निर्णय में ट्रांसजेंडर व्यक्तियों को 'तीसरे लिंग' के रूप में मान्यता दी। यह फैसला कहता है-

'ट्रांसजेंडर व्यक्ति भी अनुच्छेद 14 के तहत समानता, अनुच्छेद 15 और 16 के तहत भेदभाव से सुरक्षा और अनुच्छेद 21 के तहत गरिमापूर्ण जीवन के अधिकार के पात्र हैं।' यह निर्णय भारतीय संविधान के मूल्यों न्याय, स्वतंत्रता, समानता और बंधुता को उन लोगों तक पहुंचाने का प्रयास था, जो दशकों से अंधेरे में जी रहे थे, लेकिन क्या यह निर्णय केवल कागज़ों पर रह गया? जबकि भारतीय संविधान में पहले से ही ऐसे प्राविधान हैं, जो किन्नर समुदाय को समानता, गरिमा और स्वतंत्रता का अधिकार देते हैं जिनमें-

- ✶ **अनुच्छेद 14 :** कानून के समक्ष समानता– सभी व्यक्तियों को समान अधिकार प्राप्त हैं।

- ✶ **अनुच्छेद 15 और 16 :** लिंग के आधार पर भेदभाव निषिद्ध।

- ✶ **अनुच्छेद 21 :** जीवन और व्यक्तिगत स्वतंत्रता का अधिकार– जिसमें लैंगिक पहचान का अधिकार भी शामिल है।
- ✶ **अनुच्छेद 300A :** संपत्ति का अधिकार– यह कहता है कि किसी व्यक्ति को उसकी संपत्ति से विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया के बिना वंचित नहीं किया जा सकता।

हालांकि, उत्तराधिकार कानून, जैसेहिंदू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 या भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम, 1925 में अभी भी 'ट्रांसजेंडर' या 'तीसरे लिंग' का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है। यह एक गंभीर विधिक शून्यता (Legal Vacuum) है।

विवादास्पद उत्तराधिकार : अदालतों की अस्थिर दृष्टि, नालसा केस (2014) : ऐतिहासिक लेकिन अधूरा

भारतीय राष्ट्रीय विधिक सेवा प्राधिकरण (नालसा) बनाम भारत संघ 2014 में सुप्रीमकोर्ट ने ट्रांसजेंडर को तीसरा लिंग मानते हुए उन्हें सभी मौलिक अधिकार दिए, परंतु उत्तराधिकार का अधिकार इसमें स्पष्ट नहीं किया गया। अदालत ने सामाजिक सुरक्षा की बात तो की, पर संपत्ति के अधिकार, उत्तराधिकार पर चुप्पी साध ली।

कानून बनाम ज़मीनी हकीकत

इस फैसले के बाद सरकार ने 'ट्रांसजेंडर व्यक्ति (अधिकारों का संरक्षण) अधिनियम, 2019' लागू किया। इसके बावजूद आज भी अधिकांश किन्नर समुदाय शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार और संपत्ति जैसे मूल अधिकारों से वंचित हैं।

उत्तराधिकार और संपत्ति का अधिकार सबसे महत्वपूर्ण और विवादास्पद मुद्दा है। अधिकांश परिवार अपनी किन्नर संतान को संपत्ति में हिस्सेदार नहीं मानते। प्रोफेसर अयूब खान का कहना है कि भारत में उत्तराधिकार कानून धार्मिक आधार परहिंदू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956, मुस्लिम पर्सनल लॉ (शरीयत) अधिनियम, 1937 और भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम, 1925 इन तीन कानूनों द्वारा शासित होते हैं।

हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956

यह अधिनियम हिंदुओं (और कुछ अन्य धार्मिक समूहों) के लिए उत्तराधिकार और संपत्ति के अधिकार से संबंधित है। यह अधिनियम यह सुनिश्चित करता है कि पुत्र और पुत्रियां दोनों को संपत्ति में समान अधिकार प्राप्त हों।

मुस्लिम पर्सनल लॉ (शरीयत) अधिनियम, 1937

यह अधिनियम मुसलमानों के उत्तराधिकार और संपत्ति के अधिकार से संबंधित है, जो शरिया कानून पर आधारित है। यह कानून मुसलमानों को अपनी संपत्ति को अपने उत्तराधिकारियों में बांटने के लिए प्राविधान करता है, यह कानून वसीयत की अनुमति देता है, लेकिन यह मृतक की संपत्ति के एक-तिहाई हिस्से तक ही सीमित है।

भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम, 1925

यह अधिनियम उन लोगों पर लागू होता है, जो हिंदू या मुसलमान नहीं हैं और जिन पर कोई अन्य व्यक्तिगत कानून लागू नहीं होता है। यह अधिनियम बिना वसीयत के मरने वाले व्यक्ति की संपत्ति के वितरण के लिए प्राविधान करता है।

वहीं, 'ट्रांसजेंडर व्यक्ति (अधिकारों का संरक्षण) अधिनियम, 2019' लागू होने के बाद भी राज्य और केंद्र सरकारों के पास अब तक कोई स्पष्ट, प्रभावी नीति नहीं है, जो इस भेदभाव को रोक सके।

उत्तरप्रदेश राजस्व संहिता संशोधन अधिनियम 2020 एक कदम आगे, लेकिन नाकाफी

उत्तर प्रदेश के प्रमुख सचिव विधायी रहे जे.पी. सिंह द्वितीय ने इस संबंध में राजस्व संहिता संशोधन अधिनियम-2020 की अधिसूचना जारी कर भू खातेदार परिवार में पुरुष या स्त्री, उसकी पत्नी या उसका पति या थर्ड जेंडर पत्नी या पति का स्थान आएगा। इसके बाद विवाहित पुत्रियों और थर्ड जेंडर अवयस्क संतानों से भिन्न अवयस्क पुत्र व अवयस्क पुत्रियां आएंगी। अधिनियम के अनुसार इसी तरह संपत्ति के उत्तराधिकारी के लिए थर्ड जेंडर का प्रत्येक स्तर पर स्थान तय कर दिया गया है। थर्ड जेंडर को परिवार के सदस्य का अधिकार देने और संपत्ति में स्थान तय करने के लिए राजस्व संहिता की धारा-4 में उपधारा (10), धारा 108 में उपधारा (1), उपधारा (2), धारा-109 व धारा-110 में संशोधन कर दिया गया है। अब राजस्व प्रशासन के अधिकारी इसी अधिसूचना के मुताबिक परिवार और संपत्ति संबंधी दावों का निस्तारण करेंगे। आरटीआई से सामने आया कि 2021–2024 के बीच मात्र 5 किन्नरों को संपत्ति मिली। कारण-न तो समाज तैयार है और न ही अधिकारी।

मद्रास उच्च न्यायालय का निर्णय (2022)

यह निर्णय ट्रांसजेंडर महिला को उत्तराधिकार देता है, लेकिन शर्तों के साथ- 'यदि परिवार से संबंध बना रहा हो।' क्या एक बेटे या बेटी को विरासत पाने के लिए ऐसा प्रमाण देना होता है?

बॉम्बे हाईकोर्ट (2023)

यहां एक किन्नर को उसकी दादी की संपत्ति मिली- इस निर्णय ने यह दिखाया कि सहमति, दस्तावेज़ और पहचान मिल जाए, तो किन्नर भी संपत्ति के अधिकारी हो सकते हैं। यह निर्णय भारतीय संविधान के मूल्यों, न्याय, स्वतंत्रता, समानता और बंधुता-को उन लोगों तक पहुंचाने का प्रयास था, जो दशकों से अंधेरे में जी रहे थे, लेकिन क्या यह निर्णय केवल कागज़ों पर रह गया?

इसके अलावा किन्नर समुदाय में प्रचलित परंपरा के आधार पर उत्तराधिकार के मामले में इलियास बनाम बादशाह उर्फ कमला18 सितंबर, 1989 [एआईआर 1990 एमपी 334] और स्वीटी (किन्नर) बनाम जनरल पब्लिक [एआईआर 2016 एचपी 148] का उदाहरण दिया जाता है।

इलियास एवं अन्य बनाम बादशाह उर्फ कमला और स्वीटी (किन्नर) बनाम जनरल पब्लिक में, दोनों मामले किन्नरों के उत्तराधिकार और संपत्ति के अधिकारों से संबंधित हैं। इलियास मामले में, मध्य प्रदेश उच्च न्यायालय ने माना कि किन्नरों के बीच संपत्ति केवल समुदाय के भीतर ही किसी अन्य किन्नर को हस्तांतरित की जा सकती है, न कि समुदाय के बाहर के किसी व्यक्ति को। स्वीटी मामले में, हिमाचल प्रदेश उच्च न्यायालय ने एक ट्रांसजेंडर व्यक्ति के मामले पर विचार किया, जिसमें उत्तराधिकार विपरीत संबंध में था।

इलियास एवं अन्य बनाम बादशाह उर्फ कमला

यह मामला मध्यप्रदेश उच्च न्यायालय में दायर किया गया था। अपीलकर्ता, जो संपत्ति का दावा कर रहे थे, किन्नरों के समुदाय के बाहर के थे। उच्च न्यायालय ने यह माना कि किन्नरों के बीच एक प्रथा है कि संपत्ति केवल समुदाय के भीतर ही हस्तांतरित की जा सकती है, न कि समुदाय के बाहर के किसी व्यक्ति को। यह भी माना गया कि यह प्रथा मुस्लिम कानून और सार्वजनिक नीति के विपरीत नहीं है।

स्वीटी (किन्नर) बनाम जनरल पब्लिक

यह मामला हिमाचल प्रदेश उच्च न्यायालय में दायर किया गया था। यह मामला एक ट्रांसजेंडर व्यक्ति के उत्तराधिकार से संबंधित था, जिसमें उत्तराधिकार विपरीत संबंध में था। उच्च न्यायालय ने इस मामले में भी किन्नरों के उत्तराधिकार की प्रथा पर विचार किया गया।

इन दोनों मामलों से स्पष्ट होता है कि किन्नरों के उत्तराधिकार और संपत्ति के अधिकारों पर भारतीय न्यायपालिका का दृष्टिकोण किन्नरों के बीच प्रचलित प्रथा और संस्कृति पर आधारित है। मध्य प्रदेश उच्च न्यायालय और हिमाचल प्रदेश उच्च न्यायालय ने किन्नरों के बीच संपत्ति के हस्तांतरण की प्रथा को वैध माना है, लेकिन केवल समुदाय के भीतर ही।

संवैधानिक मूल्य और समाज की जिम्मेदारी

संविधान की दृष्टि में सभी नागरिक समान हैं, लेकिन समाज की दृष्टि में यह समानता अब भी एक सपना है। संपत्ति का अधिकार केवल आर्थिक नहीं, बल्कि सामाजिक मान्यता का प्रतीक भी होता है। जब किसी को संपत्ति से वंचित किया जाता है, तो दरअसल उसे उसकी पहचान, गरिमा और आत्मनिर्भरता से वंचित किया जाता है।

भोपाल में सामाजिक कार्यकर्ता, निर्वाचन आयोग और स्वच्छता अभियान की ब्रांड एंबेसडर तथा हाल ही में संपन्न प्रयागराज महाकुंभ में वैष्णव किन्नर अखाड़ा से 1008 महामंडलेश्वर की उपाधि प्राप्त संजना सखी का मानना है, "लैंगिक आधार पर किन्नर को संपत्ति के अधिकार और उत्तराधिकार से वंचित नहीं किया जाना चाहिए। मैं इस आधार पर यह गलत मानती हूं कि जन्म तो उन्ही माता-पिता ने दिया है, जो अपनी संपत्ति में एक किन्नर का अधिकार क्यों नहीं। बदली हुई परिस्थितियों में अगर किन्नर अपने घर में रह रहा है तो वह संपत्ति का उत्तराधिकारी है।"

भोपाल के मंगलवारा किन्नर डेरे की सदस्य और अपने पिता के घर में रहने वाली गायत्री, जो मनोविज्ञान में स्नातकोत्तर हैं तथा एक एनजीओ में किन्नर समुदाय के लिए काम करती हैं, उनका मानना है, ''एक किन्नर बड़ा त्यागी होता है, जिसने अपनी व्यक्तिगत पहचान के लिए अपने परिवार को ही त्याग दिया, इससे बड़ा त्याग क्या हो सकता है। पहली बात तो एक किन्नर अपने परिवार से संपत्ति को लेकर कोई आशा नहीं रखता। हमारे समाज में मुझे नहीं लगता कि किसी ने अपने परिवार में संपत्ति का अधिकार मांगा हो, बल्कि हम अपने परिवार की सहायता करने के लिए तत्पर रहते हैं। हम अपनों से कुछ नहीं छीनना चाहते, बस चाहते हैं कि हमें भी 'अपना' माना जाए। हमें अपनेपन की चाहत है।''

किन्नर समुदाय से आने वाली संजना सखी और गायत्री के विचार किन्नरों की गरिमा और समानता के अधिकार की पैरवी करते हैं। उनका मानना है कि स्थिति केवल क़ानून से नहीं बदलेगी, इसके लिए सामाजिक दृष्टिकोण में परिवर्तन ज़रूरी है। परिवारों को चाहिए कि वे किन्नर संतानों को अपनाएं और सरकार को चाहिए कि किन्नर गुरु-शिष्य प्रणाली को कानूनी ढांचा दे, जिससे उत्तराधिकार की स्पष्ट व्यवस्था बने।

किन्नरों को अधिकार चाहिए, दया नहीं

भोपाल के मंगलवारा किन्नर डेरे की सदस्य संजना सखी और गायत्री के विचार तथा शिवपुरी जिले में किन्नर गुरु आशा की हत्या की कहानी कोई अपवाद नहीं, बल्कि एक चेतावनी है कि यदि संवैधानिक आदर्शों को सामाजिक यथार्थ में नहीं बदला गया, तो समानता की अवधारणा खोखली हो जाएगी। हमारे लिए यह आवश्यक है कि हम किन्नर समुदाय को केवल 'अन्य' के रूप में देखना बंद करें और उन्हें वही अधिकार दें, जो हम स्वयं के लिए चाहते हैं। उत्तराधिकार, संपत्ति, सम्मान, गरिमा, समानता यह कोई विशेषाधिकार नहीं, मौलिक अधिकार हैं।

कुल मिलाकर देखा जाए, तो यह संघर्ष सामाजिक और संवैधानिक दोनों स्तरों पर चल रहा है। हालांकि 15 अप्रैल, 2014 को सर्वोच्च न्यायालय द्वारा दिए गए निर्णय ने किन्नर समुदाय को संवैधानिक अधिकार दे दिए और सरकारों को निर्देशित किया कि वे इन अधिकारों को लागू करने की प्रक्रिया को सुनिश्चित करें। 5 दिसंबर, 2019 को राष्ट्रपति से मंजूरी मिलने के बाद किन्नर समुदाय के अधिकारों को कानूनी मान्यता भी मिल गई, लेकिन समान अधिकारों को वास्तविकता में हासिल करना अभी भी किन्नर समुदाय (थर्ड जेंडर) के लोगों के लिए दूर की कौड़ी मालूम होती है।

संदर्भ सूची

1. https://itihasnama.com/our-chepter/interesting-history-of-the-sharqi-dynasty-of-jaunpur-sultanate?utm_source=chatgpt.com
2. https://prsindia.org/files/bills_acts/bills_states/uttarpradesh/2020/Bill86of2020UP.pdf
3. https://indialegallive.com/laws-research-indepth/family-law-succession-rights-transgenders-india/#_edn8
4. https://www.scobserver.in/cases/ashwini-kumar-upadhyay-v-union-of-india-uniform-succession-and-inheritance-background
5. https://theamikusqriae.com/right-of-inheritance-of-transgender-community/
6. https://www.dw.com/hi/uttar-pradesh-transgender-story/a-54865310

ओटीटी: बेचैन दुनिया को गढ़ने वाला 'खुला' केनवास

जयश्री पिंगले

परिचय

बीते तीन दशक की पत्रकारिता के दौरान जयश्री पिंगले ने न्यूज़ 18 हिंदी में पॉलिटिकल एनालिस्ट, संपादक चौथा संसार, इंडिया टुडे दिल्ली, दैनिक भास्कर दिल्ली व भोपाल ब्यूरो प्रमुख, राजनीतिक संवाददाता तथा नईदुनिया इंदौर, चेतना, प्रभात किरण में विभिन्न दायित्वों को निभाया है। कला की रिपोर्टिंग हो या राजनीतिक विश्लेषण वे समान संवेदना और दक्ष आकलन क्षमता से पेश आती हैं।

प्रकृति की अछूती खूबसूरती को निहारने के लिए हम बेताब थे। गंगटोक की शिवालिक पहाड़ियां दूर से ही दिखाई दे रही थीं। नदियों, झीलों की उदात्त प्राकृतिक सुंदरता, बहते झरने.. जैसे प्रकृति ने अपना पूरा खजाना यहां लुटा दिया हो। आंखों ने पहली बार ऐसे नजारे देखे थे, जो सीधे दिल में अपनी गहरी पैठ जमा रहे थे। मन तरंगों में डूबा-डूबा सा हिलोरें ले रहा था और आंखें अपलक रास्तों पर लगी थीं, पर चलती गाड़ी के भीतर नज़ारा कुछ और था। दो किशोर उम्र के बच्चे इस बिखरी हुई अनुपम छटा से अनजान अपने मोबाइल पर खोए हुए थे।

मैंने दोनों के कंधों को थपथपाते हुए कहा'यह, तुम्हारे साथ हर वक्त है, उसे छोड़ो और खिड़की के बाहर निहारो, क्या नजारा है! इसका आनंद लो, इसे जियो।'

एक पल के लिए उन्होंने गर्दन कुछ देर चारों तरफ देखा– वाह ऑसम..! कितना खूबसूरत लग रहा है! बस चंद मिनट बाद, दोनों बच्चे गर्दन झुकाकर फिर मोबाइल में व्यस्त हो गए। उनकी मां ने हंसते हुए बड़ी शांति से शानो-अंदाज में कहा'नेटफ्लिक्स का सीरियल है मनी हाइस्ट। नया सीजन आया है, जब तक बिंज वाचिंग न कर लें, ये दोनों मोबाइल नहीं छोड़ेंगे।'

गाड़ी में बैठे हुए दूसरे लोगों को तब पता चला कि यह बिंज वाचिंग क्या है जब मां ने कहा'जब आप एक के बाद एक सारे एपिसोड एक साथ देख लेते हैं।'

माहौल को हल्का-फुल्का बनाते हुए किसी ने कहा ठीक है, हम तो गंगटोक की खूबसूरती की बिंज वाचिंग कर रहे हैं।'

धीरे-धीरे उन बच्चों के साथ रहकर पता चला, उनका क्रश मनी हाइस्ट के प्रोफेसर हैं, जो लुटेरों की गैंग को चलाता है। नैरोबी, बर्लिन, टोकियो, डेनवर जैसे शहरों के नामों की पहचान अब लाल कपड़े पहने मास्क लगाए, हाथ में बंदूक थामेलोगों के नाम हैं, साइकोलॉजिकल टर्म है स्टाकहोम सिंड्रोम, जिसमें व्यक्ति को अपने किडनेपर से प्यार हो जाता है। इस स्पेनिश सीरियल ने यही किया है। रॉबिनहुड टाइप के लुटेरे बैंक ऑफ स्पेन लूटते हुए आधी दुनिया का खासतौर पर युवा किशोर बच्चों का दिल लूट चुके हैं। बच्चे अब आपस में एक-दूसरे को उन नामों से ही पुकारते हैं, आर्टुरो नाम के बंदे के लिए तो कॉन्ट्री करके सुपारी देने के लिए तैयार हो जाते हैं। पूरे वक्त वह क्राइम थ्रिलर चलता रहा, जब तक मोबाइल नेटवर्क ने दम नहीं तोड़ा।

यह ओटीटी प्लेटफार्म, जो आज के दौर का मनोरंजन है, जो अब शौक से आगे, एक आदत है, एक लत है, जिसने एक बेचैन दुनिया को पैदा कर दिया है। जिंदगी बदल गई है। उठना-बैठना-सोना सब अब उस मोबाइल के साथ है। उस

ओटीटी चैनल के साथ है, जो इतना कंटेंट दे रहा है कि आप थक जाओ, वो नहीं थक सकता। बच्चों की मासूमियत उनके सपने सब अब इसके हवाले हैं। बच्चे अब गौरैया या तितलियों की कहानी के रंग नहीं भरते। अब वे किसी और दुनिया के साथ बड़े हो रहे हैं। जहां सिर्फ उनकी हुकूमत और दखल है। वे जब चाहते हैं इसमें खो जाते हैं। जब चाहते हैं, तब इससे बाहर आपके साथ हो जाते हैं।

एक बड़ा ऑडियंस समझकर टारगेट किया जा रहा है। सिनेमा की शांत सिंफनी का दौर खत्म है। अब दिमाग पर छा जाने का जादू सवार है। मुद्दा यह नहीं है कि किस वेब सीरीज ने कितनी ऑडियंस को खींचा, अब मुद्दा यह है कि उसकी सफलता का आकलन इस बात से है कि उस शो के किरदारों से जनता कितना जुड़ी। उसके व्यू और उसकी कमाई अब ओटीटी पर छा जाने का एक मात्र कारण नहीं हो सकते। उस शो की निरंतरता उसका एक के बाद एक नए सीज़न में आना अब इस बात पर असर रखता है।

ओटीटी प्लेटफार्म का बादशाह नेटफ्लिक्स है, जिसने दुनिया को एक नए एंटरटेनमेंट की विधा लाकर सिर्फ एकजुट ही नहीं किया, बल्कि एक नए शिल्प में ढाल दिया। कभी वीडियो डीवीडी किराए पर देने वाले नेटफ्लिक्स ने गिरता बाजार देखकर एक वेबसाइट और मेल से अपने मेंबर्स के साथ कारोबार किया। बाद में इसे ही वह बहुत बड़े पैमाने पर लाकर पहले अमेरिका और बाद में कनाड़ा फिर धीरे-धीरे करते 190 से ज्यादा देशों में पसार दिया। तकनीकी आजादी ने इसे कंप्यूटर स्क्रीन से सीधे मोबाइल तक पहुंचा दिया। कभी भी, किसी के भी देखने की आजादी ने जैसे पूरी दुनिया में उस दर्शक को तैयार किया, जो अब बेसब्री के इस माहौल में बहुत कुछ एक साथ पाने की ललक में डूबा हुआ है।

नेटफ्लिक्स के साथ-साथ अमेजन प्राइम वीडियो, डिज्नी हॉटस्टार, सोनी, जी 5, ऑल्ट बालाजी, एक एक्स प्लेयर सब पीछे-पीछे आ गए, लेकिन जो कंटेट है उसके दम पर तो नेटफ्लिक्स ही सबसे उंचाई पर बना रहा। अमेरिका के बाद भारत सबसे बड़ा बाजार है इसका। 60 करोड़ लोग यहां ओटीटी सब्सक्राइबर हैं, जिनमें से कुछ पैसे देकर, तो कुछ मोबाइल कंपनियों के डाटा पैक के साथ मुफ्त की सेवाओं में इसके मजे ले रहे हैं।

नेटफ्लिक्स जब पूरी धमक के साथ शुरू हुआ, तो अमेरिका के कई नामी-गिरामी फिल्म मेकर्स ने इसे एक नए किस्म की आज़ादी बताया। भारतीय फिल्मकार मीरा नायर, जो विदेशों में कामकरती हैं, उन्होंने तो इसे भारत के संदर्भ में नया लोकतंत्र कहा। नि:संदेह एक ऐसी आज़ादी, जिस पर किसी सेंसरबाजी की फिजूल की हुकूमत नहीं। एक ऐसा मीडियम, जहां पर अभिव्यक्ति की आज़ादी के लिए भटक रहे फिल्म मेकर्स को पूरी दुनिया का एक खुला कैनवास मिल जाए। नेटफ्लिक्स ने अपने दरवाजे उस सृजनशील ताकतवर लोगों के लिए खोल दिए, जो कुछ लीक से हटकर करना चाहते हो। बेहतरीन रिसर्च और नई तकनीक के साथ फिल्म निर्माता, निर्देशक, कहानी कहने वाले आगे आए। उसकी कुछ सीरीज़ ने तो ऐसा जबरदस्त असर डाला कि पूरे देशभर में ओटीटी की नई धाक जम गई कि जो पारंपरिक मनोरंजन में नहीं हो सकता, वह ओटीटी पर होता है।

जैसे अमेरिकन राजनीतिक ड्रामा 'हाउस ऑफ कार्ड्स' इंग्लैंड के राज-परिवार की अंदरूनी कहानियों को उघाड़कर शाही परिवार की धज्जियां बिखेरता 'द क्राउन' और भारतीय

आध्यात्मिक गुरु ओशो पर बनी डॉक्यूमेंट्री 'वाइल्ड वाइल्ड कंट्री', जिसने दुनिया के सामने एक बेबाक सच रखा, वह भी इतनी रिसर्च और डॉक्यूमेंट के साथ प्रस्तुत की गई कि ब्रिटेन का शाही परिवार न तो इस सीरीज को रोक पाया तथा न किसी न्यायालय की शरण में जा पाया। यह दुनिया की उस ऑडिएंस के लिए अपने आप में बहुत बड़ा सबक रहा, जिसने शाही परिवारों को हमेशा अपने सर माथे पर बैठाया। इसी तरह ओशो का अमेरिका में एक शहर बसाना, एक समानांतर सत्ता

कायम करना तथा वहां के चुनाव को प्रभावित करना... ऐसी सैकड़ों कहानियां उस सीरीज में दिखाई गईं। 'हाउस ऑफ कार्ड्स' पॉलिटिकल थ्रिलर था, जिसने उस आभासी दुनिया में एहसास करवाया कि दुनिया के सबसे ताकतवर राष्ट्रपति का पद क्या है। एक अनैतिक षड्यंत्रों से भरी राजनीति.. 2019 के बाद आई 'द ग्रेट हैक' सीरीज ने तो पूरी दुनिया की नज़रों के सामने ला दिया कि किस तरह लोकतंत्र बिकाऊ हो सकता है। 'कैंब्रिज एनालिटिका', जो एक राजनीतिक परामर्श देने वाली कंपनी थी, उसने मतदाताओं की

मनोवैज्ञानिक प्रोफाइल बनाकर यह साबित करने की कोशिश की है कि हमें दुनिया का अब मालिक होना है। फेसबुक इसका कई सालों से डाटा लीक कर रहा था। यूक्रेनी वेश्याओं का उपयोग कर फंसाना और कैरिबियाई चुनाव में रिश्वत देना शामिल था। यह पूरा घोटाला पूंजीवाद की तरफ धकेले जा रहे दौर का था, जिसका उद्देश्य सिर्फ हेरफेर और ताकत को उजागर करना ही नहीं था। यह घोटला निजता उजागर करने से ज्यादा उस सत्ता से जुड़ा था, जो लोकतंत्र के नाम पर हथकंडों का इस्तेमाल कर सत्ता में आई है। इस सीरीज ने पूरी दुनिया के बौध्दिक जमावड़े में हलचल मचा दी और दुनिया में खोखले हो रहे लोकतंत्र की तरफ चिंता एवं अवसाद की लकीरें पैदा कर दीं। एक किस्म की मिलीभगत ने किस तरह एक झूठा नेरेटिव गढ़ा, जिसने हिलेरी को चुनाव हरवाया और ट्रंप को चुनाव जितवाया।

ये कहानियां ओटीटी प्लेटफार्म के उस नेरेटिव को गढ़ती हैं, जहां पारंपरिक सिनेमा की पहुंच नहीं है, पर क्या हकीकत सिर्फ इस तरह की कहानियों तक ही सीमित है? वक्त के साथ यह प्लेटफार्म भी पूरी तरह से उस एकतरफा अधिनायकवाद की ओर जाता दिखाई दे रहा है, जहां पर सिर्फ अमेरिकन पूंजीवादी ताकत का बोलबाला है। नेटफ्लिक्स ने चीन पर बहुत डोरे डाले। कई साल तक मेहनत की, लेकिन सेंसर की सख्ती के चलते, उसे वहां स्ट्रीमिंग की अनुमति नहीं मिली। तीसरी दुनिया के मुल्क जरूर इस ओटीटी क्लब के मेंबर हैं, जहां क्रिएटिव कंटेट की बात करें, तो वहां सबसे प्रभावशाली मौजूदगी अमेरिकन अंदाज में बनी ड्रामा सीरीज़ की है।

याद रखना होगा कि ये तमाम प्लेटफार्म ब्रांड हैं, कोई बहुत बड़ी क्रिएटिव फोर्स नहीं। पूरी दुनिया के देश अलग-अलग संस्कृति और सभ्यता के साथ अपनी पहचान रखते हैं। उनका सामाजिक ताना-बाना अमेरिकन पूंजीवादी देश से इतर है। उनका सांस्कृतिक परिवेश, उनकी पहचान, उनका गौरवशाली इतिहास, उनकी अस्मिता का रंग है। दक्षिण अफ्रीकी देश हो या फिर एशियाई देश, वे सामाजिक मूल्यों में भी अमेरिकन या

पश्चिमी सभ्यता से अलग हैं। बहुत छोटा-सा उदाहरण है, लेकिन बड़े मायने रखता हैअमेरिका में हथियार खरीदना, ड्रग्स लेना वैध है। बाकी तमाम देशों में यह गैर-कानूनी है। जो युवा इस किस्म के समाज में बड़ा हो रहा है, उसके नैतिक मूल्य बहुत अलग हैं। उसकी पारिवारिक पृष्ठ-भूमि संयुक्त परिवार की है। उसने माता-पिता के तलाक को इतना आम होते नहीं देखा है। अपने जीवनकाल में दो–तीन शादियां करते माता-पिता को नहीं देखा है। संयुक्त परिवार के कारण अवसाद में ग्रस्त मां या रिश्तेदारों को उसने नहीं देखा है। सामाजिक दायरों की मजबूती के कारण वहां एकाकीपन नहीं है। वह भारत जैसे देश का युवा है, जहां हर महीने कोई न कोई धार्मिक उत्सव, दस-दस दिन चलने वाली तूफानी शादियां, गहरे पारिवारिक रिश्ते उसके जीवन को रंग देते हैं। उस ओटीटी दर्शक को अमेरिकी संस्कृति से लदे शोज और वेब सीरीज परोसी जा रही है, जहां सिर्फ और सिर्फ पूंजीवाद एवं अलग किस्म का सामाजिक ताना-बाना है।

आज के दौर में जो सामाजिक पतन और अपराध सीमा पार होती दिखाई दे रही है, उसका एक कारण वह कुंठा भी है, जो सीरीज में वह देख रहा है। वह ग्लैमर, वह तड़क-भड़क उसके जीवन में नहीं है। ओटीटी की दुनिया के बाहर जब वह अपने संकरे मकान को, बारिश में बहते नालों से उठती बदबूदार दुर्गंध को देखता है, एक मजबूर गरीबी से जूझती जिंदगी देखता

है, तब उसे लगता है कि वेबसीरीज की ही तरह हर मर्ज का जवाब सिर्फ हिंसा है। उसे कुछ पाना है, तो उसका जवाब हिंसा से हो सकता है। यह एक सोच गहराई से समाज के भीतर उतर रहा है, जिस पर किसी का काबू नहीं है।

'डेथ नोट' जापानी लोकप्रिय एनिमेशन गाथा है, यानी जापानी एनिमेशन की 20 वीं सदी की शुरूआती असली कहानियां, जिनके अधिकार ओटीटी प्लेटफार्म पर खरीदे गए, लेकिन इसे पूरी तरह अमेरिकन संस्करण में तब्दील कर दिया। जापानियों ने आरोप लगाया, जिसने उसकी आत्मा को ही खत्म कर दिया है। इसी तरह जो नस्लीय दुनिया है, उसका भी असर उन वेब सीरीज पर है। एक किस्म की श्वेत अभिजात्यता, जो आज के सामाजिक और राजनीतिक माहौल में सबसे बड़ी चुनौती हो गई है। एक किस्म की नस्लीय असमानता की अवधारणा को ही ताकत देती है।

यदि हाल ही में लोकप्रिय हुई सीरीज को लेकर भारत के फिल्म मेकर अनुराग कश्यप ने अपनी भड़ास निकाली है कि भारतीय फिल्म मेकर्स को इतनी आज़ादी यह प्लेटफार्म नहीं दे रहे हैं, जो अमेरिकंस को मिल रही है, तो वह गलत नहीं है। भारत में जो कंटेंट परोसा जा रहा है, वह उस दिशा की ओर ले जा रहा है, जहां वह अमेरिकी ग्लोबल मार्केट से बराबरी कर सके। एक किस्म की अतिरंजित हिंसा, सेक्स, पुलिस, ड्रग्स और महिलाओं को कमतर दिखाने की होड़ हिंदी का आज का मसाला बिजनेस है। अब मुंबई गैंगवार फैशन से बाहर है। इसलिए ठेठ बिहार और यूपी को इस तरह प्रोजेक्ट किया जा रहा है, जैसे वहां सिर्फ आपराधिक गैंगवार ही नहीं पॉलिटिकल गैंगवार भी है। राजनीति इस गैंगबाजी से तय हो रही है। एक डार्क क्राइम थ्रिलर, जिसमें पुलिस भी अपराध में शामिल है और सारे अनैतिक काम इस सिस्टम में हो रहे हैं। लड़कियां किसी भी बड़े शहर में सुरक्षित नहीं हैं। जो हॉस्टल्स हैं, वे अपराध के अड्डे हैं। सरकारी तंत्र में जितने भी महिला सुधार गृह टाइप चल रहे हैं, वहां की अंदरूनी कहानी इस डार्क क्राइम का हिस्सा है। बलात्कार एवं महिलाओं का बुरी तरह से हो रहा इस्तेमाल इन सीरीज का लोकप्रिय मसाला है।

वैयक्तिक गरिमा की बात करें, तो उसकी ऐसी धज्जियां बिखर रही हैं कि किसी 65 साल की महिला का चेकअप करते हुए डॉक्टर पूछती हैं कि वह वृद्धाश्रम में रहते हुए कितने पुरुषों से संबंध बना चुकी है। यह ओटीटी की उघाड़ी हुई भाषा है, जहां भाषा और गरिमा को तार-तार किया जाता है। वह पढ़ी-लिखी औरत, जो प्रोफेशनल है, अपनी पहचान के लिए जैसे इन वेबसीरीज में उपस्थिति की मोहताज है। उसे इस कदर दबा-कुचला बताया जाता है कि वह अपने पति के अत्याचारों से डरी हुई है। उस पर लगातार नज़र है। उसे वह शारीरिक सुख से भी वंचित कर रहा है। उसे उसकी इच्छा के विपरीत अप्राकृतिक ढंग से इस्तेमाल कर रहा है। वह स्त्री जो पढ़ीलिखी है। एक बराबरी के समाज में जी रही है। कानून, अपने अधिकारों को समझती है। फिर भी प्रताड़ना को झेलती है। प्रतिकार की उसमें शक्ति नहीं है। उसकी पूरी शिक्षा, पूरा एक जागरूक समाज और आसपास का परिवेश शून्य हो जाता है। औरत की सोच पर ताला लगाने वाली ऐसी वेबसीरीज का नाम क्रिमिनल जस्टिस है, लेकिन वह न तो अपनी आधुनिक सोचऔर तरक्की-पसंद समाज के साथ जस्टिस कर पाती है, न खुद के साथ। ... और अंत में उसे अपने पति की हत्या करना ही एकमात्र उपाय नज़र आता है। वह जेल पहुंचती है। वहां गैंगस्टर टाइप की महिलाएं हैं, वे उसे प्रताड़ित कर रही हैं। जेल का अंदरूनी अपराध-जगत, जो महिला गैंगस्टरों के भरोसे है चल रहा है तथा मानवीयता को एक अंधेरी, आपराधिक सुरंग की तरफ ले जाता है। अपराध और पढ़े-लिखे आधुनिक समाज में समलैंगिकता को एक सक्सेसफुल फॉर्मूले की तरह इस्तेमाल किया जा रहा है। जरूरत से ज्यादा इसका इस्तेमाल इस कदर है कि ऐसा लगता है कि पूरी दुनिया में हर दूसरा व्यक्ति समलैंगिक है क्या? एक फैशन की तरह इसका दिखाया जाना दरअसल उस प्रकृति के साथ अन्याय करना है। इस मामले में एक बड़ी ख्यातनाम हीरोइन का कमेंट मायने रखता है। वह कहती है'मुझे मेरे बेटे पर इसलिए निगरानी रखनी पड़ी कि वह ड्रग्स के साथ समलैंगिक न हो जाए, क्योंकि यह नया ट्रेंड और फैशन परोसा जा रहा है। मर्द होने के ताकतवर भाव को इससे जोड़ा जा रहा है।

ये तमाम मुद्दे आज ओटीटी की पहचान में शुमार हैं। गालियों की बौछार हैं, जो नि:संदेह औरतों के नाम पर बनी हुई हैं। पहले यह भाषा पुलिस या फिर पति या किसी पिता के नाम तक सीमित थी। अब इसे महिलाओं की जुबान पर भी धड़ल्ले से दिखाया जाता है। आधुनिक बोल्ड महिला हाथों में सिगरेट के कश मारती हुई गालियां बकती है। यह औरतों के दंभ को स्थापित करने का तरीका है। एक आजाद, आधुनिक औरत क्या करती हैशराब, सिगरेट और गालियां बकती है। इस चरित्र के दो ही आधार होते हैंया तो वह दबी-कुचली है या फिर इस तरह की अल्ट्रा-मॉडर्न है। सीरीज का फॉर्मूला धड़ल्ले से विवाहेतर संबध हैं, जिसमें सिर्फ मर्द नहीं औरतें भी हैं। बिल्कुल आमफहम अंदाज में इसे परोसा जा रहा है।

भारतीय परिवेश में सीरीज बन रही है, लेकिन मान लिया गया है कि उसका दर्शक तो अमेरिका में भी बैठा है। हिंदी या भारतीय भाषाओं में परोसा जा रहा यह कंटेंट क्या अमेरिकी दर्शक के लिए है या फिर वहां बैठे भारतीय दर्शक के लिए। किसी की धार्मिक या राजनीतिक भावनाएं आहत होती हैं, तो बहुत शोर मचता है। सीरीज का बॉयकॉट होता है, लेकिन जब समाज के मूल्यों के साथ, मानवीयता के साथ खिलवाड़ हो रहा हो, औरतों को दबा-कुचला बताया जा रहा हो, उनके साथ हिंसा, प्रताड़ना को आम किया जा रहा हो, तब एक भी आवाज़ उठकर नहीं आती है।

ओटीटी को लोकतांत्रिक कहा गया, लेकिन लोकतंत्र के जो बुनियादी उसूल हैं, उनको किस हद तक यहां निभाया जा रहा है। सरकार का रेग्युलेशन यहां कंटेंट के मुद्दे पर नहीं है। होना भी नहीं चाहिए, लेकिन स्व-रेग्युलेशन के स्तर पर भी वह काम नहीं हो रहा है, जो होना चाहिए। साइको-थ्रिलर, एक जाति वर्ग से जुड़े लोगों को अपराधी बताना और एक मजबूत अधिनायकवादी व्यक्ति को ही सर्वशक्तिमान की तरह निरूपित करना यह बताता है कि अंदरूनी खेल कुछ और है। यह उस समाज की ओर धकेलना है, जो तानाशाही की ओर ले जाता हो। सबसे आजाद माने जाने वाले इस प्लेटफार्म का सच यह है कि यह भारत में तो उद्देश्य पूर्ण स्तर से भटक गया है। क्या हम उस रीयलिस्टिक सिनेमा को देख पा रहे हैं, जिसने कांस, बर्लिन जैसे तमाम अंतरराष्ट्रीय मंचों पर धूम मचाई है। वे डॉक्यूमेंट्रीज कहां हैं, किस ओटीटी चैनल पर हैं। मछुआरों की कहानी पर बनी फिल्म, दिल्ली के प्रदूषण पर, परिंदों पर बनी फिल्म, मुंबई में आने वाले मजदूरों की कहानी बताती हुई फिल्म, एक दलित लेखिका की कहानी पर बनी फिल्म, किसानों के आंदोलन पर अपनी बात रखती हुई फिल्म, जिन्हें विदेशी दर्शक तो आसानी से मिल जाता है, लेकिन उन्हें अपने देश में, अपनी जमीन पर दिखाने के लिए जगह नहीं है। थिएटर बहुत महंगे हैं, ओटीटी में उनके लिए खास जगह नहीं है।

कितनी विडंबना है कि आज अंग्रेजी की तमाम पुरानी क्लासिक फिल्में, जो विश्व-युद्ध पर आधारित हैं या फिर जेन ऑस्टिन जैसे लेखकों के नॉवेल्स पर, सब आर्काइव में देखी जा सकती हैं, लेकिन भारतीय फिल्में दो बीघा जमीन हो, नीचा नगर हो, सत्यजीत रे, मृणाल सेन जैसे तमाम निर्देशकों की महान फिल्में हों, उनका कोई आर्काइव इन प्लेटफार्म्स पर नहीं है। आज का युवा न तो सत्यजीत रे को जानता है, न उस भारतीय फिल्मों की परंपरा को, जिसने सामाजिक मुद्दों पर असमानता पर, जातिगत भेद, नस्लवाद के खिलाफ, मनुष्यता पर अपना एक बड़ा योगदान दिया। फिल्म मेकर आनंद पटवर्धन कहते हैं– उदार, धर्म-निरपेक्ष फिल्मों की जगह सिकुड़ गई है। ओटीटी इस पर कुछ खास काम नहीं कर रही है। एक किस्म की मॉरल पुलिसिंग के दबाव का काम कर रही है, जिसने दर्शकों तक पहुंच का दायरा खत्म किया है।

इससे बड़ा विरोधाभास क्या हो सकता है कि बच्चों को ओटीटी प्लेटफॉर्म के अश्लील कंटेट से बचाने के लिए सुप्रीम कोर्ट में सुनवाई हो रही है और कोर्ट कह रहा है कि हम पर आरोप है कि हम सरकार के काम में दखल देते हैं। इस पर सवाल उठता है कि अब तक सरकार ने इस पर क्या किया। सुनवाई जारी है.. देखते हैं, तब तक के लिए शांतता कोर्ट चालू आहे...।

मीडिया में जेंडर: सोच, काम, व्यवहार... हर जगह असमानता

ममता यादव

पत्रकार तो पत्रकार ही होता है, महिला-पुरुष नहीं, परंतु व्यावहारिक धरातल पर यह बात आसानी से हजम नहीं हो पाती। बात है अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की, तो मीडिया में यह स्वतंत्रता के अधिकारों के तहत संविधान द्वारा प्रदत्त मौलिक अधिकारों के व्यावहारिक उपयोग को परिलक्षित करती प्रतीत होती है। विकास संवाद का जलगांव सम्मेलन अटेंड करने के बाद यह विषय मेरे जेहन में ज्यादा मजबूती से बस गया।

यूं देखा जाए, तो पत्रकारिता सिर्फ पत्रकारिता ही होती है महिला-पुरुष नहीं। इसी प्रकार पत्रकार सिर्फ पत्रकार होता है महिला-पुरुष नहीं। ...क्योंकि काम का कोई जेंडर नहीं होता। जब मीडिया में जेंडर भेद की बात उठती है, तो आमतौर पर खबरों के प्रस्तुतीकरण पर बात विस्तार से होती है कि महिलाओं के संदर्भ में अपराध संबंधी समाचार उस तरह प्रस्तुत किए जाते हैं, जैसे पुरुषों से जुड़े समाचार होते हैं। पर मेरा फोकस है पत्रकारिता की दुनिया में काम कर रही महिलाओं के साथ हो रहे या किए जा रहे बर्ताव पर।

इस विषय पर कुछ सार्थक बात निकलकर आए और आगे कुछ गाइडलाइन तय हो सके, इसके लिए मैंने मध्यप्रदेश के जिला-कस्बों से लेकर राजधानी, शहर हर जगह की करीब 30 महिला पत्रकारों और कुछ पुरुष पत्रकारों से चर्चा की। इस चर्चा में जो मुख्य तथ्य उभरकर आया, वह है वेतन, काम और व्यावहारिकता में असमानता एवं कई बार अभद्र, अमर्यादित बर्ताव की मानसिकता।

परिचय

स्वतंत्र पत्रकार ममता यादव 'मल्हार मीडिया' की संस्थापक संपादक हैं। ममता यादव ने वर्ष 2014 से स्पेशल और ऑफ बीट विश्लेषणात्मक पत्रकारिता के लिए पहचान बनाई है। उन्हें माधवराव सप्रे समाचार पत्र व शोध संस्थान भोपाल से 'हिंदी समाचार पत्रों में भाषा के प्रयोग' विषय पर फैलोशिप प्राप्त हुई है। वेब पत्रकारिता के लिए राष्ट्रीय भड़ास मीडिया सरोकार सम्मान 2016, लाल बलदेव सिंह पत्रकारिता पुरस्कार 2017, पब्लिक रिलेशन सोसायटी ऑफ इंडिया का उदिता सम्मान 2020 प्रदान किया गया है।

बालाघाट की सुषमा यदुवंशी कहती हैं बेवजह की दखलंदाजी, टोका-टाकी से मुक्ति पाकर जिस भी लड़की को कुछ अलग करने का मौका मिल रहा है, वह अपनी मेहनत और काबिलियत की छाप छोड़ रही है। यही बात पत्रकारिता के क्षेत्र में भी लागू होती है और बेटियां पूरी शिद्दत से इसे निभा भी रही हैं।

मीडिया में महिला पत्रकारों को तीन स्तरों पर जूझना पड़ता है एक व्यक्ति के रूप में, एक नारी के रूप में फिर एक पत्रकार के रूप में। तीनों भूमिकाओं में समन्वय पर ही महिलाएं सामाजिक भूमिका निभा सकती हैं। मीडिया में सब कुछ अच्छा नहीं है, चुनौतियां बाकी हैं।

मीडिया में लड़कों के मुकाबले लड़कियों को कहीं ज्यादा मुश्किलों का सामना करना पड़ता है। उन्हें कम करके आंका जाता है। बार-बार उन्हें लड़की होने के उलाहने दिए जाते हैं।

'महिलाएं कुछ कर नहीं सकतीं' जैसी बात पुरुषों के मुंह से आसानी से निकल जाना हमेशा से सामान्य माना जाता रहा है। बात निकल जाने और कहने में फर्क होता है। मुंह से निकलना इसलिए लिखा कि पत्रकारिता में महिलाओं की स्थिति, जेंडर भेद पर बहुत कुछ पढ़ा।

इस दौरान माधवराव सप्रे संग्रहालय की पत्रिका 'आंचलिक पत्रकार' के एक विशेषांक में महिला पत्रकारिता हिंदी का लोकवृत्त रचने में महिला पत्रकारों का योगदान पढ़ते हुए उमेश चतुर्वेदी के आलेख की इन पंक्तियों का जिक्र जरूरी लगा, क्योंकि पत्रकारिता में महिलाएं 18वीं सदी के एक मशहूर अंग्रेजी अखबार डेली इलस्ट्रेटर मिरर के संपादक हैमिल्टन की उस धारणा को बार-बार झुठला रही हैं, जिसमें उन्होंने कहा था कि महिलाएं कभी लिख नहीं सकतीं हैं और वे पढ़ना भी नहीं चाहती हैं।

हैमिल्टन के इस विचार को तो भारत में 19 वीं सदी में महिलाओं ने निराधार साबित कर दिया था। कोलकाता में मोक्षदायिनी देवी नामक क्रांतिकारी महिला अप्रैल 1870 में बंग महिला का पहला अंक लेकर आईं। महिला अधिकारों और महिला मुद्दों को मंच देने का शायद यह पहला उदाहरण है। इन अर्थों में मोक्षदायिनी देवी को पहली भारतीय महिला पत्रकार होने का गौरव प्राप्त है।

वहीं 1888 में ही हेमंत कुमारी देवी चौधरानी सामने आती हैं और हिंदी में महिलाओं के अधिकारों एवं समस्याओं को मुखर मंच देने के साथ ही उन्हें बराबरी का हक दिलाने का एक मंच पत्रकारिता में शुरू करती हैं। उनकी पत्रिका का नाम 'सुगृहिणी' था। इस लिहाज से देखा जाए, तो हेमंत कुमारी देवी चौधरानी हिंदी की पहली महिला संपादक कहलाती हैं।

आंचलिक पत्रकार के इसी अंक के 41 पन्नों में भारत की 1558 महिला पत्रकारों की सूची भी दी गई है, जिसमें 1915 से 2016 तक की महिला पत्रकार शामिल हैं।

संग्रहालय के ही संस्थापक पद्मश्री विजय दत्त श्रीधर कहते हैं कि महिलाओं के साथ व्यवहार या महिलाओं का व्यवहार सामाजिक धारणाओं के समयानुसार बदलता रहता है। जैसे कि पहली महिला फोटोग्राफर होमई व्यारावाला जब पहली बार कैमरा लेकर निकलीं, तो लोग उन्हें बहुत हैरानी से देखते थे।

...लेकिन आज पत्रकारिता की ही बात करें, तो कई महिला पत्रकारों ने न सिर्फ अपने काम से झंडे गाड़े, बल्कि कई ऐसे क्षेत्रों में भी जाकर रिपोर्टिंग की, जो सिर्फ पुरुषों के लिए ही माने जाते थे। वे बरखा दत्त का उदाहरण देते हुए कहते हैं कि उनकी रिपोर्टिंग के कारण ही उनकी एक अलग पहचान बनी। वर्तिका नंदा ने भी जेलों पर काम कर एक अवधारणा को तोड़ा। बात मध्यप्रदेश की करें, तो यहां अपराध रिपोर्टिंग में रानी शर्मा, जूही वर्मा जैसी महिला पत्रकारों ने अच्छा काम किया है।

महिला पत्रकारों ने दंगे, युद्ध और प्राकृतिक आपदाओं को कवर किया है। वे कई न्यूज चैनलों का चेहरा बनी हैं और उन्होंने क्रिकेट जैसे खेल की भी रिपोर्टिंग की है, जो कि लंबे समय तक पुरुषों के वर्चस्व वाला क्षेत्र रहा है। महिलाएं न्यूज कवरेज को नया दृष्टिकोण प्रदान कर सकती हैं। हो सकता है कि यह बेहतर न हो, लेकिन अलग जरूर होगा। वे किन विषयों को कवर करना चाहती हैं या फिर किस तरह से स्टोरी बताना चाहती हैं, इसे लेकर उनकी अलग राय हो सकती है। आज से कुछ बरस पहले तक मीडिया में अंगुलियों पर गिनी जाने वाली महिलाएं थीं, लेकिन आज स्थिति भिन्न है। श्री श्रीधर आगे कहते हैं एक जो मानसिकता दिमागों में बैठी हुई है उसके कारण महिला संपादकों या पत्रकारों के नाम याद नहीं रहते। वे उदाहरण देते हुए कहते हैं कि जिस तरह प्रभाष जोशी, आलोक मेहता, राजेंद्र माथुर के नाम लिए जाते हैं, उस तरह मृणाल पांडे हमें क्यों याद नहीं रहतीं?

आदिकाल से ही देखें, तो महिलाओं ने हर उस धारणा को झूठा साबित किया है, जो उनके खिलाफ झूठ का प्रोपगंडा बनाकर प्रचारित कर उन्हें कमतर साबित करने की फिराक में जाने-अनजाने तय की जाती रही हैं और हर बार महिलाओं ने खुद को सही साबित किया। अवसर न दिए जाने की स्थिति में ,उन्होंने अपनी योग्यता के दम पर हासिल किए हैं।

वर्तमान परिवेश की ही बात करें, तो मीडिया में महिलाओं की संख्या बतौर पत्रकार बढ़ी तो है, परंतु बड़ी जिम्मेदारियों से महिलाएं आज भी दूर हैं।

मध्यप्रदेश की एक वरिष्ठ टीवी एंकर कहती हैं कि मैं आकाशवाणी और दूरदर्शन के जमाने से इस दुनिया को देख रही हूं, इसमें काम कर रही हूं। करीब तीन दशक के अनुभव में मैंने यह पाया है कि बदलते समय के साथ पत्रकारिता में महिलाओं की संख्या तो बहुत बढ़ी है, किंतु भीतरी परिस्थितियां आज भी बहुत अच्छी नहीं हैं, मसलनयदि किसी फीमेल रिपोर्टर और मेल बॉस के बीच विवाद हो जाए, तो अधिकांशत: महिला पत्रकार को ही नौकरी से निकाला जाता है। बाद में स्थिति यह बनती है कि उस लड़की को नौकरी मिलना मुश्किल हो जाता है। विवाद में चाहे पुरुष ही जिम्मेदार क्यों न हो, किंतु कैरियर पर खतरा हमेशा महिला के ही आता है। हम कितनी ही बातें कर लें, लेकिन असलियत यही है कि अभी-भी पत्रकारिता की दुनिया मेल डॉमिनेटिंग इंडस्ट्री ही है। वे आगे कहती हैं कि महिलाएं ज्यादा समर्पित होकर काम करती हैं, मेहनत करती हैं, योग्यता में भी कहीं कम नहीं हैं, परंतु फील्ड में कई साल देने के बाद भी उन्हें महत्वपूर्ण जिम्मेदारियां नहीं दी जातीं। मध्यप्रदेश के ही एक बड़े मीडिया ग्रुप का उदाहरण देते हुए वे कहती हैं कि वहां भी महिलाओं ने बहुत रिपोर्टिंग की, अच्छी और जिम्मेदार पत्रकारिता की, किंतु फिलहाल दो ही नाम पिछले कुछ सालों से उभरकर आए हैं, जिन्हें संपादक जैसे पद के समकक्ष माना गया है। वे याद करते हुए कहती हैं तथा कुछ संस्थानों के नाम गिनाती हैं। भोपाल के ऐसे संस्थानों के, जहां किसी एक विवाद के कारण महिला पत्रकारों को नौकरी देना ही बंद कर दिया गया था। इन संस्थानों में आज भी रिसेप्शनिस्ट, एकाउंटेंट आदि के अलावा महिला पत्रकार संपादकीय या रिपोर्टिंग में नहीं दिखतीं। तर्क यह कि महिलाएं होती हैं, तो विवाद होते हैं, इसलिए उनको नौकरी पर ही मत रखिए।

मेरा खुद का अनुभव यही रहा। करीब 15 साल पहले तात्कालिक संपादक ने यही कहते हुए मना किया था कि मालिक का कहना है कि अब हमें लड़कियों को नौकरी पर नहीं रखना है। तब कुछ विवाद हो गया था संस्थान में।

…तो जेंडर भेद के नजरिये से देखें, तो महिलाओं के लिए यह एकतरफा समस्या विकराल है, जो कि दिखाई नहीं देती, पर महिलाओं को ही समझ आती है कि यदि वर्कप्लेस पर शारीरिक शोषण, छेड़छाड़, रेप आदि के मामले होते हों, तो पलड़ा पुरुषों का भारी होता है। अमूमन पुरुष पॉवरफुल पोस्ट पर होता है और ऐसे हालात में महिला का कैरियर ही खत्म होने पर आ जाता है। उसे बदनाम किया जाता है, उसके खिलाफ अफवाहें फैला दी जाती हैं। पत्रकारिता में लैंगिक भेदभाव का इससे बड़ा उदाहरण शायद ही दूसरा मिले।

मध्यप्रदेश में हनीट्रैप कांड के खुलासे के बाद, उस समय की कई उभरती महिला पत्रकार आज फील्ड से ही गायब हैं, जबकि पुरुष पत्रकार एफआईआर होने, समाचारों में नाम आने के बावजूद न सिर्फ पत्रकारिता में दोबारा ससम्मान स्थापित हो गए, बल्कि ज्यादा मजबूती से वापसी हो गई और सक्रिय हो गए। वहीं, महिला पत्रकारों को न तो नौकरियां मिलीं न ही दूसरे और मौके। क्या कारण है एक ही अपराध में जिम्मेदार दोनों जेंडर के लोगों के प्रति व्यवहार, सोच में इतना फर्क बरता जाता है? पत्रकारिता की दुनिया में महिलाओं के साथ यह व्यवहार ही साबित करता है कि सदी कोई भी हो, मानसिकता वही रहेगी। चरित्र के पैमाने सिर्फ महिलाओं के लिए तय हैं और रहेंगे। वह दोषी है या नहीं, इसका परीक्षण नहीं होता। वह सिर्फ दोषी ही होती है और इसकी कीमत उसका कॅरियर है।

संवैधानिक मूल्यों के हिसाब से ही देखें, तो स्वतंत्रता, समानता, सम्मान, आत्मनिर्भरता, जीने का अधिकार और बहुत सारी ऐसी चीजें, जो एक मानव होने के नाते महिला का हक होता है, पत्रकारिता की दुनिया में उनका हनन होता रहता है। फिर अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता तो बहुत बाद की बात है। हां, कुछ महिलाएं होती हैं, जो लड़ती हैं, खुद को साबित करती हैं, अपनी अलग पहचान बनाती हैं, पर सब यह नहीं कर पातीं।

ऐसे में सवाल यह उठता है कि क्या महिला पत्रकारों की इस तरह की समस्याओं के लिए कोई फॉरम नहीं होना चाहिए? क्या सरकार ऐसी कोई संवैधानिक गाइडलाइन मीडिया संस्थानों के लिए तय नहीं कर सकती, जिसमें ऐसा कुछ प्राविधान या नियम अनिवार्य रूप से हो।

सागर की पत्रकार वंदना तोमर कहती हैं, पत्रकारिता में जेंडर भेद का सामना कई मोर्चों पर करना पड़ता है। महिला पत्रकारों को जब वे किसी संस्थान में कार्य करती हैं, तो वहां पर भी चुनौतीपूर्ण बीट की जिम्मेदारी न देकर, बस सामान्य-सी जिम्मेदारी दे दी जाती है। बड़े और जिम्मेदार पदों तक पहुंचने में कहीं न कहीं जेंडर बीच में आ ही जाता है एवं महिला पत्रकार काबिलीयत होने के बावजूद भी उन पदों तक नहीं पहुंच पाती हैं और उनकी प्रतिभा कुंठित होकर रह जाती है।

वंदना आगे जोड़ती हैं, यदि स्वतंत्र पत्रकारिता की बात की जाए, तो यह डगर भी जेंडर भेद के चलते महिलाओं के लिए काफी कठिन है। हमेशा हर कदम पर महिला पत्रकार को अपने आपको साबित ही करते रहना पड़ता है। समाज में भी कहीं न कहीं महिला पत्रकार के साथ कहीं न कहीं जेंडर भेद हो ही जाता है, जाने-अनजाने ही सही। पुरुषों के वर्चस्व वाले इस काम को करने वाली महिला पत्रकार को लोग कुछ अजीब तरह से देखते हैं। जब वर्षों तक महिला अपने काम से अपने आपको साबित कर देती है, तब बात दूसरी हो जाती है, लेकिन इस फील्ड में नई आने वाली महिला पत्रकारों को काफी परेशानी का सामना करते हुए स्वयं को सिद्ध करना पड़ता है। जिन महिला पत्रकारों से बात हुई, उनका पहला मजबूत पक्ष यही था कि पत्रकार तो पत्रकार होता है महिला-पुरुष नहीं। दूसरी बात जो मुख्यरूप से निकलकर सामने आई, वह यह कि महिलाओं को हमेशा सॉफ्ट बीट ऑफर की जाती है और हार्डकोर बीट उन्हें मांगना पड़ती हैं। हिंदी मीडिया संस्थानों में वेतन के मामले में भी जेंडर के आधार पर दोहरे मापदंड अपनाए जाते हैं।

अंग्रेजी की वरिष्ठ पत्रकार श्रावणी सरकार हों, सुचांदना गुप्ता हों या दिल्ली से मध्यप्रदेश आईं आरती शर्मा या फिर दीप्ती चौरसिया। इनका मत यही निकलकर आया कि वैसे तो कोई भेदभाव नजर नहीं आता, लेकिन इनको भी शुरूआत में सॉफ्ट बीट ही दी गई। बाद में इन्हें बीट बदलने को कहना पड़ा। उसके बाद इन्हें जो असाइनमेंट मिले, उन्हें भलीभांति पूर्ण कर इन्होंने अपनी योग्यता, निपुणता सिद्ध की। इसका परिणाम यह हुआ कि जो पुरुष पत्रकार पहले उतने सम्मान या बराबरी से नहीं देखते थे, बाद में उनके व्यवहार में परिवर्तन आया।

बात करें हिंदी मीडिया और अंग्रेजी मीडिया की तो काम और वेतन दोनों के मामले में पूरी की पूरी स्थितियां अलग हैं। अंग्रेजी मीडिया के ज्यादातर संस्थानों में वेतन को लेकर कोई भेदभाव नहीं है, पर हिंदी मीडिया में महिला-पुरुष के वेतन के आंकड़े में आधा या आधे से भी ज्यादा का अंतर है। हिंदी मीडिया और अंग्रेजी मीडिया में खबरों के प्रस्तुतीकरण में तो फर्क है ही कार्य-व्यवहार-बर्ताव में भी फर्क है। बात यदि बतौर मानव एक महिला के मूलभूत अधिकारों की करें, तो अनुराधा त्रिवेदी और श्रावणी सरकार एक बात कहती हैं कि इस दुनिया के लोग महिलाओं की मानवीय जरूरतों को लेकर कितने सजग हैं, इसका अंदाजा इसी से लगाइए कि आज भी कई जगह पर महिला-पुरुषों के लिए अलग से शौचालय नहीं हैं।

स्थिति बदली है, लेकिन कई जगह आज भी यथावत है। वे याद करते हुए बताती हैं कि उस समय हम लोगों को बाथरूम घंटों रोककर काम करना होता था या फारिग होने के लिए कोई जोखिम वाली जगह तलाशनी होती थी, वर्कप्लेस पर तो

छोड़ ही दीजिए। अब स्थितियां बदली हैं, पर अभी और बदलाव की जरूरत है। अन्य महिला पत्रकारों की भांति मेरा अपना भी 20 साल का अनुभव यह कहता है कि महिला पत्रकारों के लिए इस क्षेत्र में कई अनदेखी, अनजानी चुनौतियां सिर्फ इसलिए हैं, क्योंकि वे महिला हैं। इस बात को पुख्ता करती है अगस्त 2019 में न्यूजलॉन्ड्री और यूनाइटेड नेशंस वूमेन की संयुक्त रिपोर्ट। भारतीय मीडिया में लैंगिक असमानता पर प्रकाशित रिपोर्ट के अनुसार किसी भी न्यूजरूम के 100 उच्च नेतृत्व वाले पदों पर केवल 15 महिलाएं हैं। वहीं अखबारों में यह आंकड़ा सिर्फ 5 फीसदी है। पत्रिकाओं में 14 फीसदी, डिजिटल पोर्टल पर 27 फीसदी पदों पर ही महिलाओं को जिम्मेदारी वाले पद मिल पाए हैं। रिपोर्ट कहती है कि दूसरी तरफ अंग्रेजी अखबारों में छपने वाले प्रत्येक 4 लेखों में से केवल एक ही किसी महिला द्वारा लिखा जाता है, वहीं हिंदी अखबारों में ये स्थिति केवल 17 फीसदी है।

इस बारे में मध्यप्रदेश की वरिष्ठ पत्रकार विधुलता कहती हैं, "भारतीय मीडिया जिस गति से फल-फूल रहा है, इसमें एक आशा पनपी थी कि मीडिया के बढ़ते आकार से महिलाओं की स्थिति में सुधार आएगा और मीडिया में महिलाएं भी पुरुषों के बराबर संख्या में नजर आने लगेंगी।"

…परंतु इस दौर में महिलाएं मनोरंजन का साधन तो बनीं, किंतु पुरुषों के बराबर नहीं आ पाईं। जो इस क्षेत्र में हैं उन पर मोटा मेकअप और पश्चिमी परिधान जैसी कुछ शर्तें भी लाद दी गई हैं और यह धारणा बन गई कि लोग उन्हें इसी वेशभूषा और स्टाइल में पसंद करेंगे।

वे कहती हैं, "इसी प्रकार पत्रकारिता के शीर्ष पदों पर महिलाओं के न होने से महिला संबंधी मुद्दों पर भी ध्यान नहीं दिया जाता, हम देखते हैं कि भ्रूण हत्या जैसे अनेक मुद्दे स्त्री अस्तित्व से जुड़े हुए विशेष मुद्दे हैं, पंरतु मुख्यधारा की मीडिया से ये मुद्दे लगभग गायब हैं।"

टीवी पत्रकारिता में लगभग ढाई दशक गुजार चुकी मध्यप्रदेश की वरिष्ठ पत्रकार संगीता श्रीवास्तव कहती हैं कि देश की आधी आबादी की संख्या दूसरे संस्थानों की तरह मीडिया संस्थानों में भी बहुत कम है, लेकिन पिछले 10 सालों में न्यूज़ रूम में महिलाओं की संख्या में थोड़ी बढ़ोतरी हुई है। यद्यपि साथ में चुनौतियां भी उतनी ही ज्यादा बढ़ी हैं। जहां तक मेरा अनुभव है लैंगिक असमानता मीडिया संस्थानों में साफतौर पर देखी जाती है।

जब प्रतिनिधित्व की बात आती है, तो महिलाओं को पीछे रखा जाता है। कोई बड़ा पद देना हो, तो महिलाओं को पीछे रखा जाता है। न्यूजरूम के उच्च नेतृत्व वाले पदों पर अधिकतर पुरुष ही होते हैं, चाहे वह अखबार हो, मैगजीन हो, न्यूज़ चैनल हो या डिजिटल पोर्टल।

इसके अलावा कुछ विषयों पर लिखने-पढ़ने के लिए पुरुषों को ही ज्यादा तवज्जो दी जाती है। यदि महिला को दिया भी जाता है, तो उसे पहले पुरुष चेक करता है। उसके बाद उस पर सही या गलत की मुहर लगती है। फिर बात आती है सैलरी की, तो उसी एज ग्रुप की महिला और पुरुष दोनों में से एक ही पद के लिए पुरुष को सैलरी ज्यादा दी जाती है और महिला को कम। विरोध किया जाए, तो कुतर्क दिए जाते हैं। इसके अलावा मीडिया में महिलाओं का काम करना शौकिया मान लिया जाता है।

खासकर यदि महिला एंकर हो... पुरुषों की तरह महिलाओं के लिए भी खबरों पर बातें करना खबरों पर डिस्कशन करना महिला अधिकारों के दायरे से बाहर मान लिया जाता है। खेलों की कमेंट्री हो या प्रोमोज वगैरह बनाना हो, तो महिलाओं को ग्लैमरस तरीके से पेश किया जाता है। बहुत सारी कास्टिंग काउच में भी महिला मीडिया कर्मियों को एक टूल की तरह से इस्तेमाल किया जाता है।

कुल मिलाकर जो महिलाएं दुनियाभर की महिलाओं से संबंधित समस्याओं को उठाती हैं, वे खुद अपने संस्थान में पितृसत्तात्मक सोच से जूझ रही होती हैं।

प्रशासनिक, जिला प्रशासन, रेलवे, नगर निगम, विधानसभा जैसी कई बीट्स में महिला पत्रकारों की उपस्थिति न के बराबर है। उसका एक बहुत बड़ा नुक्सान यह भी होता है कि पत्रकारिता के शीर्ष पदों पर महिलाओं के ना होने से महिला संबंधी जो मुद्दे होते हैं, उन पर ज्यादा ध्यान नहीं दिया जाता, तो कई जरूरी मुद्दे मीडिया से गायब हो जाते हैं। भेदभाव को जो महिलाएं झेल रही हैं, वे भी अपना कहीं ना कहीं समर्थन पुरुष में तलाशती हैं और किसी न किसी पुरुष का सहारा लेकर, अपनी आवाज बुलंद करने की कोशिश करती हैं।

ऐसे में महिलाओं का नुक्सान यह होता है कि उन्हें शीर्ष पद नहीं मिलते, उन्हें अच्छी सैलरी नहीं मिलती, उन्हें अच्छा विभाग नहीं मिलता, साथ ही चुनौतीपूर्ण चीजें उनसे दूर हो जाती हैं। अपनी नौकरी बचाने के लिए महिला भी चुप रहती है। इसके अलावा कार्यस्थल पर महिलाओं के साथ यौन उत्पीड़न की समस्या बेहद संगीन और गंभीर होती है। महिला कर्मचारियों के साथ जो सेक्सुअल फेवर्स के लिए उच्च पदों पर बैठे पुरुष होते हैं, उनकी डिमांड पूरी ना होने पर तरह-तरह से परेशान किया जाता है और अंत में उसे नौकरी से निकाल दिया जाता है। उदाहरण के लिए, मीटू को देखा और समझा जा सकता है। साथ ही जब पदोन्नति की बात आती है या फिर छुट्टी दिए जाने की बात आती है, तो भी काफी भेदभाव किया जाता है।

सबसे बड़ी कमी यह है कि महिलाओं में एकजुटता नहीं होती है। महिला संगठन बहुत हैं, लेकिन एकजुटता न होने की वजह से समस्याओं को इग्नोर कर दिया जाता है, जिसकी वजह से जो आवाज बुलंद होनी चाहिए, वह कहीं ना कहीं दब जाती है। इन समस्याओं पर गंभीरता से विचार किया जाना चाहिए, ताकि मीडिया में भी महिलाओं की भागीदारी को आगे बढ़ाया जा सके, ताकि आगामी पीढ़ी के लिए एक मजबूत आधार तैयार किया जा सके।

इन महिला पत्रकारों के अलावा मंगला अनुजा, विजया पाठक, स्मृति आदित्य, कल्याणी, सुरभि, सीमा चौबे, सरिता ठाकुर, रितु त्रिपाठी आदि से भी उनके मत लिए गए, जिनमें उक्त बातें ही निकलकर मुख्यरूप से सामने आईं। इस लिहाज से देखें, तो इस आलेख-कम-रिपोर्ट के तीन स्तर हैं। तीनों ही अपने आप में पूर्ण विषय हैं:

पहला स्वजागरूकता, साहस और स्फूर्तता कितनी है खुद के मुद्दों को ही लेकर?

दूसरा पुरुषों के मुकाबले खुद को साबित करने के लिए ज्यादा जूझना ज्यादा कठिनाइयां। पूरी मेहनत-योग्यता के बावजूद समान काम, समान वेतन के संवैधानिक अधिकार का हनन होने से मीडियाकर्मी खुद भी न तो बचा पा रहे हैं न ही प्रयास करते दिखते हैं। महिलाओं के मामले में यह स्पष्ट है।

तीसरा मानसिकता महत्वपूर्ण पहलू है। गलती चाहे किसी की भी हो, कैरियर दांव पर महिला का ही लगेगा। इस तरह के मामलों के लिए पत्रकारिता जगत में किसी एक ऐसे फॉरम की जरूरत है, जहां सुनवाई तो हो कम से कम।

बिना अपील बिना दलील ही महिला को चरित्र के आधार पर अपराधी घोषित कर फील्ड से बाहर करने की साजिशें आज भी होती हैं। इस पर कड़ा रुख नहीं अपनाया गया, तो ये साजिशें अनवरत होती रहेंगी।

उक्त तीन पहलुओं के अलावा कई अन्य ऐसे पहलू भी हैं महिला पत्रकारों की दुनिया के, जिन्हें छूने की कोशिश की गई है... उनकी अपेक्षानुरूप, गोपनीयता की शर्तों का पालन करते हुए।

हिंदी सिनेमा: हावी व्यावसायिकता और संवैधानिक मूल्य

डॉ. मनीष जैसल

परिचय

मीडिया शिक्षक और शोधार्थी डॉ. मनीष कुमार जैसल आईटीएम यूनिवर्सिटी, ग्वालियर सहित विभिन्न विश्वविद्यालयों के पत्रकारिता एवं जनसंचार विभाग के विभागाध्यक्ष सहित अन्य भूमिका निभा चुके हैं। वे मीडिया साक्षरता, फिल्म अध्ययन, डिजिटल पत्रकारिता, एआई, फैक्ट-चेकिंग और संवाद कौशल में विशेषज्ञ हैं। सौ से अधिक फैक्टशाला ट्रेनिंग, कई राष्ट्रीय संगोष्ठियों में प्रपत्र वाचन और सिनेमा केंद्रित तीन पुस्तकों के लेखक हैं।

सिनेमा जीवन नहीं है, मगर वह जीवन से प्रेरित एक अनंत यात्रा है, जहां व्यक्ति अपनी सोच की मशीन से कुछ उगाता है, जो बस उसके अपने निराले अनूठे अंदाज़ से ही संभव है। उसी मानव ने सिनेमा बनाया है, जो अकेला गुफ़ाओं में कोयले से चित्र बनाया करता था। दुनिया में जब सिनेमा पहली बार आया दर्शकों ने दांतों तले उंगलियां दबा लीं। बीते हुए समय को सिनेमा में क़ैद कर लेने की यह घटना हतप्रभ कर देने वाली थी। सच कहें, तो वास्तविकता का सौंदर्यपूर्ण चित्रण हैं फिल्में।

इंसान ने यथार्थ को कैमरों की मदद से क़ैद करना अब सीख लिया था। 28 दिसंबर, 1895 को पेरिस में लोगों ने कुछ घट चुके लम्हों को दोबारा घटित होते हुए देखा था। दुनिया में सिनेमा की शुरूआत करने वाले लुमिएर बंधुओं की रूस में लगी सिनेमा की प्रदर्शनी को देखने के बाद रूसी लेखक मैक्सिम गोर्की ने अपनी रिपोर्ट में जो लिखा वह आज भी प्रासंगिक है:

कल रात मैं छायाओं के साम्राज्य में था और मैंने लुमिएर के सिनेमेटोग्राफ़र द्वारा प्रदर्शित चलचित्र देखे। इन बिंबों का प्रभाव असाधारण, विलक्षण, जटिल और बहुआयामी है। मुझे नहीं लगता कि मैं इस प्रभाव के सभी पहलुओं की स्पष्ट व्याख्या करने में समर्थ हो पाऊंगा। समय के साथ साथ सिनेमा ने तरक्की की। दुनिया के अलग-अलग देशों में सिनेमा के विकास को लेकर प्रयोग हुए। इतिहास से मुठभेड़ करते हुए सिनेमा से जुड़े कई आंदोलन हुए। जैसे रूस में सिनेमाई आंदोलन, इटली का नवयथार्थवाद, फ्रेंच सिनेमा की नई लहर, जर्मन अभिव्यंजनावाद के साथ भारत में प्रयोगवादी सिनेमा, कला सिनेमा, समानांतर सिनेमा जैसा आंदोलन इसके प्रमाण हैं।

उधर रैल्फ फ़ॉक्स ने सिनेमा में बारे में जो कहा वह ग़ौरतलब हैइस विधा का कोई भविष्य नहीं है।

हालांकि आज का कोई भी दर्शक फ़ॉक्स के इस कथन को पूरी तरह नकार देगा। उन्नीसवीं सदी के उपन्यास की विधा से मोहाविष्ट फ़ॉक्स के लिए सिनेमा में ऐसा कुछ भी नज़र नहीं आया, जो उसे टिका सके, मगर सिनेमा टिका भी और उसने अपनी एक लंबी उम्र भी तय की।

वहीं लेखक बेंजामिन फ़ांडेन ने 1933 में कहा था कि 'फिल्मों का जितना विकास हुआ और उत्थान हुआ, उतनी ही तेज़ी से पतन भी हुआ है। भड़कीली आडंबरी शान और हर क़िस्म की नक़्क़ाशी के चक्कर में पड़कर, गुमराह होकर यह किसी दैत्याकार शक्ल का उद्योग हो चुका है।'

आगे बढ़ते हुए सिनेमा ने व्यावसायिकता की ओर भी क़दम बढ़ाए। हॉलीवुड ने दुनिया को बताया कि सिनेमा एक उद्योग भी है और इसी उद्योग के बन जाने का असर भारत के सिनेमा पर भी पड़ता है। हवाना फिल्म महोत्सव के समापन भाषण में हॉलीवुड की आलोचना करते हुए फिदेल कास्त्रो की सिनेमा की व्यावसायिकता पर यह टिप्पणी प्रासंगिक हो जाती है

'वे इंसान के दिमाग़ में ज़हर भर रहे हैं। व्यावसायिक सिनेमेटोग्राफ़ी के जरिये, बुरी तरह से व्यावसायिक। तीसरी दुनिया के सिनेमा को बचना होगा, क्योंकि अगर हम अपनी संस्कृति को नहीं बचा सके, तो राजनीतिक और आर्थिक रूप से भी ख़ुद को नहीं बचा पाएंगे।'

फिल्मों की अपनी भाषा होती है। अलग-अलग फ्रेम दरअसल बनते-बिगड़ते दृश्य होते हैं। आप कभी उसमें चटक, तो कभी धुंधली या बदरंग-सी दुनिया देखते हैं। कभी घना अंधेरा, तो कहीं संगीत, कहीं शोर, तो कहीं धुंधलके में छिपी कोई अनजान-सी दुनिया भी इन्ही फ्रेम में आपको देखने को आसानी से मिल जाएगी।

लोक शैली में एपिक रचने वाले जापानी फिल्मकार अकिरा कुरोशावा की सिनेमा के लिए ख़ास टिप्पणी क़ाबिले-तारीफ़ है:

'सिनेमाई सौंदर्य जैसी चीज़ को सिर्फ़ फिल्मों में ही व्यक्त किया जा सकता है। अगर यह अच्छी तरह से व्यक्त हो जाए, तो फिल्म बेहद भावनात्मक असर छोड़ने में कामयाब हो जाती है।'

फिल्मों के व्याकरण और भाषा में सिर्फ़ संवाद ही नहीं होते, इसमें मोनोलॉग या फिर कहीं ख़ामोशी का चिंतन करते हुए कलाकार भी पर्दे पर दिखाई देते हैं। फिल्मों की यह बहुआयामी भाषा ना जाने कितने आयामों को ख़ुद में समेटे रखती है।

फिल्मों में फिल्मकार कहानी ही नहीं सुनाता, वह बीते हुए समय और अपने समाज की अभिव्यक्ति को इस कला की अनंत सतहों को इस्तेमाल करते हुए फिल्म माध्यम का प्रयोग करता है। दुनिया में सिनेमा की शुरूआत एक कला की मनोरंजक या विचारोत्तेजक प्रस्तुति के आधार पर हुई, लेकिन इसमें कभी-कभी फिल्मकारों द्वारा अपनी सांस्कृतिक जड़ों तक पहुंचने का उद्यम व कला के विविध पहलुओं को अनावृत करने का प्रयास भी बन जाता है। हम ऐसा भी कह सकते हैं कि ऐसे ही कई प्रयास अगर एक दिशा में आगे बढ़ें और एक ख़ास समय एवं समाज को सिनेमाई दुनिया में परिभाषित करने लगें, तो हम उसे एक खास तरह के सिनेमा के रूप में अभिहित करने लगते हैं।

अब सिनेमा इंसान के मस्तिष्क को बदलने भी लगा है और एक लोकतांत्रिक देश में सिनेमा इंसान के दिमाग को कैसे प्रभावित करता होगा, यह समझने की एक कोशिश यहां की जा रही है।

आज़ाद भारत, संविधान और सिनेमा में संवैधानिक मूल्यों की आवश्यकता

देश अंग्रेज़ी हुकूमत का ग़ुलाम था, उधर पेरिस से सिनेमा माध्यम बढ़ते हुए दुनिया के और देशों की तरफ़ बढ़ रहा था। इसी सिनेमा माध्यम के ज़रिए जनमानस एक भी हो रहा था। ऐसे में दुनिया में जहां-जहां अंग्रेज़ी हुकूमत थी, वहां फिल्मों पर सेंसरशिप लागू की गई। सिनेमा के ज़रिए जो संदेश समाज में जाता था, उसे अंग्रेज़ देखते थे। तब उसे प्रमाणित करते थे। ऐसे में एक ग़ुलाम देश भारत के स्वतंत्रता सेनानियों ने इसी सिनेमा माध्यम का उचित प्रयोग करते हुए आज़ादी के संघर्ष में अपना योगदान दिया। जहां सिनेमा फ़ेल हुआ, वहां ग्रामोफ़ोन, रेडियो तथा अख़बार इस भूमिका को भी आगे बढ़ा रहे थे। उषा मेहता के निर्देशन में आज़ाद रेडियो की संकल्पना को देखिए, पता लगेगा उस दौर में आज़ादी का संघर्ष कितना भीषण था।

देश को आज़ादी मिली, उसके बाद 1950 में देश का संविधान पारित हुआ। देश के संविधान की प्रस्तावना का ज़िक्र

यहां ज़रूरी है। भारतीय संविधान की उद्देशिका में लिखे ये शब्द, भारतीय समाज का स्वरूप कैसा हो, इसका सूत्र बताते हैं। इसमें दिए गए मूल्यों को अपनाकर हम एक बेहतर समाज, बेहतर देश के रूप में आगे बढ़ पाएंगे ऐसी उम्मीद की गई है। इस उद्देशिका को अपनाकर किसी भी तरह की समस्या का हल निकाला जा सकता है।

इस उद्देशिका में लिखे 11 शब्दों और उनके अर्थों को समझना आवश्यक है:

संपूर्ण प्रभुत्वसंपन्न, समाजवाद, पंथ-निरपेक्षता, लोकतंत्र और लोकतांत्रिक व्यवस्था, गणराज्य, न्याय (सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय) स्वतंत्रता (विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना) समता और समानता, गरिमा, एकता और अखंडता, बंधुता।

भारत जैसे लोकितांत्रिक देश में संवैधानिक साक्षरता की ज़रूरत आज भी महसूस होती है। यह भारत के हर नागरिक की ज़िम्मेदारी भी है और अधिकार भी। दूसरे अर्थों में कहें, तो संवैधानिक बुद्धिमत्ता लोगों में वह विवेक उत्पन्न करेगी, जिससे नागरिक न्यायपालिका, कार्यपालिका और विधायिका के कामकाज की समीक्षा कर पाएंगे। देश की आज़ादी के 75 साल बाद भी संवैधानिक साक्षरता की कमी यह दर्शाती है कि हमने अपनी ज़िम्मेदारी से काम नहीं किया। संविधान के मुताबिक़ भारत सरकार को जो भी अधिकार और शक्तियां प्राप्त हैं, वे जनता द्वारा दिए गए वोट पर ही केंद्रित हैं।

महात्मा गांधी ने 10 सितंबर, 1931 को यंग इंडिया में लिखे लेख में कहा था-

"मैं ऐसे संविधान की रचना करवाने का प्रयत्न करूंगा, जो भारत को हर तरह की ग़ुलामी और परावलंबन से मुक्त कर दे एवं उसे आवश्यकता हो, तो पाप करने तक का अधिकार दे। मैं ऐसे भारत के लिए कोशिश करूंगा, जिसमें ग़रीब से ग़रीब लोग भी यह महसूस करेंगे कि यह उनका देश है, जिसके निर्माण में उनकी आवाज़ का महत्व है। मैं ऐसे भारत के लिए कोशिश करूंगा, जिसमें ऊंचे-नीचे वर्गों का भेद नहीं होगा और जिसमें विविध संप्रदायों में पूरा मेलजोल होगा। ऐसे भारत में अस्पर्शता और शराब तथा दूसरी नशीली चीज़ों के लिए कोई स्थान नहीं हो सकता। उसमें स्त्रियों को वे ही अधिकार होंगे, जो पुरुषों को होंगे। चूंकि शेष सारी दुनिया के साथ संबंध शांति का होगा, यानी न तो हम किसी का शोषण करेंगे और न ही किसी के द्वारा अपना होने देंगे, इसलिए हमारी सेना छोटी से छोटी होगी। ऐसे सब हितों का, जिनका करोड़ी मूल लोगों के हितों से कोई विरोध नहीं, पूरा सम्मान किया जाएगा, फिर वे हित देसी हों या विदेशी। अपने लिए तो मैं यह भी कह सकता हूं देसी और विदेशी के फ़र्क़ से नफ़रत करता हूं। यह है मेरे सपनों का भारत। इससे भिन्न किसी चीज़ से मुझे संतोष नहीं होगा।"

भारतीय संविधान में निहित मूल्यों पर बार-बार बात होना चाहिए, ताकि इस भ्रम को भी ख़त्म किया जा सके कि भारत के संविधान में दर्ज मूल्य भारत के आध्यात्मिक मूल्यों से अलग हैं। भारतीय आख्यानों को भी अगर हम सुनते हैं, तो पाते हैं कि उनमें भी करुणा, प्रेम, सद्भाव, अहिंसा, स्वतंत्रता है।

संविधान एक जीवंत दस्तावेज़ है। यह बुनियादी मूल्यों पर दृढ़, किंतु कार्यकारी व्यवस्थाओं में बदलाव के लिए लचीला भी है। यही कारण है कि समाज को संविधान से रिश्ता मज़बूत बनाने की ज़रूरत है, ताकि कोई भारत के मूल्य आधारित ढांचे को नुक़सान ना पहुंचा सके।

इसी क्रम में भारत में संचार के प्रभावी माध्यमों में से एक सिनेमा में संवैधानिक मूल्यों की तलाश करने की कोशिश की गई है। भारत के संविधान में निहित मूल्यों में से इन्ही 11 शब्दों को आधार बनाकर 1940 से 2023 तक की फिल्मों का अंतर्वस्तु विश्लेषण किया जा रहा है।

सिनेमा देखने या पढ़ने का केवल एक तरीक़ा नहीं होता और यदि होता भी, तो उसमें कई उप तरीक़े मिले होते। राजकमल, कलामंदिर, आर के स्टूडियो, न्यू थिएटर, नव केतन, फिल्मिस्तान, मिनर्वा मूवीटोन, एवीएम, बीआर फिल्म्ज़, महबूब प्रॉडक्शन द्वारा निर्मित फिल्में इसी बैनर से पहचानी जाती रहीं, बाद में फिल्मकारों के नाम पर दर्शकों ने फिल्मों का चयन आरंभ किया और ऐसे फिल्में लोकप्रिय होती रहीं।

भारतीय संविधान केवल एक कानूनी दस्तावेज नहीं, बल्कि राष्ट्र के नैतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टिकोण का प्रतिबिंब है। यह समानता, स्वतंत्रता, पंथ-निरपेक्षता, न्याय और गरिमा जैसे मूल्यों को स्थापित करता है। हिंदी सिनेमा, जो भारतीय समाज का दर्पण भी है और दिशा-निर्देशक भी, इन संवैधानिक मूल्यों को समय-समय पर अपने कथानकों, पात्रों और संवादों के माध्यम से प्रस्तुत करता रहा है। इस लेख में हम हिंदी सिनेमा में संवैधानिक मूल्यों की उपस्थिति, अभिव्यक्ति और प्रभाव का विश्लेषण करेंगे।

समानता का मूल्य और सिनेमा

समानता, संविधान का मूल आधार है। जाति, धर्म, लिंग, वर्ग या भाषा के आधार पर किसी के साथ भेदभाव नहीं किया जाना चाहिए। हिंदी सिनेमा ने इस मूल्य को अपने कथानकों में प्रभावी रूप से उकेरा है।

उदाहरणस्वरूप, फिल्म 'अंकुर' (1974) में श्याम बेनेगल ने ग्रामीण भारत में जातिवाद और वर्गभेद के मुद्दों को गहराई से उठाया। लक्ष्मी (शबाना आज़मी) का चरित्र उस वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है, जिसे समाज ने सदियों से वंचित रखा है, लेकिन उसका आत्मसम्मान और संघर्ष समानता के संवैधानिक मूल्य की झलक देता है।

वहीं 'आर्टिकल 15' (2019), अनुभव सिन्हा द्वारा निर्देशित यह फिल्म सीधे संविधान के अनुच्छेद 15 से प्रेरित है, जिसमें जातिगत भेदभाव के विरुद्ध बात की गई है। आयुष्मान खुराना द्वारा निभाया गया पुलिस अफसर का किरदार उस आधुनिक युवा का प्रतीक है, जो समाज में व्याप्त असमानताओं को देखकर सवाल करता है।

हालांकि फिल्मकार सोहेल टटारी मानते हैं कि संविधान के मूल में न्याय, बंधुता, समता-समानता जैसे मूल्य वाली फिल्मों की बहुत कमी है। इसका एक कारण फिल्मों का व्यवसाय केंद्रित हो जाना भी है। चूंकि अब फिल्म मेकिंग बहुत महंगी हो चली है। कोई भी पैसा लगाने के बाद उसे रिटर्न पाना चाहता है और उधर रिटर्न का एक आधार दर्शकों के बीच मनोरंजन का सर्वोच्च एलिमेंट रखना भी है। दर्शकों को भी ऐसा लगने लगा है कि फिल्म से निर्माता उन्हें ज्ञान ना दें। उन्हें मनोरंजन चाहिए। सोचिए ना एक दर्शक, जो अपनी निजी ज़िंदगी में भी जूझ रहा है वह अपनी कमाई का बड़ा हिस्सा ख़र्च कर फिल्म देखने जाता है, वहां भी वह फिल्म के पात्रों को जूझते हुए देखता है, तो परेशान हो जाएगा। दर्शक के मनोविज्ञान को भी समझना होगा। अब 70 के दशक का दर्शक नहीं है। मेट्रो सिटी और कॉर्पोरेट जगत में घिस-घिसकर कमाने वाला दर्शक अब फिल्म में सामाजिक संघर्ष के बजाय मनोरंजन पाकर ख़ुद को रिफ़्रेश करना चाहता है। निर्माता-निर्देशकों को चाहिए कि इसी मनोरंजन के एलिमेंट के साथ उन्हें मूल्य पेश करे, तो इस कमी को पूरा किया जा सकता है।

'गमन', 'अंजुमन' और 'उमराव जान' जैसी फिल्में बनाने वाले फिल्मकार मुजफ्फर अली जी से हुए संवाद में उन्होंने प्रश्न आज़ादी से पूर्व और आज़ादी के काफ़ी बाद तक की फिल्मों में संवैधानिक/मानवीय मूल्य हमें खुले तौर पर दिखाई देते हैंअकाल, भुखमरी, शिक्षा व्यवस्था आदि पर फिल्में बनती थीं। इधर हाल के 20-30 वर्ष में कोई बदलाव आप महसूस कर पा रहे हैं? इसका जवाब देते हुए वे कहते हैं कि देखिए सिनेमा व्यावसायिक हो चुका है। इसे बनाना एक आदमी के बस की बात नही है। फिल्म कौन लिखेगा, फिर शूट करेगा, कहां दिखाएगा इसमें बहुत ख़र्चा आता है। इसलिए निर्माता की ओर

से भी सोचना होगा। ऐसा तो नहीं है कि किसी व्यक्ति ने पेन उठाया और कहानी लिख दी। सैकड़ों लोगों से मिलना-जुलना और समझना होता है। फिर उसके बाद जो उस फिल्म में पैसा लगा रहा होता है, उसकी मानसिकता को समझना भी बहुत ज़रूरी है। आजकल सबसे बड़ा समस्या यही है कि पैसे की जो मानसिकता है, वह हमेशा ईजी वे आउट देखती है। बहुत कम लोग ऐसा सोचते हैं कि इसी के साथ-साथ अगर मेहनत करेंगे, तो पैसे के साथ-साथ हम दर्शकों के बीच गहरी बात भी डाल सकते हैं। अपनी सामाजिक ज़िम्मेदारी के साथ फिल्में पेश कर सकते हैं। मेरी मानें, तो एक फिल्म से पूरी दुनिया बनती है, पूरा माहौल बनता है, संस्कृति बनती है, जिसके साथ हम जैसे लोग समझौता करना पसंद नहीं करते। ये बदलाव भी संभवत: इसीलिए हो रहे हैं।

स्वतंत्रता और अभिव्यक्ति की आज़ादी

स्वतंत्रता, विशेषकर विचार, अभिव्यक्ति और धर्म की स्वतंत्रता लोकतंत्र का प्राण हैं। हिंदी सिनेमा ने कभी-कभी इन स्वतंत्रताओं के पक्ष में आवाज़ उठाई है, तो कभी खुद इनकी परीक्षा का पात्र बना है।

फिल्म 'हजारों ख्वाहिशें ऐसी' (2005) में राजनीतिक सक्रियता और वैचारिक स्वतंत्रता का चित्रण है। यह फिल्म नक्सल आंदोलन की पृष्ठभूमि में युवाओं की वैचारिक यात्रा को दर्शाती है।

फिल्म 'रंग दे बसंती' (2006) में युवा पीढ़ी की क्रांतिकारी चेतना अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता और सामाजिक जवाबदेही के लिए जागृत होती है। वे इतिहास से प्रेरणा लेकर वर्तमान व्यवस्था को बदलने की कोशिश करते हैं।

धर्म-निरपेक्षता की अभिव्यक्ति

भारतीय संविधान भारत को एक धर्म-निरपेक्ष राष्ट्र घोषित करता है, जहां राज्य किसी विशेष पंथ का समर्थन नहीं करता। हिंदी सिनेमा ने धार्मिक सौहार्द को प्रोत्साहित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

'गदर : एक प्रेम कथा' (2001) में भारत-पाक विभाजन की पृष्ठभूमि में एक मुस्लिम लड़की और हिंदू युवक की प्रेम कहानी को पेश किया गया है, जो दर्शाता है कि प्रेम और इंसानियत किसी धर्म की सीमा में नहीं बंधते।

'सरफरोश' (1999) में आतंकवाद के माध्यम से धर्म की आड़ में फैलाए गए जहर के विरुद्ध सच्चे धर्म-निरपेक्ष मूल्यों को प्रस्तुत किया गया है। आमिर खान का किरदार न केवल एक ईमानदार पुलिस अफसर है, बल्कि वह यह भी दिखाता है कि देशभक्ति और धार्मिक पहचान एक-दूसरे के विरोधी नहीं हैं।

न्याय और सामाजिक न्याय की खोज

न्याय, विशेष रूप से सामाजिक न्याय, संविधान का एक महत्वपूर्ण स्तंभ है। कई हिंदी फिल्मों ने न्याय की खोज को अपने कथानक का केंद्र बनाया है।

'दामिनी' (1993) में एक महिला के संघर्ष को दिखाया गया है, जो एक बलात्कार के मामले में न्याय की मांग करती है। फिल्म में न्यायिक प्रक्रिया, सामाजिक दबाव और एक महिला की नैतिक ताकत का चित्रण संवैधानिक मूल्यों को मजबूत करता है।

'शौर्य' (2008) भारतीय सेना की पृष्ठभूमि में एक कोर्ट मार्शल केस के माध्यम से धर्म, जाति और न्याय जैसे मुद्दों पर विचार करता है। यह फिल्म बताती है कि संवैधानिक न्याय केवल कोर्ट तक सीमित नहीं, बल्कि नैतिक चेतना का भी मामला है।

गरिमा और मानवाधिकार

भारतीय संविधान हर व्यक्ति को सम्मानपूर्वक जीवन जीने का अधिकार देता है। हिंदी सिनेमा ने कई बार ऐसे विषयों को उठाया है, जो हाशिए पर खड़े लोगों की गरिमा की बात करते हैं।

'मसान' (2015) में दो अलग-अलग कहानियों के माध्यम से वर्ग, जाति, प्रेम और मृत्यु जैसे संवेदनशील विषयों को इस तरह छुआ गया है कि दर्शक व्यक्ति की गरिमा को केंद्र में रखकर सोचने पर मजबूर हो जाता है।

'अलीगढ़' (2016) सच्ची घटना पर आधारित है, जिसमें एक प्रोफेसर को उनके लैंगिक रुझान के कारण विश्वविद्यालय से निकाला जाता है। यह फिल्म गरिमा, निजता और समानता जैसे संवैधानिक अधिकारों की रक्षा की मांग करती है।

मशहूर टीवी लेखक जमा हबीब से हुए साक्षात्कार में एक प्रश्न फिल्मों में मानवीय मूल्यों को लेखक की नज़र से आप कैसे देखते हैं का जवाब देते हुए वे कहते हैं कि एक लेखक जब कोई कहानी लिखता है और उसमें किसी भी एक पात्र को चुनता है, तो उसके दिमाग़ में दो चीज़ें ज़रूर आती हैं एक, उसके संवैधानिक अधिकार क्या हैं। दूसरा, उस पात्र की समाज में क्या जगह होनी चाहिए। उसकी क्या मांगें हैं? परिवार से, समाज से, सरकार से? आप किसी भी पात्र को देखिए, उसके उस पात्र के बाहरी आवरण में समाज के साथ संबंध स्थापित करते हैं, तो वही आंतरिक आवरण में उसके इमोशन, फ़ीलिंग आदि में भी मानवीय होना एक लेखक के लिए ज़रूरी हो जाता है। उसमें भी अगर आप किसी अंडरडॉग (उपेक्षित) की कहानी कहते हैं, वहां लेखक को और सावधानी बरतने की ज़रूरत होती है। उदाहरण के लिए आप 'चक दे इंडिया' को लें, तो उसमें खिलाड़ियों की कहानी है। उसे लेखक ने उन खिलाड़ियों के संवैधानिक और मानवीय मूल्यों के साथ खड़े होकर किरदारों को जीवंत किया है। खिलाड़ियों की समस्याओं, उनके हक़ को लेकर यह एक अच्छी फिल्म मानी जा सकती है। वहीं 'खोसला का घोसला' 2006 की एक फिल्म है, जिसमें एक रिटायर्ड व्यक्ति है, उसने रिटायरमेंट के बाद एक घर ख़रीदने का प्लान किया है। इसमें उसे किस तरह की दिक्क़तें आती हैं, उसकी कहानी में दिखाई देता है। एक लेखक जिस समाज की कहानी उठाता है और उस कहानी के जिस किसी पात्र को वह लिख रहा होता है, वह उसके सामाजिक और मानवीय मूल्यों को ध्यान में रखकर अगर उसे आगे बढ़ाते हैं, तो कहानी सामाजिक दायित्व का निर्वहन करने लगती है।

संवैधानिक चेतना और सिनेमा

संविधान केवल सत्ता के नियमों का दस्तावेज नहीं, बल्कि एक नैतिक संहिता भी है। हिंदी सिनेमा ने हाल के वर्षों में संवैधानिक चेतना को जागरूकता के स्तर पर लाने की कोशिश की है।

फिल्म 'जय भीम' (हालांकि तमिल भाषा की है, लेकिन हिंदी में डब होकर व्यापक स्तर पर देखी गई) ने अनुसूचित जातियों के साथ पुलिस द्वारा की गई ज्यादतियों को संवैधानिक दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया है। हिंदी दर्शकों में इसकी प्रभावशीलता इस बात का प्रमाण है कि संवैधानिक चेतना धीरे-धीरे आमजन में घर कर रही है।

मशहूर फिल्मकार श्याम बेनेगल एक प्रश्न उस दौर के फिल्मकार देश/समाज के प्रति कितने सजग आपको दिखते हैं, का जवाब देते हुए कहते हैं कि भारत में तो सैकड़ों-हज़ारों फिल्में हर साल बनती हैं। जैसे किताबें हज़ारों लिखी जा रही हैं, वैसे ही फिल्में भी बन रही हैं। उनमें से बहुत कम ही अच्छी श्रेणी की फिल्में होती हैं। उस दौर को अगर याद करूं, तो सत्यजीत रे जी ने फिल्म 'पाथेर पांचाली' बनाई थी। फिल्म कई मायनों में अहम थी। मूल्यों के साथ-साथ वह सिनेमाई व्याकरण को समझाती एक उम्दा फिल्म है। फिल्म की रिकॉर्डिंग के लिए सत्यजीत रे साहब बंगाल के कई गांव में रहे। वहां फिल्म से जुड़े ऑरिज़िनल साउंड रिकॉर्ड किया तथा बाद में डबिंग भी की और अंत में जब दर्शकों को वैसा ही सबकुछ लगे, इसके लिए

उन्होंने ऑरिज़िनल साउंड को भी रखा। आप उसमें एक दर्शक के तौर पर दर्द और संवेदना को महसूस कर सकते हैं। मैंने सत्यजीत रे साहब पर फिल्म बनाने के दौरान जब एक इंटरव्यू किया, तो उन्होंने कई बातें साझा की थीं। इस फिल्म में एक दृश्य को आप देखें, जिसमें एक बूढ़ी औरत गिरती/लुढ़कती है, वहां पर एक साउंड को सत्यजीत रे ने कितनी ख़ूबसूरती से पेश किया है। एक नारियल का प्रयोग कर उसे एकदम जीवंत किया। वे हमेशा से ऐसी फिल्में बनाते रहे, जो सामाजिक ज़िम्मेदारी का निर्वहन करती हैं। एक फिल्मकार का अपने समाज के प्रति सजग होना बहुत ज़रूरी है। यह सब कुछ आप उनकी फिल्मों में देख सकते हैं।

संवैधानिक मूल्यों के साथ सिनेमा बनाए जाने में बाजार एक तत्त्व की तरह सामने आता है। बाजार के हिसाब से सिनेमा बनेगा, इसे लेकर भी चर्चा होती रही हैं। 'राजनीति' जैसी फिल्में लिखने वाले फिल्म लेखक अंजुम राजबली साक्षात्कार के एक प्रश्न आज़ादी के पहले और बाद के हिंदी सिनेमा में चरित्रगत एवं कथानक रूप से क्या फ़र्क़ आप महसूस करते हैं? लोग मार्केट के दबाव के चक्कर में फिल्मों के विषय बदलते हैं, का जवाब देते हुए स्पष्ट करते हैं:

"मार्केट कोई स्वतंत्र चीज़ नहीं है। सिनेमा में मार्केट का मतलब लोग हैं, दर्शक हैं और दर्शक इंसान हैं। उनके अंदर भी मानवीय मूल्य वही हैं, जो लेखक के अंदर हैं। मैं आपके सवाल का दूसरे ढंग से उत्तर देना चाहूंगा। लेखक ने मार्केट देखा कि कैसी फिल्में चल रही हैं और वैसा क्रिएट कर दिया। इसमें तो सीधा-सीधा व्यवसाय है। मार्केट में ऐसे लेखक सिर्फ़ कंटेंट फ़ीडिंग का काम कर रहे हैं। उसमें मूल्य ग़ायब हो जाते हैं। कलाकार वे हैं, जो सवाल उठाएं। आप चाहे 'जवान' बनाएं, 'पठान' बनाएं या फिर कुछ भी बनाएं, लेकिन सामाजिक सवालों को कुरेदने वाला लेखक ही असल कलाकार है। आज़ादी के बाद नया देश बना, नया देश कैसा होना चाहिए, उसका भविष्य कैसा होगा, क्या हमारी प्राथमिकताएं होंगी, नेहरु-गांधी और इस संग्राम में शामिल लोगों का विज़न क्या था, इसे लेकर बिमल रॉय, राजकपूर साहब, महबूब खान जैसे फिल्मकारों ने फिल्में बनाईं। मनोरंजन केंद्रित भी जो फिल्में आती थीं, उनमें भी आप मुद्दे आसानी से समझ सकते थे। बीआर चोपड़ा की फिल्मों में भी आपको विषय स्पष्ट हो जाते थे। किसान और साहूकार, मज़दूर और पूंजीवादी सोच, अमीर-ग़रीब के बीच संघर्ष को हम फिल्मों में देखते थे। मनोज कुमार की फिल्मों में हम देश भक्ति का एलिमेंट भी देखते थे। देश के प्रति हमें प्यार बढ़ने लगा। नए युवा किस ओर जाएं, इसको लेकर एक संदेश देती हुई फिल्में मनोरंजन के साथ दिखाई गई। धीरे-धीरे मनोरंजन की परिभाषा सिनेमा के संदर्भ में बदलने लगी। मुझे लगता है इंडस्ट्री के आने से जिन कंपनियों का पैसा फिल्म में लगा, उनके लिए फिल्में एक प्रोडक्ट बन गईं। पुराने फिल्मकार भले ही साहूकार सेठ थे, लेकिन उनका समाज के प्रति एक लगाव था, तभी उन्ही के पैसे से सामाजिक सद्भाव बढ़ाने वाली फिल्में बनी। फिल्म से पॉलिटिकल कंपोनेंट ग़ायब होकर मनोरंजन की डेफिनिशन काफ़ी संकुचित होने लगी। हर फिल्म में हैप्पी एंडिंग दिखाई जाने लगी। शायद इसी चक्कर में विषय बदलने लगे। मेरे हिसाब से, जो कहानी मन को इंगेज करे, दर्शक को बांधकर रखती है, वही इंटरटेनमेंट है। आपका जो सवाल है कि आज़ादी के पहले और बाद के कुछ दशकों तक की फिल्मों के विषय में क्या अंतर आए और क्यों, इसका अगर सीधा जवाब दें, तो सामाजिक ज़िम्मेदारी और अनुभव एक बड़ा तत्त्व ज़िम्मेदार हैं इसमें। अस्सी के दशक में जो फिल्मकार थे, उन्होंने वैसा भारत देखा ही नहीं था, जैसा पुराने फिल्मकारों ने देखा, तो उन्हें समाज महसूस कैसे होगा? नब्बे के दशक में उदारीकरण के बाद तो फिल्मों से पैसा कमाना एक मुख्य काम हो गया। फिल्म में विषय चाहे जैसे हों, उससे उन्हें कमाना है। किसी एक फिल्म ने कमा लिया, तो वैसे विषय वाली फिल्मों की बाढ़ आप सिनेमा का इतिहास उठाकर देखिए, आसानी से मिल जाएगा। समाज के बदल जाने से और नए एवं पुराने फिल्मकारों के बीच सामंजस्य के साथ फिल्मों के व्यावसायिक हो जाने से यह यह बदलाव आया। इससे नुकसान समाज और सिनेमा दोनों को हुआ है।"

मुस्लिम महिलाएं: अपने हक़ के लिए कब तक लड़ाई?

निदा रहमान

क्या हमारा समाज, हमारा देश तरक्की की राह पर आगे जा रहा है या फिर हम फिर से सालों पीछे की ओर चल पड़े हैं? बतौर आम नागरिक या एक महिला होने की नज़र से इस सोसायटी को मैं किस नज़र से देख रही हूं? देश की और समाज की प्रगति के पैमाने क्या हैं? ख़ासतौर पर लड़कियों के लिए आगे बढ़ने के, अपना भविष्य संवारने के, अपनी ज़िंदगी के फ़ैसले लेने के और जो अधिकार उन्हें इस देश का संविधान देता है, उन्हें हासिल करने के रास्ते कितने आसान या मुश्किल हैं? मुस्लिम महिला होने के नाते यदि मैं अपनी ज़िंदगी को पलटकर देखूं और अपने आसपास की दुनिया, समाज पर नज़र डालूं, तो सैकड़ों सवाल तैरते हुए नज़र आते हैं। मज़हब के नाम पर देश कट्टरता की ओर बढ़ रहा है। धर्म अब निजी नहीं, बल्कि एक-दूसरे से नफ़रत की, हिक़ारत की वजह बन रहा है।

परिचय

पत्रकारिता में स्नातकोत्तर निदा रहमान ने एक दशक तक राष्ट्रीय न्यूज़ चैनल में महत्वपूर्ण पदों की जिम्मेदारी संभाली है। निदा रहमान की पहचान सामाजिक,राजनीतिक विषयों पर लगातार संवादकर्ता और स्तंभकार के रूप में है। स्वतंत्र पत्रकार निदा रहमान को पत्रकारिता में विशिष्ट योगदान के लिए 2019 में वूमन्स प्रेस क्लब एमपी ने सम्मानित किया है। देश के प्रतिष्ठित लाड़ली मीडिया एडवारटाइज़िंग अवार्ड 2021 से सम्मानित निदा रहमान का 2021 में एक संयुक्त कविता संग्रह 'वर्जनाओं से बाहर' तथा वर्ष 2024 में 'इश्क़ इतवार नहीं' का प्रकाशन हो चुका है।

हालांकि इस मुद्दे पर बात करेंगे, तो बात बहुत आगे निकल जाएगी और शायद बहुत विस्तृत भी हो जाएगी। इसलिए मैं सिर्फ़ यहां मुस्लिम महिलाओं, बच्चियों की बात करती हूं। जिस पर लगातार मैं लिखती, बोलती और काम करती आ रही हूं। विकास संवाद की संविधान फैलोशिप के दौरान मुस्लिम महिलाओं और उनके संवैधानिक अधिकार को लेकर नज़र काफ़ी हद तक साफ़ हो गई है। बात धर्म की किताब की करें या फिर जिस किताब से देश चलता है उस संविधान की, तो एक बात साफबरा नज़र आती है कि जो किताबों में लिखा है, उसे हक़ीकतन कितना स्वीकारा गया है यह बड़ा सवाल है। मुस्लिम महिलाओं, बच्चों के संवैधानिक अधिकार और ज़मीनी हक़ीक़त विषय पर काम किया और कई आर्टिकल भी लिखे, जिसमें मुस्लिम महिलाओं, लड़कियों को धर्म के मुताबिक जो अधिकार दिए गए हैं उनकी ज़मीनी हक़ीक़त क्या है, वह बताया गया। हालांकि जब मैं मुसलमानों की बात करती हूं, तो अपने ही धर्म के तथाकथित ठेकेदारों के निशाने पर आती हूं, क्योंकि उन्हें लगता है कि मैं इस्लाम विरोधी बात करती हूं, जबकि सच यह है कि इस्लाम में महिलाओं को वे तमाम हक़ दिए हैं, जिससे उन्हें दोयम दर्जे का नागरिक ना बनना पड़े, लेकिन बात फिर वही आती है कि मज़हब जो अधिकार देता है, क्या वे तमाम हक़ लड़कियों को, औरतों को असल में दिए जा रहे हैं या फिर वे किताबों में ही दर्ज रह गए हैं।

आज जब मेरी नज़र हमारे आसपास जाती है, तो साफ़ दिखता है कि यह समाज बेहतर होने की बजाय बदतर होने की राह पर है। धर्म के नाम पर लड़कियों को काबू करने की कोशिश लगातार की जा रही है। उनसे उनके अधिकार छीने जा रहे हैं,

उन्हें डराकर धमकाकर अपने मुताबिक चलाने की कोशिश की जा रही है और यह किसी एक धर्म की बात नहीं है। धर्म के ठेकेदारों को लगता है कि उनकी ताकत और सत्ता पाने की सबसे कमज़ोर कड़ी लड़कियां हैं। जन्म से लेकर तमाम ज़िंदगी लड़कियों के लिए मुश्किलें खड़ी की जाती हैं। पर्दा हो, पढ़ाई हो, नौकरी हो, जायदाद में हक़ हो या फिर तमाम मुद्दे, जो महिलाओं के चहुमुखी विकास के लिए अनिवार्य हैं, उनसे वंचित कर उन्हें कमज़ोर करने की कोशिश लगातार होती रही है। महिलाएं ताकत आज़माने का, अधिकार का, संपत्ति बनाए रखने का एक ज़रिया बनी हुई हैं। पिछले दस-पंद्रह सालों से मुस्लिम लड़कियां, महिलाएं अपनी पहचान को लेकर निशाने पर आई हैं। उनके रहन-सहन को लेकर लगातार विवाद और विरोध हो रहा है। इस देश का संविधान हर नागिरक को अपनी मर्ज़ी से पहनने, ओढ़ने और धर्म का पालन करने का अधिकार देता है, लेकिन क्या वाकई ऐसा हो रहा है। इस बात को हम सिरे से ख़ारिज नहीं कर सकते हैं। नज़र जहां तक जाती है, तो मुस्लिम महिलाओं, लड़कियों के लिए परिस्थितियां मुश्किल नज़र आ रही हैं। एक तरफ़ कट्टरपंथी ताकतें मुसलमानों से नफ़रत को बढ़ा रही है। मुसलमानों की पहचान पर प्रहार किया जा रहा है, तो वहीं दूसरी तरफ़ छोटी-छोटी बच्चियां नकाब में नज़र आने लगी हैं।

पहचान को लेकर निशाने पर मुस्लिम महिलाएं

आज के दौर में हिंदू और मुसलमान दोनों कट्टरता की तरफ़ बढ़ रहे हैं। मसला यहां अपना-अपना धर्म मानने से नहीं है, बल्कि दक्षिणपंथियों का निशाना इस देश में अब मुसलमान हो गए हैं। मुसलमान सॉफ्ट टारगेट हैं। उनका पहनावा, उनके रस्मो-रिवाज, उनकी परंपराएं अब लोगों की आंखों में खटकने लगी हैं। बाज़ारों में बुर्के में नज़र आने वालीं औरतों, लड़कियों की तादाद लगातार बढ़ी है। पहले हम ही किसी बुर्के वाली महिला को हैरत से देखते थे। जब मैं मुस्लिम कम्युनिटी में लड़कियों-औरतों की बदहाली की बात करती हूं, जब मैं कहती हूं कि मुसलमान मर्दों का सारा फोकस औरतों को घरों में क़ैद रखने पर है, तो कट्टरपंथी मुझे ही नफरत की नजर से देखने लगते हैं। हालात ये हैं कि अगर किसी स्कूल कॉलेज में हिजाब नहीं लगाने दिया जा रहा है, तो लड़कियों की पढ़ाई ही बंद करवा दी जा रही है। इतना ही नहीं प्राइमरी या मिडिल स्कूल तक पढ़ने के बाद अगर घर से हाईस्कूल या कॉलेज थोड़ा दूर है, तो फिर उन्हें पढ़ाई छोड़नी ही पड़ेगी। किसी भी कम्युनिटी के विकास में सबसे बड़ा योगदान शिक्षा का होता है। महिला शिक्षा का स्तर कम होने की वजह से आधी आबादी ही पिछड़ी जा रही है। सरकारों के तमाम वादे, योजनाएं नाकाफ़ी साबित होती हैं, क्योंकि जब धर्म को आगे रख दिया जाता है, तो फिर वहां लॉजिक काम करना बंद कर देते हैं।

धार्मिक चिह्नों, पहचान को लेकर जिस तरह से मुसलमान टार्गेट किया जा रहा है, उसका सबसे ज़्यादा असर मुस्लिम लड़कियों, महिलाओं और बच्चों पर पड़ रहा है। मेरे आठ साल के बेटे से उसकी क्लास में पढ़ने वाला बच्चा कहता है कि मैं तुमसे दोस्ती नहीं करूंगा, क्योंकि तुम मुसलमान हो। मेरा बेटा घर आकर उदास बैठा था। जब बहुत पूछा, तो उसने यह बात बताई। स्कूल प्रबंधन से बात करने के बाद उस बच्चे से बात की गई, तो उसे बात समझ आई कि इस तरह से बात नहीं करनी चाहिए, लेकिन क्या यह उस बच्चे की गलती है? नहीं! उस आठ साल के मासूम बच्चे की कोई गलती नहीं है। उसे इस बात की समझ ही नहीं है। वह तो शायद मेरे बेटे की तरह यह भी नहीं जानता होगा कि हिंदू-मुस्लिम क्या होते हैं। इनमें क्या फर्क है? ख़ैर, इस तरह के भेदभाव अब कोई नई बात नहीं है। अंडा या नॉनवेज खाने की वजह से भी क्लास के बच्चे मेरे बेटे से अजीब व्यवहार करते हैं।

मुस्लिम आइडेंटिटी के साथ जिस तरह समाज भेदभाव कर रहा है, उसका उल्टा असर हो रहा है। मुसलमान अब अपनी पहचान को लेकर और मुखर हो रहा है। लड़कियां, महिलाएं नकाब, हिजाब लगा रही हैं, फिर चाहे उन्हें इसका विरोध ही क्यों ना सहना पड़े। ख़ैर, मसला यहां धार्मिक स्वतंत्रता का है, अपनी पहचान का भी है, जिसका हक हमें संविधान देता है।

संविधान कहता है कि देश में सरकार, सत्ता या और कोई धर्म के आधार पर किसी भी तरह का किसी भी इंसान के साथ भेदभाव नहीं किया जाएगा, लेकिन मौजूदा सरकार, व्यवस्था एक तरह से सत्ता के लालच में देश को बांटने का काम कर रही है, जिसका ख़ामियाज़ा महिलाओं, बच्चों के साथ-साथ देश के हर शख्स को भुगतना पड़ रहा है।

बेटियों की जासूसी करने से बेहतर है उन्हें पढ़ाएं

मुस्लिम लड़कियों के लिए मुश्किलें एकतरफा नहीं रही हैं, वे चारों तरफ से घेरी जा रही हैं। कर्नाटक में हिजाब विवाद के बाद कई लड़कियों ने अपनी पढ़ाई छोड़ दी, क्योंकि उन्होंने हिजाब को चुना, तो वहीं तबस्सुम शेख ने हिजाब की जगह पढ़ाई को तरजीह दी और आज वह कामयाबी के झंडे गाड़ रही हैं। कर्नाटक में हिजाब विवाद के बाद जब बीजेपी सरकार ने स्कूल में हिजाब पहनने पर रोक लगाई, तो लड़कियों ने स्कूल जाना बंद कर दिया। तबस्सुम कहती हैं कि मैं उस वक्त कन्फ्यूज थी और मैंने भी कॉलेज जाना बंद कर दिया था, लेकिन उनके माता-पिता ने उन्हें समझाया कि उन्हें शिक्षा को चुनना चाहिए। तबस्सुम ने कहा कि बैन के बाद मेरे माता-पिता ने मुझे समझाया कि यह महिलाओं को शिक्षा नहीं देने की और मुस्लिम समुदाय को पिछड़ेपन में धकेलने की एक चाल है। उन्होंने मुझे अपनी पढ़ाई पर ध्यान देने के लिए और कॉलेज जाने के लिए कहा। इस बात ने मुझे प्रेरित किया और मैंने कॉलेज जाना शुरू कर दिया। मैं कॉलेज के बाहर तक हिजाब पहनकर जाती थी, लेकिन क्लास रूम में जाने के पहले हिजाब को उतार देती थी। हालांकि तबस्सुम इस बात से उदास हो जाती हैं कि उनकी बहुत-सी सहपाठी छात्राओं ने पढ़ाई अधूरी छोड़ दी या फिर ओपन कोर्सेज में एप्लाइ किया।

अब बात करते हैं सोशल मीडिया की जिस पर इन कामयाब बेटियों के लिए कसीदे पढ़े जा रहे हैं, लेकिन इसी सोशल मीडिया पर एक मुहिम चलाई जा रही है बेटियों पर नजर रखने की। विशेष बात यह कि मुहिम सिर्फ सोशल मीडिया पर नहीं है, बल्कि जमीनी स्तर पर भी इसको लेकर पोस्टर-बैनर्स देखे जा सकते हैं और यह मुहिम है बेटियों की जासूसी करने की। यह पता लगाने की कि वे किससे बात कर रही हैं, कहां जा रही है। सोशल मीडिया पर तैरते पोस्टर्स और बैनर्स पर लिखा जा रहा है कि मुस्लिम लड़कियां लगातार गैर-मजहब के लड़कों से शादियां कर रही हैं, इसलिए उन पर नजर रखनी चाहिए। बेटियों के माता-पिता पर सवाल उठाए जा रहे हैं। कहा जा रहा है कि लड़कियों को मोबाइल थमाने का यह नतीजा है कि बेटियां तथाकथित भगवा लव ट्रैप का शिकार हो रही हैं।

मतलब भगवा लव ट्रैप का डर दिखाकर लड़कियों से छीन लो उनकी आजादी, उनके पढ़ने-लिखने का अधिकार, उन्हें घरों से ना निकलने दो, उन्हें नौकरी ना करने दो, उन्हें मजबूत ना होने दो। गर कोई एक लड़की समाज के तथाकथित धर्म के ठेकेदारों के मुताबिक कोई गलत फ़ैसला लेती है, तो तमाम लड़कियां सवालों के घेरे में आ जाती हैं। तमाम लड़कियों की पढ़ाई पर तलवार लटकने लगती है।

बेटियों को संपत्ति में हिस्सा देने में क्या पीछे है मुस्लिम समाज?

भारत में हर धर्म के लोगों की शादी और संपत्ति जैसे मामलों का निपटारा उनके पर्सलन लॉ के अनुसार होता है। हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम 1956 के प्राविधानों के अनुसार हिंदू, सिख, जैन और बौद्ध धर्म को मानने वालों में प्रॉपर्टी का बंटवारा होता है। वहीं मुसलमानों का शरीयत एक्ट 1937 (Shariat Act 1937) के अनुसार उत्तराधिकार और संपत्ति संबंधित विवाद का निपटारा होता है। इसी फर्क़ के साथ शुरू हो जाता है मुस्लिम महिलाओं के साथ भेदभाव। हिदुओं में जहां बेटी पिता की संपत्ति में बराबर की हकदार है, वहीं मुस्लिम लॉ के अनुसार एक मुस्लिम परिवार में जन्मी बेटी को पिता की संपत्ति में अपने भाई के मुकाबले आधा हिस्सा ही मिलता है।

इस्लाम मुस्लिम महिला को माता-पिता की संपत्ति में हक़ देता है, लेकिन ज़मीनी हकीक़त इसके उलट नज़र आती है। दिन-रात इस्लाम का हवाला देने वाले भी बेटियों-बहनों को उनका हक देने में पीछे हैं। विकास संवाद की संविधान फैलोशिप पर काम करते वक्त जब सोशल मीडिया पर मैंने सीधा-सा सवाल पूछा कि 'मुझसे जुड़ी कितनी मुस्लिम महिलाओं को उनके पिता की संपत्ति में हिस्सा दिया गया और अगर मिला, तो क्या उन्होंने जब अपना शरई हक़ मांगा, तो क्या नतीजा निकला?' इस सवाल के जवाब महिलाओं ने भी दिए, लेकिन उससे ज्यादा मुस्लिम पुरुष अटैकिंग मोड में आ गए। वे पर्सनल सवाल करने लगे कि आपका हिस्सा चाहिए क्या, आपने अपनी ननद को संपत्ति में हिस्सा दिया क्या? जबकि सवाल महिलाओं से था। कुछ महिलाओं ने बताया कि उन्हें जब हिस्सा नहीं दिया गया, तो मांगने पर उनका मायका ही छूट गया।

मुस्लिम औरतों से ये सवाल किए गए, तो ज़्यादातर का कहना यह था कि उन्होंने माता-पिता की संपत्ति में अपना हक़ छोड़ दिया है, क्योंकि उन्हें अपने रिश्ते खराब नहीं करना थे। जो मुस्लिम महिलाएं अपना हक़ चाहती हैं, उन्हें बुराई मिलती ही है और कभी-कभी यह बुराई इतनी होती है कि मायके वाले, यानी कि भाई संबंध ख़त्म कर लेते हैं। छतरपुर की रहने वाली 75 साल की ज़ुबैदा ख़ातून अपने पिता की संपत्ति में हक़ की लड़ाई पिछले दस साल से कोर्ट में लड़ रही हैं। उनके चारों भाइयों ने आपस में पिता का खेत बांट लिया और तीन बहनों को कोई हिस्सा नहीं दिया। जब बहनों ने अपने पिता के खेत में अपना शरई हक़ मांगा, तो उन्हें मना कर दिया गया। मामला इतना बिगड़ा कि कोर्ट तक पहुंच गया, लेकिन इंसाफ़ वहां भी नहीं हुआ। ज़ुबैदा ख़ातून के मायके में तीन भाई सरकारी उच्च पदों पर रहे, साथ ही उन्हें दीन का भी इल्म रहा, लेकिन उन्हें बहनों का हक़ मारने से कोई गुरेज़ नहीं हुआ।

उत्तरप्रदेश के फूलपुर कस्बे की रहने वाली सुबूही अंसारी अपने पिता और भाई के खिलाफ़ कानूनी लड़ाई लड़ रही हैं। वे कहती हैं कि पिता ने प्रॉपर्टी में शरई हिस्सा तो नहीं दिया, बल्कि मां ने जो एक प्लॉट हम बहनों के नाम किया था, उसको फर्ज़ी तरीके से अपने बेटे के नाम कर दिया। माली तौर पर कमज़ोर होने की वजह से वे चाहती थीं कि उस प्लॉट की वजह से उनकी थोड़ी-बहुत मदद हो जाएगी, लेकिन पिता और भाई किसी कीमत पर उनका हक़ देने को राज़ी नहीं हैं। हालांकि सुबूही की बाकी दो बहनें इस बात के लिए राज़ी हैं कि उनकी छोटी बहन जो कि आर्थिक रूप से कमज़ोर है, उसे उनका हिस्सा भी दे दिया जाए, लेकिन पिता और भाई इस बात के लिए राज़ी नहीं हैं, अब मामला कोर्ट में है और सुबूही अपने ही भाई-पिता से कानूनी लड़ाई लड़ रही हैं।

हालांकि ऐसा नहीं है कि मुस्लिम समाज में बेटियों को उनके पिता की संपत्ति में हक़ नहीं दिया जाता है। ग्वालियर की शाहिना खान को उनके पिता डीएसपी हफीज़ खान ने अपनी संपत्ति में शरई हिस्सा दिया है। शाहिना और उनके तीन भाइयों को पिता की संपत्ति में वह हिस्सा दिया गया, जो उसके हक़दार थे। शाहिना कहती हैं कि उन्होंने अपने पिता से हिस्सा नहीं मांगा था, लेकिन पिता ने अपना फ़र्ज़ पूरा किया, जिसमें उनके भाइयों ने भी पूरा साथ दिया। आज उनके पारिवारिक संबंध बेहद खूबसूरत हैं और कोई मनमुटाव नहीं है।

मुस्लिम धर्म गुरुओं से जब संपत्ति में बेटियों, महिलाओं के अधिकार के मुद्दे पर बात की गई, तो उन्होंने कहा कि बेटियों को उनके पिता की संपत्ति में जितना अधिकार शरिया देता है, उतना हर पिता और भाई को देना चाहिए। हालांकि, ज़मीनी हक़ीक़त इससे काफ़ी उलट है। वे कहते हैं कि इस संबंध में वक्त-वक्त पर लोगों को जागरूक किया जाता है और उन्हें समझाया भी जाता है कि बेटियों का हक़ मारना इस्लाम के खिलाफ़ है। उनकी बातों का कितना असर होता है, यह आपको मुस्लिम महिलाओं से बात करते मालूम चल सकता है, क्योंकि मुस्लिम समाज यह मानने को राज़ी ही नहीं होता है कि वह बेटियों और महिलाओं को शरई तौर पर दिए गए संपत्ति के अधिकार देता नहीं है।

शरीयत कानून के तहत पारिवारिक संपत्ति के बंटवारे में मुस्लिम महिलाओं को पुरुषों के मुकाबले आधा हिस्सा देने के प्राविधान को सुप्रीम कोर्ट में चुनौती दी गई है। इस पर अभी सुनवाई चल रही है। सुप्रीम कोर्ट में बुशरा अली नामक महिला ने अर्जी दाखिल की है। उसका कहना है कि संपत्ति के बंटवारे में उन्हें पुरुष सदस्य की तुलना में आधी हिस्सेदारी मिली है और यह भेदभाव है।

गुजारा भत्ता को लेकर लड़ाई लड़ती मुस्लिम महिलाएं

10 जुलाई 2024 का दिन मुस्लिम महिलाओं के लिए ऐतिहासिक कहा जा सकता है, क्योंकि यह दिन उनके ज़ख़्मों पर मरहम का काम करेगा। वे मुस्लिम महिलाएं, जो धर्म के आधार पर बने कानून की वजह से भेदभाव का शिकार होती हैं या फिर उन्हें वह हक़ नहीं मिल पाता है, जिसकी वे हक़दार होती हैं, उनके लिए सुप्रीम कोर्ट ने ऐसा राहतभरा फ़ैसला सुनाया है कि अनगिनत मुस्लिम औरतें राहत की सांस लेंगी। देश की सर्वोच्च अदालत ने तलाकशुदा मुस्लिम महिलाओं को भी आपराधिक दंड संहिता की धारा 125 के तहत गुज़ारा भत्ता मांगने का हक़दार बताया है। सुप्रीम कोर्ट ने मुस्लिम महिला (तलाक संबंधी अधिकारों का संरक्षण) कानून, 1986 की सीमाओं को तोड़ते हुए कहा कि महिला चाहे किसी भी धर्म की हो, उसे शादी टूटने पर पति से गुजारा-भत्ता मांगने का हक है। जस्टिस नागरत्ना और जस्टिस मसीह की पीठ ने स्पष्ट कर दिया कि सीआरपीसी की धारा 125 धर्म-निरपेक्ष प्राविधान है, जिस पर कोई पर्सनल लॉ हावी नहीं हो सकता है। पीठ ने यह भी कहा कि जब तक महिला की दूसरी शादी नहीं हो जाती या वह खुद सक्षम नहीं हो जाती है, तब तक उसके भरण-पोषण का खर्च उठाना उसके पूर्व पति का दायित्व है। कोर्ट ने स्पष्ट कहा कि भरण-पोषण का खर्च उठाना कोई दयालुता नहीं, बल्कि तलाकशुदा महिला का अधिकार है। जस्टिस नागरत्ना ने कहा, "कुछ पतियों को पता ही नहीं कि पत्नियां जो गृहिणी हैं, वे उन पर भावनात्मक और अन्य दूसरे रूप से भी निर्भर होती हैं। समय आ गया है कि भारतीय पुरुष गृहिणियों की भूमिका और उनके त्याग को जरूर समझें।"

गुज़ारा भत्ता को लेकर सुप्रीम कोर्ट का फैसला मुस्लिम महिलाओं के लिए बड़ी राहत है, क्योंकि मुसलमान औरतें तलाक के बाद गुज़ारा भत्ता के लिए भटकती रहती हैं। दमोह की रहने वाली शाहीन खान सुप्रीम कोर्ट के इस फ़ैसले से खुश हैं। शाहीन की शादी रीवा हुई थी और एक बार ससुराल जाने के बाद उनका पति से विवाद हुआ। मामला कोर्ट पहुंचा और तलाक हुई, लेकिन उन्हें ना तो दहेज का कोई सामान मिला ना ही गुज़ारा भत्ता या फिर कोई एक मुश्त रकम। वे कहती हैं कि मुस्लिम महिलाओं के साथ यह भेदभाव गलत है। हम भी दूसरे धर्म की महिलाओं की तरह तलाक के बाद गुज़ारा भत्ता के हक़दार हैं। छतरपुर की रहने वाली नाहिद खान अपने पति के खिलाफ़ मेंटनेंस का केस लड़ रही हैं। नाहिद का पति नशा करता है और उनके साथ मारपीट भी करता था, जिसके बाद वे अपने मायके आ गईं और मेंटेनेंस का केस लगा दिया। नाहिद कहती हैं कि वे तलाक नहीं ले सकतीं, क्योंकि उसके बाद उन्हें गुज़ारा भत्ता नहीं मिलेगा। पति उन्हें मानसिक रूप से प्रताड़ित करता है और कहता है कि वह ना तलाक देगा और ना ही मेंटेनेंस।

तलाकशुदा मुस्लिम महिलाओं को गुज़ारा भत्ता देने के फ़ैसले का ऑल इंडिया मुस्लिम पर्सनल लॉ बोर्ड ने विरोध किया है। मुस्लिम पर्सनल लॉ बोर्ड का कहना है कि सुप्रीम कोर्ट का यह फैसला शरिया, यानी कि इस्लामी कानून के ख़िलाफ़ है। हालांकि ऑल इंडिया मुस्लिम महिला पर्सनल लॉ बोर्ड की संस्थापक और अध्यक्ष शाइस्ता अंबर 'द वीक' से बातचीत में कहती हैं कि वक्फ़ बोर्ड को महिलाओं और बच्चों के जीवन और अजीविका को सुनिश्चित करने के लिए कदम उठाना चाहिए। मुस्लिम महिलाओं को तलाक के बाद गुज़ारा भत्ता देने के सुप्रीम कोर्ट के फ़ैसले पर शाइस्ता अंबर कहतीं है कि यह अधिकार का मामला है ना कि दान का। शाइस्ता अंबर करती हैं कि ऑल इंडिया मुस्लिम पर्सनल लॉ बोर्ड मुस्लिम महिलाओं के लिए समान अधिकारों की वकालत करता रहा है। बोर्ड ने 2022 में एकतरफ़ा तलाक को पूरी तरह से रद्द

कराने के लिए सुप्रीम कोर्ट का दरवाज़ा खटखटाया था। वे कहती हैं कि लोग यह नहीं जानते, लेकिन वक्फ़ का इस्तेमाल तलाकशुदा महिलाओं, अनाथ बच्चों और बेसहारा लोगों के लिए किया जाना है।

शाह बानो केस में सुप्रीम कोर्ट के फैसले के बाद यह व्यवस्था बनी थी कि तलाकशुदा मुस्लिम महिला को भी पति से गुजारा भत्ता दिया जाएगा। पति भत्ता नहीं दे पाता है, तो ऐसी महिलाओं को वक्फ बोर्ड द्वारा भत्ता दिए जाने का प्राविधान है।

ऑल इंडिया मुस्लिम पर्सनल लॉ बोर्ड अगर सुप्रीम कोर्ट के फैसले को शरिया या इस्लाम में दखल मान रहा है, तो उसे चाहिए कि वह तलाकशुदा, बेवा और बेसहारा मुस्लिम औरतों की मदद के लिए आगे आए। वक्फ़ के पास अपनी खुद की संपत्ति है, ज़मीन है, वह मुस्लिम औरतों की मदद क्यों नही करता है। असल में ज़मीनी हक़ीक़त यही कि मुस्लिम महिलाएं हर तरफ़ से मार खा रही हैं। मुस्लिम पर्सनल लॉ बोर्ड महिलाओं के हितों की अनदेखी करता आया है। ट्रिपल तलाक के वक्त भी पर्सनल लॉ बोर्ड ने खूब विरोध किया था, लेकिन ट्रिपल तलाक बैन होने के बाद मुस्लिम महिलाओं ने राहत की सांस ली थी।

सवाल यही है कि मुस्लिम महिलाओं, बच्चों के लिए पर्सनल लॉ बोर्ड क्या करता है, क्या वह सिर्फ़ मुस्लिम महिलाओं के हक़ों में होने वाले फ़ैसलों का विरोध करने के लिए बचा है। शाइस्ता अंबर कई सालों से यह मांग करती आई हैं कि मुस्लिम पर्सनल लॉ बोर्ड और वक्फ़ बोर्ड को बेसहारा, तलाकशुदा मुस्लिम महिलाओं की मदद के लिए आगे आना चाहिए। मुस्लिम पर्सनल बोर्ड हो या फिर धर्म गुरु या फिर और कोई दूसरी संस्था, इन्हें चाहिए कि मज़हब एवं संविधान महिलाओं, औरतों को जो हक़ देता है, उसके संदर्भ में जागरूकता फ़ैलाएं तथा महिलाओं का साथ दें। मुस्लिम समाज के रहमुनाओं को चाहिए कि वे लोगों को बताएं कि महिलाओं के अधिकार उन्हें देना मज़हबी तौर पर भी लाज़िम है और कानूनी तौर पर भी। यह जागरूकता का विषय है, जिसके लिए बड़े स्तर पर अभियान चलाने की ज़रूरत है, लेकिन देखने में आता है कि ज़्यादातर धार्मिक संस्थाएं और उनके ठेकेदारों का सारा दारोमदार महिलाओं को आर्थिक तौर पर पंगु बनाए रखने के लिए होता है। वे नहीं चाहते कि लड़कियां अपने फ़ैसले ख़ुद लें, वे आर्थिक तौर पर संपन्न हों, क्योंकि ऐसा होने पर उन्हें महिलाओं पर अपना एकाधिकार जाने का डर रहता है।

इस्लाम लड़कियों को पढ़ने से नहीं रोकता है, लेकिन ज़मीनी हक़ीक़त इसके उलट नज़र आती है। दीन की पढ़ाई के साथ ज़रूरी है कि मुसलमान दुनियावी पढ़ाई में भी अव्वल हों, वे आज के दौर से मुकाबला कर सकें। ज़माना ख़राब है, तो वह हर इंसान के लिए ख़राब है, सिर्फ़ लड़कियों के लिए नहीं। उन्हें पढ़ाई से रोकना उन पर ज़ुल्म है। लड़कियों की ज़िंदगी का एक मकसद सिर्फ़ शादी नहीं हो, उन्हें हर मुश्किल का सामना करने के लिए तैयार करें, लेकिन इसके लिए वे तभी तैयार होंगी, जब वे आर्थिक रूप से आज़ाद होंगी, सक्षम होंगी। हमें अपने ऊपर काम करने की ज़रूरत है, ताकि हम अपनी कमियों को पूरा कर पाएं। हालांकि ऐसा नहीं है कि मुस्लिम समाज में लड़कियां पढ़ नहीं रही हैं। वे पढ़ रही हैं, नौकरियां कर रही हैं और नाम भी कमा रही हैं, लेकिन जो अधिकार उन्हें कुरआन एवं संविधान देता है, उन्हें दरकिनार नहीं किया जा सकता है। किताबों में लिखी बातें, जब तक ज़मीनी तौर पर अमल में नहीं लाई जाएंगी, सब कुछ बेमानी होगा।

जलवायु परिवर्तन: विकास परियोजनाओं का प्रभाव और पर्यावरणीय संकट

पल्लव जैन

परिचय

माखनलाल चतुर्वेदी राष्ट्रीय पत्रकारिता विवि, आईआईआईएमसी, कुरुक्षेत्र विवि हरियाणा से पत्रकारिता का अध्ययन करने वाले पल्लव जैन वेब पोर्टल ग्राउंड रिपोर्ट के संपादक हैं। एनडीटीवी इंडिया में बतौर एसोसिएट प्रोड्यूसर रहे पल्लव जैन को अर्थ जर्नलिस्म, डी डब्ल्यू जर्मनी, सीएफए स्मितू कोठारी फैलोशिप, रीच इंडिया मीडिया फैलोशिप एवं ग्रांट प्राप्त हुई है। पल्लव जैन ने इस फैलोशिप के दौरान सीहोर जिले में संवैधानिक मूल्यों के विशेष संदर्भ में विकास परियोजनाओं का प्रभाव और पर्यावरण संकट का अध्ययन किया है।

मैं विकास संवाद की संविधान संवाद फैलोशिप से जुलाई 2024 में जुड़ा। वर्ष 2016 में अपनी पढ़ाई पूरी करने के बाद यह मेरे लिए पहला मौका था जब मैं एक विचारशील समूह के साथ बैठकर संवैधानिक अधिकारों और मूल्यों के बीच अंतर को समझ रहा था। एक बार कॉलेज से निकलकर कॉर्पोरेट दफ्तरों में हांक दिए जाने के बाद हम यह मानने लगते हैं कि हमने अब-तक जो कुछ पढ़ा या सीखा वही बस काफी है। 'हम सब-कुछ जान चुके हैं' का भाव हमारे अंदर घर करने लगता है। समाज में अगर कुछ नया घट रहा है तो हम उसके बारे में तो जानने की इच्छा फिर भी रखते हैं, लेकिन जो पढ़ चुके हैं या जिन विषयों पर हमारी राय बन चुकी है उनके बारे में दोबारा जानने और पढ़ने की इच्छा हमारे अंदर कम ही रहती है। ऐसा ही एक विषय संविधान भी है, जिसे हमने बहुत कम पढ़ा है। इसके बारे में हमने शायद इतना ही जाना है जितना हमारे कोर्स में पढ़ा दिया गया, या कुछ रिपोर्ट्स लिखते हुए पढ़ने की ज़रुरत पड़ी।

संविधान संवाद फैलोशिप ने मुझे मौका दिया संविधान के निर्माण के वक्त हुई महत्वपूर्ण चर्चाओं के बारे में जानने और आज के दौर में इन चर्चाओं के महत्व को समझने का। जब भोपाल के सिट्रस प्राईम में आयोजित तीन दिवसीय सत्र में मैने विकास संवाद द्वारा संविधान निर्माण पर तैयार की गई वीडियो सीरीज़ को देखा तो मैं अपनी आंखे स्क्रीन से एक मिनट के लिए भी नहीं हटा सका। मुझे अहसास हुआ कि कैसे संविधान की महत्वपूर्ण बातें और उससे जुड़े लोग मेरी स्मृति में धुंधले हो चुके थे, जिन्हें यह वीडियो फिर से मेरे सामने लेकर आ रहा था। यहां मुझे अहसास हुआ कि संविधान कोई राजनीतिक या देश चलाने का दस्तावेज़ मात्र नहीं है। यह एक विचार है जिसने पिछले 75 वर्षों से तमाम उथल-पुथल के बावजूद विविधताओं से भरे हमारे देश को एक सूत्र में बांधे रखा है।

मैंने महसूस किया कि भारतीय संविधान एक सरकार या सिस्टम को चलाने का खांका ही नहीं तैयार करता वह हमारे देश में रह रहे हर व्यक्ति को न्याय, बंधुता, स्वतंत्रता, समता, गरिमा और एकता जैसे संवैधानिक मूल्यों को अपनाने को भी कहता है, जिसपर संविधान के तहत मिले अधिकारों की नींव रखी गई है।

फैलोशिप का मूल उद्देश्य भी संवैधानिक मूल्यों को जानने, मानने और अपने जीवन में अपनाने पर केंद्रित रहा। इसके साथ ही फैलोशिप के दौरान अपने विषय पर काम करते हुए बतौर पत्रकार हमें समाज और सिस्टम में इन्ही मूल्यों की स्थिति को समझना था।

मुझे मध्य प्रदेश के सीहोर जिले में अपने विषय 'संवैधानिक मूल्य और जलवायु परिवर्तन:विकास परियोजनाओं का प्रभाव और पर्यावरणीय संकट' पर संवैधानिक मूल्यों की दृष्टि से कार्य करना था। फैलोशिप के दौरान विकास संवाद के विविध सत्रों में मूल्यों पर हुई चर्चाओं और यहां से मिली पठन सामग्री ने मुझे अपने विषय पर काम करने में काफी सहायता की।

मेरा परिचय

दिल्ली में 5 वर्ष एनडीटीवी इंडिया के लिए बतौर प्रड्यूसर काम करने के बाद जब वर्ष 2022 में मैं अपने गृह जिले सीहोर में स्वतंत्र पत्रकारिता करने के लिए लौटा, तब मैंने पर्यावरण जैसे विषय पर ही काम करने का मन बनाया। ऐसा इसलिए था क्योंकि मैं एक किसान परिवार से आता हूं और पिछले कई वर्षों से अपने गांव में किसानों को जलवायु परिवर्तन की वजह से हो रही चरम मौसमी घटनाओं से जूझता देख रहा था।

एनडीटीवी जैसे राष्ट्रीय चैनल में प्रड्यूसर के तौर पर काम करते वक्त मेरे सामने से कई रिपोर्ट्स गुज़रती थी, लेकिन उन रिपोर्ट्स में पर्यावरण से जुड़ी खबरें नदारद थीं और अगर कुछ थी भी तो वह दिल्ली, मुंबई जैसे बड़े शहरों की परेशानियों पर ही केंद्रित थी। ऐसे में भारत की एक बड़ी आबादी जो गांवों में बसती है और अपनी आजीविका के लिए कृषि और जंगलों पर निर्भर है, उनकी आवाज़ को मुख्यधारा की मीडिया में शामिल न किया जाना मुझे असहज करता था। इसी वजह से मैंने अपने घर लौटकर इस समुदाय के बीच रहकर इनकी परेशानियों को सुनना और लिखना शुरु किया।

जलवायु परिवर्तन, चरम मौसमी घटनाओं से फसलों का खराब होना, आदिवासियों के वनाधिकार, स्वच्छता, स्वास्थ्य, ऊर्जा और जस्ट ट्रांज़िशन जैसे विषयों पर मैंने काम किया। लेकिन अपने इस कार्य के दौरान मैंने कभी अपनी इन रिपोर्ट्स को संवैधानिक मूल्यों की दृष्टि से नहीं देखा था। संविधान संवाद फैलोशिप से जुड़ने के बाद मेरी रिपोर्ट्स को नया आयाम मिला, अब मैं अपनी हर रिपोर्ट में इन मूल्यों को टटोलने की कोशिश करता हूं। किसी भी स्टोरी के दिमाग में आने पर यह ज़रुर सोचता हूं कि कैसे यहां मूल्यों का ह्रास हो रहा है। मुझे लगता है कि इस फैलोशिप का हासिल मेरे लिए यही है।

इस फैलोशिप के दौरान मुझे मूल्यों की दृष्टि से दस खबरों पर भी काम करना था। इसके लिए गहन अध्ययन, शोध और ज़मीनी पड़ताल करने की ज़रुरत थी। मैंने एक वर्ष के दौरान सीहोर जिले के कई गांवों और तहसीलों की यात्रा की। उन क्षेत्रों में गया जहां गाड़ियों का पहुंचना मुमकिन न था, उन लोगों से मिला जो आज-तक मीडिया से मुखातिब नहीं हुए थे, उन लोगों के साथ पूरा दिन बिताया जो हमारी ज़िंदगी का अहम हिस्सा हैं, लेकिन फिर भी हम उनपर कभी ध्यान नहीं देते। फैलोशिप के लिए की गई इन यात्राओं की वजह से मुझे सीहोर को और करीब से जानने का मौका मिला। जब मैं इस दौरान लोगों से मिला और अपनी खबर के लिए लोगों से बात कर रहा था तो मेरा बोलने का लहज़ा और मेरे सवाल पहले से अलग थे। मेरे सवालों में संवेदनशीलता थी, मेरा लहज़ा नर्म था और सामने वाले व्यक्ति की पूरी बात को मैं धैर्य के साथ सुन रहा था । मैंने पूरी कोशिश की कि मैं अपने पूर्वाग्रह छोड़कर लोगों से बात करूं। पहले से विषयों और जगह के प्रति मेरे दिमाग में बनी धारणाओं को तोड़कर मैं घर लौटूं।

धारणाओं और पूर्वाग्रहों को लेकर मेरे अंदर आया यह बदलाव संविधान संवाद फैलोशिप के दौरान आयोजित किया गये बिपिन कुमार और उनके साथी के सत्र को सुनने का नतीजा था। इस सत्र में मैंने जाना कि कैसे हम अपने दिमाग में जटिल हो चुकी धारणाओं को नए रास्ते अपनाकर या दिमाग में नए पैटर्न बनाकर तोड़ सकते हैं और क्यों हर समय हमें अलग-अलग विषयों पर अपने मस्तिष्क में बनी धारणाओं को चैलैंज करते रहना या बदलना ज़रुरी है। उदाहरण के लिए हमारी धारणा है कि गांव में लोग चूल्हे पर रोटी बनाकर खाना चाहते हैं क्योंकि चूल्हे की रोटी का स्वाद उन्हें पसंद है या उन्हें लकड़ियां आसानी से मिल जाती हैं। हालांकि हकीकत यह है कि वो चूल्हे पर रोटी इसलिए भी बना रहे हैं क्योंकि गैस

सिलिंडर भरवाना उनके लिए महंगा है और वे गैस की खपत कम करने के लिए भी चूल्हे से निकलने वाले धुएं में खुद को झोंक रहे हैं। ऐसी ही कई धारणाएं अलग-अलग व्यक्ति, जाति, लिंग, समाज और क्षेत्रों के बारे में हमारे दिमाग में जड़ हो चुकी हैं, जिन्हें अध्ययन और संवाद के ज़रिए ही चेतन किया जा सकता है।

सीहोर मेरा कार्यक्षेत्र

सीहोर, मध्य प्रदेश के मालवा क्षेत्र के मध्य में विंध्याचल की तलहटी में स्थित है। मध्य प्रदेश के गठन के समय, भोपाल सीहोर जिले का हिस्सा हुआ करता था। भोपाल वर्ष 1972 में सीहोर से अलग होकर नए जिले के रुप में स्थापित हुआ। सीहोर का प्रचीन नाम सिद्धपुर है, यहां बहने वाली सीवन नदी से मिले एक शिलालेख से इसकी पुष्टी होती है। एक पुराने दस्तावेज़ से पता चलता है कि यहां के जंगलों में शेर बड़ी संख्या में पाए जाते थे, यही वजह थी की अंग्रेज़ों ने शेर या लायन के एंग्लो इंडियन विचलन से इसका सीहोर उच्चारण किया और तभी से यह नाम प्रचलन में आया।

जिले का कुल भौगोलिक क्षेत्रफल 6.5 लाख हैक्टेयर है जिसमें कृषि का रकबा 3.95 लाख हैक्टेयर है और वन क्षेत्र 1.72 लाख हैक्टेयर है। सीहोर जिला 5 विकास खंड (सीहोर, आष्टा, इछावर, बुधनी और भैरुंदा) में विभाजित है। मैंने अपनी रिपोर्ट्स के लिए पांचो विकास खंड की यात्रा की है ताकि जिले की एक समावेशी पर्यावर्णीय प्रोफाईल तैयार कर सकूं। यहां कुछ छोटी और बड़ी नदियां हैं जो खेतों और वनों को सींचती हैं। पार्वती, दुधी, नेवज, कोलार, पपनास, कुलांस, सीवन, लोटिया के साथ-साथ नर्मदा के दर्शन बुधनी और भैरुंदा में हो जाते हैं। आपको यह जानकारी मैं इसलिए दे रहा हूं ताकि जब मैं आगे आपको सीहोर की पर्यावर्णीय समस्याओं के बारे में बताउं तो आप इस क्षेत्र से परिचित हों।

पर्यावरणीय समस्याएं

सीहोर शहर में अभी अधिक उद्योग स्थापित नहीं हुए हैं, जो कुछ उद्योग लगे हैं वो बुधनी क्षेत्र में हैं। यहां पर लगी ट्राईडेंट और वर्धमान टैक्सटाईल फैक्ट्री कई लोगों को रोज़गार देती है। महूकला गांव और ट्राइडेंट फैक्ट्री के बीच ठीक 600 मीटर का फासला है। हम जैसे ही महूकला गांव की मुख्य सड़क से अंदर मुड़ते हैं, वहां एक बड़ी सी पानी की टंकी और सील हो चुका हैंडपंप मिलता है। मोड़ से अंदर जाने पर हमें गांव के लोग मिलते हैं जिनके चेहरे पर परेशानी स्पष्ट झलकती है। इनकी परेशानी का आलम यह है कि वे किसी भी अजनबी चेहरे को सरकारी कर्मचारी समझ अपनी समस्याएं बताने लगते हैं। हम जब ऐसे ही एक घर के सामने से गुजर रहे थे, तब एक बुजुर्ग परसराम ने हमें आवाज देकर रोका। हमारे रुकते ही उन्होंने तपाक से कहा, साहब हमारी पानी की समस्या का समाधान करा दीजिये। परसराम अपने घर के छोटे-छोटे बच्चों को देखते हुए कहते हैं, "हमने तो अपनी जिंदगी जी ली, हमें जो होना था वो हो ही रहा है। लेकिन इस गंदे पानी से इन छोटे-छोटे बच्चों का भी जीवन तबाह हो रहा है।"

समस्या इतनी गंभीर है कि जिन लोगों ने अपने घरों में लाखों रुपए खर्च कर बोरवेल लगवाए थे वो अब उसके पानी का इस्तेमाल नहीं कर सकते। इससे निकलने वाला पानी प्रदूषित दिखाई पड़ता है। अगर इससे नहा लिया जाए तो बाल कड़क हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में अब ग्रामीण कई किलोमीटर दूर से अपने खर्च का पानी लेकर आते हैं।

सरकारी अधिकारी इस गांव में पहुंचे और उन्होंने पानी को दूषित करार देते हुए यहां मौजूद हैंडपंप को सील कर दिया। ग्रामीणों ने बताया कि यहां नर्मदा की नल-जल पाईप लाईन भी है लेकिन इससे हफ्ते के अंतराल के बाद पानी प्रदान किया जाता है।

स्वच्छ पानी इंसान की मूलभूत ज़रुरत है, लेकिन इस गांव के रहवसियों को यह भी नसीब नहीं है। इस मामले में प्रशासन

ने हैंडपंप तो सील कर दिए लेकिन ट्राईडेंट फैक्ट्री जो भूजल को प्रदूषित करने के लिए जिम्मेदार है उस पर कोई कार्रवाई नहीं की।

इस कहानी में हमें न्याय और समानता के मूल्य का ह्रास साफ दिखाई देता है। जहां एक ओर बुधनी के अन्य गांवों में लोग अपने बोरवेल का पानी इस्तेमाल कर सकते हैं तो महुंकला के रहवासियों को यह नसीब नहीं है। उनका जुर्म बस इतना है कि उनका घर एक ऐसी फैक्ट्री के पीछे स्थित है जिसपर प्रशासन कार्रवाई करना नहीं चाहता। यहां हम देखते हैं कि कैसे प्रशासन एक फैक्ट्री के मालिक और आम नागरिकों को समानता की नज़र से नहीं देखता और न ही यह ज़रुरी समझता है कि इन नागरिकों को स्वच्छ पानी मुहैया करवाकर उनके साथ न्याय करे ताकि वे गरिमा के साथ अपने घरों में ज़िंदगी गुज़ार सकें।

सीहोर में गिरता भू-जलस्तर

सीहोर जिले में गर्मियों में पीने के पानी समस्या हर गांव और शहर में देखने को मिलती है। बुधनी और भैरुंदा को छोड़ दें तो बाकी सभी इलाकों में गर्मी में पानी का संकट गहराने लगता है क्योंकि यहां अधिकतम लोग पानी के लिए भूजल पर ही निर्भर हैं। सेंट्रल ग्राउंड वॉटर बोर्ड 2021-22 रिपोर्ट के मुताबिक सीहोर जिले के अधिकांश क्षेत्रों के भू-जलस्तर में कमी आई है। कुछ जगह यह गिरावट 2 मीटर से अधिक है। भू-जल स्तर की गहराई (डीटीडब्ल्यू-डेप्थ टू वॉटर लेवल) कई क्षेत्रों में 10-20 मीटर नीचे है, जो अपेक्षाकृत गहरे भू-जल स्तर को उजागर करता है।

रबी की फसल की सिंचाई किसान भू जल से करते हैं इसका नतीजा यह होता है कि फरवरी से ही बोरवेल और हैंडपंप सूखने लग जाते हैं। जब मैं मार्च के महीने में सीहोर जिले की नोनीखेड़ी पंचायत के डोबरा गांव पहुंचा तो यहां प्रधानमंत्री ग्राम सड़क के किनारे एक बोर्ड लगा दिखाई दिया, जिसपर लिखा है "बेटी है तो कल है"। इसी बोर्ड के नज़दीक लगे हैंडपंप पर इस गांव की कई बेटियां साइकिल पर पानी की चार-चार कनस्तर लादकर अपने घर ले जाती दिखाई देती हैं। पूछने पर इनमें से एक लड़की पूनम हमें बताती है, "गांव में पानी की बहुत समस्या है, इस हैंडपंप में भी कुछ दिन का ही पानी बचा है। इसके बाद हमें कई किलोमीटर दूर जाकर पानी लाना पड़ेगा।"

पूनम सीहोर के स्वामी विवेकानंद कॉलेज में बीएससी की पढ़ाई कर रही हैं। वो बताती हैं कि उनका ज्यादातर समय पानी भरने में ही निकल जाता है। सुबह जल्दी उठकर वो घर की जरूरत का पानी भरती हैं, उसके बाद तैयार होकर यहां से 13 किलोमीटर दूर स्थित उनके कॉलेज जाती हैं। ठंड के समय में उनके लिए यह काम और ज्यादा तकलीफदेह हो जाएगा। पूनम के साथ ही पानी भर रही गांव की एक महिला बताती हैं कि गांव में पिछले कई वर्षों से पानी की समस्या बनी हुई है। घर के पुरुष इस काम में उनका हाथ नहीं बंटाते, ऐसे में पानी भरना उनकी ही ज़िम्मेदारी है।

पूनम हैंडपंप से एक-एक कर अपनी पानी की कैन भरती हैं और सावधानी से उन्हें अपनी सायकल में टांगती हैं। वो बताती हैं, "अभी तो हमें गांव के इस सरकारी हैंडपंप से पानी मिल रहा है, कुछ दिनों बाद जब यह सूख जाएगा तो हमें कई किलोमीटर दूर जाकर उन घरों से पानी लाना होगा जो हम पर दया कर अपने बोरवेल से पानी भरवाएंगे। तब लंबी लाईन लगेगी और समय भी ज्यादा खर्च होगा।"

नोनीखेड़ी पंचायत की सरपंच ज्योति दांगी हैं। उनकी सरपंची का काम उनके पति प्रदीप दांगी संभालते हैं। जब हमने उनसे पानी की समस्या के बारे में पूछा तो वो कहते हैं, "पंचायत में नल जल योजना का काम अभी फाईलों में अटका हुआ है। इसके लिए ग्रामीणों को आगे आकर आंदोलन करना होगा, तब ही कुछ हो पाएगा। हम अपनी ओर से प्रयास कर रहे हैं।"

प्रदीप दांगी ने अपने खेत से पाईप लाईन लाकर अपने घर की पानी की समस्या को दूर कर लिया है। गांव में जिनके पास पैसा है वो भी ऐसा ही कर रहे हैं, बाकि के लोग इन पाईप लाईन वालों के रहम पर निर्भर हैं।

जब डोबरा गांव की पूनम जैसी छात्रा को अपना कीमती समय पानी भरने में गुजारना पड़ता है, और पानी जैसी मूल भूत ज़रुरत के लिए लोगों की दया पर निर्भर रहना पड़ता है तो यहां उनके गरिमापूर्ण जीवन जीने के मूल्य का ह्रास होता है। नीति निर्देशक सिद्धांतों के अनुच्छेद 47 में स्वास्थ्य और जीवन स्तर में सुधार की बात कही गई है, लेकिन जब महिलाओं को किलोमीटरों दूर से पानी लाना पड़ता है तो यह इन आदर्शों का मजाक है। समानता के मूल्यों का भी ह्रास यहां होता है जब शहरी क्षेत्रों में नल से पानी मिलता है लेकिन गांवों में हैंडपंप भी सूख जाते हैं, अमीर व्यक्ति खुद का बोरवेल खोदकर दूर से पाईप लाईन लाकर पानी ले आता है लेकिन गरीब उस सरकारी नल का इंतजार करता रहता है जो फाइलों में अटका पड़ा है। सबसे चिंताजनक बात यह है कि जल जीवन मिशन के आंकड़े भ्रामक हैं - कनेक्शन है लेकिन पानी नहीं। यह दिखाता है कि कैसे नीति निर्माण और क्रियान्वयन के बीच की खाई संवैधानिक न्याय को कमजोर कर रही है। यह स्थिति सीहोर के कई गांवों में देखने को मिलती है और साथ ही सीहोर शहर में भी जहां लोग फरवरी से जून तक टैंकर मंगवाकर पानी खरीदने को मजबूर हैं क्योंकि प्रशासन का ध्यान यहां सड़कें बनवाने पर अधिक और पानी की समस्या को हल करने पर कम है।

घटते वनों से प्रभावित समुदाय

मैंने अपनी फैलोशिप के दौरान जंगलों से मिलने वाले संसाधनों पर अपनी आय के लिए निर्भर समुदाय की समस्याओं को भी समझने का प्रयास किया है। इसमें तेंदूपत्ता, चिरौंजी, महुआ और शहद जैसी फॉरेस्ट प्रड्यूज़ पर निर्भर समुदाय से विस्तार से बात हुई। मैंने जाना कि कैसे सीमित होते जंगल और जलवायु परिवर्तन की वजह से बदल रहा मौसम इस समुदाय की आजीविका को प्रभावित कर रहा है और सरकार का ध्यान इस ओर न के बराबर है।

बुधनी अपने लकड़ी के खिलौनों की वजह से भी पहचाना जाना जाता है। हल्के वज़न के इन खिलौनों में चटक गुलाबी, पीला और हरा रंग प्रमुखता से दिखाई देता है। यह रंग प्राकृतिक है, जो जंगलों से प्राप्त होने वाले लाख से बनता है। वहीं इसकी लकड़ी भी बुधनी के जंगलों में पाई जाने वाले दुधिया के पेड़ से प्राप्त होती है, जो वज़न में हल्की होती है, इस पर कारीगरी करना आसान होता है। साथ ही इससे बनने वाले सामानों की उम्र कई वर्ष होती है।

जिस दौर में हम प्लास्टिक के यूज़ एंड थ्रो खिलौनों के बाज़ार से घिरे हैं, जो प्रकृति के लिए विनाशकारी हैं और जिनपर चढ़ा रंग बच्चों की सेहत के लिए हानिकारक है, वहां बुधनी के ये प्राकृतिक और सस्टेनेबल खिलौने एक उम्मीद की किरण हैं। लेकिन बढ़ते शहरी करण और उद्योगीकरण की वजह से बुधनी के जंगल सिमट चुके हैं। इन जंगलों से मिलने वाले प्राकृतिक संसाधनों तक, इनपर निर्भर समुदाय की पहुंच भी सीमित हुई है। यही वजह है कि बुधनी में लकड़ी के खिलौने बनाने वाले कारीगर भी खत्म होते जा रहे हैं।

बुधनी के नर्मदा घाट के पास रहने वाले 37 वर्षीय हितेश शर्मा लकड़ी के खिलौने और घरेलू उपयोग के सामान बनाने वाले उन चुनिंदा कारीगरों में से एक हैं जो आज भी इस काम से अपनी आजीविका चलाने का प्रयास कर रहे हैं। हितेश के परिवार में उनकी मां, पत्नी और दो बच्चे हैं, जिनका खर्च इसी काम से होने वाली कमाई से चलता है। खिलौने बनाने की कला उन्हें विरासत में मिली है, उनके पिता और दादा भी यही काम किया करते थे। लेकिन हितेश कहते हैं "मैं अपने बच्चों को यह काम नहीं सिखाउंगा, न इसमें कोई आमदनी है न ही भविष्य"। हमने उनसे कहा कि 'ऐसे तो यह कला खत्म हो जाएगी?' इस पर वो कहते हैं, "आज के समय में व्यक्ति का पहले जीवित रहना ज्यादा ज़रुरी है, जीने के लिए खाना

और खाने के लिए कमाना ज़रुरी है। अगर पैसा नहीं है तो चाहे आप कलाकार हो, समाज आपका सम्मान नहीं करता।" हितेश और अन्य कारीगरों ने हमें बताया कि कुशल कारीगरों के लिए चलाई गई विश्वकर्मा योजना भी उन तक नहीं पहुंच रही है वहीं सरकार द्वारा इन कारीगरों के लिए तैयार किये गए टॉय क्लस्टर पर भी ताले लटक रहे हैं।

इस कहानी में हमें कई स्तर पर संवैधानिक मूल्यों का ह्रास होता नज़र आया। पहला आजीविका के लिए ज़रुरी प्राकृतिक संसाधनों तक पहुंच में बाधाएं और सरकारी योजनाओं का सभी तक समान रुप से न पहुंच पाना समता के मूल्य का ह्रास दर्शाता है। व्यक्ति की गरिमा उसके पहचान से जुड़ी हुई है। मगर हितेश जैसे कुशल कारीगर को प्राकृतिक संसाधनों के अभाव में एक दिन खिलौने बनाने का काम छोड़ना पड़ेगा। ऐसे में यह उनकी पहचान और फिर गरिमा पर असर डालेगा।

वनों पर निर्भर महिलाएं

बुधनी के ही पंडोडा गांव की गंगाबाई भी जंगल से मिलने वाले खाकरे (पलाश) के पत्तों पर ही अपनी आजीविका के लिए निर्भर है। वो और उनके जैसी कई महिलाएं यहां खाकरे के पत्ते से दोना पत्तल बनाने का काम करती हैं। जहां पहले उन्हें ये पत्ते अपने घर के ही नज़दीक ही मिल जाया करते थे तो अब पेड़ों के कट जाने की वजह से उन्हें जंगलों में बहुत अंदर तक पत्ते तोड़ने जाना पड़ता है। जहां जंगली जानवरों के हमले का खतरा तो रहता ही है, घर लौटते वक्त शराब पीकर घूमने वाले लोग भी उन्हें परेशान करते हैं। प्रशासन ने इन महिलाओं को दोना पत्तल बनाने के लिए आधुनिक मशीन भी मुहैया करवाई है लेकिन बिजली कनेक्शन न मिलने से ये मशीनें धूल खा रही हैं।

गंगाबाई पहले मजदूरी किया करती थी, लेकिन अब वो 55 वर्ष की हो चुकी हैं और मजदूरी करना उनके लिए संभव नहीं है, लेकिन आज भी वो दोना पत्तल बनाकर कुछ पैसे कमाती हैं और सम्मान और गरिमा के साथ अपना जीवन जीती हैं। लेकिन जंगलों का खत्म होना और जंगलों में मिलने वाली वनोपज तक गंगाबाई जैसी महिलाओं की सीमित पहुंच उनकी आजीविका को खतरे में डाल रही है, साथ ही उनके गरिमापूर्ण जीवन जीने के सपने को धुंधला कर रही है।

जंगलों को हो रही यह हानि शहरी करण और अंधाधुंध विकास का ही नतीजा है। इंडियन स्टेट ऑफ फॉरेस्ट रिपोर्ट 2023 में मौजूद आंकड़े इस बात की तस्दीक करते हैं। रिपोर्ट के मुताबिक 2021 की तुलना में 4.17 वर्ग किलोमीटर वन क्षेत्र सीहोर में कम हुआ है। वहीं बुधनी जिसका कुल वन क्षेत्र 7.46 वर्ग किलोमीटर है, यहां डेंस फारेस्ट बचा ही नहीं है वहीं मोडरेटली डेन्स फारेस्ट 3.07 वर्ग किलोमीटर है और ओपन फारेस्ट 4.39 वर्ग किलोमीटर है। ऐसे में यह स्पष्ट है कि जो समुदाय आज जंगलों से मिलने वाली वनोपज के सहारे गरिमापूर्ण जीवन बिता रहा है उसे एक समय बाद अपना काम छोड़कर दूसरा काम तलाशना होगा, शायद यह उसकी मजबूरी बन जाए। तो क्या ऐसी स्थिति में अपनी आजीविका चुनने की स्वतंत्रता उसे मिलेगी?

जलवायु परिवर्तन और किसान

वनों पर निर्भर समुदाय की जो स्थिति है वैसी ही कुछ स्थिति सीहोर के किसानों की भी है। जलवायु परिवर्तन के दौर में भारत में किसानों को खराब होने वाली फसल के आर्थिक नुकसान से बचाने के लिए प्रधानमंत्री फसल बीमा योजना एक मात्र सुरक्षा नेट है। इसका उद्देश्य ओलावृष्टि, सूखा, बाढ़, चक्रवात, भारी और बेमौसम बारिश, बीमारी और कीटों के हमले आदि जैसी प्राकृतिक आपदाओं से होने वाली फसल हानि/क्षति से पीड़ित किसानों को वित्तीय सहायता प्रदान करना है।

सीहोर जहां 70 फीसदी ग्रामीण आबादी आज भी अपनी आजीविका के लिए कृषि आधारित कामों पर निर्भर है, वहां फसल बीमा योजना आर्थिक नुकसान की भरपाई का एक अहम तंत्र बन जाती है। लेकिन हमने अपनी रिपोर्ट में पाया कि

फसल बीमा योजना के तहत मिलने वाली बीमा राशी किसानों तक बहुत धीमी रफ्तार में पहुंच रही है और फसल खराब होने के बाद आर्थिक रुप से परेशान किसान को यह योजना तुरंत राहत पहुंचाने में नाकाफी साबित हो रही है।

उदाहरण के लिए, अगर आपने अपनी कार का इंश्योरेंस करवाया है तो एक्सीडेंट होने पर आप अपना बीमा क्लेम करते हैं और बीमा कंपनी आपको रिपेयरिंग के लिए तुरंत आर्थिक सहायता प्रदान करती है। हेल्थ इंश्योरेंस में भी आप बीमार होने पर अस्पताल में भर्ती होने पर तुरंत बीमा राशी का इस्तेमाल करना शुरु कर सकते हैं। लेकिन फसल बीमा क्लेम की प्रक्रिया बहुत धीमी है। यहां किसान को अपनी बीमा राशि मिलने में महीनों और सालों का इंतेज़ार करना पड़ता है। अगर किसान की खरीफ की फसल खराब हुई है तो उसे अगली बुवाई के लिए तुरंत पैसों की ज़रुरत होती है, ताकि वह बिगड़ी आर्थिक स्थिति को अगली फसल में सुधार सके। लेकिन उसे अगली बुवाई का पूरा खर्च अपनी जेब से देना होता है या फिर कर्ज लेना पड़ता है। अगर उसे फसल खराब होने के 20 दिनों में भी क्लेम मिल जाए तो यह पैसा उसके काफी काम आ सकता है।

हमने अपनी तहकीकात में पाया कि अभी तक वर्ष 2023 के खरीफ में बर्बाद हुई फसलों का ही इंश्योरेंस क्लेम सेटलमेंट प्रोसेस पूरा नहीं हो पाया है।

फसल बीमा योजना का धीमा कार्यान्वयन, राज्य सरकारों की लापरवाही, और किसानों को मिलने वाली अपर्याप्त राशि समानता, आर्थिक एवं समाजिक न्याय जैसे संवैधानिक मूल्यों का ह्रास है। जब एक किसान को फसल खराब होने के बाद कर्ज लेकर अगली बुवाई करनी पड़ती है, जब वह सरकारी दफ्तरों के चक्कर लगाने को मजबूर होता है, तो यहां उसके गरिमापूर्ण जीवन के मूल्य का ह्रास होता है। योजना की विफलता न्याय की समानता के सिद्धांत को भी कमजोर करती है। जब कार या स्वास्थ्य बीमा तुरंत मिल जाता है, लेकिन फसल बीमा के लिए सालों इंतजार करना पड़ता है, तो यहां न्याय की समानता के मूल्य का ह्रास नज़र आता है।

इस फैलोशिप के दौरान मैंने सीहोर जिले में किसानों और वनों पर निर्भर समुदाय की समस्याओं को तो सामने रखा ही, मैं उन लोगों तक भी पहुंचा जो हमारे घरों से कचरा उठाने का काम करते हैं और उनकी समस्याओं को संवैधानिक मूल्य की दृष्टि से देखने का प्रयास किया। मैं उन लोगों तक भी पहुंचा जो प्रदूषित हो चुकी नदियों के किनारे रहने को मजबूर हैं और इस आस में है कि प्रशासन एक दिन इन नदियों को साफ करेगा और वो बेहतर ज़िंदगी गुज़ार पाएंगे। इसके साथ ही सीहोर में मौजूद स्वास्थ्य व्यवस्थाएं जलवायु परिवर्तन के खतरे को झेलने में कितनी सक्षम है इसे जानने का प्रयास किया है। इन सभी रिपोर्ट्स में अलग-अलग स्तर पर संवैधानिक मूल्यों का ह्रास नज़र आता है, और इसकी ज़द में वो समुदाय सबसे ज्यादा है जो पहले से आर्थिक और सामाजिक रुप से हाशिए पर खड़ा है।

मूल्यों की दृष्टि से पर्यावरणीय विषयों को देखना मेरे लिए नया अनुभव रहा, मूल्यों के निर्धारण में कई समस्याओं का सामना भी किया जिन्हें फैलोशिप मेंटर्स के साथ संवाद के बाद में बेहतर ढंग से समझ पाया। इस फैलोशिप का हासिल यह रहा कि मैं अब अपनी हर खबर में मूल्यों को टटोलता हूं। काम के इतर मूल्यों को अपनाने का काम व्यक्तिगत जीवन में भी शामिल हुआ है। मैं यह समझने लगा हूं कि कहां मेरे कथन और व्यवहार से संवैधानिक मूल्यों का ह्रास हो रहा है। अपने परिवार और आसपास के लोगों को अब मूल्यों का ह्रास होने पर रोकने और टोकने लगा हूं। अपनी धारणाओं और पूर्वाग्रहों को तोड़ने की कोशिश निरंतर जारी है। मूल्यों को समझने की समझ समय के साथ और विकसित होगी इस आशा के साथ ये सफर जारी है।

गिग वर्कर्स: हाथ में स्मार्ट फोन लेकिन जिंदगी बदतर

रोमेश साहू

नीति आयोग की रिपोर्ट के मुताबिक भारत में 77 लाख गिग वर्कर्स हैं। 2029-30 तक इनकी संख्या 2.3 करोड़ होने की उम्मीद है। सीआईईएल की दो साल पहले जारी रिपोर्ट के मुताबिक 55% कंपनियां आर्थिक हितों के लिए गिग एम्प्लॉई भर्ती कर रही हैं।

जनपहल नामक संस्था ने R.I.G.H.T.S नाम से एक सर्वेक्षण किया। इसमें 5,220 से अधिक गिग वर्कर्स को शामिल किया गया। इसमें सामने आया कि 57% गिग वर्कर्स दो-पांच साल से ड्राइवर/राइडर हैं और 16% पांच साल से अधिक समय से हैं। केवल 3% लोग चार घंटे से कम काम करते हैं, 12% लोग चार से आठ घंटे काम करते हैं, जबकि 85% लोग आठ घंटे से अधिक काम करते हैं। इनमें से 21% लोग 12 घंटे से अधिक काम करते हैं।

परिचय

माखनलाल चतुर्वेदी राष्ट्रीय पत्रकारिता विवि से पत्रकारिता में स्नातकोत्तर रोमेश साहू 10 वर्ष से पत्रकारिता में सक्रिय हैं। रोमेश साहू को ईटीवी में कॉपी एडिटर, दूरदर्शन भोपाल में कैजुअल न्यूज रीडर सहित दैनिक भास्कर में विभिन्न पदों पर कार्य करने का अनुभव है। इस फैलोशिप के तहत रोमेश साहू ने संवैधानिक मूल्यों के प्रकाश में गिग वर्कर्स की स्थिति का अध्ययन किया है।

'घर-घर ग्रॉसरी पहुंचाने वाले एक ऑनलाइन प्लेटफॉर्म के साथ मैं नया-नया जुड़ा हूं। भर्ती प्रक्रिया मोबाइल फोन की मदद से महज आधे घंटे में पूरी हो गई है, अब बस कल से काम शुरू करना है। आज मेरे काम का पहला दिन है। सादे कपड़ों में डिलीवरी नहीं कर सकता, नायलॉन की टी-शर्ट कंपनी से मिली है। इसे पहने हुए एप पर सेल्फी खींचकर अपलोड करनी होगी, इसके बाद ही काम की इजाजत है। अपनी सेल्फी अपलोड करने के बाद अब मैं ऑर्डर लेने के लिए तैयार हूं। भोपाल में आशिमा मॉल के पास ब्लिंकइट के डार्क स्टोर से सामान लेने के बाद एम्स के पास एक भव्य कॉलोनी में इसे पहुंचाना है। तीन किलोमीटर फासला तय करके मैं कॉलोनी के गेट पर पहुंचा हूं। गेट पर सिक्योरिटी गार्ड को अपना नाम-पता-गाड़ी नंबर-मोबाइल नंबर लिखवाया है। गार्ड के हाव-भाव देखकर लग रहा है कि उसके लिए यह रोज का काम है। यह सब दर्ज कराने के बाद पता पूछते हुए पहुंच गया हूं। अगर मैं चाहूं कि अपना समय बचाने के लिए डिलीवरी लोकेशन पर पहुंचने से पहले ग्राहक को फोन कर दूं, ताकि वे नीचे आ जाएं और इससे मेरा समय बचे, लेकिन मैं ऐसा नहीं कर सकता। दरवाजे के ठीक सामने पहुंचने पर मैंने 'रीच्ड' का नोटिफिकेशन दबाया है। अब ग्राहक को फोन किया है, 10 मिनट इंतजार के बाद 20-22 साल के एक युवक ने आकर मेरे हाथ से सामान लिया है और बिना कुछ कहे ही, वह वहां से चला गया है। हमारे बीच कोई संवाद नहीं हुआ है।

ऑर्डर सफलतापूर्वक पहुंचाने के बाद मैंने एप पर इसकी पुष्टि की है। अब मुझे फीडबैक के लिए तुरंत एक मैसेज आया है। इसमें पूछा गया है कि 'ग्राहक के साथ आपका अनुभव कैसा रहा। क्या उन्होंने थैंक्यू बोला? क्या लोकेशन ढूंढ़ने में परेशानी हुई? क्या पानी का पूछा आदि? ग्राहक को चार रेटिंग देकर अब मैं वापस तीन किलोमीटर गाड़ी चलाकर डार्क स्टोर आ गया हूं। आते ही अपनी पहली कमाई का हिसाब लगाने लगता हूं। 22 मिनट में कुल गाड़ी चलाई 6 किलोमीटर,

कमाई हुई 29 रुपए 93 पैसे। हालांकि एप के अनुसार मैंने 2.7 किलोमीटर ही गाड़ी चलाई। वापसी का रास्ता एप नहीं जोड़ता। पता नहीं क्यों मेरी गाड़ी का मीटर और गूगल मैप 3 किलोमीटर बता रहा है? बहरहाल, काम के उत्साह के बीच, मैं नए ऑर्डर के लिए स्कैन करता हूं। नए ऑर्डर के लिए स्टोर पर पहुंचकर हर बार क्यूआर कोड स्कैन करना होता है।

दूसरा ऑर्डर जाटखेड़ी स्थित एक अन्य सोसायटी का दिखाता है। कुल 21 सामानों का ऑर्डर है, एक मिनट से भी कम में ऑर्डर तैयार है। कागज के दो पैकेट में सामान लेकर मैं अपने गंतव्य की ओर दौड़ पड़ता हूं। मैं नया-नया डिलीवरी पार्टनर हूं, इसलिए कंपनी ने बैग नहीं दिया है, शायद उन्हें भरोसा नहीं है कि मैं उनके साथ कितने समय तक टिककर काम करूंगा। सामान ज्यादा होने के कारण कागज का पैकेट हल्का-सा फट गया है। मैं सावधानी से सामान किसी तरह सोसायटी तक पहुंचाता हूं। सोसायटी गेट पर अपनी पहचान बताने वाली प्रक्रिया फिर दोहराकर अंदर जाता हूं। इस बार मुझे पांचवीं मंजिल पर जाना है। लिफ्ट ढूंढ़ते हुए संबंधित ब्लॉक में पहुंचता हूं। मालूम पड़ता है कि इस ब्लॉक की लिफ्ट खराब है। अब मुझे सामान लेकर सीढ़ियों के सहारे ही जाना होगा। किसी तरह सीढ़ियां चढ़कर पहुंचा हूं। घर की रिंग बजाते ही एक 50-55 वर्षीय महिला ने दरवाजा खोला है। मुझे लगा मेरे दोनों हाथों पर सामान का बोझ और पसीने से तर-बतर मुझे देखकर, वे तुरंत सामान हाथ से ले लेंगी, लेकिन उन्होंने इशारा करते हुए घर के अंदर दाईं ओर बने लकड़ी के रैक के ऊपर दोनों पैकेट रखने के लिए कहा। मेरे हाथ से सीधे सामान नहीं लेने, इशारे से अपनी बात कहने के उनके भावार्थ मैं समझने की कोशिश कर रहा हूं! मुझे फिर कंपनी से वही फीडबैक वाला मैसेज आया है। अब मैंने उन्हें तीन रेटिंग दी है। 3.8 किलोमीटर की एक तरफा ट्रिप (कुल 8 किलोमीटर) पूरी करने के बाद मैं दोबारा डार्क स्टोर पहुंचा हूं।

इसी तरह तीसरी... चौथा और पांचवां ऑर्डर भी लेकर पहुंचाता हूं। लगातार गाड़ी चलाने के कारण कुछ थका हुआ-सा महसूस कर रहा हूं। डार्क स्टोर के बाहर, पेड़ के नीचे बैठे साथियों से बात करके अपने अनुभव बता रहा हूं, दो साल से डिलीवरी कर रहे अमित महोबिया ने बताया कि शुरूआती एक हफ्ते, पीठ-कमर में दर्द होगा, फिर इसकी आदत पड़ जाएगी। दर्द का एहसास नहीं होगा। अमित चार साल से यही काम कर रहा है। अब दोपहर के दो बज रहे हैं, देख रहा हूं कि कुछ डिलीवरी बॉयज डार्क स्टोर के बाहर, सड़क किनारे पेड़ के नीचे अपने-अपने लंच खत्म कर रहे हैं। यहां पानी पीने की व्यवस्था है। कूलर भी लगा हुआ है, पर ऊपर कोई छत नहीं है, ऐसे में कूलर गर्म हवा दे रहा है। मन हुआ कि थोड़ी देर लेटकर कमर सीधी कर लूं, पर यहां ऐसी कोई बैठने की भी व्यवस्था नहीं है। 40-42 डिग्री सेल्सियस की गर्मी में मेरा मन नारियल पानी पीने का करता है। एक नारियल पानी की कीमत 70 रुपए है। मैं अपने एप की ओर देखकर अपनी कमाई का हिसाब लगाता हूं। एप के हिसाब से मैंने औसतन 65 रुपए प्रति घंटे की कमाई की है। मतलब एक नारियल पानी पीने के लिए मुझे एक घंटे से ज्यादा पसीना बहाना होगा। मैं सादा ठंडा पानी पीकर अपने मन को मार देता हूं।'

एक डिलीवरी बॉय के रूप में महज चंद घंटे काम करने के बाद मेरे मन में सवालों का अंबार था। बुनियादी प्रश्न था कि मैं कौन हूं? पार्टनर या एम्प्लॉई? 10-12 घंटे से ज्यादा काम करने वाले देश के लगभग 80 लाख से ज्यादा गिग और प्लेटफॉर्म वर्कर्स किन हालात में काम करते हैं? किसी पेड़ के नीचे बैठकर, किसी कोने में खड़े होकर, रेस्तरां के बाहर खड़े रहकर किसी तरह बस अपना पेट भर लेते हैं। जिस रेस्तरां से वह फूड ऑर्डर ले रहे हैं, उसी रेस्तरां की छाया में वह खड़े नहीं रह सकते, रेस्तरां का वॉशरूम भी इस्तेमाल नहीं कर सकते। बारिश हो या गर्मी, उनका वर्कस्टेशन या दफ्तर यही खुला आसमां है।

सवाल खड़ा होता है कि इस देश में एक घंटे के श्रम की क्या कीमत होना चाहिए?

जाहिर तौर पर जवाब इस बात पर निर्भर करता है कि आपमें क्या हुनर या तकनीकी दक्षता है। अपग्रेड प्लेटफॉर्म के एक

अनुमान के मुताबिक भारत में एक मार्केटिंग डायरेक्टर औसतन 47 लाख रुपए सालाना कमाता है, तो पायलट 36 लाख रुपए औसतन कमाता है।[1]

पर देश के एक करोड़ गिग वर्कर्स के लिए क्या कोई न्यूनतम मेहनताना तय किया जा सकता है। संसद में एक प्रश्न का जवाब देते हुए तत्कालीन श्रम एवं रोजगार मंत्री भूपेंद्र यादव ने बताया था कि केंद्रीय सरकार मजदूरी संहिता (द कोड ऑन वेजेस, 2019) संगठित और असंगठित क्षेत्र, दोनों के कामगारों के लिए न्यूनतम वेतन या मेहनताने की अनुशंसा करता है। यह दीगर बात है कि मेहनताना कितना होगा, इसको लेकर फिलहाल कोई स्पष्ट दिशा-निर्देश नहीं हैं। दूसरी ओर, गिग वर्कर्स परंपरागत नियोक्ता-कर्मचारी वाले मॉडल में फिट भी नहीं बैठते। ऐसे में उनकी न्यूनतम कमाई का प्रश्न ही खड़ा नहीं होता। लंदन और जर्मनी में वर्कर्स यूनियन उबर आदि से उनके मेहनताने को लेकर भाव-तौल कर पाती हैं। यूरोपियन यूनियन ने गिग कंपनियों को स्पष्ट तौर पर कह दिया था कि प्लेटफॉर्म वर्कर्स के साथ या उनकी यूनियन के साथ दामों को लेकर स्पष्ट बातचीत करें, अन्यथा कार्रवाई झेलने के लिए तैयार रहें।[2]

…लेकिन भारत में इसकी कोई व्यवस्था नहीं है। यह भी गौर करने वाली बात है कि केंद्र सरकार ने साल 2017-18 में 29 पुराने श्रम कानूनों को खत्म करके, चार नए श्रम कानूनों में तब्दील कर दिया है। यह विडंबना ही है कि संसद से पास होने के बाद, राष्ट्रपति से मंजूरी मिलने के बाद भी ये कानून धरातल पर नहीं आ सके हैं। श्रम एवं रोजगार मंत्रालय का तर्क है कि देश के सभी राज्यों और केंद्र शासित प्रदेशों को इन लेबर कोड्स के लिए अपने-अपने नियम बनाना और नोटिफाई करना बाकी है।

'गिग' शब्द अमेरिकी स्लैंग है, जिसे 1920 के दशक में जैज संगीतकारों ने गढ़ा था, जो विभिन्न बार और कैफे में प्रदर्शन करने के लिए अपने उपकरण ले जाते थे। यह शब्द एक ऐसी नौकरी के लिए उपयोग किया जाने लगा, जो आमतौर पर कम अवधि के लिए होती है और जिसके लिए भुगतान प्रति कार्य के आधार पर किया जाता है।

कानून की नजर में गिग या प्लेटफॉर्म वर्कर्स

गिग वर्कर्स से जुड़े श्रम कानूनों का जिक्र सिर्फ सामाजिक सुरक्षा कोड (सोशल सिक्योरिटी कोड, 2020) में देखने को मिलता है। इस कोड के पहले चैप्टर के सेक्शन 2(35) के अनुसार, 'गिग वर्कर्स से तात्पर्य ऐसा व्यक्ति है, जो पारंपरिक नियोक्ता-कर्मचारी (एम्प्लॉयर-एम्प्लॉई रिलेशनशिप) संबंधों के दायरे से बाहर रहकर काम करता है और इससे कुछ आय अर्जित करता है।' यह परिभाषा यह साफ नहीं करती है कि सही मायनों में गिग वर्कर कौन हैं? हालांकि कानून यह भेद करने में जरूर कामयाब हो जाता है कि गिग वर्कर, नियमित कर्मचारी और कामगारों की अन्य श्रेणियों से भिन्न हैं। नए लेबर कोड में, गिग वर्कर्स को कर्मचारी (एम्प्लॉई) मानने की दिशा में कोई प्रयास नहीं किया गया है।[3]

सोशल सिक्योरिटी कोड के चैप्टर 1, सेक्शन 2(26) के अनुसार, 'कर्मचारी' वह व्यक्ति है, जो किसी प्रतिष्ठान में वेतन पर काम करता है, चाहे वह सीधे हो या ठेकेदार के माध्यम से। इसमें कुशल, अर्ध-कुशल, अकुशल या अन्य कोई भी काम शामिल है। तर्क दिया जा रहा है कि गिग वर्कर्स को रेगुलर कर्मचारी मानने से अर्थव्यवस्था में इनोवेशन को प्रोत्साहन नहीं मिलेगा, रोजगार घटेंगे। इस कोड का सेक्शन 2(61) प्लेटफॉर्म वर्कर्स को कुछ इस तरह परिभाषित करता है, 'प्लेटफॉर्म काम करने वाले व्यक्ति', मतलब परिभाषा में कामकाज की प्रकृति पर कोई स्पष्टता नहीं है। सारे प्लेटफॉर्म कामगार, गिग वर्कर्स की श्रेणी में आएंगे, क्योंकि प्लेटफॉर्म वर्कर्स को उनके काम या टास्क के आधार पर भुगतान किया जाता है, जबकि सारे गिग वर्कर्स प्लेटफॉर्म वर्कर्स हों, यह जरूरी नहीं।

एम्प्लॉयमेंट रिलेशन को लेकर इस तरह की असमंजस की स्थिति के कारण ही सारा विवाद है, जिसमें गिग वर्कर को स्वतंत्र कर्मचारी कहा जा रहा है। उदाहरण के लिए औपचारिक क्षेत्र में कर्मचारियों को मैटरनिटी बेनीफिट एक्ट 1961 के तहत 26 हफ्ते की पेड लीव मिलती है, इसके अलावा जॉब सिक्योरिटी भी रहती है। संस्थागत सामाजिक सुरक्षा कवरेज के तहत कर्मचारियों को यह फायदे मिलते हैं। जबकि रजिस्टर्ड इन्फॉर्मल वर्कर को 5 हजार या 10 हजार रुपए की एकमुश्त राशि दी जाती है। इस तरह दोनों तरह की सामाजिक सुरक्षा के बीच की खाई साफ नजर आती है।[4]

सोशल सिक्योरिटी कोड 2020 गिग वर्कर्स को सामाजिक सुरक्षा तो देना चाहता है, लेकिन संस्थागत सामाजिक सुरक्षा नहीं। इंडस्ट्रियल रिलेशन कोड 2020 के अंतर्गत भी गिग वर्कर्स को शामिल नहीं किया गया है और इसके चलते ही वह इस कानून के तहत उपलब्ध किसी भी विवाद निपटारा तंत्र (dispute resolution mechanism) का हिस्सा नहीं है। मिनिमम वेज एक्ट 1948 (अब कोड ऑन वेजेस एक्ट) कहता है कि 8 घंटे की अधिकतम शिफ्ट में कर्मचारियों को कम से कम आधे घंटे का अवकाश मिलना चाहिए, लेकिन प्लेटफॉर्म इकोनॉमी में ऐसी किसी व्यवस्था का जिक्र नहीं है।

गिग प्लेटफॉर्म की लोकप्रियता का सबसे बड़ा कारण काम की आजादी, यानी फ्लेक्जिबिलिटी है। मतलब प्लेटफॉर्म वर्कर जब भी चाहें, काम कर सकते हैं। काम के घंटों की कोई बंदिश नहीं! पर क्या ऐसा है? हकीकत कुछ और ही है।

गिग कार्य संस्कृति के मूल में था कि इस व्यवस्था के तहत काम करने वाला व्यक्ति अस्थाई काम करेगा। भारत में सदियों से यह प्रथा चली आ रही है कि फसल की कटाई के समय घंटे के हिसाब से श्रमिकों को पारिश्रमिक दिया जाता था, लेकिन टेक्नोलॉजी की मदद से यह मॉडल अब लोकप्रिय हो चला है। सीआईईएल की दो साल पहले जारी रिपोर्ट के मुताबिक 55% कंपनियां आर्थिक हितों के लिए गिग एम्प्लॉई भर्ती कर रही हैं।[5]

जनपहल संस्था के राष्ट्रव्यापी सर्वेक्षण के मुताबिक 85 फीसदी गिग वर्कर्स 8 घंटे से अधिक काम करते हैं। 21 फीसदी 12 घंटे से ज्यादा काम करते हैं। काम फुलटाइम है, लेकिन तब भी गिग वर्कर्स कहलाते हैं![6]

ब्लिंकइट के साथ काम करने से पहले मुझे स्पष्ट करना था कि मैं फुलटाइम काम करूंगा या पार्टटाइम। पार्टटाइमर, मर्जी से कभी भी काम नहीं कर सकते। अमूमन उन्हें शाम को काम करने की छूट है और शनिवार-इतवार को पूरे दिन काम कर सकते हैं, लेकिन न्यूनतम कमाई के लिए या कामगारों को अधिक काम करने का प्रोत्साहन पैदा करने के लिए कुछ तयशुदा घंटों में काम करना होता है। साल 2022 में लगभग सभी एग्रीगेटर कंपनियों ने 'गिग्स' व्यवस्था शुरू की। इसके तहत प्लेटफॉर्म वर्कर को अपने काम का स्लॉट और समय पहले से बुक करना होता है। इसके हिसाब से काम की फ्लेक्जिबिलिटी भी सीमित अर्थों में ही है। 32 वर्षीय सतीश राय भोपाल में ब्लिंकइट के साथ पार्टटाइम काम करते हैं। वे कहते हैं कि 'गिग्स' प्रणाली उनकी समझ से परे है। सतीश एक प्राइवेट लैब में भी काम करते हैं, वे कहते हैं कि अगर मैं चाहूं कि दिन में फ्री होने पर डिलीवरी का काम कर सकूं, तो यह मुमकिन नहीं, क्योंकि उसके लिए 'गिग्स' बुक करनी होती है। अगर में 3 बजे फ्री हो गया है और गिग्स 4 बजे की है, तो मेरा 1 घंटा बर्बाद जाता है। फुलटाइम काम करने वालों के साथ कुछ अलग तरह की मजबूरियां हैं। एक और उदाहरण ब्लिंकइट का ही है। गिग वर्कर अगर चाहे कि दिन में 12 से 4 बजे तक, जब गर्मी अपने शबाब पर होती है, ऐसी चिलचिलाती धूप में वह थोड़ा आराम कर ले, तो कंपनियों की शर्तें उन्हें ऐसा नहीं करने देती। वाराणसी में 26 अप्रैल को 150 गिग वर्कर्स अपनी इन्ही कुछ मांगों के लिए हड़ताल पर चले गए। कर्मचारियों की मांग थी कि उन्हें पहनने के लिए एक सूती टी-शर्ट दी जाए, जिससे गर्मी और पसीने में दिक्कत न हो।[7]

यह भी जानना जरूरी है कि कंपनियां टी-शर्ट बैग जैसी बुनियादी चीजों के लिए भी प्लेटफॉर्म वर्कर्स से अग्रिम राशि लेती हैं। लगभग यही हाल जोमैटो और स्विगी का भी है। वाराणसी में हड़ताल पर गए गिग वर्कर्स का कहना था कि उन पर

दोपहर 12 से 4 बजे के बीच काम करने का दबाव बनाया जाता है। इसकी वजह दरअसल इंसेंटिव है। कर्मचारियों को प्रति ऑर्डर राशि मिलने के अलावा काम के लिए प्रोत्साहित करने के लिए कंपनियां इंसेंटिव भी देने का वादा करती हैं। ब्लिंकइट की सेवा शर्तों का क्लॉज 10 (इनएक्टिविटी) कहता है कि अगर कर्मचारी 21 दिन तक लगातार काम से अनुपस्थित रहता है, तो उसका एकाउंट निष्क्रिय कर दिया जाएगा, यानी कोई भी गिग कर्मी लंबी छुट्टी पर नहीं जा सकता।

प्रतीक शेंडे का 24 मार्च 2025 को डिलिवरी करते हुए एक्सीडेंट हो गया था। प्रतीक डिलीवरी करने के लिए भोपाल के जाटखेड़ी स्थित एक सोसायटी में जा रहे थे। एक्सीडेंट के बाद कार चालक ने उलटा प्रतीक को भला-बुरा कहा। हालांकि प्रतीक भी सोसायटी का पता देखने के लिए अपने मोबाइल में देख रहे थे। प्रतीक बताते हैं कि एम्स में इलाज कराया, पैर में मोच और एड़ी में चोट थी, प्लास्टर लगवाया, डॉक्टर ने कम से कम 7-8 दिन गाड़ी न चलाने की हिदायत दी थी। हालांकि प्रतीक ने तीसरे दिन से ही काम पर जाना शुरू कर दिया था। वे कहते हैं कि काम नहीं तो पैसा नहीं, ऐसे में अपनी जरूरतें पूरी करने के लिए काम करना अब उनकी मजबूरी है।

भोपाल में ब्लिंकइट के साथ काम करने वाले 36 वर्षीय नीरज गायकवाड़ कहते हैं कि कंपनियों के भुगतान करने के तरीके में बहुत अस्पष्टता है। अमूमन पहले 10 रुपए प्रति किलोमीटर के हिसाब से भुगतान किया जाता था, जिसे बाद में कम करके 6 से 7 रुपए प्रति किलोमीटर कर दिया है। इसमें भी डिलीवरी बॉय पर दोहरी मार पड़ती है, क्योंकि उसे वापस स्टोर आना पड़ता है, यानी उसे 7 रुपए के लिए 2 किलोमीटर गाड़ी चलाना पड़ती है। इसके अलावा कंपनी का मोबाइल एप किलोमीटर के हिसाब में भी स्पष्टता नहीं रखता। गूगल मैप के किलोमीटर अंतर और कंपनियों के निजी एप के किलोमीटर में अक्सर फर्क नजर आता है। नीरज बताते हैं कि एक ही कॉलोनी में डिलीवरी के लिए कभी कंपनी कम पैसा देती है, तो कभी ज्यादा। दोपहर में गर्मी के समय भुगतान भी कम हो जाता है।

नीरज बताते हैं कि अक्टूबर में भोपाल के एक ब्लिंकइट स्टोर (डार्क स्टोर) पर गिग वर्कर्स ने इंसेंटिव बढ़ाने जैसी मांगों के लिए हड़ताल की। डेढ़ दिन काम बंद रहा, लेकिन कंपनी ने उनकी मांग मानने के बजाय हड़ताल का नेतृत्व कर रहे एक अन्य प्लेटफॉर्म वर्कर की आईडी ब्लॉक कर दी। मजबूरन उस प्लेटफॉर्म वर्कर को अपनी नौकरी छोड़नी पड़ी।

वाराणसी में 26 अप्रैल को हुई हड़ताल में भी यही हुआ। ब्लिंकइट ने हड़ताल पर गए 150 गिग वर्कर्स की आईडी ब्लॉक करके उन्हें काम करने से रोक दिया। उनकी आईडी दोबारा से बहाल करने के लिए उनसे शपथ-पत्र भरवाया गया और कहा गया कि वीडियो रिकॉर्ड करते हुए माफी मांगें। तब जाकर ब्लिंकइट ने आधे कर्मचारियों की आईडी बहाल की। नीरज गायकवाड़ के चेहरे पर हल्की-सी मायूसी है। वे कहते हैं, 'भोपाल में हुई छह महीने पहले हड़ताल में समझ आ गया कि हमारी मांगों को कोई सुनने वाला नहीं है। हम हड़ताल नहीं कर सकते, मांग नहीं कर सकते, विरोध प्रदर्शन नहीं कर सकते। यहां तक कि अपना दुख-दर्द भी किसी से साझा नहीं कर सकते। टीम लीडर के पास भुगतान संबंधी दिक्कतों का जवाब तो होता है, लेकिन भविष्य को लेकर अपनी चिंताओं, कंपनी से उम्मीदों पर उनके पास कोई जवाब नहीं होते। बस कोरे आश्वासन होते हैं। कंपनी का कस्टमर केयर करीब-करीब ऑटोमेशन पर है, चैट-बॉट भी रटे-रटाए जवाब देता है, ऐसे में हमारी सुनने वाला कोई नहीं है।'

वाराणसी में हुई हड़ताल में लेबर कमिश्नर को सौंपे गए ज्ञापन में भी कर्मचारियों की मांग थी कि उन्हें अपनी बात रखने की इजाजत दी जाए, उन्हें संगठन बनाने की इजाजत दी जाए, लेकिन अफसोस कि गिग इकोनॉमी की नई व्यवस्था में ऐसी कोई छूट नहीं है।

भोपाल में वृंदावन ढाबे के सामने अपने ऑर्डर का इंतजार कर रहे, सोहन अहिरवार (स्विगी) से जब पूछा गया कि क्या

कस्टमर थैंक्यू बोलते हैं? तब उन्हें इस पर प्रश्न पर थोड़ी हैरानी हुई। वे कहते हैं, डिलीवरी के काम में अब हमने इन शब्दों पर गौर करना ही छोड़ दिया है। कई बार ग्राहक थैंक्यू बोलते हैं, लेकिन हम ऐसी किसी से उम्मीद में नहीं रहते। रेस्तरां से ऑर्डर मिलने और कस्टमर तक पहुंचाने के बीच में सिर्फ मोबाइल की एक जरिया है। कई बार तो कस्टमर को फोन भी नहीं करना पड़ता। नोटिफिकेशन ही हमारे संवाद का जरिया है। हमें कोई पानी का भी नहीं पूछता।

प्रतिस्पर्धात्मक माहौल कर्मचारियों के लिए कितना हितैषीः

स्विगी ने डिलीवरी एजेंट्स के लिए साल 2023 में इंसेंटिव आधारित हेल्थ इंश्योरेंस शुरू किया। इसे उसने गोल्ड, सिल्वर और ब्रॉन्ज कैटेगरी में बांटा। गोल्ड में कर्मचारी को खुद के साथ परिवार का भी इंश्योरेंस मिलने का प्राविधान है। सिल्वर में फैमिली कवर नहीं होती और ब्रॉन्ज में सिर्फ दुर्घटना के समय इंश्योरेंस कवरेज काम आ सकता है। यह सिस्टम कर्मचारियों की रैंकिंग पॉइंट सिस्टम के आधार पर करता है। परफेक्ट ऑर्डर मतलब एक पॉइंट। गोल्ड के लिए हफ्ते भर में 70 या उससे ज्यादा पॉइंट चाहिए। वहीं 50 से नीचे वाला ब्रॉन्ज श्रेणी में रहेगा। हालांकि कंपनी का तर्क है कि एक्सीडेंट कवरेज और एंबुलेंस सुविधा सभी के लिए है।

कंपनियां इस तरह की प्रेक्टिसेस से कर्मचारी को अपनी सीमाओं या क्षमताओं के पार जाकर काम करने के लिए मजबूर करके एक प्रतिस्पर्धा वाला माहौल बनाना चाहती हैं। कमोवेश बाकी कंपनियों के साथ भी यही हाल है। ब्लिंकइट में नए पार्टनर को सिल्वर मेडल मिलता है। इसके बाद उसके काम और प्रदर्शन के आधार पर उसे डायमंड, ब्रॉन्ज, ब्लू में पदोन्नत किया जाता है, इसका संबंध न सिर्फ काम, बल्कि इंसेंटिव और दूसरी सुविधाओं के साथ भी है। अगर कोई कर्मचारी लगातार 21 दिन तक काम से अनुपस्थित होता है, तो उसकी आईडी स्वतः बंद हो जाती है, इसका तात्पर्य है कि वह हेल्थ इंश्योरेंस का पात्र नहीं रह जाता है।

प्रश्न है कि क्या स्वास्थ्य का हक हर कर्मचारी का बुनियादी अधिकार नहीं होना चाहिए। जब परिवार को इंश्योरेंस की सबसे ज्यादा जरूरत है और तब कंपनी का इंश्योरेंस काम न आए, इससे कर्मचारियों को तनाव नहीं होगा। क्या वे अवसाद का शिकार नहीं होंगे। ज्यादा काम करने से वे बीमार भी पड़ सकते हैं। स्विगी की इंश्योरेंस स्कीम रेटिंग पर आधारित है। गिग इकोनॉमी का उद्देश्य कर्मचारियों के लिए आजादी और लचीलापन है, लेकिन इंसेंटिव आधारित योजना से वह इस पर चोट करती है।

जनपहल का 'द राइट्स सर्वे' कहता है कि लोकेशन आधारित काम करने वाले प्लेटफॉर्म वर्कर्स आत्मसम्मान की कमी में काम करते हैं। मानसिक और शारीरिक तनाव रहता है। कर्मचारियों और कंपनियों के बीच विश्वास की घोर कमी है। अधिकांश गिग वर्कर्स के पास परिवार को समय देने के लिए वक्त ही नहीं है। काम से थक-हारकर घर पहुंचते हैं। अपने लिए भी कोई समय नहीं है। अपने शारीरिक-मानसिक स्वास्थ्य के बारे में सोचने का का समय नहीं है। विश्व स्वास्थ्य संगठन और अंतरराष्ट्रीय श्रम संगठन का कहना है कि ज्यादा लंबे समय तक काम करने से हृदय रोग और स्ट्रोक का खतरा रहता है, लेकिन गिग वर्कर्स बस किसी तरह दो वक्त की रोटी की जिद्दोजेहद में लगे हुए हैं।

77 लाख गिग वर्कर्स के हाथ में स्मार्टफोन है, दोपहिया वाहन है, पर सवाल है कि क्या उनकी जिंदगी स्मार्ट हुई है?

देश के गिग वर्कर्स औसतन 18 हजार रुपए प्रति माह कमा पाते हैं। ऐसे में प्लेटफॉर्म कंपनियों के मालिकों की संपत्ति देश में अमीर और गरीब के बीच आय की खाई स्पष्ट करती है। देश के सबसे अमीर 1% लोगों के पास देश की लगभग 40% संपत्ति है, जबकि सबसे निचले 50% लोगों के पास केवल 3% संपत्ति है।

1.	दीपिंदर गोयल (**जोमैटो/ ब्लिंकइट**)	11,000 करोड़ रुपए
2.	कैवल्य बोहरा (**जेप्टो**)	3,600 करोड़ रुपए
3.	आदित्य पलीचा (**जेप्टो**)	4,300 करोड़ रुपए
4.	भाविश अग्रवाल (**ओला**)	17,000 करोड़ रुपए
5.	अभिराज सिंह (**अर्बन कंपनी**)	2,200 करोड़ रुपए
6.	ट्रैविस कलानिक (**उबर**)	30,000 करोड़ रुपए
7.	श्रीहर्ष मजेटी (**स्विगी**)	1400 करोड़ रुपए
	स्रोत फोर्ब्स / विभिन्न मीडिया रिपोर्ट्स	

संदर्भ सूची

1. https://www.upgrad.com/blog/digital-marketing-salary-in-india/
2. https://www.business-humanrights.org/en/latest-news/gig-economy-europe-tells-companies-to-negotiate-with-workers-or-face-new-laws/#:~:text=%27Gig%27%20workers%20in%20Europe:,Feb%202024%20Content%20Type:%20Article
3. https://www.epw.in/engage/article/how-does-law-define-gig-worker
4. https://www.thehindu.com/opinion/op-ed/ensuring-a-proper-social-safety-net-for-the-gig-worker/article68753585.ece
5. https://www.cielhr.com/wp-content/uploads/2023/10/Employment-Trends-in-the-Gig-Sector-in-India-2.pdf
6. https://www.janpahal.com/_files/ugd/1cfdd7_f9ce99577d974faa9ef28c9fceb23761.pdf
7. https://www.hindustantimes.com/trending/blinkit-suspends-150-gig-workers-for-demanding-better-pay-drinking-water-report-101745898514841.html
8. https://www.financialexpress.com/money/swiggys-health-insurance-takes-more-from-workers-gives-less-3465133/#:~:text=In%20a%20blog%20post%20that,More%20From%20Money

मेरी यात्रा: गलती होगी तो उसका अंदाजा भी होगा

सचिन चौधरी

परिचय

बुंदेली भाषा में पत्रकारिता को लेकर अभिनव प्रयास 'बुंदेली बौछार' पोर्टल के संस्थापक-संपादक सचिन चौधरी बुंदेली भाषा के लोकव्यापीकरण के लिए प्रयासरत हैं। राइजिंग बुंदेलखंड मासिक पत्रिका में 4 वर्ष कार्यकारी संपादक, स्टार न्यूज़/ एबीपी न्यूज के लिए 7 वर्ष पत्रकारिता, ई टीवी उत्तर प्रदेश के लिए 3 वर्ष पत्रकारिता (झांसी एवं महोबा में) करने वाले सचिन चौधरी ने 2018 में 'बुंदेली बौछार' को आरंभ किया है। प्रतिमाह 3-6 करोड़ दर्शक तथा लगभग 50 देशों तक पहुंच इसी प्रयास का एक हिस्सा है।

क्या कहूं? कैसे शुरूआत करूं? क्योंकि जीवन के 39 बरस और पत्रकारिता के लगभग 20 वर्ष की यात्रा में शायद यह एक वर्ष बिल्कुल अलहदा रहा। यह एक वर्ष मेरे जीवन में इतना बड़ा परिवर्तन करेगा, जो मेरी आगामी जीवन-यात्रा के अंतिम पड़ाव तक मुझे मानसिक-वैचारिक रूप से सजग, सतर्क, सुदृढ़ कर देगा, यह कल्पनातीत है। एक संप्रभुत्व राष्ट्र के नागरिक, पत्रकार एवं एक इंसान के तौर पर यह वर्ष मेरे जीवन का स्वर्णिम अवसर रहा। कॅरियर के रूप में पत्रकारिता के चुनाव के पीछे लोगों के हित की भावना तो निश्चित तौर पर रही, लेकिन शायद पढ़ाई के दौरान या कैरियर में कभी इस ओर ध्यान ही नहीं गया कि आखिर एक नागरिक के संवैधानिक अधिकार क्या हैं? संवैधानिक मूल्य क्या हैं? ऐसा नहीं है कि अधिकार और मूल्य हमारे आसपास से किसी घटनाक्रम या विषय में न गुजरे होंगे, लेकिन सच यही है कि हमने लोगों के अधिकार एवं मूल्यों के हनन की दशा को, उनकी समस्या, मजबूरी आदि का नाम देकर अपना मन हल्का कर लिया, उसे सुधारने के लिए कभी, कोई प्रयास नहीं किए।

अब अधिकार और मूल्यों को हम किसी और नाम से या बेनाम से संबोधित क्यों न करते भला, जिस विषय की जानकारी ही नहीं थी! जिस विषय पर न तो हमें कभी बताया गया, न हमने जानने की कोशिश की, तो आखिर उसकी जानकारी होती भी कैसे?

सवाल यह है कि आखिर हम उस जानकारी तक पहुंचने की कोशिश भी क्यों करते? क्योंकि हमारा काम तो पत्रकारिता के जरिए रोजी-रोटी कमाना, सच और झूठ का भेद जनता में पहुंचाना है। यह सब तो हम कभी संघर्ष से या कभी सफलता से कर ही रहे थे। ऐसे में कुछ नया जानने से हमें क्या फायदा, जैसा सवाल खड़ा हो जाता, सो अपन ने कभी इस सवाल या इसके जवाब तक जाने की जेहमत ही नहीं उठाई।

...लेकिन कहते हैं न कि ईश्वर, अल्लाह, (आप जिसे भी मानते हों) या आपका भाग्य, आपकी किस्मत या फिर प्रकृति आपको जीवन में कुछ अवसर अवश्य देती है। जो इन अवसरों का लाभ ले लेता है, वह सफल और जो इन अवसरों की पहचान करने में या इनका लाभ लेने में चूक जाता है, वह बाद में अपनी भाग्य को या समय को दोष अवश्य देता है।

ऐसा ही एक अवसर मेरे जीवन में आया, जब मुझे विकास संवाद की संविधान फैलोशिप की जानकारी मिली। कई बार विकास संवाद की फैलोशिप के बारे में सुना था, लेकिन कभी इसके लिए प्रयास नहीं किया, क्योंकि अपन लिखाई-पढ़ाई से थोड़ा दूर जमीनी काम करने में यकीन रखते थे। अब फैलोशिप नाम का भारी-भरकम शब्द ही हमें हतोत्साहित कर देता

था कि इसमें तो पढ़ाई और लिखाई दोनों करनी पड़ेगी।

खैर, जब मुझे संविधान फैलोशिप के बारे में जानकारी हुई, तो संविधान शब्द सुनकर ही आकर्षण-सा लगा। जिस राजनीतिक और सामाजिक माहौल में हम आज हैं, उसमें संविधान को लेकर चिंताएं तो सबकी हैं, लेकिन संविधान के अंदर क्या है, इसकी अधिक जानकारी चुनिंदा लोगों को भी नहीं है। शायद मैं भी उन बहुमत वाले लोगों में था, जो संविधान को एक किताब या कानून की धाराओं का दस्तावेजभर समझ पाते हैं।

यही वजह थी कि इस फैलोशिप की तरफ मैं आगे बढ़ा और सचिन जैन जी, पंकज शुक्ला जी एवं ज्यूरी के सभी सदस्यों के सामने खुद को संविधान विद्यालय की पहली कक्षा के विद्यार्थी एवं एक जिज्ञासु शिशु की तरह ही प्रस्तुत किया और शायद मेरी यही रुचि मेरे चयन का आधार बनी होगी।

मेरे चयन के बाद सबसे बड़ा सवाल था, विषय का चयन, जिस पर मैं अपनी फैलोशिप का काम करूं। यहां शुरूआती तौर पर मैंने अपना विषय रखा बोलियों में संविधान क्यों नहीं, क्योंकि मेरी जानकारी और समझ के अनुसार संविधान के अधिकार और मूल्य तो हम लोगों तक तब पहुंचा पाते, जब इसका महत्व बता पाते। जब मैं पत्रकार होकर भी सालों बाद इस महत्व को समझ पाया, तो आम नागरिक, गांव का किसान, मजदूर संविधान तक कैसे पहुंचता।

यदि यही सब उसे उसकी स्थानीय भाषा में, लोक व्यवहार में पहुंचाने का प्रयास किया जाता, तो शायद आज हम जहां हैं, उससे आगे जरूर होते।

...तो बोलियों में संविधान विषय पर, मार्गदर्शक राजेश बादल सर के निर्देशन में आगे बढ़े। शुरूआत में छतरपुर जिले के उन गांवों में गए, जहां महिलाएं चप्पल नहीं पहनतीं। पूछने पर पता चला लोक मान्यताओं के चलते ऐसा होता है, जबकि अजीब बात यह है कि पुरुषों के लिए ऐसी कोई मान्यता या बाध्यता नहीं है।

इसके बाद अपनी यात्राओं के दौरान लगभग एक सैकड़ा से ज्यादा लोगों से बात की, उनसे पूछा कि आखिर वे संविधान के बारे में कितना जानते हैं? ज्यादातर को इतना पता था कि 26 जनवरी को लागू हुआ, बाबा साहब भीमराव आंबेडकर ने बनाया और बस... इसके आगे कुछ नहीं।

फिर मुझे लगा कि बोलियों में संविधान नहीं पहुंचा यह तो सर्वविदित बात है, लेकिन जब लोगों को संवैधानिक मूल्यों और अधिकारों की जानकारी नहीं होती, तो इसके दुष्परिणाम क्या होते हैं, ऐसा कोई विषय हो, तो काम करने का आनंद आए।

इसी उधेड़बुन में कुछ महीने गुजर गए। इसी बीच मेरे पास पत्रकारीय सहयोग के लिए नौरादेही अभ्यारण्य के एक प्रभावित का फोन आया। भैया हम लोगों को मुआवजा नहीं मिला। हमारे बगल वालों को, आस-पड़ोस वालों को... सबको मिल गया, लेकिन हम रह गए। हमने भी विस्थापन की सामान्य कहानियों की तरह इसके प्रति भी उसी प्रकार सोचा, जिसमें किसी व्यक्ति की जमीन सरकार किसी कार्य के लिए अधिग्रहण करती है, उसके बदले में उसे मुआवजा के तौर पर पैसा देती है। कई जगह मुआवजा वितरण में लापरवाही या भ्रष्टाचार हो जाता है, तो लोगों को उनके अधिकार का पैसा नहीं मिल पाता... बस इतना ही। यानी अब से पहले तक हमारी सोच भी किसी की जमीन की सरकार द्वारा खरीद और उसका पैसा मिलने तक ही थी। ...लेकिन नौरादेही अभयारण्य की इस कहानी में जब हम अंदर तक घुसे, तो यकीन मानिए, सोच-विचार-व्यवहार, सब बदल गया। कैसे जंगल में रहने वाले लोगों के जीवन को 3 दशक से भी ज्यादा समय के लिए घोर अंधकारमय, अनिश्चितता में छोड़ दिया जाता है और इस अंधकार से कुछ लोग विस्थापित होकर शहर के उजाले में आते हैं, तो इस नए समाज की धधकती आग उनके अस्तित्व को जलाकर राख कर देती है।

इसी विषय पर आगे बढ़ने की इच्छा कुछ तथ्यों के साथ हमने अपने मार्गदर्शक राजेश बादल सर के सामने रखी, तो उन्हें भी यह विषय पसंद आया और मैं इस पर आगे बढ़ा।

इसके बाद मैंने नौरादेही अभयारण्य के आसपास की एक एक करके कई यात्राएं कीं। मध्य प्रदेश के सागर-दमोह और नरसिंहपुर जिले की सीमाओं में बसाए जा रहे नौरादेही अभयारण्य का नाम इस नौरादेही नाम के गांव के नाम पर पड़ा। इंसानी बस्तियां उजाड़कर, यहां टाइगर सहित जंगली जानवर बसाने की पटकथा पिछले कई दशकों से लिखी जा रही है, लेकिन विस्थापन की पूरी प्रक्रिया में संवैधानिक मूल्यों, संवैधानिक अधिकारों और स्थानीय भाषा में किसी भी प्रकार की जानकारी का पूरी तरह से अभाव रहा।

मैं अब आपको उन बिंदुओं की तरफ ले चलता हूं, जिनको मैंने विस्तार से जानने की कोशिश की, तो पता चला कि किसी शासकीय व्यवस्था ने विस्थापन को उस नजरिये से देखा ही नहीं। किसी की बसी-बसाई गृहस्थी उजड़ने से लेकर नई गृहस्थी बसने तक का क्या दर्द होता है, इस बात पर कोई विचार ही नहीं किया। एक बात और मैं आपको बता दूं कि नौरादेही तो केवल एक उदाहरण मात्र है, लेकिन जब आप इस संपूर्ण प्रक्रिया पर आगे बढ़ेंगे, तो लगेगा कि शायद पूरे देश में विस्थापन और पुनर्वास के यही हालात हों-

1. जीने का अधिकार ही छीन लिया।
2. शिक्षा का अधिकार छीन लिया, बच्चों की दुर्दशा।
3. पशुधन को छोड़ आए।
4. लोक देवता से लेकर अंतिम संस्कार को तरसे।
5. कई युवा शादी के इंतजार में बूढ़े हो गए।
6. 1000 लोगों की मौत का कारण बना विस्थापन।
7. मुआवजे में कई विसंगतियां (कट ऑफ़ लिस्ट)
8. मुआवजा मिलने के बाद हुई बाहर ठगी।
9. मुआवजा मिलने के बाद स्थानीय स्तर पर हुई ठगी।
10. धर्म-परिवर्तन का भी दबाव।
11. पैसा गया, अब रोजगार को तरसे।
12. शासन की योजनाओं का लाभ नहीं।
13. जानवर V/S इंसानों के अधिकार।
14. वन विभाग का अत्याचार।

दरअसल ये बिंदु अपनी फैलोशिप के लिए मैंने तैयार किए हैं, लेकिन इनका जिक्र मैंने अपने भीतर के बदलाव की कहानी में जान-बूझकर किया है, क्योंकि यदि मैं फैलोशिप से इतर केवल सामान्य रिपोर्टिंग या पत्रकारिता के लिए यहां गया होता, तो शायद मुआवजा और विस्थापन के बाद छोटी-मोटी रोजमर्रा की समस्याओं के अलावा मैं कुछ देख ही नहीं पाता। जब मैंने संवैधानिक मूल्यों, अधिकारों के चश्मे से देखा, तो नजर वही थी, पर नजरिया बदल गया। इन विस्थापितों को मैंने सामान्य जमीन बेचने वाले नहीं... अपनी जमीन, अपनी संस्कृति, अपनी पहचान के मालिक के तौर पर देखा और यहीं से वह बदलाव दिखाई दिया, जो मेरे काम में अब शायद अंतिम सांस तक रहेगा, क्योंकि एक राष्ट्र के आम नागरिक के अधिकार और मूल्य दोनों की रक्षा करना केवल एक कानूनविद, पुलिस या न्यायपालिका का नहीं, बल्कि हम सबका सामूहिक दायित्व है। इसलिए इस फैलोशिप ने मुझे अपने काम के दौरान, इन सब बातों का ध्यान रखने की स्थायी समझ दी।

संविधान के बारे में अध्ययन और शोध का भाव

किसी भी विषय पर अच्छा लेखन करना हो, तो उस विषय का अच्छा अध्ययन जरूरी होता है। यह बात दिमाग में तो थी, लेकिन इस फैलोशिप के दौरान उससे भी ज्यादा महत्वपूर्ण यह बात रही कि यहां जो भी वरिष्ठ मिले, वे पत्रकारिता या संविधान विषय से सीधे तौर पर जुड़े थे। इसके साथ ही सभी मार्गदर्शकों का अपना अनुभव यहां सोने पर सुहागा था, लेकिन इस फैलोशिप के दौरान, जो 2 महत्वपूर्ण आधार मेरे लिए बने, उनमें से एक है सचिन कुमार जैन की किताब 'जीवन में संविधान' तथा दूसरा 'राज्य सभा' टीवी द्वारा एक दशक पहले तैयार की गई 'संविधान' सीरीज। इस सीरीज के निर्माण का अहम हिस्सा राजेश बादल सर भी रहे, जो इस फैलोशिप के दौरान मेरे मार्गदर्शक भी रहे। उन्होंने ही मुझे यह सीरीज देखने का सुझाव दिया और मैंने लगभग एक घंटे प्रति एपिसोड के हिसाब से 10 एपिसोड पूरे देखे। सबसे पहले बात, जीवन में संविधान किताब की, तो यह किताब नहीं, हम सबके जीवन का दस्तावेज है। हमारे जीवन में संविधान किस-किस बिंदु पर कहां पाया जाता है, सब कुछ है इस पुस्तक में। सचिन कुमार जैन जी की यह किताब दरअसल हम सब फेलोज के लिए एक तरह की प्रस्तावना सरीखी है।

वहीं संविधान सीरीज के तो क्या ही कहने। यह सीरीज हिंदुस्तान के हर नागरिक के लिए देखना अनिवार्य होना चाहिए। दरअसल हम आज संविधान के जिस स्वरूप पर विचार करने के लिए बैठे हैं, उसके पैदा होने से लेकर पालन-पोषण तक का सब कुछ यहां जिस आसान भाषा में मिला, वह अद्भुत है। सच कहूं, तो जीवन में इतनी फ़िल्में-टीवी सीरियल या वेब सीरीज अलग-अलग विषयों पर देखी हैं, लेकिन जो कुछ संविधान सीरीज के तौर पर मेरे मस्तिष्क पर अंकित हुआ है, वह कभी नहीं हुआ। देश की आजादी के पहले से, जिन्ना की टू नेशन थियोरी तक, आजादी के पहले से लेकर आजादी के बाद तक संविधान को गढ़ने तक। महात्मा ग़ांधी, भीमराव अंबेडकर, जवाहर लाल नेहरू, राजेंद्र प्रसाद, वल्लभ भाई पटेल से लेकर उन महानायकों के विचार, जो इस देश को एक संप्रभु राष्ट्र बनाना चाहते थे। इनके बीच के मतभेद और उन मतभेदों के बाद भी इस देश के लिए संविधान को सर्वश्रेष्ठ बनाने की चाहत। ऐसा अद्भुत प्रस्तुतिकरण कि मानो हम उसी काल खंड में खड़े होकर सब कुछ देख रहे हों। इसके साथ ही संवैधानिक अधिकारों से लेकर संवैधानिक मूल्यों तक की जरूरत, मापदंड, भविष्य की चिंताएं सब कुछ है यहां। मेरे लिए यह फैलोशिप सबसे बड़ी उपलब्धि है, क्योंकि मैं इस फैलोशिप से नहीं जुड़ता, तो शायद लाखों अभागे भारतीयों की तरह इस अमूल्य धरोहर तक पहुंचने से वंचित रह जाता।

इस वीडियो और किताबों के अलावा, फैलोशिप के दौरान आने वाले वक्ताओं के उद्बोधन, सेवाग्राम में कुछ दिन बिताना, अलग-अलग क्षेत्रों में काम कर रहे पत्रकार साथियों और अधिवक्ता साथियों के विचार, अनुभव इस पूरे काम के दौरान मेरे मस्तिष्क को एक अलग ही स्तर तक पहुंचा गए। जहां एक-दूसरे के विचारों को न केवल सुनना, समझना, बल्कि उन्हें पूरी आजादी के साथ स्वीकार भी करना, यह सब सिखा गया।

इसी तरह के विचारों और सामग्री के साथ जब मैंने काम किया, तो मेरी नजर, मेरा नजरिया सब कुछ बदला, क्योंकि जब आप इस बात को जानते हों कि देश किन तकलीफों के बाद आजाद हुआ, तो ही आप आजादी की असल कीमत पहचान पाएंगे। इसी प्रकार, जब आप जानते हों कि जिस संविधान को एक पुस्तक मानकर हम एक किनारे रख देते हैं, उसकी एक-एक पंक्ति के लिए हमारे देश के नीति-निर्धारकों ने कितना विचार किया है। उस एक पंक्ति का इस देश के नागरिकों की पीढ़ियों पर कितना प्रभाव है, तो फिर आप संविधान को एक पुस्तक नहीं, ग्रंथ मानेंगे और उसमें लिखी एक-एक पंक्ति को श्लोक या चौपाई का दर्जा अपने जीवन में देंगे। मैं अब भी यकीन से कह रहा हूं कि मैंने इस फैलोशिप में अत्यधिक अध्ययन नहीं किया है, लेकिन जो सीखा और समझा है, वह इस बात के लिए काफी है कि मेरे जीवन में संविधान के प्रति अब तक केवल विश्वास था, पर अब श्रद्धा भाव है।

एक आम नागरिक के तौर पर बदलाव

यूं तो मैं एक स्वतंत्र, संप्रभु राष्ट्र का स्वतंत्र नागरिक हूं। एक नागरिक के नाते मुझे संवैधानिक अधिकार प्राप्त हैं, लेकिन इन अधिकारों और संवैधानिक कर्तव्यों से इतर संवैधानिक मूल्यों (संप्रभुता, समाजवाद, धर्म-निरपेक्षता, लोकतंत्र, भारतीय राज्य का गणतांत्रिक चरित्र, न्याय, स्वतंत्रता, समानता, बंधुत्व, मानवीय गरिमा एवं राष्ट्र की एकता और अखंडता।) के पालन की भी मेरी पूरी जिम्मेदारी है। यह एहसास जीवन में पहली बार हुआ है। ऐसा नहीं है कि अब से पहले मैंने इनमें से किसी भी मूल्य को जान-बूझकर ठेस पहुंचाई हो, लेकिन न तो मैंने कभी इन मूल्यों को जानने की और न कभी समझने की कोशिश की, क्योंकि जितनी जरूरत, उतनी मेहनत जैसे फॉर्मूला पर जीवन चल रहा था। संविधान फैलोशिप के जरिए जब मूल्यों की परिभाषा को समझा, जाना, तो यकीन मानिए, दिनचर्या में जो भी कुछ करता हूं, उसमें अब इन मूल्यों का ध्यान अपने आप ही आ जाता है। कहीं किसी से मेरे व्यवहार में, समानता, बंधुत्व, मानवीय गरिमा जैसे मूल्यों का हनन न हो जाए, ऐसा भाव सहज हो चला है। हालांकि ऐसा नहीं है कि मुझसे कोई गलती नहीं होगी, लेकिन गलती होगी, तो उसका अंदाजा हो जाएगा, यही इस फैलोशिप की मेरे लिए सफलता है।

बीते एक साल का बदलाव

इस लेख में, मैंने जो ऊपर लिखा, वह फैलोशिप के दौरान या उसके समाप्त होने का अनुभव था, लेकिन अब बीते एक साल का बदलाव बताता हूं। सबसे बड़ा बदलाव तो यह है कि अब समाज के भीतर का कोई द्वेष, किसी के मूल्य का हनन, संविधान से जुड़ा कोई विषय मेरे लिए अब सिर्फ एक खबर मात्र नहीं है, बल्कि अब यह मुझे मजबूर करता है निजी तौर पर गहराई में जाने को। कहीं कुछ अन्याय हो रहा है, समाज में कोई वैमनस्य का विषय है, तो यह मुझे तकलीफ देने लगा है। यूं कहिए कि अब खबर से ज्यादा समाज का हिस्सा मैं स्वयं हूं, यह एहसास होता है। 'जो हो रहा है, होने दो' जैसा स्वभाव स्थायी रूप से बदल रहा है। कई बार सार्वजनिक तौर पर कुछ लिख पाऊं या बोल पाऊं, यह जरूरी नहीं, लेकिन व्यक्तिगत विमर्श में, छोटे-छोटे संवाद में मुखरता से अपना पक्ष रखकर, छोटे समूह को ही उससे जोड़ने का प्रयत्न करता हूं, क्योंकि संविधान फैलोशिप के दौरान एक महत्वपूर्ण बात सीखी है कि अब जितने भी लोगों तक सही बात पहुंचा सकें, वह करना चाहिए। समाज के शोषित, वंचित वर्ग के प्रति ख़बरों का चयन या प्रस्तुतीकरण भी कुछ हद तक बदला है।

आगे क्या...

पहला तो मेरे लिएजब अपनी फैलोशिप को एक दस्तावेज या पुस्तक के रूप में पूर्ण करूं, तो जो कुछ अनुभव, बदलाव मैंने बयां किए हैं, मेरी लेखनी में वे दिखाई दें। इसके बाद एक पुस्तक के तौर पर, भविष्य के लिए कुछ ऐसा गढ़ना चाहूंगा, जो पढ़कर, मैं भी कुछ लोगों के जीवन में वह बदलाव ला सकूं, जो मैंने खुद में इन दिनों में अनुभव किए। इसके बाद विकास संवाद या अन्य कोई भी संस्था, जो संविधान पर काम करेगी, यदि मेरे किसी अनुभव को उपयोग करना चाहेगी, तो सहर्ष सहमति है।

दूसरा ऐसी फैलोशिप के लिए-संविधान के लिए देश में अपनी तरह की पहली कोशिश अद्भुत है। इसके स्पॉन्सर 'विकास संवाद' और पूरी टीम की अनूठी सोच के कारण, यह इतिहास बन रहा है। ऐसे प्रयास और जितने हों, उनका स्वागत किया जाना चाहिए।

मेरी यात्रा: एआई की समझ और नागरिक जीवन को आकार

सारंग उपाध्याय

सीखने और सिखाने की प्रक्रिया एक यात्रा होती है। सदा अनवरत् इस यात्रा के कई पड़ाव अनुभवों की शृंखला होते हैं। किसी कार्य को लेकर सतत् गतिशीलता और संलग्नता कई तरह के अनुभवों की संपदा बन जाती है। वर्ष 2023 का मध्यांतर मेरे लिए जीवन में ऐसी ही एक यात्रा की शुरूआत थी। यह सीखने, जानने और समझने की प्रक्रिया में प्रवेश का समय था।

यह यात्रा एक लोकतांत्रिक राष्ट्र में नागरिक जीवन को निर्धारित करते संविधान और संवैधानिक मूल्यों की यात्रा रही। एक ऐसी यात्रा, जो एक नागरिक के जीवन को गढ़ने, आकार देने में सफल हुई। भोपाल से साथी पत्रकार पंकज शुक्ला से गाहे-बगाहे सोशल मीडिया के माध्यम से संवाद होता रहता था, लेकिन संयोगवश भोपाल में उनके दफ्तर में हुई मुलाकात ने जीवन का एक नया आयाम खोल दिया।

भोपाल में जुलाई माह की एक ढलती सांझ में उनके दफ्तर खाली हाथ आया था, लेकिन लौटा बैरंग नहीं। लौटते हुए विकास संवाद मीडिया फैलोशिप का एक प्रस्ताव साथ था। वे संवैधानिक मूल्यों, आर्टिफिशल इंटेलिजेंस और मीडिया को केंद्र में रखकर फैलोशिप का विचार थमा चुके थे।

मेरे लिए यह उलझन के साथ-साथ दुविधा से भरी स्थिति थी। एआई विषय नया था और इस दुनिया से उसका परिचय ना के बराबर था, लिहाजा इस नई तकनीक के संवैधानिक मूल्यों पर प्रभाव पर बात करना आसान नहीं था। चूंकि किसी भी कार्य को पूरी गंभीरता से करने और उसके सकारात्मक परिणाम तक पहुंचाने की नीयत मेरे व्यक्तित्व का हिस्सा रही है, लिहाजा उनके इस प्रस्ताव को लेकर मैं निर्णय ले चुका था कि शायद मैं यह ना कर पाऊं। जाहिर है, जानता था कि संवैधानिक मूल्यों जैसे गंभीर विषय को केंद्र में रखकर बदलती तकनीक के परिणामों और प्रभावों पर बात करना और लिखना आसान नहीं था। उस रोज सांझ ढल गई और बाद में रात एक ऊहापोह व उलझन में गुजरी। समझ नहीं आ रहा था कि विषय को कैसे समझूंगा और क्या लिख पाऊंगा। एआई नई दुनिया थी, जबकि संवैधानिक मूल्यों की समझ कच्ची थी। एक दुविधा से निकलने का सबसे अच्छा रास्ता मैंने तलाशा चीजों को छोड़ देने का। मैंने फैलोशिप से निकलने का मन बना लिया। अंतिम जवाब यही था कि मैं विषय के साथ न्याय नहीं कर पाऊंगा।

मैं उलझन से बाहर था और पहले से हल्का महसूस कर रहा था। जाहिर था कि बात मेरी ओर से समाप्त हो चुकी थी।

परिचय

पत्रकार-लेखक सारंग उपाध्याय बीते 15 वर्ष से मीडिया में सक्रिय हैं। इंदौर, भोपाल, मुंबई सहित दिल्ली के प्रतिष्ठित मीडिया संस्थानों में कार्य करते हुए सारंग उपाध्याय की साहित्यपरक पत्रकारिता रेखांकित हुई है। नियमित दायित्व से इतर रचनात्मक लेखन में सक्रिय सारंग उपाध्याय का उपन्यास 'सलाम बॉम्बे व्हाया वर्सोवा डोंगरी' ख्यात हुआ है। सारंग उपाध्याय को कहानी के लिए मप्र साहित्य अकादेमी द्वारा 'पुनर्नवा पुरस्कार' प्रदान किया गया है। 2013 में राममनोहर लोहिया पर पुस्तक का प्रकाशन हुआ है। वे एआई और लोकतांत्रिक मूल्यों पर केंद्रित किताब पर कार्य कर रहे हैं।

इधर निजी जीवन की परेशानियों और स्वास्थ्य संबंधी चुनौतियों के बीच भोपाल से दिल्ली आ गया। पंकज जी से बात हुए दिन बीत रहे थे। मैं फैलोशिप ना कर पाने के फैसले के उस पार था। बात मन में घर कर चुकी थी कि यह काम नहीं हो पाएगा और बस इसकी सूचना फोन पर मैं पंकज जी को देने ही जा रहा था। कभी सोचता आज फोन कर कह दूंगा, तो कभी कहता साप्ताहंत में, लेकिन मेरा फोन करने का विचार धरा ही रह गया और उधर से पंकज जी का फोन आ गया। बातचीत की शुरूआत ही उस मेल के साथ हुई, जिसमें वे फैलोशिप प्रस्ताव को लगभग हां मान चुके थे और उसकी औपचारिकताएं पूरी करने के लिए मुझसे कह रहे थे। मैं हंस भी रहा था और मन ही मन ही दुविधा में भी था। फोन पर कहता रहा कि यह मेरे लिए किस तरह से मुश्किल होगा।

जाहिर है मैं एआई जैसे विषय को लेकर पूरी तरह सतर्क था। विषय इतना नया था कि इसका परिचयात्मक अध्ययन भी जटिल ही था। इंटरनेट, यूट्यूब और चंद अखबारों में कुछ कॉलम थे। कुल मिलाकर मैं क्या पूरी दुनिया में तकनीकी दुनिया के इस नए खुलते दरवाजे के उस पार क्या है यह किसी को नहीं पता था। इसके प्रभाव भी आने वाले समय में क्या होने वाले थे, इसे लेकर असमंजस में था और फिर ऐसे में संवैधानिक और लोकतांत्रिक मूल्यों पर इसके प्रभाव पर बात करना चुनौती से कम नहीं था।

बहरहाल, पंकज जी ने विषय और विकास संवाद फैलोशिप को लेकर मुझे थोड़ा सहज कराया। आत्मविश्वास और हौसला बढ़ाया कि फैलोशिप को सीखने-सिखाने और संवैधानिक मूल्यों के प्रति समझ बढ़ाने के उद्देश्य के साथ देखा जाए। इसे पेशेवर तरीके से करना है, लेकिन केवल काम है, इसलिए नहीं, बल्कि रोचकता, रुचिकर और स्वयं की संवैधानिक मूल्यों की समझ बढ़ाने के लिए। वे बाकायदा इस बात के लिए प्रेरित करते रहे कि आप ना केवल इसे अच्छे से कर पाएंगे, बल्कि इसमें नया सीखने और समझने की नई दुनिया का दरवाजा खुलेगा।

यह आत्मविश्वास एक नई ऊर्जा और भरोसा दे गया। मैंने हामी भर दी। भोपाल पहुंचा, तो एक दिन सामाजिक कार्यकर्ता और गांधीवादी चिंतक आदरणीय चिन्मय मिश्र जी का फोन आया। एक औपचारिक बातचीत, जो भाषा, कार्य करने के तरीके और पत्रकारिता के पेशेवर तरीके से जुड़ी थी। इस वार्ता ने आगे की पृष्ठभूमि को तय कर दिया।

दिनों के मंथन और ऊहापोह के बीच आखिर मैं विकास संवाद की संवैधानिक मूल्यों पर केंद्रित फैलोशिप का हिस्सा बन गया। विषय रहा संवैधानिक मूल्य और आर्टिफिशल इंटलिजेंस। विषय पूरी तरह से नया था और सबसे बड़ी चुनौती थी उसे संवैधानिक और लोकतांत्रिक मूल्यों के समानांतर देखना।

इधर, मैं एआई की दुनिया से उतना परिचित नहीं था। चैटजीपीटी, मिडजर्नी और जेमिनी जैसे लैंग्वेज एआई टूल्स से परिचित था और वह भी उतना ही, जितना बतौर एक डिजिटल जर्नलिस्ट मुझे होना चाहिए था। इस तरह एआई को थोड़ा गहराई और सूचना के स्तर पर जानने का प्रयास हुआ। इंटरनेट पर सैंकड़ों खबरों को पढ़ा, कुछ महत्वपूर्ण रिसर्च पेपर देखे और यूट्यूब पर एआई एक्सपर्ट्स के दर्जनों इंटरव्यू देखे तथा इस विषय पर एक समझ बनाने का प्रयास किया। जाने-माने टेक विशेषज्ञ मैक्स टैगमेन की Life 3।0 : Being Human in the Age of Artificial Intelligence जैसी किताब पढ़ी, इतिहासकार और प्रोफेसर युआल नोआ हरारी कि brief history of tomorrow, बर्टंड रसैल की The Impact of Science on Society जैसी किताबें पढ़ीं। कई तरह के रिसर्च पेपर स्टेनफोर्ड, कैंब्रिज और हॉवर्ड यूनिवर्सिटी की ऑनलाइन वेबसाइट से पढ़े। सिलसिला लगातार बढ़ता रहा। एक लक्ष्य था और समझने की जिज्ञासा धीमे-धीमे आकार ले रही थी। सीखने-सिखाने की इस प्रक्रिया में ऐसा बहुत कुछ था जो नया था। खासतौर पर अंतर्राष्ट्रीय मैगजीन/ऑनलाइन पोर्टल्स इत्यादि पर एआई को जानने-समझने और नई सूचनाओं के प्रति जिज्ञासा ने विषय की कई

चीजों से परिचित कराया।

दरअसल, संवैधानिक मूल्यों और एआई को समझने की प्रक्रिया मेरे लिए केवल तकनीकी ज्ञान अर्जित करने की कवायद नहीं थी, बल्कि यह एक नई सभ्यता की दस्तक को पहचानने की कोशिश भी थी। जैसे-जैसे मैंने इस विषय में खुद को झोंका, यह स्पष्ट होता गया कि एआई महज एक डिजिटल उपकरण नहीं है, बल्कि यह मानव समाज की संरचना, उसकी सोच, उसकी निजता और उसकी स्वतंत्रता को जड़ों से प्रभावित करने की ताकत रखता है।

एआई की अवधारणाओं, जैसेमशीन लर्निंग, डीप लर्निंग, न्यूरल नेटवर्क्स और जनरेटिव एआई को समझना मेरे लिए एक नई दुनिया में प्रवेश करने जैसा था। यह जानना चौंकाने वाला था कि कैसे एआई एल्गोरिदम आज न्यायिक निर्णयों से लेकर सरकारी नीतियों तक को प्रभावित कर सकते हैं और कैसे इन एल्गोरिदम में मानव पूर्वाग्रह प्रवेश कर सकता है, जो कि संवैधानिक मूल्यों जैसे न्याय और समानता को सीधा चुनौती देता है।

एक अन्य पहलू जो सामने आया वह यह था कि एआई में पारदर्शिता और जवाबदेही का घोर अभाव है। एक लोकतंत्र में किसी भी शक्ति को नागरिकों के प्रति जवाबदेह होना चाहिए, लेकिन जब एआई आधारित निर्णय होते हैं, तो यह उत्तरदायित्व अक्सर 'ब्लैक बॉक्स' की तरह अदृश्य हो जाता है। इससे नागरिक अधिकारों पर सीधा असर पड़ता है, विशेष रूप से निजता, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता और गरिमा जैसे संवैधानिक मूल्य प्रभावित होते हैं।

इस पूरी प्रक्रिया में सबसे मूल्यवान जो सीख मिली, वह यह थी कि अगर तकनीक का नैतिक और संवैधानिक दिशा में विकास नहीं होता, तो वह लोकतांत्रिक समाज की बुनियाद को ही हिला सकती है, इसीलिए यह जरूरी है कि एआई को केवल तकनीकी नहीं, बल्कि मानवीय और संवैधानिक दृष्टिकोण से देखा जाए, जहां इसका उद्देश्य मानव गरिमा की रक्षा हो, ना कि केवल दक्षता बढ़ाना।

एआई जैसे नए विषय को समझने के समानांतर ही संवैधानिक मूल्यों को समझने का सिलसिला भी शुरू हुआ। इसमें भोपाल में विकास संवाद के तीन दिवसीय कार्यक्रम की वार्षिकी गतिविधि ने बहुत चीजों को स्पष्ट और साफ किया।

संवैधानिक मूल्यों को समझने में लेखक और विकास संवाद के वरिष्ठ साथी सचिन जैन द्वारा लिखित 'जीवन में संविधान' सहित संविधान पुस्तिका शृंखला बेहद महत्वपूर्ण साबित हुई। इसके अतिरिक्त दुर्गादास बसु द्वारा लिखित संविधान का परिचयात्मक अध्ययन लगातार समझ बढ़ाता रहा। संविधान पर केंद्रित कई यूट्यूब चैनल भी बेहद उल्लेखनीय रहे।

एआई और संवैधानिक व लोकतांत्रिक मूल्यों को केंद्र में रखकर किया गया यह कार्य मेरी पेशेवर यात्रा के समानांतर रहा। इस कार्य ने ना केवल मेरी राजनीतिक समझ को विकसित किया, अपितु संविधान के प्रति जागरूकता, संवैधानिक चेतना, संवैधानिक मूल्यों के प्रति समझ को भी विकसित किया।

सबसे महत्वपूर्ण जो इस फैलोशिप का लक्ष्य रहा वह था स्वतंत्रता, बंधुता, गरिमा जैसे संवैधानिक मूल्यों को दैनिक जीवन में अपने आचरण में लेकर आना और उसके अनुसार व्यवहार करना। इस फैलोशिप पर काम करते हुए बतौर नागरिक उन संवैधानिक मूल्यों के प्रति सक्रियता व जागरूकता पैदा हुई जिसे रोजमर्रा के जीवन में अपने आसपास के लोगों के प्रति व्यवहार अनदेखा कर दिया जाता था। दूसरे के प्रति बंधुता का भाव रखना, उसकी निजता, गरिमा और स्वतंत्रता का ध्यान रखना, यह ऐसे छोटे-छोटे मूल्य थे, जिनके बारे में ख्याल आता था, लेकिन पता नहीं था कि यह हमारे देश की सबसे महत्वपूर्ण किताब संविधान के मूल्य हैं। ये वे मूल्य हैं, जिनके बूते हमारा देश हिंदुस्तान बनता है।

विकास संवाद मीडिया फैलोशिप की यह यात्रा मेरे लिए जीवन को गढ़ने वाली और बतौर एक नागरिक संवैधानिक मूल्यों

के प्रति जागरूकता पैदा करने वाली रही है। इस अनूठी यात्रा ने यह समझाया है कि राष्ट्र और समाज में आप किसी भी भूमिका में क्यों ना हों, आपकी भूमिका में संवैधानिक मूल्यों की प्राथमिकता होनी चाहिए।

फैलोशिप के दौरान एआई जैसे महत्वपूर्ण विषय को समझने का मौका मिला। दुनियाभर के विद्वानों और विशेषज्ञों के एआई पर विचारों से यह भी जानने को मिला कि कैसे एआई जैसी तकनीक मनुष्य सभ्यता के इतिहास में युगांतरकारी सिद्ध होने जा रही है। सबसे महत्वपूर्ण यह जानने को मिला कि एआई के आने के बाद लोकतांत्रिक समाज और संवैधानिक मूल्यों को लेकर कैसे चुनौती पैदा होने जा रही है।

जाहिर है इन सारी चीजों को समझने की कड़ी में फैलोशिप की यह यात्रा मेरे अपने पेशेवर जीवन में बेहद महत्वपूर्ण साबित हुई है। फैलोशिप करते हुए विकास संवाद के संस्थापक सचिन जैन की भूमिका मेरे लिए बेहद उल्लेखनीय रही। इस दौरान जितनी भी बार उनसे मिलना हुआ, वह विषय को समझने और जानने के नजरिये से बेहद खास साबित हुआ।

इधर वरिष्ठ पत्रकार और लेखक राजेश बादल जी का मार्गदशन भी काम आया। उन्होंने विषय को केंद्रित किया और उसे समायोजित करने में उल्लेखनीय सहायता की। एआई को समझना और उसके समानांतर संवैधानिक मूल्यों के प्रति चुनौतियों को देखने का नजरिया बेहद जटिल था, लेकिन उनका निर्देशन और दृष्टिकोण महत्वपूर्ण साबित हुआ।

बात की जाए संवैधानिक मूल्यों की, तो एआई को केंद्र में रखकर इस विषय पर काम करना एक रोचक, लेकिन चुनौतीपूर्ण कार्य रहा। एआई पर जबकि आज भी पूरी दुनिया में असमंजस और अनभिज्ञता की स्थिति है, ऐसे में मेरे लिए संवैधानिक मूल्यों को जीवन आचरण में उतारकर उसे संवैधानिक संस्कारों और बोध के नजरिये से देखना बिल्कुल नया अनुभव रहा। एक तरह से मेरे लिए दोनों ही विषय समझना और उसे व्यापक संदर्भों में देखना अंतरमन और बुद्धि को मथने वाला कार्य रहा।

फैलोशिप के शुरुआती दौर में विषय की भूमिका बनाने और समझने में बड़ा समय लगा। किसी भी कार्य को करने के लिए चिंतन प्रक्रिया मेरी बुनियादी शक्ति रही है। विषय को समझना और लगातार चिंतन करना फिर उसके आधार पर विश्लेषण करना मेरी आदत का हिस्सा रहा है।

पहली बार में लंबी चर्चा विकास संवाद के सचिन सर से हुई। विकास संवाद कार्यालय में तकरीबन दो घंटे बिताए गए समय में एआई, उसके दूरगामी प्रभाव और भविष्य को लेकर एक सार्थक बातचीत ने कई सूत्र थमाए। बातचीत के दौरान हमने गूगल पर एआई के बारे में लिखी गई किताबों, रिसर्च पेपर्स और अन्य सामग्री को देखा, समझा व विषय को समझते रहे।

सचिन जी के साथ रहते हुए संवैधानिक और लोकतांत्रिक मूल्यों के परिप्रेक्ष्य में एआई को देखने का एक दृष्टिकोण और मानस बन गया कि आखिर विषय की रूपरेखा क्या होगी और पूरा कार्य आकार कैसे लेगा। प्रश्न सीधे सामने थे कि आखिर एक समाज में टेक्नोलॉजी का प्रवेश और बाद में उसका इतना एडवांस प्रारूप नागरिकों के लिए कैसे कठिनाइयां पैदा करेगा। एआई के आने से रोजगार संकट कैसे पैदा होगा? संवैधानिक अधिकारों और लोकतांत्रिक मूल्यों से संबंधी चुनौती कैसी खड़ी होगी? आखिर कैसे नागरिक समाज कृत्रिम बुद्धिमत्ता के समानांतार संवैधानिक बुद्धिमत्ता की रक्षा करेगा? और नागरिकों के लोकतांत्रिक और मानवाधिकारों का क्या होगा?

दरअसल, ये सारे ही विषय लगभग सामने थे और इन सवालों को केंद्र में रखते हुए ही सबसे पहले मैंने अपने प्रारूप को समझा। यह जानने का प्रयास किया कि आखिर संवैधानिक मूल्य आखिर एआई से कैसे प्रभावित होंगे?

इधर, संवैधानिक मूल्यों के प्रति मेरी समझ विकसित करने में विकास संवाद द्वारा जारी संवैधानिक मूल्यों को केंद्र में रखकर

लिखी गई संविधान पुस्तिका शृंखला और सचिन जैन द्वारा लिखित 'जीवन में संविधान' पुस्तक बेहद महत्वपूर्ण साबित हुई।

संविधान शृंखला से मुझे नागरिकों में संवैधानिक बुद्धिमत्ता, मूल्य, संस्कार और संवैधानिक बोध के बारे में पता चला। छोटी और सरल-सी भाषा में लिखी गई ये पुस्तिकाएं मेरे जीवन में बड़े परिवर्तन लेकर आईं। संविधान को लेकर इस तरह के दृष्टिकोण की कम-से-कम मैंने कल्पना नहीं की थी। यह पहली बार था, जब मैं इस नजरिये से सोच पाया कि भारत में संवैधानिक मूल्य, बंधुता, गरिमा, स्वतंत्रता, निजता जैसे मूल्य नागरिक चेतना में संस्कार के रूप में प्रवेश कर कैसे एक राष्ट्र का निर्माण करते हैं।

पुस्तिकाओं के अतिरिक्त संवैधानिक मूल्यों के व्यावहारिक जीवन में किस तरह और कितनी उपयोगिता है उसे लेकर लिखी गई जीवन में संविधान जैसी अद्भुत किताब ने एक नया रास्ता और विचार दिया। यह एक अनूठी किताब है। लेखक और संविधान विशेषज्ञ सचिन जैन द्वारा लिखित इस किताब से हर एक भारतीय को गुजरना चाहिए।

इस संदर्भ में महत्वपूर्ण यह है कि इस किताब के सहारे एक नागरिक यह जान पाता है कि वह इस व्यवस्था में बेसहारा, असहाय, अधिकारविहीन नहीं है, बल्कि उसके पास जीवन जीने का अधिकार है, शोषण के विरुद्ध अपनी बात रखने की ताकत है। संविधान ने इस व्यवस्था में उसे उन सारी चीजों का अधिकार दिया है, जो उसे यहां एक गरिमापूर्ण, स्वतंत्र और सम्मानित जीवन जीने की शक्ति और अधिकार देता है। यह किताब एक व्यवस्था में एक नागरिक के लिए कैसा जीवन होना चाहिए और व्यवस्था में कैसे उसके संवैधानिक अधिकारों का हनन होता है उसका मूल्यांकन करती है।

फैलोशिप यात्रा की ओर बढ़ने में इन दोनों ही किताबों ने मुझे अपनी पृष्ठभूमि से परिचित करा दिया। मेरे सामने संवैधानिक मूल्यों से लेकर लोकतांत्रिक अधिकारों पर एक स्पष्ट दृष्टि थी। मुझे यह समझ आया कि मेरे प्रयास अब इस दिशा में होने चाहिए कि कैसे आर्टिफिशल इंटेलिजेंस संवैधानिक मूल्यों, संवैधानिक अधिकारों, मानवाधिकारों और लोकतांत्रिक मूल्यों के लिए संकट पैदा कर सकता है।

फैलोशिप कार्य की शुरूआत में संवैधानिक मूल्यों को समझने के लिहाज से भोपाल में विकास संवाद की कार्यशाला अपना काम करने लगी थी, लेकिन ठीक दूसरे छोर पर एआई को समझने के लिए भी मैंने तैयारी शुरू कर दी। एआई को जानने के लिए सबसे पहला सूत्र इंटरनेट पर बीते एक साल में एआई को लेकर आई उन खबरों की खोजबीन थी, जो इस बात का अंदेशा दे रही थी कि तकनीक की यह दुनिया आखिर कौनसा भविष्य गढ़ने जा रही है।

एआई को जानने की शुरूआत चैटजीपीटी और जेमिनी जैसे चैटबोट्स को समझने और जानने से हुई। जानने-समझने की यह यात्रा निरंतर चलती रही और इसके ठीक समानांतर चलता रहा संवैधानिक मूल्यों पर केंद्रित विकास संवाद की संविधान शृंखला का अध्ययन। लगातार समझने-जानने के क्रम में चीजें साफ होना शुरू हुईं। सबसे पहले समझ आई संवैधानिक बुद्धिमत्ता, जिसे कृत्रिम बुद्धिमत्ता के सामने समझना था।

संवैधानिक बोध के साथ कृत्रिम बुद्धिमत्ता को जानने-समझने से मैं उसके प्रभावों को लेकर ना केवल सचेत हुआ, बल्कि जानने भी लगा कि इसके प्रभाव क्या होंगे। कृत्रिम बुद्धिमता को समझते हुए मैं विषय की प्रस्तावना पर आगे बढ़ा। इसके बाद संवैधानिक मूल्यों को केंद्र में रखते हुए इस बात की पड़ताल करने का प्रयास करते रहा कि कृत्रिम बुद्धिमत्ता से आखिर नागरिकों के किन संवैधानिक अधिकारों पर प्रभाव पड़ेगा।

इस संदर्भ में फैलोशिप की ना केवल भूमिका बनने लगी, बल्कि कई महत्वूर्ण लेख अध्याय के अनुरूप सामने आए। इनमें एआई पर केंद्रित न्याय, समानता और स्वतंत्रता जैसे अधिकारों पर केंद्रित लेख रहे। ऐसे ही एआई से भारत के नागरिकों के

मौलिक अधिकारों पर क्या प्रभाव होगा, रोजगार के अधिकार कितने प्रभावित होंगे, अभिव्यक्ति की आजादी कैसे बाधित होगी, डीप फेक की चुनौतियां और डिजिटल व साइबर फ्रॉड कितना नुकसान पहुंचाएंगे, नागरिकों की निजता, गरिमा व स्वतंत्रता के अधिकार कैसे प्रभावित होंगे ये सारे गंभीर प्रश्न लेखों के रूप में सामने आए।

कुल मिलाकर भविष्य की तकनीक जो कि वर्तमान में ही प्रभावित हो रही है और जिसे लेकर पूरी दुनिया ही चिंता में है, उसका भारत जैसे विकासशील राष्ट्र पर कितना प्रभाव होगा इस दिशा में सोचने की एक प्रक्रिया शुरू हुई। भारत जैसे देश में जहां संवैधानिक और लोकतांत्रिक मूल्यों को लेकर नागरिक जागरूकता ना के बराबर है और न ही नागरिकों में संवैधानिक साक्षरता है, वहां तकनीकी बदलाव कैसे और किस तरह संवैधानिक मूल्यों को प्रभावित करेंगे, यह पूरी रूपरेखा और इसका खाका सामने था।

अंत में इतना ही कि संवैधानिक मूल्यों को केंद्र में रखकर एआई तकनीक को जानने की यह यात्रा निश्चित ही नागरिक व लोकतांत्रिक मूल्यों को समझने वाली रही। एआई तकनीक आज भी नई चुनौतियों के बीच नित् नए संभावनाओं के द्वारा खोल रही है जबकि संवैधानिक मूल्यों को जानने-समझने की यह यात्रा मेरे पेशेवर जीवन की एक शुरूआत है।

संवैधानिक मूल्यों पर केंद्रित विकास संवाद की इस फैलोशिप ने वैचारिक रूप से जितना समृद्ध मुझे किया है, उसे शब्दों में लिख पाना कठिन है। नागरिक जीवन में संवैधानिक मूल्यों स्वतंत्रता, निजता, गरिमा, न्याय, समानता जैसे मूल्यों के साथ जीने की यह यात्रा जीवन बदलने वाली रही है।

फिलहाल, यह यात्रा का अंतिम पड़ाव है, लेकिन यह समाप्त नहीं हुई है, अपितु यह मेरी ओर से और ज्यादा लंबी हुई है। लोकतांत्रिक समाज में संवैधानिक मूल्यों के प्रति जागरूकता और सतर्कता के साथ इस विषय को ना केवल जानने का प्रयास लगातार करूंगा, बल्कि संवैधानिक मूल्यों को नागरिकता बोध के साथ जीवन में उतारने का प्रयास रहेगा। इस यात्रा का मौका देने के लिए विकास संवाद का बहुत-बहुत शुक्रिया।

डॉ. सौरभ जैन

डिजिटल मंचों पर सर्वथा उपेक्षित संवैधानिक मूल्यों का पालन

विकास संवाद की संविधान विकास फैलोशिप के बारे में पहले वर्ष की फैलोशिप की घोषणा उपरांत पता चला था। इसके उपरांत इस फैलोशिप के आगामी आवेदन की प्रतीक्षा थी। दूसरे बैच (2023-24) में सीनियर फेलो के रूप में इस फैलोशिप में काम करने का अवसर प्राप्त हुआ। फैलोशिप में विषय चयन को डिजिटल मीडिया में रुचि का एक सबसे बड़ा कारण इस विषय में पीएच-डी. करना भी था। 'डिजिटल मीडिया में संवैधानिक मूल्यों का ह्रास' यह विषय न सिर्फ रुचि का था, बल्कि समय के अनुरूप, प्रासंगिक भी था।

परिचय

स्वतंत्र पत्रकार डॉ. सौरभ जैन देवी अहिल्या विश्वविद्यालय, इंदौर से राजनीति विज्ञान विषय में पीएचडी हैं। उनकी दोनों प्रकाशित पुस्तकें 'डेमोक्रेसी स्वाहा' और 'भारत भाग्य विधाता' का साहित्य अकादमी युवा पुरस्कार की अंतिम सूची में चयनित हो चुकी हैं। दैनिक भास्कर में प्रति शनिवार सेंसिबल मीम कॉलम का प्रकाशन हुआ है। दूरदर्शन मध्य प्रदेश पर साक्षात्कार और आकाशवाणी के राष्ट्रीय कार्यक्रम में डॉ.सौरभ जैन के व्यंग्य का प्रसारण हो चुका है।

फैलोशिप की इस अवधि के दौरान वर्षभर में डिजिटल मीडिया के क्षेत्र में कई ऐसी घटनाएं घटित हुईं, जिन्होंने ध्यान आकर्षित करने का कार्य किया है। सर्वप्रथम जब फैलोशिप का प्रारंभ हुआ था, तब उज्जैन शहर देश में सुर्खियों का केंद्र बना हुआ था। उज्जैन में निकलने वाली महाकाल की सवारी के दौरान अल्पसंख्यक वर्ग के एक युवक का वीडियो वायरल हुआ था, जिसमें युवक पर सवारी के दौरान थूकने के आरोप लगे थे। डिजिटल मीडिया के सभी मंचों पर इस घटना की चर्चा हुई थी। नतीजा यह रहा कि प्रशासन देशभक्ति के गीतों के माध्यम से आरोपी का घर तोड़ने आ गया और घर तोड़ने वाली यह घटना सोशल मीडिया पर किसी बड़ी उपलब्धि के तौर पर प्रदर्शित की गई, किंतु कुछ माह बाद जब न्यायालय के सम्मुख पुलिस आरोपों को साबित न कर सकी, गवाह अपने बयान से पलट गए, लेकिन डिजिटल मीडिया मंचों पर इस बात की चर्चा नहीं थी। डिजिटल मंचों के भी अपनी रुचि के विषय होते हैं, जिनके आधार पर चर्चा और उसके स्वरूपों का निर्धारण किया जाता है।

सोशल मीडिया पर इंदौर निवासी एक प्राध्यापक ने रसोई गैस खत्म हो जाने पर चूल्हे पर खाना बनाते हुए अपनी तस्वीर साझा की। उस तस्वीर की प्रसार संख्या थोड़े-से समय में लाख के आंकड़े को छू निकली। इसके बाद परिणाम यह हुआ कि वह तस्वीर कई पेजों पर निम्न स्तरीय टिप्पणियों और शीर्षकों के साथ पाई गई। शिकायत करने के बाद भी उस मंच पर तस्वीर के संबंध में कोई कार्रवाई नहीं हुई। यह घटना बताती है कि इस दौर में डिजिटल साक्षरता का कितना आभाव है। किसी की तस्वीर के साथ निम्न स्तर का कंटेंट जोड़कर उसे मनोरंजन के लिए परोसना निजता के हनन के साथ-साथ गरिमा के उल्लंघन में भी आता है, किंतु इस विषय के बारे में विचार ही नहीं किया जाता।

सोशल मीडिया ट्रोलिंग आज के समय में बेहद आम-सी बात हो चली है। अभिव्यक्ति की स्वाधीनता को ट्रोल करने के अधिकार के रूप में प्रयोग करने के नित नए मामले सामने आ रहे हैं। मात्र इस आधार पर कि किसी के विचार से सहमत

नहीं हैं, उसे ट्रोल करना शुरू कर देते हैं। फरीदाबाद निवासी एक लेखिका का फेसबुक पर एक कविता का पोस्टर जारी हुआ, कविता से असहमत होने पर असहमति रखने वालों ने उन्हें ट्रोल करना शुरू कर दिया। यह ट्रोलिंग बेहद निजी बातों तक आ पहुंची। इसी प्रकार जयपुर निवासी एक लेखक के साथ भी हुआ। प्रायः यहां हम सभी के विचारों में भिन्नता होती है। किसी के विचारों में प्रत्येक बार समानता हो, ऐसा संभव नहीं हो सकता। ऐसे में वैचारिक भिन्नता के आधार पर किसी पर हमला करना कितना गलत कार्य है, जो कि सोशल मीडिया के इस युग में आम हो गया है। आम लोग भी अब ट्रोलिंग का शिकार होने लगे हैं।

वर्ल्ड कप के दौरान सोशल मीडिया पर मीम से लेकर तमाम मनोरंजन करने वाले कंटेंट की भरमार थी। भोपाल निवासी एक चिकित्सक ने सोशल मीडिया मंच पर एक मीम साझा किया, जिसमें सामान्य गेंदबाज जब गेंद फेंकता है, तो उसे सिर्फ स्टंप दिखाई देते हैं और भारतीय गेंदबाज मोहम्मद शमी जब बॉलिंग करते हैं, तो उन्हें स्टंप की जगह अपनी पत्नी का चेहरा दिखाई देता है, ऐसी तुलना करने वाला एक चित्र निर्मित किया गया था। किसी खिलाड़ी के निजी जीवन में उसके रिश्तों को उसके प्रोफेशनल काम से जोड़ना न सिर्फ गलत है, बल्कि यह संवैधानिक मूल्यों के विपरीत भी है। हैरानी बस इस बात की होती है कि हमारा उच्च शिक्षित तबका ही इन गतिविधियों का केंद्र होता है।

सोशल मीडिया के उज्जैन वाले समूह में, जिसके तकरीबन 2 लाख के करीब सदस्य होने वाले हैं, में एक महिला ने मदद के रूप में पोस्ट की। वे अपने घर की वृद्ध सदस्य को संभालने के लिए एक हेल्पर खोजना चाहती थीं। इस आशय से उन्होंने पोस्ट में लिखा कि 'घर पर सासू मां को अवेरने के लिए बाई की आवश्यकता है।' यहां अवेरने का अर्थ संभालने से था, जो कि आम बोलचाल की भाषा में प्रयुक्त किया जाता है, किंतु सारी चर्चा इसी शब्द पर केंद्रित होकर रह गई और लोग उन्हें भला-बुरा बोलने लग गए। सोशल मीडिया पर यह बात बेहद मायने रखने लगी है कि हम जो कहना चाह रहे हैं, उसका अर्थ कुछ और ही ले लिया जाता है और हमारी बात कितनी ही महत्वपूर्ण क्यूं न हो, वह अपने मूल विषय से भटका दी जाती है।

फरवरी में दिल्ली में मेट्रो में एक सज्जन संविधान को खत्म करने की बात कर रहे थे और संविधान को खत्म कर देश के संचालन की व्यवस्था एक अतिवादी संगठन को देने की वकालत कर रहे थे। जब उनसे संविधान के बारे में प्रश्न किए गए, तो उनके पास जवाब ही नहीं था। व्हाट्सऐप के संदेशों के आधार पर एक बड़ा वर्ग अज्ञानता के रास्ते पर चल रहा है। जिन माध्यमों से ज्ञान का प्रसार किया जा सकता है, वे तमाम डिजिटल मंच भ्रामकता के प्रसार का केंद्र बने हुए हैं और इन मंचों का उपयोग झूठ को परोसने एवं उन्हें फैलाने में बड़ी आसानी से किया जा रहा है। यह बात अक्सर सामने आ जाती है। मूल विषय को प्रतिस्थापित कर चर्चा को सोशल मीडिया ही गैर-वाजिब मुद्दों की ओर ले जाता है। हाल तो ऐसे हो गए हैं कि हम एक पल किसी के निधन पर शोक प्रकट कर रहे होते हैं, तो दूसरे ही क्षण किसी अन्य पोस्ट पर हंसने वाली इमोजी लगा रहे होते हैं। डिजिटल मीडिया प्लेटफॉर्म की भी यही हालत है। कई लोग तो अधिक से अधिक संख्या में लोगों तक पहुंचने के क्रम में अपनी सामग्रियों का शीर्षक ही इतना आकर्षक देते हैं कि वह मूल्यों के प्रतिकूल होता है। संबंधित खबर पर क्लिक करने पर ठीक विपरीत जानकारी प्राप्त होती है, यह सब कुछ प्रसार संख्या बढ़ाने के लिए किया जा रहा है।

फैलोशिप के दौरान ऐसी अनेक घटनाएं जानने का मौका मिला है। यह फैलोशिप एक वर्ष की रही, लेकिन संवैधानिक मूल्यों को समझने के क्रम में यह यात्रा निरंतर चलती रहेगी।

मेरी यात्रा: लापरवाही की आलोचना से मूल्ययुक्त संवेदना तक

शिफाली पाण्डेय

मध्यमवर्गीय परिवेश में जन्मी, पली-पढ़ी एक ल़ड़की, जिसने ठहाका लगाने पर सुना लड़कियां ज़ोर से नहीं हंसतीं! क्यों नहीं हंसतीं...? यह सवाल था, लेकिन इसका जवाब नहीं था, जो बीसियों बार अपने आसपास लड़कों के रोने पर सुनती थी। लड़की है क्या...? जो ऐसा भांय-भांय करके रो रहा है? लड़के रो क्यों नहीं सकते? यह सवाल था, लेकिन जवाब नहीं था। ब्राह्मण परिवार में जन्म हुआ... घरेलू कामकाज के लिए, जो सहयोगी घर में आती थीं... वह उन्हें आंटी कहती थी, लेकिन बाकी आंटियों की तरह उन्हें सोफे पर बैठने की इजाज़त क्यों नहीं थी? सवाल था, लेकिन इसका जवाब नहीं था। कॉलेज गई, तो दूसरे समुदाय के छात्र से दोस्ती हुई। पिता को मालूम चला, तो उन्होंने नाराजगी जताई। क्यों नाराज़ हुए थे पापा? सवाल था, लेकिन जवाब नहीं था। अजनबियों से लड़कियों को बात नहीं करना चाहिए... ट्रेन में कोई कुछ दे, तो नहीं खाना चाहिए... लड़कियों को शाम ढलने से पहले खेल छोड़कर घर आ जाना चाहिए... सवाल थे, लेकिन इनके जवाब नहीं थे। न परिवार ने गौर किया न समाज ने समझा इसे कि जो परिवेश दिया जा रहा है, वह धीरे-धीरे उस कच्ची मिट्टी में एक मजबूत धारणा में तब्दील हो रहा है। इनमें से कुछ धारणाएं समय और समझ के साथ टूटीं भी, लेकिन कुछ मिट्टी में पैवस्त हो गईं। सबसे बड़ी बात कि अनजाने वह भी धारणा बनाने लगी। फर्क बस इतना था कि पहले विज्ञान की विद्यार्थी होने की वजह से और फिर पत्रकारिता के पेशे में आने की वजह से अपनी ही धारणाओँ को उसने अपनी आंखों के आगे दरकते भी देखा, लेकिन माहौल ने उसे जो तर्बियत दी, उस माहौल में किसी भी व्यक्ति के लिए धारणा बना लेना... यह अनजाने ही उसके व्यक्तित्व का हिस्सा बन गया। वह एक व्यक्ति के तौर पर धारणा बनाती और एक पत्रकार के तौर पर जब गहराई तक जाती, तो उसकी अपनी ही धारणाएं दरकतीं। एक द्वंद्व निरंतर उसके भीतर चलता।

परिचय

पत्रकार, प्रोड्यूसर, कवि, कथाकार शिफाली पांडे की पहचान मैदानी मुद्दों को उठाने वाली संवेदनशील व्यक्ति के रूप में है। न्यूज चैनल न्यूज 18, सहारा समय, सी टीवी, एमएच 1, वॉयस ऑफ इंडिया तथा समाचार पत्र एलएल स्टार, दैनिक जागरण, स्वदेश और सांध्य प्रकाश में विभिन्न पदों पर कार्य किया है। शिफाली ने विभिन्न मीडिया हाउस के लिए रचनात्मक लेखन किया है। राजनीतिक और सामाजिक सरोकार वाली रिपोर्टिंग के शिफाली पांडे के लोकप्रिय चुनाव आधारित शो 'सियासी सफर' को ईएनबीए गोल्ड अवार्ड प्राप्त हुआ है। काव्य संग्रह 'नदी के आंसू' शीघ्र प्रकाश्य है।

धारणा बनाना और उन्हें जी-जाना, यह हिस्सा उसे उसके परिवेश ने दिया था। प्रोफेशन ने उसे हमेशा अनुमान की सीढ़ी पर चढ़ाया। अनुमान के इस्तेमाल के साथ उसने राजनीतिक रिपोर्टें लिखीं। नेताओं के बयान से ज्यादा उनकी बॉडी लैंग्वेज को सुनना सिखाया गया उसे। कई बार वह गलत भी हुई, लेकिन अनुमान की ये ही सीढ़ियां जाने कब उसके व्यक्तित्व का हिस्सा बनने लगीं। वह अपनी बनाई अनुमान की सीढ़ी पर चढ़ती-उतरती और बढ़ती। दूसरे लफ्ज़ों में कहें, तो यह उसका अपना चश्मा था दुनिया को देखने का, जो अनुमान से शुरू होता और कई बार आशंकाओं पर खत्म।

बेशक धरातल पर आते अनुमान की सीढ़ियां भी एक-एक कर ढह जाती थीं और आशंकाएं भी निर्मूल साबित होतीं कई बार, लेकिन यह अनुभव सबक नहीं बन पा रहे थे। वह इस सीढ़ी पर चढ़े बगैर बढ़ जाने की राह नहीं पकड़ पा रही थी, बल्कि यह अभ्यास बन चुका था कि वह पुराने अनुभव के आधार पर अनुमान लगाती और निर्णय तक पहुंच जाती। अपनी धारणा, अपना विश्वास और उसी के आधार पर निर्णय। क्यों? क्या? किसलिए? ...ये सवाल थे, लेकिन खुद पर लागू नहीं थे। अनुमान की सीढ़ी चढ़ते हुए अपने तथ्यों की पड़ताल की, लेकिन अपने विश्वास पर, अपने निर्णय पर, सवाल नहीं उठाए कि मैंने जो विश्वास बनाया, जिस निर्णय तक मैं पहुंची, इसके मूल में क्या है। खबरों में हमेशा दूसरे पक्ष को जिम्मेदारी के साथ दर्ज करती रही, लेकिन अपने जिस निर्णय के साथ आगे बढ़ी, ठहरकर उसके दूसरे पक्ष को नज़रअंदाज़ करती रही... यह मैं थी। संविधान फैलोशिप का हिस्सा बनने से पहले की मेरी उथल-पुथल दर्ज हुई है यहां। मेरी विचार प्रक्रिया यहां दर्ज करना इसलिए जरूरी थी कि फैलोशिप का हिस्सा बन जाने के बाद का फर्क साफ-साफ दिखाई दे।

परिवेश से बना नज़रिया और पत्रकारिता पर असर

पत्रकारिता एक ऐसा पेशा है, जो आपकी शख्सियत का हिस्सा बन जाता है। आपका नज़रिया... किसी भी व्यक्ति, स्थान, समुदाय को देखने की निगाह, सब बदल जाती है। ...तो संविधान फैलोशिप का हिस्सा बन जाने के पहले तक मेरे भीतर द्वंद्व थाएक तरफ मेरा परिवेश, दूसरी तरफ मेरी पत्रकारिता ने जो मुझे गढ़ा, उसमें खूबियां कम, खामियां ज्यादा दिखाई दीं मुझे। खबर लिख देने, उसे पाठकों-दर्शकों तक पहुंचाने के लिए केवल क्या-क्यों-कब-कहां-कैसे-कौन पर बात खत्म नहीं होती। संवेदनशीलता के साथ विषयों को छूने के बाद भी आप कई मूल्यों पर चूक कर जाते हैं। कई बार बहुत बचने के बावजूद, किसी व्यक्ति, दशा, व्यवस्था को देखने का जो चश्मा परवरिश के साथ मिला, वह आ ही जाता है। फिर खबर को पकड़ने के तय पैमानों के आगे भी कुछ है... संवेदनशीलता तक गई मेरी सोच ने अभी विषय को समग्रता से देखना नहीं सीखा था। मेरे मूल्यों ने, मेरी धारणाओँ ने और मेरे तजुर्बों ने जैसा मुझे गढ़ा था, उसे मुकम्मिल मानकर चल रही थी-बढ़ रही थी। यह जाने बगैर कि इसमें कितने सुधार की गुंजाइश है कि पत्रकार होने के नाते एक जागरूक नागरिक हूं मैं देश की, लेकिन अब भी समाज को देखने के मेरे नजरिये मैं संवैधानिक मूल्य दर्ज नहीं हो पाए हैं।

मैंटल ब्लॉक जो फैलोशिप की बदौलत दूर हुए

मेरी अपनी यह बयानी इसलिए कि पहले अपने मैंटल ब्लॉक बताने जरूरी थे, ताकि स्पष्ट हो सके कि बदलाव कहां-कहां, कैसे-कैसे आ रहा है। लिहाजा मैंने संविधान फैलोशिप में दाखिले के पहले के अपने मनोभाव विचार-प्रक्रिया को स्पष्ट करना बेहतर समझा। संविधान फैलोशिप में आवेदन, चयन और अपने विषय के साथ, उसमें आगे बढ़ने की प्रक्रिया... मेरे लिए ये सबकुछ संवैधानिक अधिकारों तक सीमित बात थी। अब तक पत्रकारिता में भी अधिकारों पर मैंने ज्यादा जोर दिया। बात कर्तव्यों की भी करती रही हूं कई बार, लेकिन संवैधानिक मूल्यों के नजरिये से परिवेश को देखना-समझना फैलोशिप की बदौलत मुमकिन हुआ, जो मुझे अब जाकर एक संवेदनशील जागरूक नागरिक बना रहा है।

जाहिर है, पत्रकारिता में भी इसके असर दिखना तय है। पत्रकारिता के पेशे में आने के बाद आलोचना मुझमें रच-बस गई थी। व्यवस्था में कितनी खामियां हैंनजरिया यही देखता था हमेशा। एकतरफा व्यवस्था ठीक हो जाए, तो व्यवहारगत दिक्कतें कहां मुश्किल पैदा करती हैं, इस पर ध्यान नहीं दिया। मिसाल के तौर पर मैं अपने विषय से जुड़ा एक उदाहरण प्रस्तुत करती हूंसरकारी अस्पताल में सुरक्षित डिलेवरी के लिए सारे बंदोबस्त थे। गर्भवती महिला, जिसकी मैंने स्टोरी की, उसका पूरा इलाज यहीं चला। नौ महीने पूरे होने पर डिलेवरी के लिए भर्ती भी यहीं हुई।

सरकार की ओर से मिलने वाली सारी सुविधाएं इस महिला को भी प्राप्त हुईं, जिनमें आर्थिक सहयोग से लेकर नियमित

नि:शुल्क जांच तक सब शामिल हैं। सरकार की ओर से मातृत्व को लेकर जिन योजनाओं का लाभ उस महिला को मिलना चाहिए वह भी मिला, लेकिन इस महिला के लिए अपनी पहली डिलेवरी का अनुभव किसी दु:स्वप्न की तरह हो गया। यह क्यों हुआ, क्योंकि सिस्टम में मौजूद जो लोग थे, उनका व्यववहार मानवीय नहीं था। घटना यह थी कि डॉक्टर या नर्स की गैर-मौजूदगी में इस महिला की डिलेवरी हो गई। उसे डिलेवरी के लिए ऑपरेशन थियेटर में भी नहीं ले जाया जा सका। हालांकि ऐसा नहीं था कि कोई सुविधा नहीं थी।

बतौर पत्रकार मैं इस खबर को लापरवाही के तौर पर ही लिखती। अमूमन इस तरह की खबरों में लिखा जाता है कि सरकारी अस्पतालों का लचर रवैया या लापरवाही। सिस्टम की आलोचना के साथ बात खत्म हो जाती, लेकिन यहां मानवीय मूल्यों का ह्रास दिखाई दिया। जो नर्स या डॉक्टर ड्यूटी पर थी, उनकी मानवीयता उनका समानता का बर्ताव और उस गर्भवती महिला की गरिमा का ख्याल... ये मूल्य सिरे से गायब थे। सुविधाएं थीं, लेकिन संवेदनशीलता जो होना चाहिए थी, सजगता जो होना चाहिए थी मानवीय मूल्यों के साथ, वह दिखाई नहीं दी और नतीजा यह कि एक मां के लिए उसका पहला मातृत्व अनुभव खौफनाक हो गया।

क्या हम इस बात की कभी परवाह करते हैं कि किसी महिला के लिए मातृत्व का अनुभव डरावना हो जाना, कितना बड़ा संकट है। क्या हम इस बात की परवाह करते हैं कि सड़कों पर डिलेवरी हो जाना, केवल अव्यवस्था का मामला नहीं है.. बड़ा मुद्दा उस महिला की गरिमा का भी तो है। अपने ही आसपास दशकों से एक ही धार में लिखी जा रही खबरों को लेकर मेरी समझ कुछ और विस्तृत हो पाई। नई खिड़कियां खुलीं। संवैधानिक मूल्यों के नजरिये से अपने परिवेश और पत्रकारिता को देख पाई, तो संविधान फैलोशिप की बदौलत ही यह मुमकिन हो पाया।

इस फैलोशिप का हिस्सा बनने के पहले तक वाकई मुझे यह स्पष्ट नहीं था कि यही असल में संवैधानिक मूल्य हैं, जो कि संविधान में मिले अधिकारों से भी ज्यादा कीमती हैं और जरूरी भी। खैर, तो इस मानस के साथ मैं संविधान की फैलोशिप का हिस्सा बनी कि मुझे हक के नजरिये अपने विषय को देखना है। मेरा विषय मातृत्व था। ...और जैसा कि अमूमन होता है पत्रकार विषय तय होते ही कहानियां तलाशने लगता है। मैं भी वही कर रही थी। कहानियां तलाश रही थी.. और इन कहानियों में तलाश रही थी कि अधिकारों पर कहां चोट हुई। शुरूआत के तीन महीने इसी असमंजस के रहे मैं यह पूरी साफगोई से कह सकती हूं।

मेरे मेंटर वरिष्ठ गांधीवादी चिंतक, लेखक चिन्मय मिश्र हालांकि शुरू दिन से मुझे यह बताने की कोशिश कर रहे थे कि जहां तुम्हारी खबर खत्म होगी, वहां से यह फैलोशिप शुरू होती है। मैं सच में तब समझ नहीं पाई। एक स्त्री को सुरक्षित डिलेवरी का अधिकार नहीं मिल रहा... संविधान फैलोशिप के लिए इस केस स्टडी के चयन के बाद, मुझे उसे किस नजरिये से देखना है, यह चिन्मय सर की उस समझाइश के साथ आया कि जहां से तुम्हारी खबर खत्म होगी, फैलोशिप वहां से शुरू होगी। एक पूरे गांव को अंधविश्वास में कैद किए हुए मेरी यह केस स्टडी सिर्फ अंधविश्वास की कहानी नहीं थी। इसमें एक मां के लिए जरूरी समानता का व्यवहार, उसकी गरिमा, न्याय ये मानवीय मूल्य दर्ज ही नहीं थे, जबकि असल कहानी यही थी। संविधान फैलोशिप से आए बदलाव इस रिपोर्ट के तौर पर दर्ज हुए।

जाति का प्रमाण लेने बाप का नाम कहां से लाएं?

मजूरी में मां बन गई!

बेड़नियों की बेड़ियां...

नामग्राहकों से हर दिन नए मिल जाते हैं...

कामजब तक पैसे उड़ते रहें नाचना है इन्हें...

समुदाय को कहा जाता है बेड़िया...

...लेकिन मजूरी में मां बन जाने वाली इन महिलाओं का सम्मानजनक जिंदगी में लौटना एक सवाल पर अटक गया है... सवाल कि पहले अपने बच्चों के पिता का नाम बताएं?

नाचने वाली... रातों की मल्लिका... हसीना... धड़कन... नाम तो दे दिए गए, पर बेड़िया समाज की ये औरतें समाज में सम्मान की जिंदगी में लौटना चाहें, तो रास्ता नहीं बेड़ियां मिली हैं इन्हें... जो पहचान इन्हें मिली, इनके बच्चों तक न पहुंचें उसके साए... झूमते-घूमते थक गईं बेड़िया जाति की ये महिलाएं अपने लिए भी अब सुकून का काम चाहती हैं और बच्चों के लिए सम्मानजनक नौकरी, लेकिन सरकारी योजनाओं के लाभ से लेकर नौकरी तक जरूरी जाति प्रमाण-पत्र बनवाने पर इनसे पूछा जा रहा है कि पहले अपने बच्चों के पिता का नाम लेकर आएं।

पिता का रिकार्ड कहां से ले आएं

बलिया बाई (परिवर्तित नाम) शुरूआत ही इस सवाल से करती है, कौन चाहता है रातभर नाचना? कौन चाहता है इस उम्र में भी छेड़छाड़ हो उसके साथ? मैंने एचआईवी के कार्यक्रम में एजुकेटर की ट्रेनिंग ली थी। पंद्रह सौ रुपए मिलते थे। उसी के दम पर आशा कार्यकर्ता के लिए भी कोशिश की, लेकिन जाति प्रमाण-पत्र में अटक गया काम। जाति का प्रमाण नहीं है मेरे पास। मैंने यही काम करके अपने बच्चों को पढ़ाया-लिखाया। उनकी सरकारी नौकरी लगाना है, उसमें भी जाति प्रमाण-पत्र चाहिए। बनवाने जाओ तो कहते हैं पिता का रिकॉर्ड लेकर आओ। बाप का नाम निकलवाओ कहते हैं। हम कहां से दें और कौनसे बाप का नाम दें? वे तो छोड़ जाते हैं बच्चे। कह देते हैं तुम रखना हम आएंगे। कौन आता है लौटके फिर?

हर सरकारी योजना का लाभ अटका

जाति प्रमाण-पत्र नहीं बन पाता, तो महिलाओँ और बच्चों के लिए चलाई जा रही सरकार की योजनाओँ के लाभ से भी ये अछूती रह जाती हैं। गांव में बच्चे आंगनवाड़ी तो जाते हैं, लेकिन लाड़ली लक्ष्मी योजना में इनका नाम लिखवा पाना बड़ी चुनौती है। इन्हें संभालने और अंधेरे से निकालने कोई सहयोग, आर्थिक संबल नहीं मिल पाता है, तो मजबूरन एक के बाद हर पीढ़ी इसी पेशे के हवाले होती जाती है। नब्बे के दशक में इन महिलाओं को वेश्यावृत्ति से बाहर निकालने के लिए 'जवाली योजना' भी शुरू की गई, लेकिन 1992 में शुरू की गई इस योजना का हश्र भी यह हुआ कि 2019 में आई कैग रिपोर्ट बताती है कि जवाली योजना के लिए जारी की गई राशि में से महिला बाल विकास विभाग ने 88.32 हिस्सा उपयोग ही नहीं किया।

नर्सिंग का कोर्स अटक गया

सुशीला बाई (परिवर्तित नाम) कहती हैंमैं इस काम से थक गई थी, छोड़ना चाहती हूं। नर्सिंग का कोर्स करवा रही थी मेरी मां कि नौकरी लग जाएगी, तो रात-रात भटकना नहीं पड़ेगा, लेकिन वहां जाति प्रमाण-पत्र मांग रहे हैं। सुशीला को अपनी बेटी का नाम भी लाड़ली लक्ष्मी योजना में दर्ज करवाना है, लेकिन वहां भी यह प्रमाण चाहिए। ...और प्रमाण-पत्र बनवाने जाओ, तो पिता का सवाल पूछा जाता है। सुशीला कहती हैं सरकारी योजनाओं का लाभ भी नहीं मिल पाता। अब लाड़ली बहन योजना के तहत महिलाओं को एक हजार रुपए महीने मिलेंगे। हमको वे भी नहीं मिल पाएंगे, क्योंकि 'हमाए पास अपनी जाति का प्रमाण-पत्र नहीं है'।

जब तक नूर तब तक न्योछावर

प्रिया (परिवर्तित नाम) को 18 वां साल लगा है अभी। उसकी मां कहती है अभी इसकी डिमांड आती है। यहां पर सुंदरता से ही चलता है। जब तक खूबसूरती है न्योछावर भी खूब होती है। चालीस साल की उम्र के बाद फिर कोई नहीं ले जाता। जो छूट जाती हैं फिर रह जाती हैं। काम-धंधा सब बंद। अब हमारे गांव में ही कितनी हैं ऐसी, जो अब या तो अपनी बेटियों के भरोसे हैं कि वे कमा के खिला दें या फिर कोई काम-धंधा ढूंढ़ रही हैं। एक रात के इन्हें दो हजार से-चार हजार तक मिलते हैं। कई बार पूरी रात नाचना पड़ता है। न्योछावर अलग से मिलती है। प्रिया कहती हैन्योछावर चल रही होती है, तब तक हमारे पैर नहीं रुकते... नोट उड़ते जाते हैं, हम नाचते जाते हैं... फिर वह आगे जोड़ती हैजो अच्छी लगती है, उसे ले जाते हैं, जो छूट जाती है, उसको फिर धीरे-धीरे काम मिलना भी बंद हो जाता है।

मां बनना भी मजूरी

'पूरी रात के लिए ले जाई जाती हैं, लेकिन उस रात के लिए इन्हें पहले से तैयार गांव में ही किया जाता है।' सुशीला कहती है जो नथ उतारता है, उसी का सिंदूर लगाते हैं हम फिर जिंदगी भर। बाद में चाहे फिर हमारे साथ चाहे जो हो, जिसके बच्चे हों। बड़ी बात यह है कि इनका मां बन जाना भी इनकी मजूरी का हिस्सा होता है। फिर भी ये बच्चों को छोड़ती नहीं। बावजूद इसके कि मां बन जाने के बाद कोई साल भर तक काम करना मुश्किल होता है।

होली कमाई का सीज़न होता है

होली के दस-पंद्रह दिन पहले से इनकी बुकिंग शुरू हो जाती है। इसी दौरान गांव-देहात में लगने वाले मेले और शादी-ब्याह में इन्हें नाचने ले जाया जाता है। अब यह काम छोड़ चुकी बेदू बाई बताती हैहोली पर सालभर की कमाई कर लेते हैं। इन्हीं दिनों सबसे ज्यादा पार्टियां ले जाती हैं। मेला भरता है उसमें जाती हैं। शादी-ब्याह में ले जाते हैं। होली का प्रोग्राम होता है, उसमें नचाते हैं, लेकिन जब तक चेहरे पर नूर है, तब तक ही ये काम मिलता है।

सूखा करारा की पहचान बेड़िया

रायसेन जिले के सूखा करारा और दुलई समेत तीन गांव हैं, जिन गांवों की शिनाख्त ही बेड़िया समाज से कर दी गई है, क्योंकि इन गांवों में इसी समाज की बड़ी आबादी रहती है। हरबो बाई की उम्र गुजर गई इसी पेशे में। वे कहती हैंअब गांव को तो बदनाम नहीं करना चाहिए। जो लड़कियां नहीं जा रहीं इस धंधे में वे भी बदनाम हो जाती हैं। इस गांव में किसी के आने का मतलब ही यह निकाल लिया जाता है... हरबो कहती हैंहमारे यहां भी सब थोड़े ही यह करते हैं। जिनकी शादी करना है, वे लड़कियां नाचने नहीं जातीं न बहुएं जातीं, लेकिन पूरे गांव को ही एक नजर से देखते हैं लोग। ...और हालत यह हो जाती है कि बेटा बदनामी के डर से मां के साथ नहीं चलता।

हम भी इंसान ही हैं..

संतो बाई (परिवर्तित नाम) दसवीं तक पढ़ी हैं। बुनियादी सवाल उठाती हैं... मीडिया से पूछती है... क्यों आते हैं हमारी स्टोरी करने लोग? हम अजूबे हैं क्या? क्यों अलग है हम समाज से? क्यों बेड़िया कहते हमको? हम भी आप लोगों की तरह हाड़-मांस के इंसान हैं। हमसे ऐसा भेदभाव क्यों किया जाता है? क्यों अलग नजर से देखा जाता है हमें? समाज में भी समानता का व्यवहार नहीं। सिस्टम से भी न्याय नहीं। जो आवाज़ बन सकते हैं -संतो के शब्दों मेंवह चौथा स्तंभ भी उन्हें संवेदना नहीं, सनसनी की तरह पेश करता रहा है।

... और अंतिम सच यह है कि बेड़िया जाति की महिलाओं की इस हकीकत में न्याय सिरे से गायब है!

पॉक्सो एक्ट: न्याय की धीमी रफ्तार, अन्याय का हथियार

श्रुति अग्रवाल

परिचय

दो दशक से पत्रकारिता कर रही श्रुति अग्रवाल ने प्रिंट, इलेक्ट्रॉनिक, वेब, रेडियो सहित मीडिया के सभी प्लेटफार्म पर कार्य किया है। विश्व प्रसिद्ध पुस्तक 'जोरबा द ग्रीक' का हिंदी में अनुवाद करने वाली श्रुति अग्रवाल का साहित्य आजतक पर शो 'औरतनामा' खासा चर्चित हुआ है। इस फैलोशिप के तहत श्रुति अग्रवाल ने यौन अपराधों से बच्चों का संरक्षण अधिनियम, 2012 (पाक्सो) में न्याय प्रक्रिया को संवैधानिक मूल्यों की दृष्टि से जानने, समझने का प्रयास किया है।

जीवन में जब पहली बार एक मासूम बच्ची के दुष्कर्म का केस रिपोर्ट किया था, तब याद है घर पहुंचते समय भी आंखों की कोरें गीली थीं। यह गीलापन आंखों से लेकर पांव के मोजों तक पसरा हुआ था। पांव भी पसीजे थे या रो रहे समझना मुश्किल था। बच्ची के परिजन भी उसकी मृत देह को देख नहीं पा रहे थे। साल 2000 से लेकर आज तक लगातार ना जाने कितनी खबरें आंखों के सामने से गुजरी हैं, हर खबर सुन्न कर जाती है। दुधमुंही बच्ची से लेकर किशोरों तक से दुर्दांत बलात्कार औऱ हत्या। उस पर यदि न्याय सही समय पर ना मिले तो... 'न्याय की धीमी रफ्तार, अन्याय का हथियार बन जाती है।' इसलिए समय पर न्याय होना आवश्यक है। खासतौर पर उन केसों में जहां न्याय की प्रक्रिया धीमी होने के कारण पीड़ित मानसिक और समाजिक प्रताड़ना का लगातार सामना करे। उसे 'तारीख पे तारीख' की तर्ज पर बार-बार न्यायालय के चक्कर ना काटने पड़ें। पीड़ित को त्वरित न्याय मिले। उसे न्याय में देरी न्याय के इंकार के समान महसूस ना हो।

फास्ट ट्रैक कोर्ट की स्थापना न्यायिक प्रणाली को तेज और अधिक प्रभावी बनाने के उद्देश्य से की गई थी। भारत में ये अदालतें मुख्य रूप से उन मामलों के त्वरित निपटारे के लिए बनाई गई थीं, जिनमें देर होने से पीड़ितों को गंभीर मानसिक, सामाजिक या कानूनी नुक्सान हो सकता था। फाइनेंस कमीशन की सिफारिश पर केंद्र सरकार ने इसके लिए विशेष अनुदान दिया था। सन 2000 में भारत सरकार ने पहली बार फास्ट ट्रैक कोर्ट की शुरूआत की। इसके उपरांत निर्भया कांड के बाद बलात्कार और यौन हिंसा के मामलों की तुरंत सुनवाई के लिए फास्ट ट्रैक की विशेष अदालतें बनाई गईं, जिनका उद्देश्य बलात्कार, यौन उत्पीड़न और पॉक्सो अधिनियम के अंतर्गत आने वाले मामलों की शीघ्र सुनवाई करना था। सन 2012 में भी निर्भया जैसा दुर्दांत दुष्कर्म हुआ था, इसी साल बच्चों को यौन शोषण से बचाने के लिए पॉक्सो अधिनियम बना था।

देश में फास्ट ट्रैक स्पेशल कोर्ट्स (FTSCs) के माध्यम से पॉक्सो अधिनियम के अंतर्गत मामलों की शीघ्र सुनवाई करने का प्रयास किया जा रहा है, जो लगभग सिफर ही नजर आ रहा है। जनवरी 2023 तक 2,43,237 से अधिक पॉक्सो मामले फास्ट ट्रैक स्पेशल कोर्ट में लंबित थे। यदि कोई नया मामला ना भी जोड़ें, तो भी इस बैकलॉग को समाप्त करने में कम से कम 9 साल का समय लगेगा। वहीं 2024 में देशभर में लगभग 88,902 नए पॉक्सो के केस दर्ज हुए हैं। यदि हम मध्यप्रदेश की बात करें, तो प्रदेश के उच्च नयायालय ने राज्य में पॉक्सो मामलों की बढ़ती संख्या पर दिसंबर 2024

में स्वतः संज्ञान लिया था। इसमें जानकारी सामने आई कि तीनों पीठों में कुल 14,531 आपराधिक अपीलें लंबित हैं। मुख्य न्यायाधीश सुरेश कुमार कैत और न्यायमूर्ति विवेक जैन की खंडपीठ ने इस स्थिति पर संज्ञान लेते हुए केंद्र और राज्य सरकारों को नोटिस जारी किया था।

न्यायालय ने पॉक्सो अधिनियम की धारा 43-44 के तहत अधिनियम के प्रचार प्रसार और निगरानी की जिम्मेदारी निभाने के उद्देश्य से अधिनियम के प्रचार-प्रसार और निगरानी की जिम्मेदारी निभाने के लिए संबंधित अधिकारियों को निर्देशित किया था। इन धाराओं के अनुसार सरकारों का दायित्व है कि वे अधिनियम के प्राविधानों के बारे में जनता, बच्चों, माता-पिता और अभिभावकों को जागरुक करें और संबंधित अधिकारियों को नियमित प्रशिक्षण प्रदान करें। इस पहल का उद्देश्य पॉक्सो अधिनियम के प्रभावी क्रियान्वयन को सुनिश्चित करना था। साथ ही बच्चों के खिलाफ यौन अपराधों को रोकने के लिए जागरूकता बढ़ाना है।

यहां तो हमने उन आपराधिक अपीलों-मुकदमों का जिक्र किया है, जो लंबित हैं। वहीं, मध्यप्रदेश के कई ऐसे भी चर्चित केस रहे हैं, जिनकी सुनवाई फास्ट ट्रैक कोर्ट के माध्यम से बहुत जल्दी की गई, लेकिन उनका भी अंतिम परिणाम संतोषजनक नहीं रहा। उदाहरण के लिए मध्यप्रदेश की व्यावसायिक राजधानी कहे जाने वाले इंदौर के ऐतिहासिक क्षेत्र राजबाड़ा में नाबालिग बच्ची के साथ दुष्कर्म का मामला। यहां 20 अप्रैल, 2018 को एक चार माह की दुधमुंही बच्ची के साथ दुष्कर्म और हत्या का दुर्दांत मामला सामने आया था।

इस घटना ने पूरे देश को झकझोर कर रख दिया था। संभवतः यह देश में सबसे मासूम-कम उम्र की बच्ची के साथ दुष्कर्म और हत्या का मामला था। इस मामले में आरोपी नवीन गड़के, जो पीड़िता की मां का चचेरा भाई था, को इंदौर जिला सत्र न्यायालय ने मात्र 23 दिन में दोषी ठहराते हुए मृत्युदंड की सजा सुनाई थी। इसके बाद हाईकोट ने भी सजा को बरकरार रखा था, किंतु मार्च 2019 में सुप्रीमकोर्ट ने इस सजा पर रोक लगा दी। जिला कोर्ट के अधिवक्ता महेंद्र मौर्य का कहना है कि यहां सुप्रीमकोर्ट ने न सिर्फ सजा पर रोक लगाई, बल्कि केस की पुनः सुनवाई के आदेश दिए थे।

इस केस में आम लोगों का गुस्सा उबाल पर था। साथ ही वकीलों ने सामूहिक रूप से इस केस को आरोपी की ओर से लड़ने के लिए मना कर दिया था। बाद में न्यायालय की तरफ से आरोपी को वकील उपलब्ध कराया गया था। इस जिद्दोजेहद में कई दिन बीत गए थे। वहीं केस फास्ट ट्रैक में चल रहा था। जब तक कोर्ट का निर्णय आया आरोपी के पक्षकार वकील को चालान की कॉपी भी नहीं मिली थी।

वकील महेंद्र मौर्य का मानना है फास्ट ट्रैक कोर्ट का यूं अर्थ नहीं है। न्यायालय में लंबित प्रकरणों की लंबी सूची है। देखा जाए तो फास्ट ट्रैक कोर्ट फौरी तौर पर आम लोगों का गुस्सा शांत करती है। ऐसे केस, जिनमें जनता की भावनाएं बहुत उद्वेलित होती हैं, उनमें तुरत-फुरत फैसले कर दिए जाते हैं, लेकिन भारतीय न्याय दंड संहिता का मानना है दोषी भले ही छूट जाए, किंतु किसी निर्दोष को सजा नहीं होनी चाहिए। इसलिए आरोपी के पास जिलाकोर्ट के बाद हाईकोर्ट और सुप्रीमकोर्ट जाने की सुविधा है, जिसके कारण त्वरित न्याय सिर्फ एक संतोषप्रद आश्वासन मात्र है, वास्तविकता नहीं। इंदौर की चार माह की मासूम बच्ची की ही तरह का केस नर्मदापुरम का है।

सन 2024 में नर्मदापुरम जिले की सोहागपुर अदालत ने एक पांच वर्षीय बच्ची के बलात्कार और हत्या के मामले में आरोपी को मृत्युदंड दिया था। यह निर्णय सोहागपुर न्यायलय के 125 वर्ष के इतिहास में पहली बार था, जब किसी आरोपी को मृत्युदंड दिया गया हो। जिला कोर्ट के जज ने इस दुष्कर्म और हत्या की घटना को रेयर ऑफ द रेयरेस्ट माना था। इस केस की अपील भी अभी उच्च न्यायालय में लंबित है।

यदि हम समग्र रूप से देखें, तो पॉक्सो कानून में मृत्युदंड की सजा अप्रैल 2019 से लागू की गई थी। यह बदलाव 'Protection of Children From Sexual Offences (Amendment) Act , 2019' के जरिए किया गया था। इस संशोधन के तहत 12 साल की उम्र की बच्चियों से बलात्कार (Aggravated Penetrative Sexual Assault) के मामले में मृत्युदंड की सजा का प्राविधान जोड़ा गया था। पहले अध्यादेश पारित हुआ, जिसे 5 अगस्त, 2019 को राष्ट्रपति की मंजूरी मिलने के बाद लागू किया गया। इसमें कहा गया कि यदि कोई व्यक्ति 12 वर्ष से कम आयु की बच्ची के साथ गंभीर यौन अपराध करता है, तो उसे कम से कम बीस साल की सजा (आजीवन कारावास) या मृत्युदंड भी हो सकता है। इस संशोधन के बाद पहला मृत्युदंड का प्राविधान मध्यप्रदेश में ही हुआ था।

मामला प्रदेश के सागर जिले का था। इस केस में वीरेंद्र आदिवासी नामक आरोपी ने 9 अप्रैल, 2019 को एक नाबालिग बच्ची का अपहरण किया था। बलात्कार के बाद बच्ची की हत्या कर दी गई थी। इस अपराध के लिए जुलाई 2021 में सागर की एक विशेष पॉक्सो अदालत ने आरोपी को अपराधी मान मृत्युदंड की सजा सुनाई थी। इस मामले की अपील भी अभी ऊपरी अदालत के लिए लंबित है। यूं भी यदि हम समग्र रूप से देखें, तो भारत की न्याय व्यवस्था में मृत्युदंड बहुत कम परिस्थितियों में ही सर्वोच्च अदालत जारी रखती है। भारत में अंतिम फांसी 20 मार्च, 2020 को निर्भया गैंगरेप एवं दुर्दांत हत्या के मामले में चार दोषियों अक्षय ठाकुर, मुकेश सिंह, पवन गुप्ता और विनय शर्मा को दी गई थी। चारों को दिल्ली की तिहाड़ जेल में एक साथ फांसी पर लटकाया गया था। इससे पहले 30 जुलाई, 2015 को याकूब मेमन को नागपुर की सेंट्रल जेल में फांसी दी गई थी। वह 1993 के मुंबई बम धमाकों का अपराधी था। भारत में फांसी की सजा दुर्लभतम से दुर्लभ मामलों में दी जाती है। यह प्रक्रिया लंबी न्यायिक समीक्षा, अपील और दया याचिकाओं से गुजरती है।

वर्तमान में कई दोषी, जिनमें से अनेक पॉक्सो अधिनियम के तहत दोषी पाए गए हैं, उनकी सजाएं लंबित हैं। फास्ट ट्रैक कोर्ट में निर्णय होने के बाद भी अंतिम निष्पादन से पहले कानूनी प्रक्रियाएं जारी हैं।

यहां तो हमने उन दुर्लभतम घटनाओं पर आधारित केसों पर चर्चा की है, जिनमें फास्ट ट्रैक कोर्ट ने फांसी की सजा दी है। कई अन्य केस, जो इतने रेयर या रेयर ऑफ द रेयरेस्ट नहीं हैं, वहां भी मामले लंबे समय से लंबित हैं। ये समस्याएं सिर्फ मध्यप्रदेश में नहीं, बल्कि राष्ट्रीय स्तर पर भी देखी जा रही हैं। उनके कई कारण हैं, जिनमें मुख्य बिंदु कुछ इस प्रकार हैं

सबूतों की कमी और गवाहों का मुकर जाना

पॉक्सो केस के संदर्भ में देखा गया है कि अनेक मामलों में पीड़िता या उसके परिवार के सदस्य अदालत में अपने पहले दिए गए बयानों से पलट जाते हैं। कई मामलों में यह भी देखा गया कि बयान में साम्यता नहीं पाई गई है। इससे आरोपी को संदेह का लाभ मिल जाता है। सुप्रीमकोर्ट ने भी इस तथ्य पर चिंता जताई है कि जब शिकायतकर्ता और गवाह अपने बयान से मुकर जाते हैं, तो आरोपी को बरी तो किया जा सकता है, लेकिन इस तरह के बरी आरोपी को साफ-सुथरा नहीं माना जा सकता। यहां पॉक्सो के संदर्भ में सबसे महत्वपूर्ण तथ्य यह भी आता है कि नाबालिग बच्चे बहुत मजबूती से अपने बयान दर्ज नहीं करा पाते। उनके बयान दर्ज करवाने के लिए काउंसलर की मदद ली जाती है। इस संदर्भ में भी कई बार बयान दर्ज होने में लंबा वक्त लगता है। पीड़ित को मानसिक रूप से तैयार करना होता है। ऐसे में कुछ दिनों के अंदर सुनवाई करना बेहद मुश्किल होता है। यदि पीड़ित की हत्या हो जाए, तो यह कठिनाई और गंभीर हो जाती है।

कई बार पीड़ित अपनी समस्या भी खुलकर नहीं बता पाते। परिजन भी शर्मनाक वाक्या समझ केस जल्द-से-जल्द खत्म करना चाहते हैं। वह न हो, तो आउट ऑफ कोर्ट सेटलमेंट खोजा जाता है। कुछ इसी तरह का मामला सांवेर क्षेत्र में सामने आया था। यहां एक मजदूर की 13 साल की बेटी को अचानक पेट दर्द हुआ। डॉक्टर को दिखाने के बाद पता चला वह

गर्भवती है। आखिरी समय चल रहा है, प्रसव कभी भी हो सकता है। बच्ची को नाबालिग जान डॉक्टर ने पुलिस से संपर्क किया। जांच में पता चला पड़ोसी आदमी जो पहले से ही शादीशुदा है, उसने बच्ची को बहलाया-फुसलाया था। केस दर्ज हुआ। नाबालिग को जो बच्चा हुआ, उसे परिजनों ने उज्जैन के एक अनाथाश्रम में दे दिया और बच्ची की मुख्यमंत्री कन्यादान योजना में शादी करवा दी। उसके बाद आरोपी पक्ष ने शादी की फोटो दिखाकर यह दावा किया कि लड़की बालिग है। यह केस अंजाम तक पहुंचने से पहले ही खत्म हो गया। इस तरह न्याय में देरी कहीं न कहीं अन्याय का हथियार बन जाती है। हमारे समाज की व्यवस्था ऐसी है कि इसमें आरोपी तो खुलेआम आराम से घूमता है, लेकिन पीड़िता के लिए यह शर्म का विषय हो जाता है। अधिकांश मामलों में परिजन अपना घर बदल लेते हैं या फिर बच्चों को अपने किसी रिश्तेदार के यहां भेज देते हैं। इसलिए पॉक्सो जैसे मामलों में फास्ट ट्रैक कोर्ट की आवश्यकता सर्वाधिक है, क्योंकि बच्चे नादान, नाबालिग होते हैं, इसलिए इस तरह के केस का असर उन पर बहुत लंबे समय तक रहता है। यदि केस का निपटान जल्दी होगा, तो वे कड़वी यादों से जल्दी पीछा छुड़ा पाएंगे। निम्न बिंदुओं से समझा जा सकता है कि फास्ट ट्रैक कोर्ट में त्वरित न्याय क्यों नहीं हो पा रहा है।

फास्ट ट्रैक कोर्ट की संख्या अपर्याप्त

मध्यप्रदेश में दर्जनों जिले हैं, लेकिन पॉक्सो के मामलों में समर्पित फास्ट ट्रैक कोर्ट की संख्या सीमित है। प्रदेश में पॉक्सो अधिनियम के तहत मामलों की त्वरित सुनवाई के लिए 67 फास्ट ट्रैक स्पेशल कोर्ट कार्यरत हैं, लेकिन पेंडिंग केस की संख्या इनसे कहीं अधिक है।

न्यायाधीशों की कमी औऱ तबादले

फास्ट ट्रैक कोर्ट में अक्सर प्रशिक्षित न्यायाधीशों की कमी देखी जाती है। कई बार मामलों के बीच में जजों के तबादले हो जाते हैं, जिससे सुनवाई में व्यवधान उत्पन्न होता है। यहां नाबालिग पीड़ित से गवाही लेना बेहद मुश्किल होता है। कच्ची उम्र में पीड़ित जो पहले ही ट्रामा से गुजर रहे हैं, वे समझ ही नहीं पाते कि उन्हें कोर्ट में खुद को कैसे अभिव्यक्त करना है।

पुलिस जांच में विलंब

पुलिस जांच, मेडिकल रिपोर्ट, फॉरेंसिक सबूत आदि की प्रक्रिया में अत्यधिक समय लग जाता है। जांच अधिकारी बदलने से फाइलें लटक जाती हैं। इसके साथ ही नाबालिग पीड़ितों से बात करना भी आसान नहीं है। काउंसलर की मदद से बच्चों से घटनाक्रम की जानकारी ली जाती है। यह भी काफी समय लेता है।

प्रॉसिक्यूटर की तैयारी अधूरी

सरकारी अभियोजकों पर कई केसों का भार होता है। वे पॉक्सो जैसे संवेदनशील मामलों के लिए अलग से पर्याप्त समय नहीं दे पाते। वहीं, कई बार दुर्दांत रेप और हत्या जैसे केसों में वकील समुदाय खुद को अलग कर लेते हैं तथा घोषणा कर देते हैं कि वे इस तरह के केस नहीं लड़ेंगे। इसके बाद ऊपरी निर्देश से आरोपी के लिए भी वकील की नियुक्ति की जाती है। इस प्रक्रिया में भी काफी वक्त लग जाता है।

गवाहों और पीड़ित का मुकरना

हमारे समाज में बलात्कार को शर्म का विषय बना दिया जाता है। आरोपी से इतर कई बार पीड़ित का जीना मुहाल कर दिया जाता है। अतिरिक्त दबाव आने से पीड़ित और गवाह अपने बयान पर कायम नहीं रह पाते हैं या उनके बयान में मत-

भिन्नता आती है। कई बार वे बयान से पलट जाते हैं। ऐसे समय में भी केस कमजोर होता है और निर्णय टलता जाता है।

समाज और परिवार की भूमिका

भारतीय समाज में पॉक्सो के मामलों को समाजिक शर्म से जोड़ा ही जाता है। समाज के वरिष्ठ लोग भी कई बार केस वापस लेने का दबाव बनाते हैं, ताकि बेटी की शादी या इज्जत बची रहे। ऐसे में पीड़िता औऱ उसके परिवार के लोग लंबी न्यायिक प्रक्रिया से गुजरने का साहस नहीं कर पाते हैं। कई बार वे समय पर न्यायालय में उपस्थित नहीं होते, जिसके कारण भी केस लंबा खिंच जाता है।

न्यायिक प्रणाली की संरचनात्मक कमियां

हालांकि अधिनियम के अंतर्गत यह प्राविधान है कि हर पॉक्सो केस को एक वर्ष के भीतर ही निपटाया जाए, लेकिन जमीनी हकीकत इससे उलट है। राज्य में न तो पर्याप्त विशेष न्यायालय हैं, न ही केस ट्रैकिंग सिस्टम ही पूरी तरह से पारदर्शी है।

लंबित मामलों का प्रभाव

पीड़िता का मानसिक शोषण

वर्षों तक चलने वाली कानूनी प्रक्रिया से बच्चे मानसिक रूप से बहुत टूट जाते हैं। यह कच्ची-नादान उम्र है। एक तो दुर्घटना का मानसिक बोझ होता ही है, दूसरा केस लंबा चलने के कारण वे हमउम्र बच्चों से घुल-मिल नहीं पाते हैं, जिसके कारण उनका बचपन मुरझाने लगता है।

अपराधियों के हौसले बुंलद होना

न्याय में देरी से अपराधियों के हौसले बुलंद होते हैं। कई बार वे जमानत पर बाहर आकर पीड़ित और उसके परिजनों को धमकाते हैं। केस वापस लेने का दबाव डालते हैं। हमारे यहां तो यूं भी दबंग इस तरह की दुर्दांत हरकतें करने के बाद जमानत पर बाहर आकर जुलूस निकालते हैं, जलसा करते हैं।

सार्वजनिक विश्वास की हानि

जब समाज देखता है कि गंभीर अपराधों में भी तुंरत इंसाफ नहीं हो रहा तो वह सड़क पर न्याय करने की मांग करता है। बालात्कारियों का एनकाउंटर करना इसी सार्वजनिक विश्वास की हानि का परिणाम है। गंभीर अपराधों में तुरंत न्याय होना चाहिए ताकि लोगों का विश्वास कानून और संविधान में कायम रहे।

संभावित समाधान

1. **जिलावार फास्ट ट्रैक कोर्ट की स्थापना**
   हर जिले में कम से कम एक विशेष न्यायालय होना चाहिए, जो सिर्फ पॉक्सो केस की सुनवाई करे। अभी तो हमारे यहां कई ऐसे जिले हैं, जहां पूर्णकालिक न्यायालय भी नहीं है।
2. **विशेष न्यायाधीशों की नियुक्ति और प्रशिक्षण**
   पॉक्सो केस के जल्द निबटान के लिए जजों को बाल मनोविज्ञान और यौन अपराधों से संबंधित विशेष प्रशिक्षण करवाए जाने चाहिए। स्पेशल कोर्ट के साथ-साथ स्पेशल जजों की भी नियुक्ति होनी चाहिए।

3. **प्रॉसिक्यूटर और पुलिस के बीच समन्वय**
   समय पर चार्जशीट और साक्ष्य प्रस्तुत करने की व्यवस्था को सुदृढ़ किया जाना चाहिए। इसके लिए वकील और पुलिस के बीच अच्छा समन्वय होना चाहिए। अच्छी चार्जशीट का अर्थ होता है आधा केस न्यायालय पहुंचने से पहले ही हल हो जाना। वहीं कमजोर चार्जशीट के कारण कई बार आरोपी पर आरोप सिद्ध करना भी मुश्किल होता है।

4. **पीड़ित सहायता केंद्र (One Stop Center) को सशक्त करना**
   इस तरह के केंद्र बनाए जाने चाहिए, जहां पीड़ित को मेडिकल-लीगल-इमोशनल सारी सहायताएं एक ही छत के नीचे मिलें। इससे उसका मनोबल बढ़ेगा और वह बिना घबराए अपने बयान दे पाएगा।

5. **समाज में जागरूकता बढ़ाना**
   स्कूल, पंचायत और मीडिया के माध्यम से लोगों को यह सिखाना ज़रूरी है कि पॉक्सो मामलों को छिपाना नहीं, बल्कि रिपोर्ट करना ज़रूरी है। कई बार मामलों को छिपाने के चक्कर में साक्ष्य धुल जाते हैं या कमजोर हो जाते हैं इससे न्याय प्रक्रिया जटिल होती है। उसे पूरा करने में सामान्य से ज्यादा वक्त लगता है।

पॉक्सो अधिनियम भारत के सबसे आवश्यक और संवेदनशील कानूनों में से एक है, लेकिन यदि इसका क्रियान्वयन धीमा, ढीला और असंगठित हो, तो यह बच्चों के साथ अन्याय ही होगा। मध्यप्रदेश में जिस तरह से फास्ट ट्रैक कोर्ट में पॉक्सो मामलों की संख्या बढ़ रही है और उनका निपटारा वर्षों से लंबित है, वह राज्य की न्याय व्यवस्था की गंभीर चुनौती को दर्शाता है।

आज जरूरत है कि सरकार, न्यायपालिका, समाज और मीडियासभी मिलकर यह सुनिश्चित करें कि 'बचपन की रक्षा सिर्फ कानून से नहीं, बल्कि समय पर न्याय से होती है।'

शुभम बघेल

दगना कुप्रथा: आदिवासी इलाकों में क्रूरता की भयावह हकीकत

मध्यप्रदेश के आदिवासी अंचलों में एक पुरानी प्रथा जिसे, स्थानीय लोग 'दगना' कहते हैं, एक भयावह वास्तविकता बन चुकी थी। जब मैंने इस कुप्रथा के बारे में सुना, तो मुझे लगा कि यह अतीत की बात होगी, लेकिन जब मैंने खुद गांवों में जाकर इसका अनुभव किया, तो स्थिति कहीं अधिक गंभीर थी। 'दगना' कुप्रथा के बारे में जब मैंने सुना, तो यह सोचकर मैं खुद को रोक नहीं पाया कि इसे समझने और इसके समाधान के लिए इस मुद्दे पर गहराई से काम करना बेहद ज़रूरी है। आदिवासी इलाकों में यह प्रथा अब भी जारी है और इसने सैकड़ों मासूमों की जान को खतरे में डाल दिया है। इस प्रथा के अनुसार, बच्चों को कुपोषण या अन्य स्वास्थ्य समस्याओं के कारण गर्म सलाखों से दागा जाता है, ताकि उनका दर्द और बीमारी ठीक हो सके।

परिचय

स्नातकोत्तर शिक्षा के बाद दैनिक समाचार पत्र 'पत्रिका' में चीफ रिपोर्टर के रूप में कार्य करने वोल शुभम बघेल अपनी सरोकार वाली पत्रकारिता के कारण अल्प समय में ही शहडोल संस्करण के स्थानीय संपादक नियुक्त हुए। शहडोल जैसे आदिवासी बहुल क्षेत्र में व्याप्त 'दगना प्रथा' जैसे अंधविश्वास के अभियान चलाते हुए शुभम बघेल ने इस मुहिम को परिणाम तक पहुंचाने का दुरूह कार्य हाथ में लिया है। इस संवेदनशील मुद्दे पर लगातार रिपोर्टिंग के कारण प्रशासन कार्रवाई के लिए बाध्य हुआ है वहीं ग्रामीण जनता में चेतना का विकास हुआ है।

इस क्रूरता का सबसे खतरनाक पहलू यह है कि यह पूरी तरह से अंधविश्वास पर आधारित है और इसकी वजह से कई बच्चों की जान भी जा चुकी है। शहडोल संभाग में जानकारी जुटाते और शोध करते हुए यह जानकर मुझे आघात लगा कि वहां पिछले 10 साल में दो हजार से अधिक बच्चे इस कुप्रथा का शिकार हुए हैं। मेरे लिए यह बात समझ पाना बेहद कठिन था कि एक ओर जहां दुनियाभर में चिकित्सा विज्ञान में नित-नए आविष्कार हो रहे हैं, वहीं दूसरी ओर, हमारे कुछ आदिवासी गांवों में लोग अभी भी इस तरह के अंधविश्वासों का शिकार हैं। जब मैंने आदिवासी इलाकों का दौरा किया और इस प्रथा का अनुभव किया, तो यह देखकर लगा कि इस भयावह कुप्रथा को लेकर गांवों में जागरूकता का अभाव था। स्थिति इतनी गंभीर थी कि 10 साल में ही शहडोल संभाग में दो हजार से ज्यादा बच्चे इस प्रथा का शिकार हुए थे। इन घटनाओं से मुझे यह महसूस हुआ कि यह समस्या सिर्फ एक सामाजिक और सांस्कृतिक मुद्दा नहीं, बल्कि एक स्वास्थ्य और प्रशासनिक असफलता भी है। बुजुर्गों का कहना था कि इससे बच्चों का दर्द खत्म हो जाता है और वे स्वस्थ हो जाते हैं, लेकिन सच्चाई कुछ और थी। इस प्रक्रिया से बच्चों को स्थायी नुक्सान होता था, कभी तो मौत भी हो जाती थी।

जब मैंने सिंहपुर, जयसिंहनगर, उमरिया, देवगवां, सेमहरिया और खम्हरिया जैसे गांवों का दौरा किया, तो यहां की स्थिति को देखकर मैं दंग रह गया। लगभग 80 से 90 प्रतिशत बच्चों को बचपन में ही गर्म लोहे से दागा गया था। कुछ बच्चों के शरीर पर तो 50 से ज्यादा निशान थे। यह सिर्फ एक अव्यावहारिक इलाज नहीं, बल्कि एक क्रूर प्रथा बन चुकी थी। इन

घटनाओं के बाद, मैं यह सोचने पर मजबूर हुआ कि आखिर क्यों आदिवासी समुदाय इस प्रकार के अंधविश्वासों का पालन कर रहे हैं? क्या यह पूरी तरह से जानकारी की कमी के कारण है या फिर इसका कारण कुछ और है? मुझे यह महसूस हुआ कि यहां न केवल जागरूकता का अभाव था, बल्कि सरकारी योजनाओं की भी अनदेखी की गई थी।

इस प्रथा के खिलाफ आवाज उठाने वाले लोग बहुत कम थे और अगर कोई इस कुप्रथा को छोड़ने की कोशिश करता था, तो उसे सामाजिक बहिष्कार का सामना करना पड़ता था। विकास संवाद संविधान फैलोशिप का इस शोध यात्रा में अत्यधिक महत्वपूर्ण योगदान रहा। शुरूआत में जब यह मामला मेरे सामने आया, तो मैंने इसे पूरी तरह से एक कड़ी कानूनी कार्रवाई के रूप में देखा। जैसे कि परिजनों के खिलाफ एफआईआर दर्ज कर दी जाए, क्योंकि यह प्रथा बच्चों के प्रति क्रूरता और अत्याचार का रूप ले चुकी थी, लेकिन संविधान फैलोशिप के दौरान संवैधानिक मूल्यों संबंधी जानकारी के अध्ययन ने मेरी सोच को एक नई दिशा दी।

संविधान फैलोशिप ने मुझे यह समझाया कि किसी भी व्यक्ति के अधिकारों का उल्लंघन तब होता है, जब उसे बुनियादी सुविधाओं से वंचित किया जाता है। आदिवासी इलाकों में स्वास्थ्य सुविधाओं की भारी कमी है, जिसके कारण लोग अंधविश्वासों का शिकार हो जाते हैं। ग्रामीण इलाकों में स्वास्थ्य सेवाओं की स्थिति बेहद लचर है और जब गांववालों को किसी अन्य इलाज का कोई विकल्प नहीं मिलता, तो वे इस खतरनाक प्रथा को अपनाते हैं।

संवैधानिक दृष्टिकोण से यह स्पष्ट हुआ कि दगना प्रथा के पीछे केवल अज्ञानता और अंधविश्वास नहीं है, बल्कि यह पूरी तरह से स्वास्थ्य और शिक्षा की कमी का परिणाम है। मेरी सोच में भी बदलाव आया। पहले मुझे लगता था कि इस कुप्रथा को समाप्त करने के लिए केवल कड़ी कानूनी कार्रवाई करनी चाहिए, लेकिन संविधान फैलोशिप के सिद्धांतों ने मुझे यह सिखाया कि हमें ग्रामीणों के अधिकारों का भी सम्मान करना चाहिए। वे स्वास्थ्य सुविधाओं के अभाव में इस प्रथा को अपनाते हैं और यह उनके मूलभूत अधिकारों का उल्लंघन है। स्वास्थ्य सुविधाओं के अभाव की समस्या को समझने के बाद, मैंने इस बात पर जोर दिया कि दगना कुप्रथा का समाधान केवल कानूनी कार्रवाई से नहीं, बल्कि समाज में स्वास्थ्य और शिक्षा के बारे में जागरूकता बढ़ाने से होगा। जब तक गांवों में उचित स्वास्थ्य सेवाएं और इलाज की सुविधाएं नहीं पहुंचतीं, तब तक इस प्रकार के अंधविश्वासों को समाप्त नहीं किया जा सकता। इसके बाद, मैंने संवैधानिक दृष्टिकोण से इस मुद्दे को एक व्यापक रूप से देखने का प्रयास किया।

आदिवासी समुदाय के अधिकारों का सम्मान करते हुए, हमें उन्हें बुनियादी स्वास्थ्य सेवाएं और शिक्षा उपलब्ध कराना होगी। इससे न केवल वे अपनी परंपराओं और अंधविश्वासों से बाहर निकल पाएंगे, बल्कि उनके बच्चों की जान भी बचाई जा सकेगी। यह भी सिखाया कि किसी भी कुप्रथा के खिलाफ संघर्ष सिर्फ कानूनी दंड तक सीमित नहीं होना चाहिए, बल्कि हमें उस प्रथा के कारणों को समझते हुए संवेदनशीलता के साथ समाज में बदलाव लाने की जरूरत है। आदिवासी इलाकों में इस कुप्रथा को समाप्त करने के लिए हमें शिक्षा, स्वास्थ्य, और जागरूकता के क्षेत्र में ठोस कदम उठाने होंगे। मुझे विश्वास है कि दगना कुप्रथा का समाधान केवल जागरूकता और शिक्षा के माध्यम से किया जा सकता है। मैं उम्मीद करता हूं कि संवैधानिक दृष्टिकोण को अपनाकर आने वाले समय में हम इस कुप्रथा को जड़ से समाप्त करने में सफल होंगे।

मैदान की चार सच्चाइयां... जब आंकड़े नहीं, ज़ख्म बोलते हैं

इस कुप्रथा के पीछे केवल एक परंपरा या अंधविश्वास नहीं है, बल्कि वह दर्द और उपेक्षा है जिसे कई परिवारों और बच्चों ने झेला है। मेरी शोध यात्रा के दौरान जिन चार मामलों ने मुझे झकझोर कर रख दिया, वे इस समस्या की गंभीरता और सरकारी लापरवाही का प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

केस 1: आठ माह की मासूम और ढाई किलो का जीवन

शहडोल के ब्यौहारी ब्लॉक के ओढारी कोलान टोला की एक आठ माह की बालिका, जन्म से ही कुपोषण का शिकार रही। उसका वजन सिर्फ ढाई किलो था, शरीर में मांस हड्डियों से चिपक चुका था और खून रिसता रहता था। सबसे दर्दनाक बात यह थी कि आंगनबाड़ी के रिकॉर्ड में उसका कोई नाम नहीं था, जिससे वह पोषण पुनर्वास केंद्र में भर्ती भी नहीं हो सकी। प्रशासन तब हरकत में आया जब मामला मीडिया में आया, लेकिन तब तक बच्ची के फेफड़े संक्रमित हो चुके थे और वह मेडिकल कॉलेज में जीवन-मृत्यु से लड़ रही थी।

केस 2 : जब सरकारी योजनाएं नाम तक नहीं पहचानतीं

बैगा-बहुल पचड़ी गांव में सोनीलाल और आरती बैगा के दोनों बच्चे-एक छह साल की बेटी और तीन साल का बेटा-कुपोषण और एनीमिया से जूझ रहे हैं। बेटा खड़ा भी नहीं हो सकता था। उसका सिर असामान्य रूप से बढ़ता जा रहा था। न उसका आयुष्मान कार्ड बना, न राशन कार्ड में नाम जुड़ा। माता-पिता ने कई बार अधिकारियों से गुहार लगाई, पर कोई मदद नहीं मिली। मीडिया में खबरें छपने के बाद प्रशासन जागा और इलाज की व्यवस्था हुई, पर तब तक परिवार कर्ज़ में डूब चुका था।

केस 3 : बीस साल बिस्तर पर पड़ा रहा 'उदय', न मिला इलाज, न सहायता

खोहाई गांव का 22 वर्षीय उदय बचपन से ही कुपोषण और एनीमिया का शिकार था। इलाज के अभाव में वह विकलांग हो गया और बीस साल बिस्तर पर पड़ा रहा। सरकार की किसी भी योजना का लाभ उसे नहीं मिला। वह चलने की कोशिश करता रहा, लकड़ी का सहारा लिया, लेकिन स्वास्थ्य केंद्र की दूरी और डॉक्टरों की अनुपलब्धता ने उसके जीवन की लड़ाई को अधूरा छोड़ दिया। जनवरी 2025 में उदय ने दम तोड़ दिया। यह सिर्फ एक मौत नहीं थी, बल्कि राज्य की संवैधानिक जिम्मेदारी के प्रति एक करारा सवाल था।

केस 4: दगने की 51 सलाखें और ढाई माह की रुचिका की मौत

सिंहपुर कठौतिया गांव की ढाई माह की रुचिका कोल को निमोनिया और झटकों की शिकायत पर एक महिला झाड़-फूंक के नाम पर 51 बार गर्म सलाखों से दाग देती है। इसके बाद रुचिका की हालत बिगड़ती गई और मेडिकल कॉलेज में उसकी मौत हो गई। चिकित्सकों के अनुसार उसके शरीर पर 51 निशान थे। ये सलाखें न सिर्फ उसके शरीर को, बल्कि संविधान और मानवीयता को भी जला चुकी थीं। हैरानी की बात यह रही कि बालिका की मौत के बावजूद प्रशासन ने कोई एफआईआर दर्ज नहीं की और दोषी महिला पर कोई कार्रवाई नहीं हुई।

जब देश की सबसे कमजोर और उपेक्षित जनसंख्या... आदिवासी बच्चे.. इस तरह की पीड़ा झेल रहे हों, तब संवैधानिक मूल्य, सरकारी योजनाएं और स्वास्थ्य सेवाएं कहां छिप जाती हैं? ये चार केस केवल उदाहरण नहीं हैं, बल्कि एक गहरी व्यवस्थागत विफलता का दर्पण हैं। दगना प्रथा और कुपोषण की यह भयावह स्थिति बताती है कि बदलाव केवल कानूनों से नहीं, बल्कि संवेदना, शिक्षा और सशक्तीकरण से ही संभव होगा।

My Journey: better human being, better citizen and a better journalist

Shuchita Jha

The Constitutional Values fellowship of Vikas Samvad has profoundly influenced my personal and professional growth, providing me with a deeper understanding of the foundational principles of the Indian Constitution-Fraternity, Equality, Equity, and Justice. While I had read about these values before, they remained abstract concepts to me until the fellowship transformed my perspective. For me, they were mere fancy words with little implementation in real life, as I had seen the lack of brotherhood and camaraderie, inequality, and injustice everywhere, from the smallest to the biggest things in life.

But listening to the mentors explain these concepts and their deep-seated meaning in our day-to-day lives and engaging in the sessions brought the Preamble to life, giving these words real meaning and relevance.

In school, we recited the Preamble during assemblies, but its significance was never explained. Maybe because the teachers who made us recite it were themselves unaware of its importance, or maybe because they themselves did not believe in these values.

Before the fellowship, constitutional values were simply part of academic discourse, devoid of practical application in my life. This changed during the fellowship, as I began to see the impact and dearth of these values in everyday life and my own personal conduct, as well as that of my family. The journey from intellectual knowledge to a deep understanding was transformative.

Realizing Everyday Inequality

As a woman, I have faced inequality and injustice in professional as well as personal settings. But some societal practices, however unfair, have been so normalized and deep-seated in us that I never connected these experiences to the violation of constitutional values. I never even saw the unequal treatment or injustice in small things and just accepted them as "it is what it is" or "this is how it works."

Introduction

Shuchita Jha is an environment journalist and trainer, with over 10 years of experience in the field. She also conducts training on Mobile Journalism with newsrooms and journalism students. She was a research fellow at Indian Institute of Technology Kanpur's Just Transition Research Fellowship in 2022-23. She has worked at organisations like The Times of India, Down To Earth, and Fast Company (Middle East), with her work appearing on platforms such as Mongabay-India, Zenger and NatGeo Traveller etc. She also received the CLEW Germany grant in 2024.

It was only through the fellowship that I understood how deeply these principles are embedded in our daily lives and how their absence leads to systemic inequalities. This realization helped me contextualize my own struggles and recognize similar challenges faced by other women around me, at home and in professional settings.

The session in Sewagram in March 2024, led by Chinmay Sir, was particularly impactful. His explanation of Gandhiji's principles and the anecdotes he shared brought the concept of fraternity into sharp focus. One statement, "Fraternity is when your enemy feels safe in your presence," moved me deeply. It underscored the importance of creating an environment of mutual respect and unconditional acceptance, extending beyond family to encompass all of humanity.

Reflections on Privilege and Bias

Growing up in an upper-caste family, I was surrounded by societal norms that perpetuated subtle forms of inequality. For instance, the practice of keeping separate utensils for house-help was so ingrained in our household that I never questioned it. While we addressed our help respectfully, there was always a clear boundary that set them apart from us, like they were always asked to sit on the mat while we sat in chairs.

Growing up in a well-educated family with my father as a lawyer and railway employee, and my mother as an artist and teacher, I had a certain level of awareness about societal structures. However, many of the inherent inequalities present in my environment were so normalized that I never questioned them.

At the time, I viewed these as harmless societal norms rather than violations of constitutional values. It was only during the fellowship that I realized how deeply ingrained these biases were and how they perpetuated inequality.

The lectures and discussions during the fellowship brought these subtle injustices into sharp focus. For instance, the session at Sewagram in March was a turning point for me. It made me reflect on how fraternity-a sense of belonging and mutual respect-extends beyond familial relationships to encompass society at large.

Through lectures and readings, particularly Sachin Sir's books like Samvidhan aur Hum and Bharat ka Samvidhan, I began to unpack the layers of normalized inequality in our society. These works illuminated how deeply ingrained biases are sustained by the lack of awareness and propensity of societal inertia. I realized that these practices, though subtle, are violations of the constitutional principle of equality.

Through the fellowship, I began to see the interconnectedness of constitutional values and daily life. Concepts like "Bandhuta" or the bond of fraternity, took on new meaning. I started recognizing the small, often overlooked ways in which inequality and a lack of fraternity manifest in our society. These realizations were humbling and transformative.

During the fellowship, I got into a debate with my mother and asked her to do away with the practice of keeping separate utensils. While the practice has not gone away completely, my mother serves tea and snacks to the house help and other helpers in the same utensils we use, at least in my presence. The deeply ingrained concepts of 'untouchability' will take time to completely go away, but I was glad to see that she had finally started changing things, even if just around me.

Bridging the Gap Between Theory and Practice

The fellowship emphasized the distinction between constitutional rights and values. While rights are enforceable by law, values operate on a subtler level, shaping the moral and ethical fabric of society. This nuanced understanding made me appreciate the Constitution not just as a legal document but as a guide for personal and collective conduct.

Most people in India, even those aware of their rights, overlook constitutional values. This is partly

due to a lack of awareness and partly because embracing these values requires introspection and effort. The fellowship helped me see the importance of internalizing these principles, not just advocating for them.

Personal Transformation

The fellowship catalyzed a shift in my self-perception. As a woman, societal norms often made me feel secondary to men, both at home and in the workplace. This upbringing conditioned me to accept these dynamics without question. However, the fellowship taught me that self-respect and equality must begin within. If I don't see myself as an equal, I cannot effectively advocate for others' rights.

As a woman in journalism, I have often faced gender-based discrimination. However, I previously lacked the vocabulary and framework to articulate these experiences as violations of constitutional values.

For instance, in many workplaces, including media houses, women are expected to adhere to patriarchal norms. This often manifests as unequal pay, limited opportunities for advancement, or subtle biases in assignments and evaluations. The fellowship helped me see these practices for what they are-systemic inequalities that violate the principles of equality and justice.

Recognizing this has made me more assertive in advocating for myself and others. I now approach situations with a clearer understanding of my rights and a stronger commitment to upholding constitutional values. This shift in perspective has also influenced my interactions with others, encouraging me to foster an environment of mutual respect and understanding.

I've learned to balance assertiveness with respect, ensuring that my voice is heard without arrogance. This transformation has not only enriched my sense of self but also strengthened my ability to contribute meaningfully to societal discourse.

My Work During the Fellowship

The fellowship provided me with opportunities to delve into pressing issues affecting marginalized communities. My primary focus was on the dilution of the Forest Rights Act, 2006, and its implications for tribal communities. Researching the Ministry of Environment, Forests, and Climate Change's amendments to the Forest (Conservation) Act, the Biodiversity Act, and the introduction of the Green Credit program revealed how these changes undermine the rights of tribal and forest-dwelling communities.

In my research, I explored how these legislative changes impact tribal communities, particularly in Madhya Pradesh.

Beyond legal analysis, my stories explored the human impact of these policies. For instance, the closure of coal mines as part of India's energy transition mission has led to unemployment, migration, and denial of basic amenities for tribal communities in Madhya Pradesh, particularly in district Anuppur. These stories highlighted how constitutional values like equality and justice are often sidelined in the pursuit of economic goals.

Another area I explored was the Millet Mission of India. While this initiative has brought positive changes to tribal communities, it has also posed challenges, such as disruptions in traditional farming practices.

Some have benefited from increased economic opportunities, while others have faced displace-

ment and loss of traditional livelihoods. By documenting these experiences, I aimed to provide a nuanced perspective on the mission's impact. My stories aimed to present a balanced perspective, showcasing both the opportunities and obstacles these policies create.

In addition to reporting on challenges, I also highlighted solutions and success stories. For example, I covered initiatives where tribal communities successfully advocated for their rights under the FRA, demonstrating the importance of grassroots activism and community-led development.

Fieldwork and Storytelling

Traveling to districts like Mandla, Dindori, and Anuppur allowed me to engage directly with affected communities. These interactions enriched my understanding of their struggles and resilience. I produced a series of stories and podcasts that not only documented these issues but also sought to amplify the voices of those impacted.

My work during the fellowship can be divided into two parts:

1. Research and Analysis: This involved studying the legal and policy frameworks, identifying gaps, and understanding their implications for constitutional values.
2. Storytelling: Using various media formats, I narrated the lived experiences of marginalized communities, shedding light on their challenges and aspirations.

Understanding Constitutional Values

The fellowship helped me internalize the profound nature of constitutional values. While the Constitution guarantees us fundamental rights-such as the right to equality, freedom, and constitutional remedies-it also embodies a set of values that guide us in becoming better citizens. These values, though not enforceable by law, form the moral and ethical foundation of our rights.

One of the key lessons I learned was the difference between "samatā" (equity) and "samaanata" (equality). Equality ensures that everyone is treated the same, while equity recognizes that different people may require different support to achieve the same outcome. This distinction became particularly relevant in my work as a journalist. Reporting on issues affecting marginalized communities requires an understanding of how systemic inequalities can be addressed through equitable measures.

The lack of awareness about constitutional values among the general population is another issue the fellowship highlighted. Most people, including myself before this experience, are unaware of these values or take them for granted. The fellowship emphasized the importance of spreading awareness and fostering a culture where these values are actively practiced.

Lessons and Reflections

The fellowship has been a journey of self-discovery and learning. It has taught me to approach my work with greater sensitivity and a deeper understanding of the systemic issues that perpetuate inequality. I have come to appreciate the importance of storytelling as a tool for social change. By amplifying the voices of marginalized communities, I hope to contribute to a more just and equitable society.

One of the most valuable lessons I learned is the importance of introspection. The fellowship encouraged me to examine my own biases and privileges, which was both challenging and enlightening. For instance, I realized that my previous perception of house help as "beneath" us was not only unjust but also a reflection of the systemic inequalities that the Constitution seeks to

address. This realization has inspired me to actively challenge such norms in my personal and professional life.

Another key takeaway is the significance of fraternity. Building a sense of community and mutual respect is essential for addressing societal inequalities. This requires not only advocating for systemic change but also fostering empathy and understanding in our daily interactions.

Moving Forward

The Vikas Samvad Constitutional Values Fellowship has been a transformative experience that has reshaped my understanding of the Constitution and its relevance to everyday life. It has equipped me with the knowledge and tools to identify and address inequalities, both in my work as a journalist and in my personal life.

The fellowship was not just an academic exercise; it was a journey of self-discovery and growth. It deepened my understanding of the Constitution's relevance in everyday life and inspired me to live by its values. By internalizing these principles, I aim to contribute to a more just and equitable society.

As I continue to grow and learn, I am committed to upholding the values of Fraternity, Equality, Equity, and Justice. Whether through my reporting or personal interactions, I strive to embody these principles and contribute to a more inclusive and equitable society.

While the fellowship was just the beginning of this journey, it has laid a strong foundation for my ongoing efforts to promote constitutional values and social justice. I am deeply grateful for the opportunity to participate in this program and for the guidance and support of the mentors and fellow participants who made this experience so enriching.

My commitment to constitutional values has strengthened, and I am determined to uphold them in my personal and professional life.

Through the Vikas Samvad Fellowship, I have become not just a better journalist but a more aware and empathetic individual. The values of fraternity, equality, equity, and justice are no longer abstract ideals; they are guiding principles that shape my actions and interactions every day.

स्मार्ट सिटी इंदौर: सतत विकास या संवेदनहीन तंत्र

सुचेंद्र मिश्रा

परिचय

पत्रकारिता में स्नातक और एमकॉम सुचेंद्र मिश्रा को खोजी पत्रकारिता के लिए पहचाना जाता है। अपने 16 वर्षों के कॅरियर में सुचेंद्र मिश्रा ने अंग्रेजी बिजनेस स्टैंडर्ड, इंदौर से प्रकाशित प्रजातंत्र, पत्रिका, दैनिक भास्कर, राज एक्सप्रेस में विविध पदों पर कार्य किया है। इस फैलोशिप के दौरान सुचेंद्र मिश्रा ने स्मार्ट सिटी योजना की संवैधानिक मूल्यों की दृष्टि से पड़ताल की है।

एक दिन जब इंदौर के गणेशगंज निवासी रविकांत मिश्रा सोकर उठे तो उन्होंने अपने दरवाजे पर नगर निगम के अमले को पाया। वे कुछ समझ पाते इसके पहले ही ये अमला उनके घर के एक हिस्से को सील करने की कार्रवाई करने लगा। घर के इस हिस्से का उपयोग मिश्रा परिवार व्यावसायिक रूप से करते हैं और इसी में उनका बोरिंग भी लगा हुआ है। निगम के अमले ने कार्रवाई को लेकर कोई कारण नहीं बताया, लेकिन ये खबर शहर में फैल गई, क्योंकि कुछ ही दिन पहले इंदौर के सिविल न्यायालय ने रविकांत मिश्रा को दो करोड़ रुपए का मुआवजा न दिए जाने के चलते इंदौर नगर निगम के कमिश्नर के कार्यालय को सील करने के आदेश जारी किए थे।

स्वच्छता में पहले नंबर पर आने के बाद से इंदौर नगर निगम के खिलाफ इस तरह का आदेश हेडलाइन बनने के लिए काफी था और इससे नगर निगम की बहुत किरकिरी हुई थी। इस मामले में नगर निगम ने हाईकोर्ट से स्टे लिया। रविकांत मिश्रा के घर को सील करने की कार्रवाई के पीछे सिविल कोर्ट का यही आदेश था। मीडिया ने भी जब नगर निगम के जिम्मेदार अधिकारियों से मिश्रा के घर को सील किए जाने के कारण जानना चाहे, तो वे कोई भी कारण नहीं बता सके। कुल मिलाकर ये हेकड़ी और दादागिरी थी कि आप हमारे खिलाफ कोर्ट कैसे जा सकते हैं और वहां से मुआवजे का आदेश कैसे ला सकते हैं?

सस्टेनेबल डेवलपमेंट के नारे के साथ शुरू हुए स्मार्ट सिटी प्रोजेक्ट की यह पहली संवदेनहीनता नहीं थी। ऐसे कईं मामले पीड़ितों की बेबसी में दबकर रह गए। कुछ मामले हमने सामने लाने की कोशिश भी की है।

इंदौर का नागरिक होने के नाते मैं हमेशा से गर्व करता रहा हूं कि मैं देश के सबसे स्वच्छ शहर में रहता हूं। लगभग हर इंदौरी जब दूसरे शहरों में जाता है, तो इसी गर्व के साथ जाता है। पहले इंदौरियों के पास दूसरों को बताने के लिए केवल अहिल्या माता, दाल-बाटी औऱ पोहा-जलेबी हुआ करता था, लेकिन अब उनके पास स्वच्छता भी है। ये स्वच्छता अपने साथ स्मार्ट सिटी परियोजना भी लेकर आई। इस तरह से एक समय इंदौर सातवें आसमान पर था। मेरी तरह लगभग हर इंदौरी को लगता था कि शीध्र ही हम शायद हांगकांग-शंघाई जैसे शहरों की फेहरिस्त में शामिल हो जाएंगे।

स्मार्ट सिटी प्रोजेक्ट नरेंद्र मोदी सरकार का एक महात्वाकांक्षी प्रोजेक्ट है, प्रोजेक्ट का उद्देश्य शहरों को बेहतर बनाना है, जिससे नागरिकों का जीवन स्तर सुधर सके और विकास को बढ़ावा मिल सके। स्मार्ट सिटी मिशन भारत सरकार द्वारा शुरू किया गया एक कार्यक्रम है, जो शहरों में बुनियादी ढांचे, सेवाओं और प्रौद्योगिकी का उपयोग करके जीवन की गुणवत्ता में सुधार करना चाहता है। यह मूलत: सस्टेनेबल डेवलेपमेंट की बात करता है।

इंदौर में यह प्रोजेक्ट देश में सबसे अनूठे रूप में लागू किया गया। पूरे देश में इस प्रोजेक्ट में शहरों के पुराने इलाकों से छेड़छाड़ नहीं की गई, लेकिन इंदौर में इसे पुराने शहर में लागू किया गया। स्मार्ट सिटी के प्रोजेक्ट चलना शुरू हुए, तो पुराने इंदौर में धूल उड़ने लगी। मकान तो ठीक, बस्तियां ही उजड़ने लगीं। बरसों पुराने ठिकाने लावारिस हो गए। जो शहरों में रहते थे, वे गांव में भेज दिए गए, लेकिन आम इंदौरी इन घटनाओं को शांति से देखता रहा। वह शायद इंदौर को शंघाई बना देने के सपने में व्यवधान नहीं डालना चाहता था। वह दुखी था, लेकिन फिर भी उसे उम्मीद थी कि स्मार्ट सिटी उसके भविष्य को चमकदार बना देगी। छिटपुट विरोध के अलावा वह चुप रहा, जन-प्रतिनिधि भी रणनीतिक चुप्पी साधे रहे और इसका फायदा उठाकर शहर पर अफसरशाही हावी होने लगी। देखते-देखते वे ही इस शहर के कर्ता-धर्ता हो गए और फिर जो कुछ होना शुरू हुआ, वह वहां तक पहुंचा, जिसकी कल्पना लोकतंत्र में कोई नहीं करता है।

इसे समझने के लिए एक बार फिर लौटते हैं रविकांत मिश्रा के मामले की ओर, इस मामले ने नगर निगम के बदले की कार्रवाई की पोल खोल दी। निगम ने न केवल बदले की कार्रवाई करते हुए मिश्रा के मौलिक अधिकारों का हनन किया, यहां तक कि उनके घर के बोरिंग को भी सील कर दिए जाने के चलते उनके घर पानी की समस्या हो गई और खाना बनाने में भी परेशानी हुई। इस तरह से वे सारे मूल्य ताक पर रख दिए, जिसकी कल्पना संविधान निर्माताओं ने की थी और जिसका पालन सुनिश्चत करने की जिम्मेदारी बहुत सीमा तक नगर निगम की भी है।

उस समय शहर के महापौर पुष्यमित्र भार्गव महापौर सम्मेलन में भाग लेने के लिए बाहर गए हुए थे। वे जब इंदौर लौटे तो एयरपोर्ट से सीधे मिश्रा के घर पहुंचे और उन्होंने मकान के सील किए गए हिस्से को खुलवाया। इसके साथ ही उन्होंने इस मामले में नगर निगम के अधिकारियों को फटकार लगाई औऱ मिश्रा के परिवार से माफी भी मांगी। साथ ही उन्होंने निगम के अधिकारियों से पूछा कि वे मकान सील करने आए थे, तो किसके आदेश से आए थे? उन्होंने इसे अमानवीय घटना बताया। महापौर भार्गव प्रदेश के अतिरिक्त महाधिवक्ता भी रह चुके हैं।

दरअसल, रविकांत मिश्रा के मकान का एक हिस्सा नगर निगम ने स्मार्ट सिटी परियोजना के अतंगर्त बन रही सड़क के लिए ले लिया गया, लेकिन उन्हें कोई मुआवजा नहीं दिया। मिश्रा बताते हैं कि इस मामले को लेकर उन्होंने एक दीवानी वाद दायर किया। इस वाद में सिविल न्यायालय ने नगर निगम को आदेश दिया कि वे मिश्रा को मुआवजे के रूप में दो करोड़ रुपए का भुगतान करें। न्यायालय के आदेश के बाद भी नगर निगम ने मिश्रा को मुआवजा नहीं दिया, तो उन्होंने फिर से कोर्ट का दरवाजा खटखटाया। अपने आदेश का पालन न होने से नाराज न्यायालय ने नगर निगम आयुक्त का कार्यालय सील करने का आदेश दिया। इस खबर से नगर निगम की न केवल फजीहत हुई, बल्कि वहां अफरातफरी की स्थिति भी बन गई। निगम इस मामले में उच्च न्यायालय गया और वहां से मामले में स्टे लेकर आया। बात यहीं खत्म नहीं होती है।

वे कोर्ट के खिलाफ तो कुछ कर नहीं सकते थे, तो उन्होंने रविकांत मिश्रा के मकान को निशाने पर लिया और बिना किसी ठोस कारण के निगम के अफसर उसके एक हिस्से को सील करने पहुंच गए, लेकिन ये कार्रवाई भी उनके गले पड़ गई। मिश्रा का मकान तो सील होने से बच गया, लेकिन उन्हें मुआवजे के लिए अभी कितना इंतजार करना होगा यह कोई नहीं जानता, क्योंकि नगर निगम ने फिलहाल निगमायुक्त कार्यालय सील करने के आदेश के खिलाफ हाईकोर्ट से स्टे ले लिया है।

…लेकिन यह किस्सा इंदौर के गणेशगंज के बाशिंदों की कहानियों को जानने का एक मौका भी है। गणेशगंज इंदौर का वह पहला इलाका है, जिसने स्मार्ट सिटी प्रोजेक्ट के टेस्ट को चखा। खास बात यह है कि यहां के निवासी पहली बार विकास के लिए अपनी जमीन नहीं दे रहे थे। यहां के बद्री शुक्ला बताते हैं कि सरकार पहले भी एक बार हम लोगों से सड़क के

नाम पर जमीन ले चुकी है, पर वह आटे में नमक के बराबर थी, लेकिन स्मार्ट सिटी के नाम पर हम लोगों को बेहाल कर दिया गया। इस सड़क पर रहने वाले हर घर की एक कहानी है। इस कहानी में विकास की जिद के पीछे छिपी दादागिरी भी है, संवेदनहीनता और गैर-जिम्मेदारी भी।

निगम के संवेदनहीन और तानाशाही रवैये का यह पहला उदाहरण नहीं है। गणेशगंज में ही उनकी तानाशाही और एकतरफा कार्रवाई के दर्जनों पीड़ित हैं, जो न केवल लगभग सड़क पर आ चुके हैं और उन्हें यह भी नहीं पता कि अब उनके साथ क्या होगा? गणेशगंज में ऐसे ही कुछ परिवार हैं, जिनके अपने मकानों का काफी हिस्सा विकास की भेंट चढ़ गया है और बदले में मुआवजे की बजाय टीडीआर मिला है, जिसके नियम नौ साल बाद भी तय नहीं हो पाए हैं। गणेशगंज के बाशिंदों से जब भी कोई मीडियाकर्मी बात करने पहुंचता है, तो वे सबसे यही पूछते हैं कि क्या आपके पास टीडीआर की कोई खबर है?

इन परिवारों के पास अब रहने लायक जगह भी नहीं बची, तो विरोध बढ़ न जाए इसके चलते तात्कालिक रूप से नगर निगम के अधिकारियों ने दास बगीची में खाली पड़ी हुई एक बिल्डिंग में रहने का ठिकाना दिया, लेकिन यह सब कुछ बिना किसी कागज के हुआ, सब कुछ मौखिक है। एक मल्टी में फ्लैट दिए गए, जिन्हें 'वन बीएचके' का भी नहीं कहा जा सकता। इस पर भी जिस बिल्डिंग को निगम ने अपना बताकर इन लोगों को यहां बसाया था, उस बिल्डिंग पर एक बिल्डर ने अपना दावा ठोंक दिया है। इतना ही नहीं इनका कहना है कि इस मामले में प्रदेश के नगरीय प्रशासन मंत्री ने भी यह कहा है कि वह बिल्डिंग सरकारी नहीं, बल्कि बिल्डर की है।

ऐसे में एक बार फिर इन लोगों के सामने बेदखली का संकट खड़ा हुआ है। इन्हें खुद नहीं पता कि कल इनके साथ क्या होगा? कितनी बार ये अपनी गृहस्थी फिर से बसाएंगे। इन्ही में से एक दिनेश गुप्ता बताते हैं कि हमारा घर दो हजार वर्गफुट का था। दो मंजिला मकान में हम दो भाई अपने माता-पिता के साथ रहते थे। सब कुछ अच्छा चल रहा था फिर हमारी लगभग 35 फुट जगह ले ली गई। अब हमारे पास मुश्किल से दो-ढ़ाई सौ वर्ग फुट जगह बची है। इसे भी दुकान चलाने लायक स्थिति में लाने के लिए साढ़े चार लाख रुपए का लोन निजी फाइनेंसर से लिया था। इसकी किस्तें अब तक पूरी नहीं हुई हैं।

वहीं गुप्ता की दो बेटियां हैं। उन्होंने बताया कि मेरी एक बेटी कॉलेज में पढ़ रही है। इस पड़ाव पर मुझे उनकी भी चिंता है। अब तक मेरे घर की समस्या सुलझी नहीं है और मुझे अपनी बेटियों की शादियों के लिए भी खुद को तैयार करना है। यकीनन स्मार्ट सिटी परियोजना इसलिए तो नहीं लाई गई होगी कि गुप्ता जैसे परिवार अपने मकान से बेदखल हों जाएं और अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष करने लगें?

डरा रही है फ्लाईओवर की आहट

गणेशगंज में ऐसे नहीं है कि 102 फीट की सड़क के साथ ही मामला सुलझ गया है। अब यहां पर बड़ा गणपति फ्लाईओवर बनाने की घोषणा की गई है। इसमें और भी जमीन जाएगी। अब बद्री शुक्ला और दिनेश गुप्ता जैसे लोगों को यहां पर अपने अस्तित्व का डर सता रहा है। फिलहाल, संभावित विरोध को देखते हुए नगर निगम ने ओवर ब्रिज को ठंडे बस्ते में डाल दिया है, लेकिन गुप्ता और शुक्ला जैसे लोगों को पता है कि ये जिन्न कभी तो आकार लेगा, उस समय उनका क्या होगा, इसे लेकर वे बहुत चिंतित हैं। बद्री शुक्ला जैसे बुजुर्ग फिर भी हिम्मत कर पिछले नौ वर्ष से टूटे पड़े अपने मकान बना रहे हैं, लेकिन उन्हें कई बार लगता है कि जब पुल बनेगा, तो यह हिस्सा भी बचेगा या नहीं।

ताक पर लोकतंत्र!

स्मार्ट सिटी प्रोजेक्ट को लेकर पूरे देश में केवल दो शहरों से इस परियोजना को वैधानिक चुनौती मिली थी। इसमें एक प्रदेश की राजधानी भोपाल थी और दूसरा इंदौर। भोपाल के मामले में याचिका इस आधार पर खारिज कर दी गई थी, क्योंकि स्मार्ट सिटी प्रोजेक्ट का नोटिफिकेशन जारी होने से पहले ही उसे दायर कर दिया गया था, तो वहीं इंदौर में यह याचिका अब भी लंबित है।

मध्यप्रदेश देश में 73वें और 74वें संविधान संशोधन को लागू करने वाला पहला राज्य था। इस संविधान संशोधन के माध्यम से नागिरकों को स्थानीय शासन का अधिकार मिला था, लेकिन स्मार्ट सिटी परियोजना संविधान की इस भावना के विपरीत है। यहां पर पूरा प्रोजेक्ट चलाने की जिम्मेदारी एक कंपनी पर है। कंपनी में अधिकारी निदेशकों के रूप में शामिल हैं, लेकिन जन-प्रतिनिधि नहीं हैं। निर्णय लेने वाले निकाय में केवल महापौर का एक प्रतिनिधि शामिल किया गया है। इस तरह इसके निर्णय लोकतांत्रिक नहीं कहे जा सकते हैं। इतना ही नहीं 74वें संशोधन के बाद संविधान में अनुसूची 12 जोड़ी गई थी। इसमें उन कार्यों की सूची दी गई है, जो कि स्थानीय नगरीय निकाय को सौंपे जाने हैं। इसमें इस तरह के कुल 18 काम दिए गए हैं। इंदौर स्मार्ट सिटी कंपनी ने अब तक जो काम किए हैं, उनमें से लगभग 80 प्रतिशत काम इसी अनुसूची के हैं। इस तरह से स्मार्ट सिटी ने गुपचुप तरीके से नागरिकों से लोकतांत्रिक अधिकारों को समाप्त करने का काम किया है। ये लोकतांत्रिक संस्थाओं के अधिकारों का अतिक्रमण दिखाई देता है।

अपनी ही जमीन खरीदने की मजबूरी

यदि आपको अपने घर के निर्माण के लिए अपनी जमीन को फिर से खरीदना पड़े, तो आप क्या कहेंगे? इंदौर में स्मार्ट सिटी योजना में शहर के मध्य भाग के 740 एकड़ एरिया को कोर एरिया (एबीडी) के रूप में शामिल किया गया था। इसे एबीडी, यानी एरिया बेस्ड डेवलेपमेंट कहा गया था। इस भाग में पुराना इंदौर आता है, तो वहीं देश की लगभग सभी स्मार्ट सिटी में प्रोजेक्ट में पुराने शहर को कोर एरिया के रूप में शामिल नहीं किया गया, बल्कि नए इलाकों में इस प्रोजेक्ट को शुरू किया गया था। इसे लेकर शुरू से सवाल उठते रहे हैं। पुराने इलाके को कोर एरिया के रूप में शामिल करने के चलते यहां बड़े पैमाने पर तोड़-फोड़ हुई है। एक अनुमान के मुताबिक शहर में पांच हजार से ज्यादा मकान ऐसे हैं, जिन्हें आधा या उससे ज्यादा हटाया गया है। जब इस क्षेत्र को स्मार्ट सिटी प्रोजेक्ट में लिया गया, तो पार्किंग व्यवस्थाएं सुधारने के लिए नियम बनाया गया कि यहां पर जो भी मकान बनेगा, उसे भूतल पर एक कार पार्किंग के लिए 15 प्रतिशत एरिया छोड़ना पड़ेगा। उदाहरण के लिए, यदि आपका भूखंड केवल सौ वर्ग फुट का है, तो आपको 15 वर्ग फीट जमीन छोड़ना पड़ेगी। इसके अलावा ओपन स्पेस भी 20 प्रतिशत बढ़ा दिया गया है।

अब यदि आपका भूंखड 600 वर्ग फुट का है, तो आपको 90 वर्ग फुट कार पार्किंग के लिए छोड़ना है और ओपन स्पेस अलग ऐसे में आप भूतल पर पार्किंग के अलावा कुछ नहीं बना सकेंगे। अब यदि आपको पार्किंग नहीं बनानी है, तो इसके लिए आपको नगर निगम की सार्वजनिक पार्किंग के लिए शुल्क चुकाना होगा, जो कि आपको जितने एरिए पर पार्किंग बनाना थी, गाइडलाइन के हिसाब उसके मूल्य की 25 प्रतिशत राशि नगर निगम को देना होगी। उदाहरण के लिए यदि आपको 100 वर्गफीट में पार्किंग बनाना थी और आप इसे नहीं बनाना चाहते, तो आप इस 100 वर्गफीट के गाइडलाइन मूल्य का 25 प्रतिशत नगर निगम को चुकाकर इससे बच सकते हैं। वह प्रावधान है, जिसने भवन निर्माण हेतु नक्शा स्वीकृति की फीस को लाखों में पहुंचा दिया है। इसके चलते इस क्षेत्र में नक्शा स्वीकृत कराने के लिए ही लाखों रुपए की फीस चुकानी पड़ रही है। यह फीस इतनी है, जितने में आसानी से नया मकान बन सकता है।

कुछ छोटे से नायक

इन सब के बीच कुछ ऐसे किरदार भी हैं, जो भविष्य की उम्मीद जगाते हैं। इन्ही में एक है 15 साल का आदित्य, जिसे विकास ने स्कूली छात्र से दुकान पर श्रमिक बना दिया है। निम्न आय वर्ग में आने वाले इस बच्चे के पिता सड़क किनारे की एक होटल पर काम करते हैं। आदित्य जिस घर में पैदा हुआ, उसे भी विकास को रास्ता देने के लिए हटना पड़ा। आदित्य के पिता ने निजी फाइनेंसर्स से लोन लिया और रहने की वैकल्पिक व्यवस्था की। इसके चलते उन्हें ईएमआई भरना पड़ रही है, इसलिए अब आदित्य स्कूल न जाकर एक हार्डवेयर दुकान पर काम करता है। उसकी छोटी बहन का स्कूल भी छूट चुका है। इन परिस्थितियों में बहुत स्वाभाविक है कि आपके मन में करुणा की जगह कठोरता ले ले, लेकिन आदित्य ने अब भी अपने आपको बदलने नहीं दिया है। वह हर दिन उसी रास्ते से निकलता है, जहां वह पहले रहा करता था। एक दिन उसने देखा कि उसके पुराने घर के बाहर जो बरगद उसने लगाया था, जो कि नौ साल का पेड़ बन गया था, उसे जेसीबी से उखाड़ दिया गया था और वह जमीन पर पड़ा था। वह अपने पेड़ की इस तरह से मौत नहीं देख सका। इस सड़क के लिए जिन पेड़ों को हटाया गया था, उनके ट्रांसप्लांट का काम स्थानीय निवासी संजीव नामजोशी अपने संसाधनों से कर रहे थे, उसे तुरंत उनकी याद आई और वह उनके घर पहुंच गया। उसने उनसे अपने पेड़ को बचाने की गुहार की, तो नामजोशी तैयार हो गए और उन्होंने आदित्य के बरगद को ट्रांसप्लांट कर दिया। आदित्य की कहानी इसलिए उम्मीद जगाती है, क्योंकि बहुत छोटी उम्र में उसने वह सब कुछ सहा, जो किसी भी व्यक्ति को भावना शून्य कर सकता है, लेकिन उसने अपने भीतर के मूल्यों को जिंदा रखा हुआ है। उसे उम्मीद है कि वह स्कूल लौटेगा, लेकिन कैसे? कोई नहीं जानता!

कुछ खोती-सी उम्मीदें

दास बगीची की जिस बिल्डिंग को नगर निगम ने अपना बताकर विस्थापितों को वहां बसाया था, उनमें एक बुजुर्ग दंपत्ति भी हैं। एक समय शान से मेन रोड पर अपने मकान में भरे-पूरे परिवार के साथ रहते थे, लेकिन अब कमरे के दड़बेनुमा घर में रहते हैं। उम्र के सात दशक पार कर चुके हैं। कभी नहीं सोचा था कि जो उम्र शांति से अपने घर में काटने का होगा, उस उम्र में विस्थापित हो जाएंगे। सदमा इतना गहरा है कि पति कई बार आने-जाने वालों को गलत पहचान से संबोधित करते हैं और फिर सामने वाले के इन्कार करने पर माफी मांगते हैं। बेटे भी आसपास में ही दड़बों में रहते हैं और वे पिता की इस स्थिति को जानते हैं। वहीं बुजुर्ग की पत्नी भी नए आने-जाने वालों से अपने घर की बात करती हैं। कहती हैं कि मेरे बच्चों का क्या होगा? बेटों को लगता है कि माता-पिता को कभी भी कुछ भी हो सकता है, क्योंकि वे अंदर से टूट गए हैं और अगर जहां वे रह रहे हैं, उस बिल्डिंग से विवाद में यदि उन्हें उसे खाली करना पड़ा, तो क्या होगा? कोई नहीं जानता!

फिर 14 सड़कों की तैयारी

संसद में सरकार द्वारा की गई घोषणा के हिसाब से स्मार्ट सिटी प्रोजेक्ट 31 मार्च को समाप्त घोषित कर दिया गया है। हालांकि इसे लेकर गफलत की स्थिति बनी हुई थी लेकिन हाल ही में इंदौर कलेक्टर ने जानकारी देते हुए बताया कि कुक्कुटपालन की जमीन की नीलामी की प्रक्रिया पूरी हो चुकी है। यह जमीन 454.54 करोड़ रुपए में गुजरात की कंपनी तीरथ गोपीकॉन को देने की तैयारी हो गई है। इस कंपनी ने सबसे बड़ी बोली लगाई है। कलेक्टर आशीष सिंह ने साथ ही यह भी कहा कि मास्टर प्लान की 14 सड़कें बनाने के लिए 401.92 करोड़ की जरूरत थी, इसके लिए केंद्र सरकार से राशि की मांग की गई थी, वहां से राशि न मिलने पर कुक्कुटपालन केंद्र की जमीन बेचकर यह राशि जुटाई गई है। ये सड़कें स्मार्ट सिटी योजना के तहत बनाई जाएंगी। उम्मीद करते हैं कि यह सस्टेनेबल के साथ-साथ संवेदनशील डेवलपमेंट होगा और इसमें आम आदमी की दिक्कतों को ध्यान में रखा जाएगा। किसी आदित्य का स्कूल नहीं छूटेगा!

महिला जनप्रतिनिधि: बाहुबल और धनबल के समक्ष असहाय बुद्धि बल

वंदना तोमर

परिचय

दैनिक समाचार पत्र राज्य की नईदुनिया, नवदुनिया व हरिभूमि में पत्रकारिता के साथ वंदना तोमर ने स्वयं को सामाजिक कुरीतियों और प्रथाओं के उन्मूलन में सक्रिय हैं। किशोर न्याय बोर्ड की सदस्य होने के नाते वंदना तोमर को किशोरों के मुद्दों को समीप से देखने, समझने का अवसर मिला है। सामाजिक असमानता और भेदभाव की समझ तथा कानूनी पहलूओं की जानकारी के कारण वंदना तोमर की पत्रकारिता विशिष्ट हुई है।

सदियों से लैंगिक असमानता एवं प्रताड़ना का सामना कर रही महिलाओं के अधिकारों एवं सम्मान की चर्चा 17 वीं शताब्दी के प्रारंभ से ही होने लगी थी और शनै:-शनै: महिलाओं को अधिकार संपन्न बनाने हेतु एवं समाज की मुख्यधारा में लाने हेतु प्रयास शुरू हुए। परिणामस्वरूप महिलाओं के अधिकारों के संरक्षण हेतु कानून, नियम एवं विधान बनाए जाने लगे, पर इतना सब होने के बाद भी महिला सशक्तीकरण की दिशा में अपेक्षित परिणाम नहीं आ रहे थे। उपायों को वास्तविकता एवं सजीवता प्रदान करने हेतु बहुत कुछ कारगर प्रयास करने की आवश्यकता थी। यदि हम भारत की बात करें, तो अंग्रेजी शासनकाल से ही महिलाओं के अधिकारों के संरक्षण हेतु कार्य प्रारंभ हो गए थे, जिसने स्वतंत्रता उपरांत तीव्र गति पकड़ी। भारत में स्वतंत्रता उपरांत महिला सशक्तीकरण हेतु नियम, अधिनियम कानून बनाए गए एवं भारतीय संविधान में भी महिला संरक्षण हेतु प्रावधान किए गए।

महिला संरक्षण एवं सम्मान हेतु जो कार्य किए उनकी विवेचना, मूल्यांकन वर्तमान परिस्थितियों में आवश्यक है, ताकि इस बात का पता लगाया जा सके कि भारत में महिलाओं के सशक्तीकरण एवं सम्मान हेतु जो उपाय किए गए उनके अनुकूल परिणाम आए या नहीं। इस हेतु मैंने वर्तमान राजनीतिक परिवेश में महिला जन-प्रतिनिधियों व नेत्रियों की स्थित लैंगिक समानता, सहभागिता, संवैधानिक मूल्यों के प्रति जागरूकता के संदर्भ में फैलोशिप आरंभ की। फैलोशिप के दौरान मैंने महिला जन-प्रतिनिधियों, महिला समाज सेविकाओं, महिला प्रशासनिक अधिकारियों से साक्षात्कार किया और फैलोशिप के विषयांतर्गत प्रश्न कर उनके द्वारा दिए गए उत्तरों से वर्तमान समय में महिलाओं की स्थिति के बारे में जानने का प्रयास किया। साथ ही विषयांतर्गत विषय पर विकास संवाद, ओरिएंटेशन शिविर आदि के माध्यम से मैंने महिला संरक्षण, लैंगिक समानता एवं महिला संबंधी संवैधानिक प्राविधानों के बारे में व्यापक ज्ञान प्राप्त किया।

उपरोक्त फैलोशिप के दौरान जो जानकारी प्राप्त हुई उसका मूल्यांकन करने के पहले महिलाओं की वैश्विक स्थिति के बारे में ऐतिहासिक, आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में अवलोकन करना आवश्यक है। वस्तुत: जब हम संपूर्ण विश्व की सामाजिक राजनीतिक एवं आर्थिक व्यवस्था का अध्ययन एवं अवलोकन कर मंथन करते हैं, तब एक बात स्पष्ट होती है कि सारी व्यवस्थाओं में महिलाओं का महत्वपूर्ण, यथायोग्य स्थान होना चाहिए, क्योंकि बिना महिलाओं की भागीदारी के आदर्श एवं सुदृढ़ सामाजिक राजनीतिक एवं आर्थिक व्यवस्था की परिकल्पना नहीं की जा सकती एवं बिना

महिला सशक्तीकरण के एक अच्छे समाज की परिकल्पना अप्रासंगिक है। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से महिला पुरुष के संबंध में लैगिंक समानता, सहभागिता एवं महिलाओं की स्थिति का विश्लेषण करें, तो ऐसी काफी महिलाओं के उदाहरण सामने आते हैं, जो विद्वान एवं शक्तिशाली रही हैं, पर यह संख्या नाममात्र की रही है। इस प्रकार लैगिंक असमानता के उदाहरण पुरातनकाल में भी दृष्टिगोचर होते थे। मुगलकाल में भी महिलाओं की स्थिति अच्छी नहीं थी। उनके साथ लैगिंक असमानता के कारण दुर्व्यवहार किया जाता था। ब्रिटिशकाल में महिला सशक्तीकरण की दिशा में कार्य प्रारंभ हुए तथा महिलाओं को अधिकार संपन्न बनाने एवं उन्हें शोषण से रोकने हेतु कानून बनाए जाने लगे। भारत शासन अधिनियम 1909, 1919, 1935 में भी महिला सशक्तीकरण हेतु प्राविधान रखे गए थे, जिससे महिलाओं के साथ लैंगिक असमानता के व्यवहार में कमी आई।

धीरे-धीरे समय का पहिया घूमा और स्त्री-पुरुष के बीच समानता के व्यवहार एवं स्थिति की बात की जाने लगी। इस हेतु विभिन्न देशों की तरह भारत भी आजादी की दहलीज पर खड़ा हुआ था और भारत के संविधान निर्माण की प्रक्रिया चल रही थी। संविधान निर्मात्री सभा द्वारा मौलिक अधिकार सहित तमाम ऐसे प्राविधान संविधान में रखे गए, जो महिला सशक्तीकरण की दिशा में ठोस उपाय कहे जा सकते हैं। सन 1947 में भारत आजाद हुआ और कुछ प्राविधानों को छोड़कर 26 नवंबर, 1949 को भारतीय संविधान लागू हो गया तथा 26 जनवरी 1950 को भारतीय संविधान के सभी अनुच्छेद प्रभावशील हो गए। उसके बाद संविधान से शक्ति प्राप्त कर महिलाओं के संरक्षण, सशक्तीकरण, उन्नयन, लैंगिक समानता, राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं प्रशासनिक क्षेत्र में भागीदारी हेतु विभिन्न नियम, कानून, परिनियम, अधिनियम बनाए गए तथा देश की महिलाओं को अधिकार संपन्न बनाने हेतु प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से राजनीतिक एवं प्रशासनिक स्तर पर प्रभावी प्रयास शुरू हुए, जिसके अंतर्गत भारत के संविधान में मौलिक अधिकार सहित अनेक प्राविधान रखे गए। जिनसे महिलाओं की स्थिति और स्तर में सुधार हुए। साथ में महिलाओं के संरक्षण हेतु दहेज प्रथा निषेध अधिनियम, सती प्रथा निषेध अधिनियम, घरेलू हिंसा निषेध अधिनियम सहित कई अधिनियम और नियम बनाए गए, जिससे महिलाओं की स्थिति में आंशिक सुधार परिलक्षित हुए।

भारत में महिलाओं की स्थिति और स्तर में सुधार हेतु सबसे गंभीर राजनीतिक प्रयास पंचायती राज और नगरीय निकाय प्रशासन संबंधित प्राविधानों (73वां व 74वां संविधान संशोधन) को संवैधानिकता प्रदान की गई और इसके परिणामस्वरूप पंचायती राज एवं नगरीय प्रशासन हेतु जो जन-प्रतिनिधि चुने जाते हैं, उनमें महिला प्रतिनिधियों को भी आरक्षण का लाभ दिया गया, जिससे निचले स्तर पर राजनीतिक गतिविधियों में महिलाओं की भागीदारी सुनिश्चित की जाने लगी। साथ ही प्रशासनिक स्तर पर भर्तियों में भी महिलाओं के लिए पद आरक्षित कर उनके प्रतिनिधित्व को सुनिश्चित करने का प्रयास किया गया। राजनीतिक एवं प्रशासनिक स्तर पर महिलाओं को आरक्षण प्रदान कर समाज में महिलाओं की स्थिति और स्तर में दूरगामी प्रभाव दृष्टिगोचर होने लगे, परंतु उपरोक्त प्राविधानों के बाद भी देश की सर्वोच्च कानून निर्मात्री संस्था लोकसभा, राज्यसभा तथा प्रदेश की सर्वोच्च कानून निर्मात्री संस्थाएं विधानसभाओं में महिलाएं अपनी संख्या के अनुपात में प्रतिनिधित्व हेतु अब भी प्रयासरत हैं। प्रयास के तहत महिला आरक्षण अधिनियम (नारी शक्ति वंदन अधिनियम 2023) 2023 भारतीय संसद ने पारित कर महिला सशक्तीकरण की दिशा में एक स्वागत योग्य ठोस कदम उठाया है, पर इसके क्रियान्वयन की राह देश की लगभग आधी आबादी महिलाएं देख रही हैं। जिस दिन महिलाओं को संसद एवं विधानसभाओं में उनकी जनसंख्या के अनुपात में प्रतिनिधित्व हेतु पद आरक्षित कर दिए जाते हैं, तो महिलाओं की स्थिति एवं स्तर में सुधार हेतु यह एक क्रांतिकारी व ऐतिहासिक कदम और महिलाओं के सशक्तीकरण की दिशा में मील का पत्थर साबित होगा।

भारतीय संसद में महिला आरक्षण के संक्षिप्त इतिहास की बात करें, तो संसद और राज्य विधानसभाओं में महिलाओं के लिए सीटें आरक्षित करने हेतु संविधान में संशोधन करने के लिए विधेयक 1996, 1998, 1999 और 2008 में प्रस्तुत किए गए थे, परंतु लोकसभा भंग होने के कारण उपरोक्त संशोधन क्रियान्वित नहीं हो सके। इसके बाद नारी शक्ति वंदन अधिनियम 2023 को दोनों सदनों ने समर्थन देकर पास कराया और इसके तहत एक-तिहाई सीटें महिलाओं के लिए आरक्षित करने का प्राविधान है, यह स्वागत योग्य कदम है, किंतु इसका क्रियान्वयन भविष्य के लिए टाल देना आंशिक रूप से चिंतनीय है। अब देश की आधी आबादी यह राह देख रही है कि लोकसभा, विधानसभाओं के परिसीमन के बाद 2029 के लोकसभा चुनाव में महिलाओं के लिए आरक्षण का लाभ मिलता है कि नहीं।

भारत के संविधान में महिलाओं को सशक्त करने के लिए विशेष प्राविधान किए गए हैं। वहीं संवैधानिक मूल्यों की बात करें, तो संवैधानिक मूल्य महिलाओं और पुरुषों के लिए बराबर हैं। इन मूल्यों में चाहे महिला हो या पुरुष, भेदभाव नहीं किया गया है। संवैधानिक मूल्य की बात करें, तो समता, समानता, न्याय, बंधुता के बारे में समझने की क्षमता फैलोशिप से जुड़ने के बाद बढ़ी है। भारत का संविधान व्यक्ति के लिए है। संविधान की नजर में कोई विशेष व्यक्ति नहीं है।

समता का मतलब है, सभी के साथ समतापूर्वक व्यवहार हो, सभी को समानता का अधिकार मिले, किसी भी मामले में किसी भी व्यक्ति के साथ दोयम दर्जे का व्यवहार नहीं होना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति को समानता का अधिकार प्राप्त है। किसी भी व्यक्ति के अधिकारों में लिंग, वर्ग, वर्ण, जाति, प्रांत आदि आधार पर कोई वैमनस्यता नहीं की जाएगी। यदि किसी भी व्यक्ति के साथ उसके अधिकारों का हनन होता है, तो उसे अपने साथ हुए अन्याय के खिलाफ न्याय पाने का अधिकार है। वहीं बंधुता की बात करें, तो भारत देश में कई प्रांतों, भाषाओं, बोलियों, संस्कारों, सभ्यताओं और वर्ग, वर्ण संप्रदायों के लोग रहते हैं, लेकिन इस सबके बाद भी भारत के सभी नागरिकों के बीच बंधुता की बात कही गई है। संविधान के परिप्रेक्ष्य में देखें, तो संविधान के अनुच्छेद 14 में विधि के समक्ष समता विधि के समक्ष संरक्षण को परिभाषित किया गया है, परंतु संविधान में प्राविधान हों या फिर संवैधानिक मूल्य, इनका शब्दश: पालन नहीं किया जा रहा है। महिला-पुरुषों में भेदभाव निचले स्तर पर काफी हद तक व्याप्त है। जाति और समाज के नाम पर भेदभाव के किस्से भी आए-दिन सुनाई देते रहते हैं।

बात करें महिला जन-प्रतिनिधियों और नेत्रियों की तो पंचायती राज एवं नगरीय निकाय में चुनी गई महिला जन-प्रतिधियों की स्थिति वैसी तो बिल्कुल भी नजर नहीं आती, जैसी कि संविधान में प्राविधान किए गए हैं। महिलाओं के नाम पर उनके पुरुष परिजन ही राजनीति करते नजर आते हैं। इतना ही नहीं बैठकों में भी परिवार की चयनित महिला के स्थान पर पुरुष परिजन उपस्थित होकर सवाल-जवाब करते हैं और महिलाएं अधिकांशत: सिर्फ रबर स्टांप बनी रहती हैं। कई महिलाएं ऐसी भी मिलीं, जो अच्छी-खासी पढ़ी-लिखी हैं, लेकिन अपने पदों पर स्वयं काम न कर पुरुष परिजनों को काम करने का मौका उन्होंने दे रखा है। यह बात कहीं न कहीं एक टीस पैदा करती है कि जब सक्षम, पढ़ी-लिखी महिला अपने अधिकारों और कर्तव्यों के प्रति इस तरह से उदासीन है, तो फिर उन महिलाओं से क्या ही अपेक्षा रखी जा सकती है, जो कि ज्यादा पढ़ी-लिखी नहीं हैं तथा वे सिर्फ महिला आरक्षण नियम के कारण उस पद पर काबिज हो गई हैं।

यदि महिलाओं के राजनीतिक सशक्तीकरण की बात करें, तो एक बड़ा सवाल है कि राजनीतिक पार्टियां चाहे वे कितनी भी बड़ी या छोटी पार्टियां क्यों न हों, लेकिन जब चुनाव में प्रत्याशी उतारने की बात आती है, तो कहीं न कहीं गुटबाजी राजनीतिक, आका का वर्चस्व सहित पैसा और पॉवर भी काफी मायने रखता है। देखने में आता है कि राजनीति में महिलाओं के साथ हमेशा से ही भेदभाव का नजरिया रखा जाता है, क्योंकि चुनाव जीतने में आजकल धनबल, बाहुबल, राजनीतिक सरपरस्ती के पॉवर का बोलबाला है। यदि कोई महिला नेत्री कितनी भी बुद्धिमान और प्रतिभाशाली क्यों न

हो, लेकिन यदि उनके पास बाहुबल और धनबल की कमी है, तो आज के दौर में कोई भी राजनीतिक पार्टी उस पर दांव लगाकर अपनी सीट खोना पसंद नहीं करेगी। दूसरी बात यह भी है कि राजनीति में जाने वाली महिलाओं को कई प्रकार के समझौते करने पड़ते हैं। उनको जहां अपने परिवार में उचित मार्गदर्शन नहीं मिल पाता और मिलता भी है, तो उसे अकेले सफर नहीं करने दिया जाता, क्योंकि राजनीति महिलाओं के वश की बात नहीं है। फिर राजनीति में बड़े पद पर पहुंचने के लिए किसी न किसी राजनीतिक सीढ़ी की जरूरत होती है। राजनीतिक सीढ़ी के बिना कोई महिला ज्यादा ऊंचाई तक नहीं पहुंच पाती है। इन सब कारणों के चलते राजनीति में और चुनाव में महिलाओं को कम प्रतिनिधित्व मिल पाता है। वहीं वर्षों की रूढ़ियों में जकड़ी मानसिकता भी महिलाओं को राजनीति के मैदान में आगे बढ़ने में बाधक बनती है। देखने में आता है कि सदियों से चली आ रही पुरुष प्रधान मानसिकता के चलते यह माना जाता है कि महिलाएं पुरुषों की तुलना में कार्य करने में ज्यादा सक्षम नहीं हैं। यही कारण है कि अधिकांश राजनीतिक पार्टियां महिलाओं को टिकट देने से गुरेज करती हैं।

दूसरी ओर उनकी यह सोच रहती है कि राजनीति में या सरकार चलाने में जितने अदम्य साहस अथवा जोखिम उठाने की क्षमता पुरुषों में होती है, वह महिलाओं में नहीं होती है। यही कारण है कि लोकसभा, राज्यसभा या राज्यों की विधानसभा कहीं का मामला हो, महिला सदस्यों की संख्या काफी कम होती है। कई बार यह भी देखने में आता है कि महिलाओं को यदि कोई पद मिल जाता है, तो देखने में आता है कि उनकी उपस्थिति दिखावा मात्र होती है, उनके प्रतिनिधि के रूप में उनके पुरुष परिजन ही उस पद का संचालन करते हैं। इसके चलते भी राजनीति में महिलाओं को मौके नहीं मिल पाते हैं। समाज में ऐसी बहुत ही कम महिला नेत्रियां नजर आती हैं, जो स्वयं अपने बलबूते पर राजनीति की कठिन डगर में अपना स्थान बना पाती हैं और किसी पद तक पहुंच पाती हैं।

इस संदर्भ में अपने अनुभव में जो कुछ जानकारियां सामने आईं, उन्हें भी यहां साझा करना आवश्यक है। नेत्रियों और जन-प्रतिनिधियों से संबंधित विषयों पर काम करते हुए ऐसी कई जानकारियां सामने आईं, जो चौंकाने वाली एवं नई थीं। जब ग्रामीण क्षेत्रों का भ्रमण किया, तो कई महिलाएं ऐसी मिलीं, जो संवैधानिक मूल्य क्या होते हैं, इस बारे में कुछ समझती ही नहीं हैं, तो कुछ नेत्रियां ऐसी भी थीं कि वे संवैधानिक मूल्यों को समझती और जानती तो हैं, लेकिन उनको न तो अपने अधिकारों से कोई सरोकार है और न ही अपने संवैधानिक मूल्यों से। वे नेत्रियां तो अपने पदों पर रहकर बस रस्म अदायगी करती नजर आती हैं। उनके पदों पर उनके पुरुष परिजन काबिज हैं और वे ही सारे कामकाज देख रहे हैं। ऐसा नहीं है कि ये महिला नेत्रियां कुछ जानती-बूझती नहीं हैं, लेकिन सब कुछ जानते हुए भी पुरुष परिजनों को अपने पदों पर हावी होने की अनुमति देते हुए अपने कर्तव्यों के निर्वहन में कोताही बरतती हैं। ऐसी महिलाओं के बारे में तो यह कहा जा सकता है कि ऐसी महिलाएं न तो स्वयं के अधिकारों को लेकर जागरूक हैं और न ही अन्य महिलाओं के अधिकारों को लेकर जागरूक हैं। उनके दृष्टिकोण के अनुसार जो जैसा चल रहा है, उसी स्थिति को स्वीकार कर वे अपने कर्तव्यों से विरक्त बनी हुई हैं। इस तरह से संवैधानिक पदों पर आई महिलाओं की सोच यह है कि हमको राजनीति से क्या करना है, हमारे पति या अन्य परिजन जो कर रहे हैं, वह सही है। हमें पद उनकी कृपा से मिला है, तो काम भी वही करें, हम क्यों जोखिम उठाएं।

महिला सशक्तीकरण के क्षेत्र में प्रयास, क्रियान्वयन और सफलता के बारे में बात करें, तो प्रश्न यह उठता है कि आखिर महिला सशक्तीकरण के क्षेत्र में इतनी बाधाएं क्यों हैं? आखिर क्या कारक हैं, जो बाधा बनते हैं। देखने में आया है कि महिला नेत्रियों को आगे बढ़ने से रोकने के कई कारक हैं, जिनमें संस्कृति एवं परिवेश भी एक विषय है। ग्रामीण रूढ़िवादी इलाकों में जहां महिलाओं का बाहर निकलना और पुरुषों के बीच काम करना बाधक माना जाता है। वहीं पर्दा-प्रथा के चलते महिलाओं को कई वर्जनाओं का शिकार होना पड़ता है। राजनीति में महिला जन-प्रतिनिधियों के परिजनों का हस्तक्षेप और महिलाओं को अपने बल पर कोई काम करने की आजादी न देना, पुराने समय से चली आ रही पर्दा-प्रथा

व लोकाचार राजनीतिक दलों के संगठन में सीमित प्रतिनिधित्व, महिलाओं की आजादी पर अघोषित पाबंदी, जातिगत भेदभाव, महिलाओं का मुखर न होना राजनीतिक असुरक्षा की भावना, अशिक्षा, महिला उत्पीड़न व शोषण आदि ऐसे कारण हैं, जो महिलाओं को राजनीतिक क्षेत्र में आगे बढ़ाने में बाधक है।

राजनीति के क्षेत्र में महिलाओं को कई मुश्किलें सामने आती हैं। सबसे पहला संकट होता है महिलाओं को राजनीति में उचित स्थान और पहचान मिलने का। यदि राजनीति में कोई महिला आती है और राजनीति को अपना कॅरियर बनाती है, तो उसकी डगर कांटों भरी होती है। रिसर्च के दौरान जब अलग-अलग महिलाओं से मिली और महिलाओं के राजनीति में प्रवेश के विभिन्न पहलुओं पर व्यापक अध्ययन किया, तो ऐसे कई कारण नजर आए, जो महिला नेत्रियों के राजनीति में आने में बाधक बनते हैं। महिलाओं के राजनीति में पीछे रहने के कारणों में सबसे पहला कारण जो समझ में आया, वह यह रहा कि यदि आपके परिवार का कोई पुरुष परिजन राजनीति में सक्रिय नहीं है, तो फिर आपको राजनीति के मैदान में अपनी पहचान बनाने में काफी मेहनत करना पड़ेगी। वहीं दूसरी बात यह सामने आई कि कई बार महिलाओं के लिए राजनीति के मैदान का माहौल अनुकूल नहीं होता है। कई महिला नेत्रियों ने चर्चा के दौरान बताया कि उनके साथ और अन्य महिलाओं के साथ भी कई राजनेता ऐसी डिमांड करते हैं, जो वे पूरी नहीं कर पातीं और उनका राजनीति से मोह भंग हो जाता है। वहीं कई बार घर-परिवार की जिम्मेदारियों के चलते भी कई महिलाओं को राजनीति के मैदान से दूर जाना होता है। वहीं यदि महिलाएं जब किसी संवैधानिक पद पर पहुंच जाती हैं, तो उनके पुरुष परिजन उनके पदीय कर्तव्यों के निर्वहन में हस्तक्षेप करते हैं और उनको आगे नहीं बढ़ने दिया जाता है, इस कारण भी वे राजनीति से दूर हो जाती हैं।

राजनीति के मैदान में देखने में आता है कि जो दिखता है, वह होता नहीं है। यहां नए आने वाले नेताओं और नेत्रियों को राजनीति का मैदान काफी आकर्षित करता है। ग्लैमर, पहचान एवं ऊंचे पायदान तक पहुंचने के सपनों के चलते कई बार महिलाएं राजनीति के मैदान के माहिर गलत लोगों के बीच भी फंस जाती हैं। नाम न छापने की शर्त पर कई महिला नेत्रियों ने अपनी पीड़ा बताते हुए कहा कि हम जिस पायदान पर पहुंचने का सपना लेकर राजनीति में आए थे, वह सपना तो यहां आकर पता नहीं कहां खो गया, जब भी किसी बड़े पद को देने की बात आती है या फिर चुनाव में टिकट की बात आती है, तो कई नेता इशारों-इशारों में समझौते करने के लिए प्रेरित करते हैं। जो समझौते कर लेती हैं, वे कई बार आगे बढ़ जाती हैं और जो समझौते नहीं करतीं वह पीछे धकेल दी जाती हैं।

देखने में यह आता है कि राजनीति वह मंच है, जहां पर चंद लोग ही ऐसे हैं, जो अपने मापदंड और मूल्यों पर चल रहे हैं, बाकी तो यहां 'गिव एंड टेक' की पद्धति धड़ल्ले से चल रही है। ऐसे माहौल में महिलाओं के उनके परिजन राजनीति में आने से रोकते हैं। हां, जो अति महत्वाकांक्षी महिलाएं होती हैं, वे राजनीति के मैदान में सफलता पाने के लिए कई बार समझौते करने से भी गुरेज नहीं करतीं। यह बात तो सभी जानते हैं कि पुरुषों को राजनीति में सफल होने में ज्यादा मुश्किलें नहीं आती हैं, वहीं महिलाओं के लिए राजनीति में पहचान बनाना बहुत मुश्किल काम होता है। यूं किसी भी क्षेत्र में महिलाओं को सफलता पाने के लिए ज्यादा मेहनत करना पड़ती है। राजनीति का मैदान भी इससे अछूता नहीं है, यहां सफलता न तो स्थायी होती है और न ही आसानी से मिल पाती है। स्वाभाविक है, निजी तौर पर ही महिलाओं की राह में सांस्कृतिक, धार्मिक, आर्थिक समस्याओं के साथ परंपरागत रूढ़ियों की जंजीरें पड़ी होती हैं, तो वहीं देहरी से बाहर समाज का नजरिया, लैंगिक असमानता, भेदभाव, अनाचार जैसे अनेक कारण हैं, जो एक महिला के राजनीतिक प्रवेश एवं सफलता के लिये अवरोधक होते हैं।

शोध के दौरान यह देखने में आया कि लगातार महिलाओं के संवैधानिक अधिकारों पर अतिक्रमण हो रहा है। महिला जिस पद को धारण किए हुए है, निर्वाचित हुई है, उस पद पर काम करने के अधिकार महिला को नहीं मिल रहे हैं। निचले स्तर

पर हालात और ज्यादा खराब हैं। यहां पर महिला जन-प्रतिनिधियों का कई स्तरों पर शोषण हो रहा है। न सिर्फ उनके संवैधानिक अधिकारों पर अतिक्रमण कर उनका दुरुपयोग किया जा रहा है, बल्कि महिला जन-प्रतिनिधि और उनके परिजन भी धोखे के शिकार हो रहे हैं। ग्रामीण इलाकों में दबंग राजनीतिक लोग महिला जन-प्रतिनिधियों से अपने हिसाब से काम कराते हैं और अपने फायदे के लिए उन्हें इस्तेमाल करते हैं। यदि कुछ गलत काम होता है, तो फिर ठीकरा महिला जन-प्रतिनिधि के सिर पर फूटता है और उसे कार्यवाही का शिकार होना पड़ता है। बुंदेलखंड क्षेत्र में भी इस तरह की कई घटनाएं सामने आ चुकी है। वहीं शोध के दौरान यह भी देखने में आया कि गांव में आरक्षण के चलते किसी को सरपंच तो बना दिया जाता है, लेकिन सारा कामकाज गांव के प्रभावशाली व्यक्ति ही देखते हैं और अपने मन-मुताबिक कामकाज चलाते हैं। ऐसे में जो व्यक्ति उस पद पर वास्तविक रूप से चुनकर आया है, वह उस पद का दुरुपयोग होते हुए भी कभी भयवश, तो कभी किसी संकोचवश सहन करता रहता है और संवैधानिक पदों के दुरुपयोग की कहानी आए-दिन लिखी जाती रहती है। महिलाओं के अधिकार हमेशा प्रभावित होते रहते हैं, लेकिन इसके लिए कोई पुख्ता कदम नहीं उठाए जाते हैं।

उपरोक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि संविधान की मंशा के अनुरूप समय-समय पर सभी सरकारों ने महिला सशक्तीकरण हेतु राजनीतिक, प्रशासनिक सामाजिक आर्थिक क्षेत्र में महिलाओं को सक्षम बनाने हेतु तथा उनके साथ दोयम दर्जे के व्यवहार को दूर करने हेतु महत्वपूर्ण कार्य किए हैं, परंतु उक्त कार्यों के बाद भी आजादी के लगभग 75 वर्ष पूर्ण हो चुके हैं, कहीं न कहीं महिलाएं अपने आपको असहाय समझती हैं। ऐसा नहीं कि सरकारों ने महिला सशक्तीकरण के लिए कार्य नहीं किए। कार्य तो हुए हैं, पर उनका क्रियान्वयन सही तरीके से नहीं हो पाया है। संभावना है कि अगले पांच वर्ष के अंदर संसद और विधानसभाओं में महिला जन-प्रतिनिधियों हेतु स्थान आरक्षित किए जाएंगे तथा जब वे चुनकर आएंगी तथा देश के कानून बनाने में अपनी सक्रिय भागीदारी निभाएंगी, तब निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि नारी देश की नई तस्वीर गढ़ेगी। यदि महिलाओं की प्रतिभा और काबिलीयत पर भरोसा कर उन्हें भरपूर मौके दिए जाएं और उनको आगे बढ़ाने में परिवार और समाज का सहयोग हासिल हो जाए तो महिला को स्वयं को साबित करने में ज्यादा वक्त नहीं लगेगा। महिला में अंतर्शक्ति की कमी नहीं है, बस जरूरत है उसके बुलंद हौसलों को पंख देने के फिर महिलाओं की दिशा और दशा दोनों के बदलने में देर नहीं लगेगी।

मेरी यात्रा: पूर्वाग्रह से मुक्ति और नई दृष्टि से पत्रकारिता

योगेश पांडेय

संविधान स्कूली जीवन से ही मेरे लिए बड़े कौतुहल का विषय रहा है। जब–जब मौका मिला, पाठ्यक्रम में शामिल इस हिस्से को मैंने पूरी लगन के साथ पढ़ा–लिखा। यह अलग बात है कि इसके मर्म और जरूरत को कभी महसूस नहीं कर पाया था। सितंबर, 2023 में जब विकास संवाद के साथ संविधान फैलोशिप यात्रा शुरू की, तब भी मानस बहुत धुंधला ही था। पता नहीं थाक्या करेंगे फैलोशिप में?

सेवाग्राम के उन्मुखीकरण शिविर में पहली बार संविधान की आत्मा का बोध हुआ। पहले मुझे समता, समानता, न्याय, गरिमा, बंधुत्व जैसे शब्द रटे हुए जरूर थे, लेकिन जब इस यात्रा में शामिल हुआ तो समझ आया कि एक–एक शब्द कैसे संविधान की माला में पिरोए गए हैं? इनका क्रम क्या है? ये क्रम कैसे तय हुआ?

संविधान सभा की बहस में जब बाबा साहब अंबेडकर यह कहते हैं कि बंधुत्व के बिना स्वतंत्रता और समानता का कोई मतलब नहीं है। सोचिए... उनके मानस में उस वक्त क्या चल रहा होगा, जिससे उन्हें बंधुत्व शब्द यहां इतना जरुरी लगा। आज हम अपने आसपास के माहौल में बंधुत्व पर छाई जो धुंध देख रहे हैं, वह तो बाबा साहब अंबेडकर ने 77 साल पहले ही महसूस कर ली थी, तभी तो उन्होंने इस शब्द पर इतना ज्यादा जोर दिया था।

भारतीय संविधान की उद्देशिका में 'हम भारत के लोग....' से पहले ईश्वर की शपथ... देवी की शपथ... जैसी कई उपमाओं को न रखकर सिर्फ हम भारत के लोग से इसे शुरू करने के पीछे के तर्क क्या थे? इस फैलोशिप से हमने उस मर्म की ओर बढ़ने की यात्रा शुरू की है।

फैलोशिप एक साल में खत्म हो गई, लेकिन असल जीवन में हमारी संविधान यात्रा अब शुरू हुई है। इस यात्रा में शामिल होकर हम खुद को मानवीय मूल्यों के ज्यादा करीब पाते हैं। अपने रोजमर्रा के जीवन में इन मूल्यों का ख्याल रखने की कोशिश करते हैं। हमारे मन और मस्तिष्क की अलमीरा में अब ये मूल्य सबसे ऊपर हैं।

परिचय

मूलत: बालाघाट जिले के निवासी योगेश पांडेय ने दैनिक भास्कर, नवदुनिया, ईटीवी, जबलपुर एक्सप्रेस, पद्मेश सिटी कैबल जैसे संस्थानों में विभिन्न दायित्वों के साथ कार्य किया है। 2009 में मध्य प्रदेश की राजधानी भोपाल से पत्रकारिता को विस्तार देने वाले योगेश पांडेय ने दैनिक भास्कर मध्य प्रदेश में विशिष्ट रिपोर्टिंग का कार्य देखते हुए अनेक सामाजिक महत्व के संवेदनशील मामलों की गंभीर रिपोर्टिंग की है। लोकसभा और विधानसभा चुनावों के दौरान राजनीतिक रिपोर्टिंग और कोविड 19 के दौरान खोजी रिपोर्टिंग से योगेश पांडेय की पत्रकारिता को खास पहचान मिली है।

मैं संविधान की समझ के अपने पुराने अनुभव पर ज्यादा फोकस इसलिए कर रहा हूं, ताकि मैं यह बता सकूं कि भारत का कथित पढ़ा-लिखा समाज अपने संविधान की कितनी समझ रखता है, क्योंकि मैं भी उसी समाज का हिस्सा हूं।

गीता, रामायण, कुरान, बाइबिल और गुरबानी की किताबों में हम इतने आसक्त हैं कि हमें कभी इंसानियत को ड्राइव करने वाले संविधान को पढ़ने–समझने की परवाह ही नहीं रही।

मैं जान-बूझकर इंसानियत और ड्राइव शब्द का इस्तेमाल कर रहा हूं, क्योंकि मैं इसे ऐसे ही समझता हूं। मुझे लगता है कि इस धर्म-निरपेक्ष देश में मानवता के लिए इन तमाम धर्म-ग्रंथों से ज्यादा अहम संविधान की समझ है, लेकिन हमने इसे अपने पाठ्यक्रमों में भी बहुत कंजूसी से शामिल किया है।

संविधान से जुड़ी बातें सिर्फ एक स्ट्रीम की सबटाइटल बनकर रह गई हैं, जबकि ये जिंदगी के फलसफे को समझाने के लिए भी बेहद जरूरी है। ये भी उतना ही सच है कि इसे समझे बिना ही हमारी पीढ़ियां पढ़–लिखकर समझदार हो गईं।

हम पेशेवर पत्रकार हैं, लेकिन संविधान की समझ बहुत ही सतही है या सिर्फ पाठ्यक्रम के समझ वाली रही है। ऐसे में पत्रकारों के लिए संविधान का मर्म समझना बेहद जरूरी है, ताकि हम अपने रोजमर्रा के कामकाज में, जीवन में लोगों को यह एहसास दिला पाएं कि इस देश को ड्राइव करने के लिए एक ग्रंथ है। इसी ग्रंथ से देश चलता है। इसकी चौपाइयों और आयतों से बढ़कर न कोई सरकार है न कोई नेता न अफसर। जब हम लोगों को रामायण की चौपाइयों की तरह इस ग्रंथ के कायदों की व्याख्या करते रहेंगे, तभी तो सही मायने में समता और स्वतंत्रता के मूल्यों पर लोगों का भरोसा कायम रह पाएगा। तभी सही मायने में हम लोकतांत्रिक भी रह पाएंगे।

जहां तक व्यक्तिगत रूप से मेरी बात है, मैं इसे रोजमर्रा के काम में जीने की कोशिश करता हूं। किसी खबर के लिए जब किसी से मिलता हूं, तब भी और जब लिखता हूं तब भी।

मैं खुद को ज्यादा परिपक्व और समावेशी महसूस करता हूं। जब किसी की बात को समझता हूं, तो उसकी तरफ खड़ा होकर समझने की कोशिश करता हूं। कई बार गलती भी होती है, लेकिन इसके मूल सिद्धांत को बनाए रखने की कोशिश करता हूं।

हम यह भी समझ पा रहे हैं कि दरअसल ये संवैधानिक मूल्य ही हमारे संविधान की आत्मा हैं। एक बेहतरीन लोकतंत्र का प्राण भी ये मूल्य ही हैं, जहां हर व्यक्ति के साथ न्यायपूर्ण व्यवहार हो। हर व्यक्ति चाहे वह अमीर हो या गरीब, उसकी गरिमा है। अब हमें स्वतंत्रता के मायने समझ आ रहे हैं, समता और समानता का अर्थ समझ पा रहे हैं।

सारगर्भित रूप से कहें, तो जिस लोकतंत्र की अवधारणा की बात हम करते हैं, वह इन मूल्यों में ही निहित है। जैसा कि बाबा साहेब अम्बेडकर ने भी कहा है कि सामाजिक लोकतंत्र के बिना राजनीतिक लोकतंत्र का कोई मतलब नहीं है। अम्बेडकर की इस बात का अर्थ हमें अब समझ आ रहा है।

संविधान की समझ से जीवन में क्या–क्या बदला

1. पूर्व धारणा से मुक्ति

एक पत्रकार होने के नाते संविधान फैलोशिप ने मुझे जो सबसे बड़ी सीख दी है, वह है पूर्वाग्रह से मुक्ति। मैं जीवन के किसी भी विषय पर निर्णय लेने से पहले खुद को पूर्वाग्रह से मुक्त महसूस करता हूं। किसी भी खबर का कोई भी स्टेक होल्डर हो, मैं उसे पूरे खुले मन से सुनता हूं और समझता हूं। यह मानकर नहीं चलता कि इसने ही ऐसा किया होगा।

यह प्रवृत्ति मुझे व्यक्तिगत जीवन और पेशेवर जीवन में बहुत अलग नजरिया देती है। मैं किसी के प्रति पहले से कोई धारणा नहीं बनाता। यही मैं अपने साथियों और परिवार से भी कहता हूं कि जीवन में दूसरों का पक्ष समझने के लिए उनके हालात समझने होंगे। उनकी तरफ रहकर समझना होगा, तब ही हम उसे सही अर्थ में समझ पाएंगे।

2. लैंगिग विषयों की संवेदनशीलता

जब हम जेंडर की बात करते हैं, तो महिला और पुरुष की ही बात करते हैं। संविधान यात्रा में शामिल होने से पहले लैंगिग

विषयों पर मेरी व्यक्तिगत समझ बहुत स्पष्ट नहीं थी, लेकिन जब हमने जेंडर इशू को पढ़ा-समझा, तो जाना कि एक इंसान होने के लिए आपके भीतर लैंगिग विषयों की समझ और संवेदनशीलता होना बहुत जरूरी है।

अब हम थर्ड जेंडर के मुद्दों को समझने और उसे लिखने में बहुत सजग रहते हैं। उनकी बातों को उनके भाव से समझने की कोशिश करते हैं। इस मसले पर हमसे और हमारे सहकर्मियों से पहले हुई गलतियों से सीख लेते हैं, ताकि उसकी पुनरावृत्ति न हो।

ऐसे ही दिव्यांगजनों के मुद्दों को भी उनके नजरिये से देखने समझने की कोशिश करते हैं।

3. संवैधानिक समझ पेशेवर बनाने में मददगार

किसी मुद्दे को रिपोर्ट करते समय उसके संवैधानिक मूल्यों की समझ आपको पेशेवर तौर पर आगे रखती है। संवैधानिक मूल्यों की बात पीड़ित और सिस्टम दोनों के लिए स्वीकार्य होती है। इसका फायदा यह भी होता है कि जिस के हक में हम वह बात कहना चाह रहे हैं, सिस्टम भी उसे स्वीकार करता है। बीते दो सालों में कार्यक्षेत्र में ऐसे कई उदाहरण रहे हैं।

जब हम अपनी खबरों में संवैधानिक मूल्य, संवैधानिक अधिकारों के नजरिये से उस मुद्दे को समझने की कोशिश करते हैं। जैसे किसी को बिना नोटिस दिए जब बुलडोजर चलता है, तो हम उसे ऐसे देखते हैं कि ये तो जीने की स्वतंत्रता पर सीधा हमला है।

हम यह भी समझते हैं कि जिस आरोपी व्यक्ति के विरुद्ध एक्शन हो रहा है, यदि उसका पक्ष सुने बिना ही उसके खिलाफ कार्रवाई हो रही है, तो यह तो नैसर्गिक न्याय के सिद्धांत के भी खिलाफ है।

अंधश्रद्धा और वैज्ञानिक सोच

फैलोशिप के दौरान मेरा विषय अंधश्रद्धा और वैज्ञानिक सोच रहा है। संविधान फैलोशिप यात्रा में इस विषय पर काम करने की मुझे नई दृष्टि मिली है। मैं लगातार इन विषयों पर काम कर रहा हूं। संविधान संवाद की कार्यशालाओं में अलग–अलग विद्वानों से इस विषय को जानने की गहरी समझ बनी है।

सन 2023 में विधानसभा चुनाव से ऐन पहले मध्यप्रदेश में बागेश्वर धाम के पंडित धीरेंद्र कृष्ण शास्त्री, सीहोर के पंडित प्रदीप मिश्रा और पंडोखर सरकार के दरबारों की हमने ऐसी कहानियां लिखी हैं, जो बेहद तर्कपूर्ण रही हैं। ऐसी खबरों से हमने समाज की वैज्ञानिक सोच को कुरेदने की कोशिश की है, ताकि वे इस भीड़ में भी तार्किक रहने की कोशिश करें।

हम अब भी समाज की ऐसी कथित चमत्कारिक कहानियों या आंडबरों पर तर्कपूर्ण रिपोर्ट करते हैं, जिससे लोगों को एक वैज्ञानिक चेतना मिलती रहे।

संवैधानिक मूल्यों की राह पर

हमारा सफ़र

संविधान संवाद
युवा पत्रकार फैलोशिप 2022–25

यात्रा, अनुभव और अभिव्यक्ति

विकास संवाद

आदिवासी: योजनाओं के केंद्र में, राहत पाने से दूर

अंकित पचौरी

परिचय

पत्रकारिता में स्नातकोत्तर अंकित पचौरी पिछले 12 वर्ष से सक्रिय पत्रकार हैं। दूरदर्शन, नई दुनिया, भास्कर, भारत समाचार, वेबपोर्टल मूकनायक जैसे प्रतिष्ठित संस्थानों में विभिन्न पदों पर कार्य कर चुके हैं। दलित, आदिवासी और हाशिए पर मौजूद समाज की आवाज उठाने में विशेष रुचि रखते हैं। फैलोशिप के अंतर्गत अंकित पचौरी ने मध्य प्रदेश की विशेष पिछड़ी जनजातियों की समस्याओं और उनके संवैधानिक मूल्यों पर शोध कार्य किया है।

प्रदेश में सरकार किसी भी दल की हो, आदिवासियों के हित में हर बार कई वादे किए जाते हैं। उनकी समस्याओं के निराकरण के लिए योजनाएं चलाई जाती हैं। इसकी अपनी वजह भी हैं। मध्य प्रदेश में राजनीतिक दलों के कामों के केंद्र में आदिवासी हैं, क्योंकि प्रदेश की आबादी में आदिवासियों की संख्या 21 प्रतिशत है। लिहाजा इन्हें लुभाने के लिए हर तरह के दावे और वादे किए जा रहे हैं। आदिवासियों के मुद्दों और उनके लिए चलाई गई सरकारी योजनाओं की जमीनी पड़ताल के लिए आदिवासी-बाहुल्य इलाकों श्योपुर, अलीराजपुर, अनूपपुर और बालाघाट जिलों का दौरा किया गया।

श्योपुर जिला

आदिवासी मध्यप्रदेश में स्वास्थ्य, शिक्षा और रोजगार जैसे मुद्दों पर कहां खड़े हैं? क्या 18 साल तक शासन में रहने वाली भाजपा और 15 महीने शासन में रहने वाली कांग्रेस आदिवासियों तक पहुंच पाई? इन सवालों का जवाब ढूंढ़ने हम सबसे पहले श्योपुर पहुंचे। यह जिला देश की विशेष पिछड़ी जनजाति (पीवीटीजीएस) सहरिया-बाहुल्य है। यहां तीन ब्लॉक और दो विधानसभा क्षेत्र हैं। श्योपुर सीट से कांग्रेस के बाबू जंडेल विधायक हैं और जिले की दूसरी विधानसभा सीट विजयपुर से सीताराम आदिवासी बीजेपी के विधायक हैं। सरकार के हजार दावों से इतर श्योपुर की जमीनी हकीकत एकदम अलग है। श्योपुर जिले को 'भारत का इथोपिया' कहा जाता है। यहां आज भी कुपोषण सबसे बड़ी समस्या है। इस मामले में महिला एवं बाल विकास विभाग के अधिकारी कागजी आंकड़ेबाजी में जिले से कुपोषण का ग्राफ बेहद कम होने का दावा कर रहे हैं, लेकिन हकीकत यह है कि कुपोषण के ग्राफ में कमी नहीं आई है।

श्योपुर के कराहल और विजयपुर में 150 से ज्यादा सहरिया आदिवासी-बाहुल्य गांव हैं। करीब आधा दर्जन गांवों का दौरा करने पर हमने पाया कि लगभग हर गांव में कुपोषित बच्चे थे। यहां हमें कई गंभीर कुपोषित बच्चे भी मिले, जिन्हें जिला मुख्यालय के पोषण पुनर्वास केंद्र (एनआरसी) में भर्ती कराया गया था।

कुपोषण नहीं छोड़ रहा पीछा

कूनो नेशनल पार्क से सटे टिकटोली, मोरावन आदि दर्जनों गावों की स्थिति भयावह है। झोपड़ीनुमा कच्ची मिट्टी के घर सहरिया समुदाय की गरीबी को बयान करते हैं। रोजगार के साधन नहीं होने के कारण बहुत से लोग यहां के सीमावर्ती राज्य

राजस्थान में मजदूरी के लिए पलायन कर जाते हैं। महीनों बाद वापस जब घर लौटते हैं, तभी इन परिवारों को भरपेट खाना नसीब होता है। लोगों में जागरूकता की कमी और सरकारी योजनाओं पर अमल में नाकामी के कारण यहां कुपोषण पर पूरी तरह काबू नहीं पाया जा सका।

कराहल ब्लॉक के जेतवाड़ा गांव में सरतीजो का परिवार रहता है। परिवार में दो बेटे, उनकी बहू और बच्चे हैं। बेटे फिलहाल मजदूरी के लिए गांव से बाहर गए हैं। ऐसे में घर की देखरेख की जिम्मेदारी सरतीजो पर है। सरतीजो के बड़े बेटे की पत्नी मचली ने तीन साल पहले जुड़वां बच्चों को जन्म दिया था। जन्म के बाद से ही दोनों बच्चे कुपोषित रहे। बच्चों की हालात बेहद गंभीर होने पर उन्हें पोषण पुनर्वास केंद्र में भर्ती कराया गया। अब दोनों बच्चे स्वस्थ हैं।

सरतीजो ने बताया कि उनके परिवार से कुपोषण पीछा नहीं छोड़ रहा। पहले दो बच्चे कमजोर हो गए थे, जिन्हें 15 दिन अस्पताल में भर्ती रखना पड़ा था, अब छोटे बेटे की बच्ची कुपोषण की शिकार होकर कमजोर हो गई है।

आंगनबाड़ी कार्यकर्ता बैजयंती गुर्जर कहती हैं, 'गांव में हर महीने कुपोषित बच्चे मिलते हैं। फिलहाल एक बच्ची कुपोषित है, जिसको हम एनआरसी श्योपुर में भर्ती कराएंगे।'

श्योपुर जिला चिकित्सालय के पोषण पुनर्वास केंद्र (एनआरसी) में हमने पाया कि कुल 12 कुपोषित बच्चे भर्ती थे। इसके अलावा कुछ बच्चे कुपोषण के चलते अन्य बीमारियों की चपेट में आ गए थे, जिन्हें अस्पताल के आईसीयू में भर्ती कराया गया था।

एनआरसी प्रभारी डॉ. मंगल ने हमें बताया, 'ज्यादातर बच्चे जन्म के बाद से ही कुपोषित हो जाते हैं। धीरे-धीरे इसके लक्षण सामने आते हैं। बच्चों के हाथ-पैर पतले होना, खाने के बाद पेट फूलना, स्किन से जुड़ी समस्याएं होना ये सभी कुपोषण के लक्षण हैं।'

वे आगे कहते हैं, 'बच्चों की लंबाई नहीं बढ़ना भी कुपोषण के लक्षणों में से एक है। शुरूआत में आंगनबाड़ी द्वारा इनका उपचार किया जाता है। जब स्थिति गंभीर होती है, तब उन्हें उपचार के लिए एनआरसी में भर्ती कराया जाता है।'

मालूम हो कि मध्यप्रदेश महिला बाल विकास विभाग प्रदेश के प्रति बच्चे के पोषण पर आठ रुपए का खर्च कर रहा है। इसमें 0 से 6 साल तक के बच्चे शामिल हैं। श्योपुर जिले में 0-6 साल तक बच्चों की लगभग संख्या 88 हजार है। महिला बाल विकास विभाग 0-3 साल तक के बच्चों के लिए 650 ग्राम का पोषण आहार पैकेट सप्ताह में प्रति मंगलवार को वितरित करता है। वहीं, 3-6 साल के बच्चों को आंगनवाड़ियों में ही दलिया, खिचड़ी, बेसन का हलवा और पोषण आहार का पैकेट दिया जाता है।

अलग-अलग योजनाओं के जरिये खर्च

चाइल्ड बजट वर्ष 2022-23 की रिपोर्ट के मुताबिक, महिला बाल विकास विभाग को पूरक पोषण आहार कार्यक्रम के अंतर्गत वित्तीय वर्ष 2022-23 में 73,06,088 रुपए के बजट का प्राविधान किया गया। इस योजना से 22 लाख बच्चे लाभान्वित हुए हैं। वर्ष 2021-22 में यह राशि 71,98,886 रुपए थी, यानी पिछले वित्तीय वर्ष के मुताबिक वर्ष 2023 में बजट की राशि को बढ़ाया गया।

मुख्यमंत्री सुपोषण योजना के अंतर्गत आंगनवाड़ियों द्वारा 0-5 वर्ष के बच्चों को कुपोषण और एनीमिया से मुक्त कराने एवं 15-49 वर्ष तक की युवती-महिलाओं को एनीमिया मुक्ति अभियान के अंतर्गत गर्म भोजन, दलिया, मूंगफली, लड्डू,

अंडा, चिक्की आदि उपलब्ध कराने के लिए वित्तीय वर्ष 2022-23 में 61 लाख रुपए बजट का प्राविधान किया गया। इस योजना के तहत, 4,33,000 महिलाओं को लाभ मिला। श्योपुर जिले के आदिवासी इलाकों में कुपोषण के चलते पिछले पांच सालों में कई बच्चों की जान भी गई है। इनमें कुछ ऐसे हैं, जो सरकारी आंकड़ों में दर्ज नहीं हो पाए। महिला एवं बाल विकास विभाग के आंकड़ों के अनुसार श्योपुर जिले में 823 बच्चे कुपोषित और 243 गंभीर कुपोषित मिले थे। यह आंकड़ा वर्ष 2022 का है। वर्तमान में भी श्योपुर ग्रामीण से लगातार कुपोषित बच्चे मिल रहे हैं।

पोषण आहार अनुदान योजना की राशि नदारद

सरकार ने कुपोषण से मुक्ति के लिए पोषण आहार अनुदान योजना की शुरूआत की थी। इस योजना के अंतर्गत अति पिछड़ी जनजातियों से संबंधित वर्ग को एक हजार रुपए प्रति महीने की सहायता राशि दी जाती थी, लेकिन पिछले सात महीनों से यह राशि खातों में नहीं पहुंची। पोषण आहार अनुदान योजना का सच जानने के लिए हम जिले के वर्धा और कलारना गांव पहुंचे। यहां हमारी मुलाकात कुछ महिलाओं से हुई, जो बहुत गुस्से में थीं। पोषण अनुदान की राशि के बारे में पूछते ही उनका गुस्सा फूट पड़ा। आदिवासी महिलाओं का कहना है कि पिछले सात महीनों से वे बैंक के चक्कर लगा रही हैं, लेकिन खाते में पैसे नहीं पहुंचे।

गांव में रहने वाली आहुति ने बताया कि पिछले सात महीनों से उनके खाते में पोषण आहार अनुदान की राशि नहीं पहुंची है। इसके लिए वे कई बार बैंक गईं, लेकिन खाते में पैसे नहीं पहुंचे। गांव की ही अनारदा कहती हैं कि वे योजना की राशि को लेकर कलेक्टर कार्यालय गई थीं, लेकिन अधिकारी इंतजार करने की बात कहकर मामले को टालते गए। अनारदा और आहुति आदिवासी हैं।

मध्य प्रदेश आदिम जाति कल्याण विभाग के आयुक्त संजीव सिंह से जब हमने आदिवासी इलाकों की इस समस्या पर बात की तो उन्होंने कहा, "विभाग अनुसूचित जनजाति वर्ग के लोगों के कल्याण के लिए निरंतर काम कर रहा है। यदि प्रदेश के किसी जिले में कोई समस्या है, तो आप हमारे विभाग को भेजें, हम जांच कराकर कार्रवाई करेंगे।" श्योपुर में आदिवासी उत्थान के लिए काम कर रही संस्था एकता परिषद के सदस्य जय सिंह जादौन ने बताया कि पोषण आहार की राशि आदिवासी महिलाओं के खातों में नहीं भेजे जाने से आने वाले समय में कुपोषण के मामले बढ़ सकते हैं।

प्रदेश सरकार ने अगस्त 2023 तक आहार अनुदान योजना के अंतर्गत 1.81 लाख महिलाओं पर दिसंबर 2017 से अब तक 1391 करोड़ रुपए से ज्यादा की राशि खर्च की है। इस योजना में विशेष पिछड़ी जनजाति समुदाय में भारिया, बैगा, सहरिया शामिल हैं। यह योजना 23 दिसंबर, 2017 को शुरू की गई थी।

वहीं, विधानसभा क्षेत्र के विकास के लिए प्रति वर्ष विधायकों को विधायक निधि प्रदान की जाती है। श्योपुर के विजयपुर विधानसभा के विधायक सीताराम आदिवासी को अप्रैल 2023 में 2.50 करोड़ रुपए विधायक निधि मिली थी। यह राशि विधायक द्वारा विभिन्न प्रस्तावों के तहत खर्च कर दी गई।

इस पर विधायक सीताराम आदिवासी बताते हैं कि वे अपनी विधायक निधि की पूरी राशि क्षेत्र के विकास में खर्च कर चुके हैं, लेकिन उन्होंने यह नहीं बताया कि विशेष रूप से कुपोषण या स्वास्थ्य सेवाओं पर कितना खर्च किया।

मध्य प्रदेश में पोषण आहार घोटाला

मध्यप्रदेश में वर्ष 2022 में पोषण आहार में घोटाले का मामला सामने आया था। पोषण आहार में गड़बड़ी के आरोप लगे थे। इस मामले की गंभीरता तब सामने आई, जब कैग की एक रिपोर्ट में इस गड़बड़ी का जिक्र आया। दरअसल, पोषण

आहार को लोगों तक पहुंचाने की जिम्मेदारी जिन निजी कंपनियों को दी गई थी, उन्होंने सिर्फ कागजों में इसकी खानापूर्ति कर दी।

कैग रिपोर्ट के मुताबिक भोपाल, छिंदवाड़ा, धार, झाबुआ, रीवा, सागर, सतना, शिवपुरी और श्योपुर जिलों में करीब 97 हजार मीट्रिक टन पोषण आहार के स्टॉक की सूचना दी गई, लेकिन उसमें से सिर्फ 87 हजार मीट्रिक टन पोषण आहार का ही वितरण हुआ। करीब 10 हजार टन आहार में गड़बड़ी हुई। हेराफेरी कर कागजों में बंटे इस आहार की कीमत करीब 62 करोड़ रुपए बताई गई थी। इस घोटाले की व्यापकता का अंदाजा इस बात से लगता है कि शिवपुरी जिले के दो विकासखंडोंखनियाधाना और कोलारसमें सिर्फ आठ महीने के भीतर पांच करोड़ रुपए के आहार के भुगतान की अनुमति दे दी गई, लेकिन जांच करने पर स्टॉक के रजिस्टर तक नहीं मिले।

एमपी के सबसे गरीब जिले में क्या बदला!

श्योपुर जिले की कुपोषण स्थिति को समझने के बाद हम अलीराजपुर पहुंचे। वर्ष 2021 में आई नीति आयोग की रिपोर्ट के मुताबिक अलीराजपुर भारत का सबसे गरीबी वाला जिला है। आयोग ने 'मल्टी डायमेंशनल पॉवर्टी इंडेक्स', यानी 'बहुआयामी गरीबी सूचकांक' में यह बात साझा की। यह रिपोर्ट वर्ष 2019 और 2020 के बीच हुए 'राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वेक्षण' के आंकड़ों के आधार पर तैयार की गई थी।

अलीराजपुर से करीब 30 किलोमीटर की दूरी तय करने के बाद हम ककराना गांव के नर्मदा नदी के तट पर पहुंचे। यहां कुछ मोटर बोट और सामान्य कश्तियां किनारे पर लगी हुई थीं। नदी के उस पार कई गांव हैं, जैसे पेरियातर, झंडाना, सुगट, बेरखेड़ी, नदिसिरखड़ी, आंजनबारा, डूबखेड़ा, बड़ा आंबा, जल सिंधी, सिलकदा, रोलीगांव। ये गांव, उत्तरी या पूर्वी भारत जैसे गांवों की तरह नहीं हैं, जहां कई मकान एक साथ होते हैं। इन गांवों में नर्मदा के किनारे छोटे-छोटे टापुओं पर घर बने हैं।

हम नदी के दूसरी तरफ झंडाना होते हुए ककराना गांव पहुंचे। नदी के आस-पास छोटे पहाड़ (टापू) बने हुए हैं। इन्हें गांव के लोग फलिया कहते हैं। हर एक फलिया पर 2 से 6 मकान हैं। ऐसे ही नर्मदा के किनारे इन गांव में सैकड़ों घर बने हुए हैं।

हम नदी के किनारे गांव की फलिया पर पहुंचे। यहां हमें ललिता और उनका परिवार मिला। ललिता अपने पति सुरेश और उसके भाई की पत्नी एवं चार बच्चों सहित एक छोटी-सी झोपड़ी के बने घर में रहती हैं। इनके घर में रोजाना उपयोग के लिए 2-4 बर्तन ही हैं। सुरेश और उसका भाई मजदूरी करके अपने परिवार का पालन कर रहे हैं। मजदूरी इतनी कम है कि इन्हें अपने परिवार चलाने में परेशानी आ रही है।

ललिता ने बताया, "हमें कोई सरकारी मदद नहीं मिल रही। नदी में आई बाढ़ के कारण खेती की जमीन डूब गई, नाव भी डूब गई। ईश्वर से हर दिन प्रार्थना करती हूं कि कोई बीमार न पड़े। नहीं तो उन्हें अस्पताल कैसे ले जाऊंगी...! इलाज कराने के लिए पैसे ही नहीं हैं।"

अलीराजपुर जिला आदिवासी-बहुल क्षेत्र है, जिसकी कुल आबादी 7 लाख 28 हजार है। यहां की साक्षरता दर 36 प्रतिशत है, यहां अति निर्धन लोग 71 प्रतिशत, जबकि ग्रामीण आबादी 92 प्रतिशत है। यहां 90 प्रतिशत से अधिक जनजातीय समुदाय के लोग रहते हैं।

सरकार की योजनाओं का कितना लाभ इन लोगों तक पहुंचा है, यह जानने के लिए हमने अलीराजपुर के कलेक्टर डॉ. अभय अरविंद बेडेकर से बात की। इस दौरान हमने उन्हें नर्मदा किनारे, झंडाना, ककराना सहित अन्य गांव के लोगों की

समस्याओं के बारे में भी बताया।

वे कहते हैं, "प्रशासन उनकी परेशानियों को दूर करने के लिए काम कर रहा है। प्रशासन के लोग समय-समय पर जाते हैं। कुछ आदिवासियों को अन्य जगह जमीनों के पट्टे भी दिए गए हैं।"

हालांकि, उन्होंने राज्य में आचार संहिता लागू होने का हवाला देते हुए किसी भी आंकड़े को हमसे साझा करने से मना कर दिया।

आजादी के बाद से गांव में नहीं आई बिजली

अलीराजपुर के बाद हम प्रदेश के एक और आदिवासी-बहुल जिले अनूपपुर की पुष्पराजगढ़ विधानसभा पहुंचे। राजधानी भोपाल से यह जिला करीब 600 किलोमीटर की दूरी पर स्थित है।

अनूपपुर में जनजातीय समुदाय की अति पिछड़ी जाति बैगा समाज के लोग रहते हैं। सबसे पहले हम ग्राम पंचायत बोधा के अंतर्गत गढ़ीदादर गांव में पहुंचे। आदिवासी-बाहुल्य इस गांव की आबादी 900 के करीब है, लेकिन गांव में देश की आजादी के बाद से अब तक बिजली नहीं पहुंची। गांव के लोग इस बार चुनाव का बहिष्कार कर चुके हैं। उनका कहना है कि जब तक गांव में बिजली नहीं आती, तब तक वे लोग मतदान नहीं करेंगे।

गांव की इंद्रवती कहती हैं कि सात साल पहले सुरेंद्र सिंह से उनका विवाह हुआ था। जब वे विदा होकर सुसराल आईं, तो यहां बिजली नहीं थी। उन्हें बताया गया कि कुछ दिनों बाद बिजली आएगी, लेकिन अब तक बिजली नहीं पहुंची।

मालूम हो कि मध्यप्रदेश ऊर्जा विभाग का साल 2021-22 का बजट 17 हजार 908 करोड़ रुपए था, जिसे 30 प्रतिशत बढ़ाकर वर्ष 2022-23 के लिए 23 हजार 255 करोड़ रुपए कर दिया। बावजूद इसके प्रदेश के कई गांवों में बिजली नहीं पहुंच पाई।

पानी और सड़क के लिए समुदाय का संघर्ष

हम पुष्पराजगढ़ के बैगानटोला गांव में पहुंचे। यह गांव सड़क से करीब पांच किलोमीटर की दूरी पर स्थित है और यहां तक जाने के लिए कोई पक्की सड़क नहीं है।

यहां के सरपंच दादूराम आदिवासी के साथ हम पैदल ही एक संकरे से रास्ते से गांव की ओर रवाना हुए। यहां की आबादी करीब 200 लोगों की है, जो दो अलग-अलग टोला बनाकर रह रहे हैं। गांव के लोग खेती करते हैं। इसके अलावा कुछ लोग मजदूरी करने गांव से बाहर भी जाते हैं।

गांव के लोगों ने बताया, "यह भूमि वन विभाग के अंतर्गत आती है। हमारे पूर्वज यहीं रहा करते थे। इसलिए हम भी यहीं रह रहे हैं। वन विभाग की भूमि होने के कारण पटवारी, तहसीलदार या अन्य कोई अधिकारी कभी इस गांव में नहीं आए।"

पांच किलोमीटर का संकरा और पथरीला पैदल रास्ता चलकर जाना कठिन है, शायद इसलिए इस गांव में आज तक कोई अधिकारी नहीं पहुंचा। गांव की शामली देवी ने बताया कि सिर्फ सरपंच और पंचायत सचिव नीचे के गांव से महीने में एक बार आते हैं।

गांव में शासकीय योजनाओं का लाभ तो दूर की बात है, यहां लोग मूलभूत सुविधाओं के लिए लड़ रहे हैं। गांव में पानी की समस्या है। यहां झिरिया (छोटे-छोटे गड्ढे) खोदकर पेयजल लिया जा रहा है। गांव के लोगों द्वारा पहाड़ पर छोटे-छोटे

गड्ढे खोदे जाते हैं। इन्हें बड़े-छोटे पत्थरों की मदद से चारों और से बांध दिया जाता है। करीब 7-8 फीट गहरे खोदे गए गड्ढे रात में पहाड़ों से रिसने वाले प्राकृतिक पानी से भर जाते हैं। इसी पानी का इस्तेमाल गांव के लोग करते हैं। झिरिया के बगल में एक छोटी खंती बनाते हैं, जिसमें अतिरिक्त बचे हुए पानी को स्टोर किया जाता है। यह पानी पालतू मवेशियों के पीने और खेती के लिए उपयोग किया जाता है।

गांव के सरपंच दादूराम पनाड़िया ने बताया, 'गांव के लोग दूषित पानी पी रहे हैं, इस कारण वे बीमार हो जाते हैं। कई लोगों की मौत सिर्फ इसलिए हो जाती है कि हम रोगी को अस्पताल लेकर नहीं जा पा रहे। जंगल और पहाड़ों के बीच बसे बैगानटोला में न सड़क है, न बजली और न ही पानी की समुचित व्यवस्था। यहां के लोग इन आवश्यक मूलभूत सुविधा से पूरी तरह वंचित हैं।'

मालूम हो कि भारत सरकार के वर्ष 2022 के बजट में शुद्ध नल का पानी उपलब्ध कराने के लिए हर घर, नल से जल कार्यक्रम के तहत अतिरिक्त 3.8 करोड़ घरों को कवर करने के लिए 60,000 करोड़ रुपए के आवंटन की घोषणा की थी। जल शक्ति मंत्रालय के तहत पेयजल और स्वच्छता विभाग 2022-23 के बजट में योजना के लिए आवंटित 60,000 करोड़ रुपए में से जनवरी 2023 तक लगभग 60 प्रतिशत खर्च हो चुके थे।

शिक्षा से दूर हैं ग्रामवासी

बैगानटोला के लोग शिक्षा से दूर हैं। हालांकि समुदाय की अगुवाई करने वाले यहां के सरपंच दादूराम पढ़े-लिखे हैं। दादूराम ने कहा वे सड़क किनारे गांव में रहते हैं, जिसके कारण उनका स्कूल जाना आसान था, लेकिन बैगानटोला के लोग शिक्षा से नहीं जुड़ पा रहे, जिसका कारण गांव से सड़क तक का खराब रास्ता है। गांव में एक प्राथमिक स्कूल है, जिसमें कई-कई दिन शिक्षक नहीं आते, जिससे स्कूल लगभग बंद रहता है। इसके अलावा माध्यमिक स्कूल के लिए बच्चों को ग्राम गुट्टीपारा जाना पड़ता है, जहां रोजाना बच्चों का पहुंचना कठिन है।

इधर, राज्य सरकार शिक्षा को सुदृढ़ करने के लिए उपाय किए जाने का दावा करती है। स्कूल शिक्षा विभाग के लिए वर्ष 2022-23 में कुल 27 हजार 792 करोड़ रुपए का प्राविधान प्रस्तावित किया गया। बजट में सरकारी प्राथमिक पाठशालाओं की स्थापना हेतु 10,345 करोड़ एवं माध्यमिक शालाओं के लिए 6212 करोड़ रुपए का प्राविधान किया गया।

सरपंच दादूराम ने कहा, "आदिवासियों के लिए संचालित पोषण आहार अनुदान, टंट्या मामा आर्थिक ऋण योजना और संबल योजना या अन्य आर्थिक रूप से पिछड़ेपन को दूर करने के लिए संचालित सरकारी योजनाओं का लाभ समुदाय को नहीं मिल रहा है।" उन्होंने कहा कि कई बार पंचायत की ओर से रास्ता बनाने को लेकर प्रस्ताव दिया, लेकिन कोई कार्रवाई नहीं होती।

अनूपपुर जिले की पुष्पराजगढ़ विधानसभा सीट से कांग्रेस पार्टी के विधायक फुंदेलाल मार्को ने कहा, "क्षेत्र बहुत पिछड़ा हुआ है। सिर्फ विधायक निधि की राशि से विकास हो पाना संभव नहीं है। मौजूदा भाजपा सरकार का ध्यान आदिवासियों की समस्याओं की बजाय उनके वोट पर है।"

बालाघाट के हालात

अनूपपुर के बाद हम बालाघाट जिले में पहुंचे। यह जिला गौंड आदिवासी-बहुल है। मध्यप्रदेश सरकार अनुसूचित जाति/जनजाति युवाओं को रोजगार से जोड़ने के लिए कई तरह की योजनाओं का संचालन कर रही है, जिसके लिए करोड़ों रुपए

अनुदान राशि का बजट स्वीकृत किया गया लेकिन इन योजनाओं का लाभ यहां धरातल पर नहीं पहुंच रहा।

मध्यप्रदेश आदिवासी वित्त विकास निगम तीन ऋण योजनाओं का संचालन कर रही है, जिनमें एक लाख से दो करोड़ रुपए तक के लोन में अनुदान दिए जाने का प्राविधान है, लेकिन योजना के लक्ष्य में लोन से लेकर आवंटन तक किए गए मामलों में बहुत अंतर है।

बालाघाट से करीब 20 किलोमीटर दूर पीपरटोला गांव है। यहां बाबा सियो की चाय-नाश्ते की दुकान है। वे पहले मजदूरी करते थे। जब मजदूरी मिलना कम हुई, तो उन्होंने गांव के कुछ लोगों से पैसा उधार लेकर दुकान खोल ली। हालांकि, दुकान में इतना मुनाफा नहीं है कि वे अपने परिवार की जरूरतों को पूरा कर पाएं। बाबा सियो के परिवार में उनकी पत्नी दो बच्चे और माता-पिता हैं।

बाबा सियो की पत्नी लक्ष्मी सियो भी दुकान में काम कर पति का हाथ बंटाती हैं। वे कहती हैं, 'दुकान की आय से घर का खर्च भी ठीक से नहीं चल पाता है, लेकिन इसके अलावा हमारे पास और कोई साधन नहीं है।'

बाबा सियो ने कहा कि उन्हें सरकार की ऋण योजना की कोई जानकारी नहीं है। यदि सरकार की ऋण योजना के तहत उन्हें ऋण मिलेगा, तो वे अपनी दुकान को बढ़ाएंगे।

सरकार की ऋण योजना के आंकड़े

अनुसूचित जनजाति वर्ग के युवाओं को रोजगार से जोड़ने के लिए राज्य सरकार के आदिवासी वित्त विकास निगम के द्वारा तीन योजनाओं का संचालन किया जाता है। हमारी पड़ताल में इन योजनाओं की जानकारी आदिवासी युवाओं को नहीं है। आवेदन करने के बाद भी योजनाओं का लाभ कम ही आवेदकों को मिल पा रहा है।

टंट्या मामा आर्थिक कल्याण योजना के तहत अनुसूचित जनजाति के युवाओं को सेवा व्यवसाय हेतु 10 हजार से 1 लाख रुपए तक का ऋण दिया जाता है। योजना में वित्तीय वर्ष 2022-23 में लक्ष्य 10,000 का रखा गया था। कुल आवेदन 8533 प्राप्त हुए, जिसमें सिर्फ 1715 आवेदन स्वीकृत हो पाए। इसी योजना के अंतर्गत वित्तीय वर्ष 2023-24 में लक्ष्य 10,000 आवेदन का तय किया गया, जिसमें 4632 आवेदन प्राप्त हुए और सिर्फ 185 लोगों का लोन स्वीकृत हुआ।

भगवान बिरसा मुंडा स्वरोजगार योजना के अंतर्गत 1 लाख से 50 लाख तक सेवा व रोजगार के लिए आदिवासी युवाओं को लोन दिया जाता है। योजना में वित्तीय वर्ष 2022-23 में लक्ष्य 10,000 का रखा था, लेकिन आवेदन 8323 के मिले और 1299 को लोन स्वीकृत हुआ। वित्तीय वर्ष 2023-24 में लक्ष्य 10,000 का तय किया, जिसमें 4523 आवेदन निगम को प्राप्त हुए, लेकिन सिर्फ 265 को ही लाभ मिल पाया।

प्रदेश सरकार अनुसूचित जाति वर्ग के युवाओं के लिए भी चार योजनाओं के तहत लोन देती है। वहीं, एसटी वर्ग के लिए तीन योजनाएं संचालित की जा रही हैं। अनुसूचित जनजाति को टंट्या मामा आर्थिक कल्याण योजना, भगवान बिरसा मुंडा स्वरोजगार योजना और मुख्यमंत्री अनुसूचित जनजाति विशेष परियोजना वित्त पोषण योजना के तहत एक लाख से दो करोड़ रुपए तक की योजनाएं संचालित की जा रही हैं।

प्रदेश के इन तीन क्षेत्र में रहते हैं आदिवासी

मध्यप्रदेश की कुल आबादी 7.2 करोड़ है। इस आबादी में करीब 21 प्रतिशत आदिवासियों की संख्या है। इस लिहाज से मध्यप्रदेश को देश का आदिवासी राज्य कहा जाए, तो भी कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। मध्यप्रदेश में देश की कुल

आदिवासी आबादी का 14.70 प्रतिशत (वर्ष 2011 की जनगणना) यहां निवास करती है। देश की जनजातीय आबादी 10.4 करोड़ है और मध्यप्रदेश की 1.53 करोड़ है, जबकि, प्रदेश में 89 आदिवासी बहुल ब्लॉक हैं।

प्रदेश के मध्य क्षेत्र में नर्मदापुरम, बैतूल, छिंदवाड़ा, सिवनी, बालाघाट, मंडला, डिंडौरी, रायसेन आदि जिले हैं। इनमें गौंड, बैगा, कोल, कोरकू परधान, भारिया और मुरिया निवास करते हैं।

प्रदेश के पश्चिम क्षेत्र में झाबुआ, आलीराजपुर, धार, खरगोन, बड़वानी और रतलाम जिलों से यह क्षेत्र पहचाना जाता है। यहां भील, भिलाला, परितबा, बारेला और तड़नी आदिवासी रहते हैं।

तीसरा चंबल क्षेत्र है, जिसमें श्योपुर, शिवपुरी, भिंड, मुरैना, गुना, दतिया, ग्वालियर जिलों में सहरिया जनजाति निवास करती है।

हम प्रदेश के तीनों हिस्सों के आदिवासी इलाकों में पहुंचे, जहां सरकार के दावे से जमीनी हकीकत अलग नजर आई। जनजाति समाज के विकास के लिए सरकार ने रोजगार के लिए ऋण योजना, शिक्षा सहित अन्य योजनाओं के लिए अरबों रुपयों के बजट का प्राविधान किया है, जिसमें स्वास्थ्य, शिक्षा और रोजगार के साथ जरूरी मूलभूत सुविधाएं शामिल हैं। इन क्षेत्रों के विधायक भी लगभग पूरी निधि खर्च करते हैं, इसके बावजूद जमीनी स्तर पर विकास नहीं दिखाई देता।

गोंडवाना गणतंत्र पार्टी युवा मोर्चा के राष्ट्रीय अध्यक्ष अनिल सिंह धुर्वे ने कहा, 'आजादी से अभी तक के लंबे अंतराल में करोड़ों-अरबों रुपए खर्च होने के बाद भी इन क्षेत्रों में आम नागरिकों के सामाजिक, आर्थिक जीवन में कोई बड़े बदलाव नहीं आए हैं। कोई भी नेता जनसेवा के लिए काम नहीं कर रहा है। सभी अपने-अपने घर भरने में लगे हुए हैं।

वे आगे कहते हैं, "अभी तक पूंजीपतियों के हित में नीतियां बनाकर आम नागरिकों के जीवन को बर्बाद करने में लगी हुई हैं। अतः सर्वांगीण विकास हेतु पूंजीपति मानसिकता वाले नेतृत्व को सत्ता से दूर कर जन-हितैषी नेतृत्व को सत्ता सौंपना आज की आवश्यकता हैं।"

समाजसेवी तिरुमाल प्रेम शाह मरावी कहते हैं, "नागरिकों के कल्याण की तुलना में अब सरकारें पूंजीपति वर्ग के प्रति ज्यादा जिम्मेदार नजर आती हैं, ताकि उन्हें लाभ मिल सके। अमीर और अमीर बनते जाएं, गरीब और गरीब बनते जाएं, यही हमारे क्षेत्रों में हो रहा है।"

मध्यप्रदेश आदिम जाति कल्याण विभाग के आयुक्त संजीव सिंह से जब हमने आदिवासी इलाकों में ग्राउंड जीरो पर दिखाई पड़ने वाली विभिन्न समस्याओं के बारे में बातचीत की, तो उन्होंने जांच कराकर कार्रवाई की बात कही।

(यह रिपोर्ट वर्ष 2023-24 में किए गए शोध कार्य पर आधारित है।)

मेरी यात्रा: रोटी और टिफिन वाली बात मन में क्यों आई?

आशीष रघुवंशी

परिचय

विभिन्न संस्थानों में बतौर पत्रकार तथा डेस्क पर कार्य करने का अनुभव रखने वाले आशीष रघुवंशी विधि स्नातक हैं। ग्रामीण क्षेत्रों के मुद्दों पर नजर रखने वाले आशीष रघुवंशी ने गुना में दैनिक भास्कर डिजिटल के वरिष्ठ रिपोर्टर के रूप में अछूते विषयों को अपनी पत्रकारिता का केंद्र बनाया है। इस फैलोशिप के तहत आशीष रघुवंशी ने 'नॉन शिड्यूल एरिया में ट्राइबल का लैंड एग्रीगेशन और उनका पलायन' विषय पर अध्ययन किया है।

पिछले वर्ष मई महीने की बात होगी। भोपाल के एक परिचित ने संविधान संवाद फैलोशिप का पैंफ्लेट भेजा। इसमें फैलोशिप के बारे में लिखा हुआ था। उन्होंने मुझसे कहा कि इसमें एप्लाई कर सकते हो। इस पैंफ्लेट को पढ़कर मन में सबसे पहला विचार आया कि शायद संवैधानिक अधिकारों और संविधान लागू करने की स्थितियों पर कुछ करना होगा। बचपन से ही संविधान के बारे में सुनते तो आ ही रहे थे। स्कूल में कुछ पाठ संविधान पर थे। जब बरकतउल्ला विश्वविद्यालय में बीए एलएलबी में एडमिशन लिया, तो वहां संविधान को और ज्यादा पढ़ा। फिर पोस्ट ग्रेजुएशन के दौरान संविधान को और जानने का मौका मिला। हालांकि मेरे लिए संविधान अधिकार, शासन, प्रशासन तक ही सीमित था। यह मेरे लिए देश चलाने का एक जरूरी दस्तावेज भर था। मैंने संवैधानिक अधिकारों पर ज्यादा ध्यान दिया। इसमें बराबरी के अधिकार को जरूर आत्मसात करने की कोशिश की थी। हालांकि हो सकता है कभी अनजाने में किसी से गैर-बराबरी का व्यवहार हुआ हो।

बहरहाल, संविधान संवाद फैलोशिप के लिए एप्लाई कर दिया। शुरू में ही यह लिखने और बताने को कहा गया कि संवैधानिक मूल्यों से हम क्या समझते हैं। शुरू में लगा कि अधिकार और मूल्य एक ही चीज तो हैं। आखिर इनमें क्या फर्क हो सकता है। इसी दौरान चिन्मय सर का कॉल आया और उन्होंने भी यही सवाल किया कि संवैधानिक मूल्यों से आप क्या समझते हैं, इस पर एक नोट लिखकर भेजिए। जो भी समझ बनी थी, उसी के आधार पर एक नोट बनाकर उन्हें भेज दिया। इसके बाद भोपाल में इंटरव्यू हुआ। उसमें भी यही पूछा गया। साथ ही विषय पर भी बात हुई। मैंने विषय चुना आदिवासी समुदाय के साथ जमीनी झगड़े और उनकी प्रताड़ना। कुछ समय बाद सिलेक्शन हो गया और भोपाल में दो दिवसीय कार्यशाला हुई।

इस पहली ही कार्यशाला में समझ आ गया कि अभी तक संवैधानिक मूल्यों को लेकर जो समझ थी, असल में वे इससे कहीं आगे की बात है। दो दिवसीय कार्यशाला में संवैधानिक मूल्यों को लेकर बात हुई। थोड़े-बहुत दिमाग के जाले भी साफ हुए। इसी कार्यशाला में समझ आया कि संवैधानिक अधिकार और संवैधानिक मूल्य दोनों अलग बात हैं। अधिकार जहां जन-सामान्य की बात है, वहीं मूल्य अपने भीतर की चीज है। इन मूल्यों को जानने, समझने और अपनाने की प्रक्रिया के लिए ही यह फैलोशिप कराई जा रही है।

इस दो दिवसीय कार्यशाला से लौटने के बाद सचिन सर की संवैधानिक मूल्यों पर लिखी हुई कुछ किताबें पढ़ना शुरू किया,

तो समझ थोड़ी-थोड़ी साफ होने लगी। मुझे याद है इसी दौरान गुना जिले के फतेहगढ़ में जमीनी विवाद में हुई मारपीट को लेकर एक प्रदर्शन होना था। हिंदूवादी संगठनों का यह प्रदर्शन था और पहले से ही संभावना थी कि देर शाम तक यह प्रदर्शन चल सकता है। इस प्रदर्शन की रिपोर्टिंग के लिए गुना से मुझे फतेहगढ़ जाना था। साथ में एक और साथी को भी जाना था। दोनों ने तय किया कि सुबह खाना साथ ही लेकर चलेंगे, ताकि वहां कोई परेशानी न हो। अगली सुबह मैंने उस साथी को कॉल किया और कहा कि 'मैं अपना टिफिन ला रहा हूं, तू भी रोटी बांध लेना।' यह बात बरबस ही मुंह से निकल गई थी। इसके पीछे उस साथी का अपमान करने का कोई खयाल मन में नहीं था। साथी ने भी ठीक है कहकर फोन रख दिया। जब उसने फोन रखा, तो अचानक दिमाग में यह बात आई कि मैंने अपने लिए टिफिन लाने की बात कही और उससे रोटी बांधने का कहा। इस बात ने दिमाग को अंदर तक हिला डाला। अचानक मन में आया कि भले ही उस साथी के साथ हमेशा बराबरी का ही साथ रहा, लेकिन उसके बाद भी ये रोटी और टिफिन वाली बात क्यों मन में आई? शायद यह पहली घटना थी, जिसने संवैधानिक मूल्यों को समझने की शुरूआत में मदद की। यहीं से समझ में आया कि अभी बहुत कुछ जानना और समझना बाकी है। यह तो केवल आरंभ है।

संविधान एवं उसके मूल्यों को लेकर मेरी समझ संविधान फैलोशिप के साथ शुरू हई। पिछले एक साल में संविधान के उन पहलुओं और बारीकियों से रूबरू हआ, जो शायद बिना फैलोशिप से जुड़े इतनी जल्दी समझना और जानना संभव नहीं था। चाहे वे आम नागरिक का अधिकार हो या उसकी फंडामेंटल ड्यूटीज। चाहे वे महिला, दलितों, आदिवासियों या समाज के गरीब तबके के बराबरी के अधिकारों की बात हो या धर्म, जाति, आरक्षण और पूर्वाग्रह जैसे जटिल विषयों को संविधान के नज़रिए से देखना और समझना। इस एक साल के सफर में मेरी इन मुददों पर समझ भी बनी और एक अच्छा नागरिक बनने की तर्बियत भी मिली।

इस फैलोशिप का रोज़मर्रा की जिंदगी में भी असर पड़ा। संवैधानिक मूल्यों का भाव काम, बोलचाल, मेलजोल और समझ पर पड़ा। उदाहरण के तौर पर पहले मैं खबरों को संवैधानिक मूल्यों के नज़रिये से नहीं देखता था और ना ही इस बात पर गौर करता था कि इस खबर में व्यक्ति के किस मौलिक अधिकार का हनन हो रहा है।

मैं मानवाधिकार, गैर-बराबरी, जातिवाद जैसे विषयों पर खबरें लिखता तो था, पर कभी संवैधानिक मूल्यों के नज़रिये पर ज़ोर नहीं दिया। अब बेरोजगारी पर भी खबर लिखने के दौरान संविधान के किन मूल्यों की अवहेलना हो रही है, इस बात पर ध्यान जाता है। कोशिश होती है कि अपनी ख़बरों में संविधान का भाव हो।

फैलोशिप के दौरान हुई संगोष्ठियों, सत्रों और चर्चाओं से समाज एवं संविधान के उन पहलुओं पर भी नज़र गई, जो मेरी चेतना में नहीं थे। पत्रकारिता के क्षेत्र में आने से पहले मेरी सामाजिक मूल्यों, मौलिक अधिकारों, समता और समानता की समझ बहुत कम थी, जबकि इन विषयों पर खबर लिखना भी निरंतर जारी था। अब तक जितना फैलोशिप के बारे में मैंने सुना है, वे 'गोल ओरिएंटेड टास्क' होने के साथ-साथ आउटपुट पर फोकस होते हैं, लेकिन यह फैलोशिप न सिर्फ आउटपुट, बल्कि विषय और संविधान को लेकर मेरी समझ बढ़ाने को लेकर केंद्रित थी। इसमें विषय से ज्यादा फैलो के व्यक्तिगत विकास, संविधान की समझ और उसे व्यावहारिक जीवन में उतारने पर फोकस था।

इसी दौरान एक और घटना हुई। गुना में हनुमान जयंती पर निकाले जा रहे जुलूस के दौरान कर्नलगंज में मस्जिद के सामने काफी देर तक डीजे बजाया जाता रहा, जबकि इस रूट से जुलूस निकालने की कोई अनुमति प्रशासन ने नहीं दी थी। इसी दौरान किसी ने पत्थर फेंक दिया। आरोप लगाया गया कि पत्थर मस्जिद की ओर से फेंका गया। हालांकि इसका कोई प्रमाण नहीं था। इस पूरे मामले को हिंदू-मुस्लिम विवाद का रूप दिया गया। विवाद इतना बढ़ गया कि एसपी का

तबादला तक कर दिया गया। चूंकि संवैधानिक मूल्यों को लेकर थोड़ी समझ आना शुरू हो चुकी थी, ऐसे में इस पूरी घटना की रिपोर्टिंग करते समय काफी सावधानी बरती गई। बाकी मीडिया संस्थानों और रिपोर्टर्स ने इसे जोर-शोर से हिंदुओं के जुलूस पर पथराव और मुसलमानों को खलनायक के रूप में प्रस्तुत किया, लेकिन मैंने इसे हिंदू-मुस्लिम विवाद के रूप में न लिखकर, दो व्यक्तियों के आपसी वर्चस्व के झगड़े के रूप में लिखा।

पिछले वर्ष की तुलना में जब मैं स्वयं को देखता हूं, तो स्पष्ट होता है कि फैलोशिप के प्रारंभिक चरण में मेरी संविधान से दूरी काफी अधिक थी। उस अंतर को पाटने में विकास संवाद द्वारा उपलब्ध कराई गई पुस्तकें और संविधान के विभिन्न पहलुओं का गहन अध्ययन अत्यंत सहायक सिद्ध हुआ। संक्षेप में, यह फैलोशिप मेरे लिए एक जीवन-परिवर्तनकारी अनुभव रहा है। इसने न केवल मेरी संवैधानिक समझ को समृद्ध किया है, बल्कि एक नागरिक और पत्रकार के रूप में मेरी भूमिका और उत्तरदायित्वों के प्रति मेरे दृष्टिकोण को भी नया आयाम प्रदान किया है। मैं इस बात को लेकर आश्वस्त हूं कि इस फैलोशिप से प्राप्त ज्ञान और अनुभव, मेरे भविष्य के प्रयासों में मार्गदर्शक के रूप में कार्य करेंगे, जिससे मैं एक जागरूक नागरिक और जिम्मेदार मीडियाकर्मी के रूप में देश एवं समाज की सेवा कर सकूं।

भारत के महान संविधान निर्माता डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने एक बार कहा था, 'संविधान केवल वकीलों का दस्तावेज नहीं है, बल्कि जीवन जीने का एक माध्यम है।' यह वाक्य मेरे दिमाग में गहराई से अंकित हो गया है, विशेषकर इस एक साल के फैलोशिप के अनुभव के बाद। स्वतंत्रता प्राप्ति के इतने वर्ष के पश्चात भी, हमारे समाज ने संविधान के मूल्यों को पूर्णतः आत्मसात नहीं किया है। आज भी हमारे देश में जाति, लिंग, धर्म और आर्थिक स्थिति के आधार पर व्यापक भेदभाव व्याप्त है, जो दैनिक जीवन के विभिन्न पहलुओं में स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। यह एक विडंबनापूर्ण स्थिति है कि जो संविधान देश को संचालित करने के लिए मूल्य-आधारित व्यवस्था का निर्माण करता है, हमारा समाज उसी संविधान में निहित मूल्यों को प्रत्येक कदम पर चुनौती देता प्रतीत होता है, परंतु मेरा संविधान के साथ सफर अभी जारी है तथा फैलोशिप ने इस यात्रा को और अधिक सार्थक बना दिया है।

मातृत्व संकट: अस्पतालों में अपमान, ठेले पर प्रसव

हुनेज़ा खान

मध्यप्रदेश में जहां एक तरफ राज्य सरकार पिछले दो दशक से राज्य को बीमारू राज्य से विकसित राज्य बनाए जाने के दावे करती है, वहीं दूसरी ओर लगातार प्रदेश को शर्मसार करने वाली तस्वीरें सामने आती हैं। रतलाम ज़िले के सैलाना क़स्बे से ऐसा ही एक वीडियो इंटरनेट पर वायरल हो रहा है, जहां एक गर्भवती महिला को उसका पति हाथठेले पर अस्पताल ले जाने की कोशिश कर रहा है, लेकिन महिला को रास्ते में ही प्रसव हो गया और शिशु की मौत हो गई। बताया जा रहा है कि महिला को दो बार सामुदायिक स्वास्थ केंद्र से भर्ती किए बिना लौटा दिया गया। तीसरी बार प्रसव पीड़ा होने पर अस्पताल पहुंचने से पहले ठेले पर ही उसे प्रसव हो गया। यह घटना 23-24 मार्च की दरमियानी रात की है।

एक अंग्रेजी अखबार के अनुसार मुख्य चिकित्सा एवं स्वास्थ्य अधिकारी (सीएमएचओ) डॉ. एम.एस. सागर के अनुसार घटना की जांच के लिए एक वरिष्ठ चिकित्सा अधिकारी को भेजा गया था। जांच में दो नर्सिंग अधिकारियों की लापरवाही सामने आई, जिन्हें निलंबित कर दिया गया है। उन्होंने यह भी बताया कि ड्यूटी पर मौजूद डॉक्टर को कारण बताओ नोटिस जारी किया गया है।

नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक (सीएजी) की 2017-18 से 2021-22 की रिपोर्ट के अनुसार, मध्यप्रदेश सार्वजनिक स्वास्थ्य अवसंरचना मातृ-मृत्युदर (एमएमआर) कम करने में असफल रहा है। सन 2012 से 2020 के बीच, राष्ट्रीय स्तर पर औसतन 45.51% की गिरावट दर्ज की, जहां एमएमआर 178 से घटकर 97 हो गया। इसके विपरीत, मध्यप्रदेश में यह आंकड़ा केवल 24.78% रहा, जहां एमएमआर 230 से घटकर 173 तक ही पहुंच सका।

परिचय

स्वतंत्र पत्रकार एवं शोध विशेषज्ञ हुनेज़ा खान अंग्रेजी साहित्य और पत्रकारिता में स्नातकोत्तर हैं। उन्होंने द वायर, द क्विंट, ई न्यूजरूम, टू सर्कल्स, इंडिया टुमारो, मेकटूब आदि के लिए स्वतंत्र लेखन कार्य किया है। हुनेज़ा खान गैर-सरकारी संगठन एसोसिएशन फॉर प्रोटेक्शन ऑफ सिविल राइट्स के साथ रिसर्च एसोसिएट के रूप में संबद्ध रही हैं। इस फैलोशिप के तहत उन्होंने 'राइट टू हेल्थ: डिग्निटी एंड इक्वलिटी फ्रॉम द परस्पेक्टिव ऑफ द पुअर' विषय पर शोध किया है।

भारत ने मातृ-मृत्युदर में महत्वपूर्ण प्रगति की, लेकिन मध्यप्रदेश इस कोशिश में काफी पीछे है, जो यह दिखाता है कि सरकार माताओं की सुरक्षा करने में विफल रही है। सतत विकास लक्ष्य (एसडीजी-3) के अनुसार, भारत ने 2030 तक प्रति एक लाख जीवित जन्मों पर मातृ-मृत्युदर (एमएमआर) को 70 तक कम करने का लक्ष्य निर्धारित किया है।

ऐसी ही एक घटना जनवरी में सीधी जिले से सामने आई, जहां सीधी जिला अस्पताल में एक गर्भवती महिला को गंभीर स्थिति में होने के बावजूद भर्ती नहीं किया गया। उसे 70 किमी दूर रीवा के संजय गांधी मेमोरियल अस्पताल रेफर कर दिया गया। महिला ने अस्पताल के बाहर एक स्ट्रेचर पर बच्चे को जन्म दिया, लेकिन नवजात केवल 30 मिनट तक ही जीवित रहा। रिपोर्टर ने इस मामले में मुख्य चिकित्सा एवं स्वास्थ्य अधिकारी से बात करने की कोशिश की, लेकिन फोन पर कोई जवाब नहीं मिला।

मां बनने की कीमत कौन चुकाएगा?

दो बच्चों की मां और गरीबी रेखा के नीचे जीवनयापन करने वाली भोपाल की ज़ैनब ख़ातून (30) आज भी सुल्तानिया अस्पताल में अपनी पहली डिलीवरी के दौरान झेली गई तकलीफों को याद कर सिहर उठती हैं। वे कहती हैं, ''मेरी पहली बेटी सुल्तानिया में पैदा हुई थी, लेकिन वहां जो अपमान सहना पड़ा, उसे दोबारा झेलने की हिम्मत नहीं हुई।" उनकी पहली डिलीवरी सुल्तानिया अस्पताल में वर्ष 2018 में हुई थी। ज़ैनब बताती हैं, ''मुझे किसी तरह बिस्तर मिल गया था, लेकिन कई महिलाएं फर्श पर लेटी इलाज का इंतज़ार कर रही थीं। मुझे देख ऐसा लगा कि मेरी गरिमा का हनन हुआ है, लेकिन राहत की बस एक बात रही कि डॉक्टरों ने मेरी डिलीवरी नॉर्मल करवाई, जबकि ऑपरेशन की उम्मीद जताई जा रही थी।''

''अस्पताल की बदसुलूकियों ने मुझे डरा दिया था', ज़ैनब कहती हैं। वे नाराजगी जताते हुए कहती हैं, ''डॉक्टर और स्टाफ ऐसे पेश आते हैं कि इंसान दोबारा वहां जाने का नाम ही न ले। डॉक्टरों से कुछ पूछो तो जवाब तक नहीं देते। स्टाफ और नर्सें बेहद बदतमीज़ी से पेश आती हैं ''तू ऐसा कर, तू वैसा कर'यही उनका बोलने का तरीका था।''

ज़ैनब आगे जोड़ती हैं ''गरिमा हर महिला का अधिकार है, फिर चाहे वे प्रसव के लिए सरकारी अस्पताल जाने वाली मां ही क्यों न हो। बेहतर स्वास्थ्य और देखभाल की उम्मीद लेकर अस्पताल पहुंचने वाली महिला यदि अपमान और तकलीफ लेकर लौटे, तो यह व्यवस्था पर बड़ा सवाल खड़ा करता है।'' जब 2022 में ज़ैनब दोबारा गर्भवती हुईं, तो पिछले कड़वे अनुभव के चलते उन्होंने सुल्तानिया अस्पताल न जाने का फैसला किया, लेकिन ग़रीबी रेखा के नीचे जीवनयापन करने वाले और मोटरें सुधार कर घर चलाने वाले उनके पति प्राइवेट अस्पताल का खर्च नहीं उठा सकते थे। ज़ैनब बताती हैं, ''अस्पताल ने हमें बताया था कि आयुष्मान कार्ड से डिलीवरी नहीं होती, इसलिए झूठी बीमारी के नाम पर डिलीवरी के लिए भर्ती किया और आयुष्मान कार्ड से चार्ज काट लिया। अस्पताल को तो पैसा मिल गया, लेकिन उन्होंने कितना निकाला, कितना नहीं हमें इसका अंदाजा तक नहीं। हम मजबूर थे।'' ज़ैनब का मामला कोई अकेली घटना नहीं है। भारत के नियंत्रक और महालेखा परीक्षक (सीएजी) ने अपनी ऑडिट रिपोर्ट में आयुष्मान भारत-प्रधानमंत्री जन आरोग्य योजना (पीएमजेएवाय) में भारी अनियमितताओं का खुलासा किया है। रिपोर्ट के अनुसार, 3,446 मृत घोषित किए जा चुके मरीज़ों के इलाज के नाम पर 6.97 करोड़ रुपए का भुगतान किया गया। अकेले मध्यप्रदेश में ऐसे 403 मामले सामने आए, जहां अस्पतालों ने 1.12 करोड़ रुपए की फर्जी बिलिंग की।

भोपाल स्थित एक प्राइवेट अस्पताल के संचालक ने नाम न छापने की शर्त पर बातचीत में बताया कि डिलीवरी के लिए सरकार की तरफ से आयुष्मान भारत योजना के लिए बहुत कम पैकेज होता हैलगभग 6 हज़ार रुपए के क़रीब, जिसकी वजह से कई सारे अस्पताल प्रसूताओं को लेने से मना कर देते हैं। उन्होंने बताया कि आयुष्मान कार्ड से जितना पैसा काटा जाता है उसका मैसेज फ़ोन नंबर पर आ जाता है। हालांकि कई परिवारों को इसकी जानकारी नहीं होती और वे अपना नंबर लिंक नहीं करते, जिससे जानकारी से वंचित रह जाते हैं।

संक्रमण, लापरवाही और सरकारी अस्पताल की उपेक्षा

सजनी मालवीय अपनी डिलीवरी के छह महीने बाद सुल्तानिया अस्पताल के नए परिसर से अपने बच्चे का जन्म प्रमाण-पत्र लेने आई थीं, जो कि अब गांधी मेडिकल कॉलेज और अस्पताल के परिसर में स्थानांतरित कर दिया गया है। वे कहती हैं, ''इस अस्पताल का अनुभव बहुत खराब रहा। डॉक्टर डिलीवरी तक कुछ ध्यान देते हैं, लेकिन उसके बाद आपको बोझ की तरह ट्रीट करते हैं। डिलीवरी के बाद टांकों के अंदर फ्लूड जमा हो गया था, जिससे गंभीर इन्फेक्शन हो गया। मुझे 15 दिन तक अस्पताल में भर्ती रहना पड़ा। स्टाफ लापरवाह है, वे मरीजों की नहीं सुनते। मेरे टांके दोबारा लगाने पड़े। मुझे ऐसे

इंजेक्शन दे दिए गए, जिनकी वजह से मेरा दूध ही सूख गया। मेरा बच्चा जन्म के बाद से ही सिर्फ फार्मूला दूध पर है।''

सजनी इससे पहले गर्भपात का दर्द झेल चुकी थीं, जिसके लिए वे सुल्तानिया आई थीं। उनका आरोप है कि अस्पताल ने सफाई करने में लापरवाही बरती, जिससे इन्फेक्शन हो गया। भोपाल के सबसे बड़े मातृत्व अस्पतालों में से एक होने के बावजूद, मरीज़ों का कहना है कि सुल्तानिया में गर्भवती महिलाओं के लिए अलग से सोनोग्राफी मशीन तक नहीं है। सजनी सवाल करती हैं, ''सुल्तानिया की महिलाओं को भी हमीदिया के मरीज़ों के साथ लंबी कतारों में खड़ा होना पड़ता है। इतनी बड़ी नई बिल्डिंग के बावजूद बुनियादी सुविधाएं क्यों नहीं दी गईं?''

यहां 'सफाई करने में लापरवाही' से आशय है कि अस्पताल ने गर्भपात के बाद गर्भाशय की ठीक सफाई नहीं की। गर्भपात के बाद अक्सर गर्भाशय में जो भी अवशेष होते हैं, उन्हें पूरी तरह निकालना जरूरी होता है। यदि यह सही तरीके से नहीं किया जाए, तो इन्फेक्शन का खतरा बढ़ जाता है। सजनी का आरोप है कि अस्पताल ने यह प्रक्रिया ठीक से नहीं की, जिससे उन्हें संक्रमण हो गया। सजनी के मामले में सुल्तानिया अस्पताल के चिकित्सकों से रिपोर्टर बात नहीं कर पाई, क्योंकि गार्ड ने उन्हें अस्पताल के अंदर जाने से रोक दिया।

अस्पतालों में सोनोग्राफी जैसी बुनियादी सुविधाओं की कमी

भोपाल में आशा कार्यकर्ता का मानना है कि मातृ-मृत्युदर तभी कम होगी, जब गर्भवती महिलाओं को सही देखभाल मिले। सरकारी अस्पतालों में बुनियादी सुविधाओं की कमी और संस्थागत डिलीवरी को लेकर महिलाओं की झिझक अभी भी एक बड़ी चुनौती बनी हुई है। इस बाबत रिपोर्टर ने 2 आशा कार्यकर्ताओं से बात की। बड़ी समस्याओं में से एक सोनोग्राफी में होने वाली देरी है। एक आशा कार्यकर्ता बताती हैं, ''यदि किसी महिला को तुरंत जांच की जरूरत है, तो भी उसे दो महीने बाद की तारीख दी जाती है। एंटी नेटल केयर जांचें तत्काल होना चाहिए, लेकिन महिलाओं को इंतजार करना पड़ता है। जो महिलाएं खर्च उठा सकती हैं, वे प्राइवेट पैथोलॉजी से सोनोग्राफी करा लेती हैं, बाकी इंतजार करने को मजबूर होती हैं।'' सरकारी अस्पतालों में सोनोग्राफी की सुविधा सीमित है। इंदिरा गांधी अस्पताल में यह सुविधा नहीं है और सुल्तानिया की गर्भवती महिलाओं को भी हमीदिया भेजा जाता है। यदि किसी को थायरॉइड की समस्या हो, तो उसे हमीदिया की पुरानी बिल्डिंग जाना पड़ता है, जिससे एक जांच कराने में पूरा दिन लग जाता है।''

प्रधानमंत्री मातृत्व सुरक्षा (पीएमएसएमए) के तहत सरकार हर महीने की 9 तारीख को गर्भवती महिलाओं को मुफ्त एएनसी जांच, ब्लड टेस्ट और सोनोग्राफी जैसी सुविधाएं देने का दावा करती है, लेकिन जब सरकारी अस्पतालों में सोनोग्राफी के लिए महीनों इंतजार करना पड़ता है, तब यह योजना अपने उद्देश्य से भटकती दिखती है। समय पर जांच न होने से हाई-रिस्क प्रेग्नेंसी की पहचान में देरी होती है, जिससे मातृ-मृत्युदर कम करने का लक्ष्य प्रभावित होता है।

अक्सर अस्पतालों में आशा कार्यकर्ताओं को भी मुश्किलों का सामना करना पड़ता है। वे जोड़ती हैं, ''सुल्तानिया अस्पताल में हमें कई बार अंदर नहीं जाने दिया जाता। यहां तक कि अटेंडेंट को भी मरीज़ के साथ रहने से मना कर दिया जाता है'' डिजिटल हेल्थ आईडी 'आभा' का उद्देश्य मेडिकल रिकॉर्ड को व्यवस्थित करना है, लेकिन कई महिलाओं के पास फोन नहीं होने के कारण उन्हें परेशानी होती है।

व्यस्तता का हवाला देते हुए कॉल काट दिया

भोपाल के मुख्य चिकित्सा और स्वास्थ्य अधिकारी प्रभाकर तिवारी से बात करने के लिए हमने फ़ोन द्वारा संपर्क करने का प्रयास किया, लेकिन उनकी तरफ से रिस्पॉन्स नहीं मिला।

मातृत्व के दौरान महिलाओं की गरिमा पर प्रहार

हाल ही में सुल्तानिया ज़नाना अस्पताल को हमीदिया अस्पताल परिसर में स्थानांतरित किया गया है। महिलाओं का कहना है कि पुराना सुल्तानिया अस्पताल स्वच्छ नहीं था, जबकि नई सुविधा कम से कम साफ-सुथरी है। हालांकि कर्मचारियों का रवैया अभी भी चिंता का विषय बना हुआ है। एक महिला ने अपने अनुभव साझा करते हुए कहा, ''प्रसव पीड़ा में महिलाएं जब दर्द से कराहती हैं, तो डॉक्टर और नर्सें उन्हें सांत्वना देने के बजाय उन पर चिल्लाती हैं। हालांकि कुछ महिलाएं परेशान भी करती हैं, लेकिन कोई नहीं समझता कि मरीज़ किस तकलीफ से गुज़र रही है। गांवों से आने वाली महिलाओं के साथ अक्सर विशेष रूप से दुर्व्यवहार होता है, केवल इसलिए कि उन्हें प्रक्रियाओं की जानकारी नहीं होती। इस मामले में गार्ड्स का व्यवहार सबसे ख़राब होता है।''

इस रिपोर्टर ने उनकी बातों की सच्चाई को प्रत्यक्ष रूप से देखा। गार्ड्स हर दिशा से मरीजों पर चिल्ला रहे थे। जो लोग बाइक से या पैदल आए थे, उन्हें डांटा जा रहा था, जबकि चार-पहिया वाहनों से आने वालों से केवल अपनी कार पार्क न करने का अनुरोध किया जा रहा थायह गरीब और अमीर मरीज़ों के बीच के भेदभाव को दर्शाता है।

मातृ एवं नवजात स्वास्थ्य (एमएनएच) टूलकिट 2013 के अनुसार, गुणवत्तापूर्ण मातृ देखभाल के लिए पर्याप्त संख्या में डॉक्टर, सर्जन और नर्स ज़रूरी हैं, ताकि गर्भावस्था, प्रसव और प्रसवोत्तर देखभाल के दौरान महिलाओं को सम्मान, गोपनीयता एवं उचित इलाज मिल सके। हालांकि मध्यप्रदेश के स्वास्थ्य संस्थानों में कैग (कैग) की ऑडिट रिपोर्ट ने मातृत्व विभाग में गंभीर स्टाफ की कमी उजागर की है। राज्य के जिला अस्पतालों में यह कमी 1% से 61% तक दर्ज की गई, जिससे महिलाओं को उचित देखभाल मिलना कठिन हो जाता है। यह कमी राज्य के सरकारी अस्पतालों में मातृ स्वास्थ्य सेवाओं की व्यापक स्थिति को दर्शाती है।

सुल्तानिया ज़नाना अस्पताल में मरीज़ों को अक्सर पूरा दिन लग जाता है। महिलाएं खुले में अपने बच्चों को दूध पिलाने के लिए मजबूर हो जाती हैं, क्योंकि उनके लिए कोई निर्धारित स्थान नहीं है। मातृ और शिशु स्वास्थ्य के लिए बने इस अस्पताल में माताओं की बुनियादी गरिमा सुनिश्चित नहीं की जाती। मातृ स्वास्थ्य संकट सिर्फ इमारतों और बिस्तरों की कमी तक सीमित नहीं है, बल्कि इसकी जड़ें जागरूकता की कमी, लापरवाही और कमज़ोर सार्वजनिक स्वास्थ्य व्यवस्था में हैं।

लापरवाही और अशिक्षा बड़ी चुनौती

स्त्री रोग विशेषज्ञ डॉ. माहीन खान, जो कि भोपाल के एक प्राइवेट अस्पताल में पदस्थ हैं, बताती हैं, ''मातृ देखभाल में सबसे बड़ी चुनौती कम जागरूकता है। कई गर्भवती महिलाएं नौ महीने तक ज़रूरी रक्त जांच, पोषक तत्वों या सप्लीमेंट्स की जानकारी तक नहीं रखतीं। वे पूरी तरह आंगनवाड़ी कार्यकर्ताओं पर निर्भर होती हैं, जिन्हें उचित प्रशिक्षण नहीं मिलता, जिससे वे गर्भवती महिलाओं को सही मार्गदर्शन नहीं दे पातीं। डॉक्टरों के प्रति अविश्वास भी एक बड़ी समस्या है। कई महिलाओं का हीमोग्लोबिन स्तर खतरनाक रूप से कमकभी-कभी 6 या 7 तकहो जाता है, फिर भी वे ब्लड ट्रांसफ्यूजन से इन्कार कर देती हैं, जबकि विश्व स्वास्थ्य संगठन (डब्ल्यूएचओ) इसे अनिवार्य मानता है। महिलाएं मेडिकल प्रक्रियाओं से डरती हैं और कई बार ऐसे डॉक्टरों से सलाह लेती हैं, जो उनका आर्थिक शोषण करते हैं। निजी अस्पतालों में हर बार नई जांच होती है, जबकि सरकारी अस्पतालों की रिपोर्ट अक्सर पुरानी और अविश्वसनीय होती है। कम हीमोग्लोबिन, जो कुपोषण से जुड़ा है और प्रसव के बाद अत्यधिक रक्तस्राव (पीपीएच), आज भी मातृ-मृत्यु के सबसे बड़े कारण बने हुए हैं।''

एक युवा महिला अस्पताल के गलियारे में अपनी सास से डॉक्टर की सलाह पर चर्चा कर रही थी। उसे शायद कलर

अल्ट्रासाउंड कराने के लिए कहा गया था, लेकिन वे इस शब्द से अनजान थी। ''इससे सब कुछ दिखता है''डॉक्टर ने प्राइवेट लैब से कराने को कहा है, करीब 2500 रुपए लगेंगे उसने संकोच से बताया।

सास को शक हुआ''कौन-सी सोनोग्राफी? क्या इससे लिंग पता चलता है?'' -उन्होंने पूछा।

''नहीं, लिंग नहीं। इससे पता चलता है कि कान, आंखें और अंग सही से विकसित हुए हैं या नहीं'', महिला ने समझाया।

...लेकिन असली चिंता सिर्फ खर्च नहीं थी। महिला को पेल्विक जांच को लेकर डर था। ''डॉक्टर अंदर से जांच करना चाहती हैं। उंगलियों से जांच करेंगी (पेल्विक एग्जाम)। मुझे डर लग रहा है। मेरा बीपी पहले ही बढ़ा हुआ है'', उसने घबराते हुए कहा। सास ने इसे अनावश्यक बताते हुए टोक दिया, ''यह जांच सातवें महीने के बाद होती है। यदि ब्लीडिंग हो गई तो? उसे अंदर से मत जांचने देना। यदि ज़ोर दे, तो मना कर दो। कहीं और करा लेंगे'' -उन्होंने हिदायत दी।

यह उन गहरी समस्याओं की झलक है, जो मातृ देखभाल को मुश्किल बना देती हैं। डॉक्टर ज़रूरी जांच कराने के लिए समझाने की कोशिश करते हैं, लेकिन आधी-अधूरी जानकारियों और डर के कारण महिलाएं एवं उनके परिवार विरोध करने लगते हैं। इस प्रकार चिकित्सा अविश्वास (मेडिकल मिसट्रस्ट) कई बार जीवन और मृत्यु के फैसलों को प्रभावित करने वाली एक गंभीर सच्चाई बन जाता है।

कैग रिपोर्ट: महिलाएं नहीं करातीं आवश्यक जांच

कैग की रिपोर्ट के अनुसार 2017 से 2022 के बीच 93.88 लाख गर्भवती महिलाओं ने अस्पतालों में प्रसव पूर्व देखभाल (एएनसी) के लिए पंजीकरण कराया। इनमें से केवल 63.98 लाख (68%) महिलाओं ने गर्भावस्था की पहली तिमाही में पंजीकरण कराया। इसके अलावा 21.85 लाख (23%) महिलाओं की गर्भावस्था के दौरान आवश्यक चारों जांच नहीं हुईं।

गर्भवती महिलाओं की देखभाल करने वाली एक एएनएम बताती हैं कि कई महिलाएं समय पर इलाज के लिए नहीं आतीं। भ्रांतियां और सामाजिक दबाव इसके बड़े कारण हैं। 'पहली बार गर्भ ठहरा है, किसी को बताना ठीक नहीं', जैसी सोच अब भी बनी हुई है। वे कहती हैं कि यदि महिलाएं शुरूआत से ही इलाज करवाएं, तो कई जटिलताओं से बचा जा सकता है, लेकिन बुज़ुर्गों की पुरानी धारणाएं अब भी बाधा बनी हुई हैं।

सरकारी योजनाओं से आर्थिक सहायता मिल रही है, लेकिन सही जानकारी के अभाव में महिलाएं बार-बार गर्भवती होती हैं। वे बताती हैं, ''मेरे पास एक महिला आई, जिसकी गोद में नौ महीने का बच्चा था और वे चार महीने की गर्भवती थी। कई परिवार अब भी गर्भ-निरोधकों से दूरी बनाए हुए हैं। हम अंतरा इंजेक्शन की सलाह देते हैं, लेकिन महिलाएं साइड इफेक्ट होने की बात मानकर इसके लिए इन्कार कर देती हैं। बार-बार गर्भधारण से महिलाओं के शरीर पर गंभीर असर पड़ता है, लेकिन इसकी जानकारी न होने से वे खुद को नुक्सान पहुंचा रही हैं।''

प्रसव बाद महिलाओं को नहीं मिलता आराम

नॉर्मल डिलीवरी के बाद शरीर को कम से कम सवा महीने का आराम चाहिए, लेकिन इसे छुआछूत से जोड़ दिया जाता है। स्वास्थ्य कर्मियों पर भी भारी काम का दबाव है। ''हम जिस अर्बन एरिया में काम करते हैं, वहां सिर्फ दो एएनएम को 28,000 की आबादी दी गई है। मानसिक स्वास्थ्य भी एक बड़ी चुनौती है। कई महिलाएं घरेलू हिंसा और आर्थिक तंगी झेल रही हैं। एक गर्भवती महिला का पति शराबी है। न कमाता है न दिखाता है। जब वे इलाज के लिए आती है, तो पति ताने मारता है कि बुला लो, मैं तो खाने को कुछ नहीं दूंगा।'' एएनएम आगे कहती हैं कि वे महिलाओं को समझा सकती

हैं, लेकिन नशे में धुत्त पुरुषों को समझना नामुमकिन है।

घर पर प्रसव: सुविधा या मजबूरी?

फरज़ाना (40) चार बच्चों की मां हैं, जिनकी पहली बेटी वर्ष 2009 में एक निजी अस्पताल में जन्मी। तब उनकी आर्थिक स्थिति बेहतर थी, लेकिन उसके बाद तीन बच्चों का जन्म क्रमशः 2010, 2014 और 2017 में घर पर ही हुआ। शहरी क्षेत्र में रहने वाली फरज़ाना ने गर्भावस्था के दौरान एक निजी अस्पताल में नियमित इलाज करवाया, लेकिन जब डिलीवरी की बारी आई, तो उन्होंने अस्पताल की बजाय घर और दाई को ही चुना। ''मेरी पहली बेटी बहुत छोटी थी, उसे संभालने वाला कोई नहीं था। अस्पताल में उसे कौन देखता? मेरी हालत भी ठीक थी और पैसे का भी सवाल था। अस्पताल जाने में जो खर्च होता, उसे उठाना आसान नहीं था। जब पहली बार घर पर डिलीवरी हुई, तो इतनी आसानी लगी कि तीसरे और चौथे बच्चे की डिलीवरी भी घर पर ही करवाई। हर बार मेरी हिम्मत बढ़ती गई'', वे बताती हैं।

जोखिम के सवाल पर वे बेफिक्री से कहती हैं, ''मैंने कभी किसी रिस्क के बारे में सोचा ही नहीं। मुझे लगा सब ऊपर वाले के भरोसे है, ठीक रहेगा, क्योंकि मैंने पूरे नौ महीने निजी अस्पताल में अच्छा इलाज करवाया था।'' हालांकि उनके इस फैसले के पीछे एक और वजह भी थी। फरज़ाना बताती हैं, ''सबसे बड़ा डर बे-पर्दगी का था। खासतौर पर सरकारी अस्पतालों में, जहां मैंने देखा है कि महिलाओं को किस तरह रखा जाता है। मैं इसके लिए कभी तैयार नहीं थी।''

मध्यप्रदेश में स्वास्थ्य कार्यकर्ता राकेश चंदोर राज्य की स्वास्थ्य व्यवस्था में गहरी खामियों की ओर ध्यान आकर्षित करते हैं। वे कहते हैं, ''मध्यप्रदेश में बड़ी संख्या में महिलाएं कुपोषित हैं। दूरदराज के इलाकों में स्त्री रोग विशेषज्ञों के पद खाली पड़े हैं या फिर पद ही स्वीकृत नहीं हैं। ज़िला अस्पतालों के डॉक्टर जोखिम नहीं लेते और आपातकालीन मामलों में मरीजों को कहीं और भेज देते हैं। यह पूरी तरह से एक व्यवस्थागत विफलता है।''

डॉक्टरों और स्वास्थ्य कर्मियों पर भारी दबाव है। चंदोर बताते हैं कि मध्यप्रदेश अभी भी पुराने और अप्रभावी मापदंडों पर काम कर रहा है, जहां भारतीय सार्वजनिक स्वास्थ्य मानकों (आईपीएचएस) के अनुसार स्टाफ की पर्याप्त भर्ती नहीं हो रही है। वे कहते हैं, ''हम 50-60 साल पुराने मानकों के अनुसार काम कर रहे हैं। सरकार को इसे बढ़ती जनसंख्या की जरूरतों के हिसाब से सुधारना चाहिए।''

चंदोर के अनुसार वित्तीय योजनाएं भी कोई ठोस सहायता प्रदान नहीं कर पा रही हैं। वे बताते हैं, ''एक मज़दूर परिवार को मातृत्व स्कीम से 4-5 हजार रुपए मिलते हैं, बल्कि कई बार तो सिर्फ 1-1.5 हजार रुपए ही मिलते हैं। इसका क्या असर होगा? यह एक महीने भी मदद नहीं कर पाता। सरकार को सिर्फ नकद हस्तांतरण पर नहीं, बल्कि असली सेवाओं पर ध्यान देना चाहिए।''

डॉक्टरों से लेकर आशा कार्यकर्ताओं तक, पूरी मातृ स्वास्थ्य सेवा प्रणाली कर्मचारियों की भारी कमी से जूझ रही है। चंदोर कहते हैं, ''एक आशा कार्यकर्ता पर पांच से छह गांवों की ज़िम्मेदारी है। कोई नई भर्ती नहीं हो रही है। उन्हें संविदा पर रखा जाता है, जो एक बड़ा मुद्दा है। बेरोजगारी के कारण सामाजिक-आर्थिक पलायन समस्या को और बढ़ा रहा है।''

मध्यप्रदेश सरकार को स्वास्थ्य सेवाओं में सुधार के लिए ठोस कदम उठाने होंगे। अस्पतालों में महिलाओं के प्रति संवेदनशीलता बढ़ाने, स्टाफ की जवाबदेही तय करने और भ्रष्टाचार पर सख्त कार्रवाई करने की जरूरत है, वरना यह संकट और गहराता जाएगा तथा ज़ैनब व सजनी जैसी महिलाएं अपनी बुनियादी स्वास्थ्य सुविधाओं से वंचित होती रहेंगी।

(नोट: महिलाओं की गोपनीयता बनाए रखने के लिए उनके नाम बदल दिए गए हैं।)

Right to Protest: HC Strikes Down Externment Order...

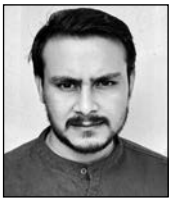

Kashif Kakvi

"Hum, Bharat Ke Log, Bharat Ko... (We, the People India, having solemnly resolved to constitute India into a...).

About 350 km south of Madhya Pradesh's state capital, Bhopal, in the deep forests of Nepanagar in Burhanpur district, a powerful scene unfolded on the eve of India's 75th Republic Day: Antram Awase, a 35-year-old tribal activist, standing next to the bust of Tantya Bhil-a revered tribal freedom fighter of the Malwa-Nimar region of the state-recited the preamble of Indian Constitution.

Wearing off-white jeans, a blue shirt, and a kerchief around his neck, the barefoot Awase, holding a traditional bow and arrow in one hand and a mobile phone in the other, recited the preamble aloud to a crowd of over 500 tribespeople members of the Bhil and Bhilala tribes dressed in colourful shirts, jeans, dhotis, and kurtas, while women in traditional sarees listened intently.

The ceremony was organised at Siwal village in solidarity with Awase, who had returned to his village after a judge dismissed the State's case, accusing him of being a "threat to public order" and expelling him from Burhanpur district, saying the case was "a misuse of collector's authority."

Those listening raised their hands in unison, pledging to protect the Constitution and defend their ancestral lands and forests. They hoisted Awase onto their shoulders, parading him throughout the crowd.

"These charges were nothing more than a smokescreen, a way to stifle the voices of the indigenous activists," Awase told me speaking over the phone.

Externment is a preventive legal measure employed by various states in India to control organised crime and restrict the activities of notorious criminals without unduly infringing upon civil liberties. The district magistrate can bar individuals from entering a district or certain areas for a designated period, effectively removing them from their bases of operation or areas of influence.

Introduction

Kashif Kakvi is an investigative journalist with a decade of experience across print, TV, and digital media. He reports from Madhya Pradesh and Chhattisgarh in central India. His investigative work focuses on governance, human rights, corruption, politics, and atrocities against marginalized communities. Kashif has contributed to news outlets such as CNN, Al Jazeera, Article14, The Wire, TOI, The Caravan, The Quint, and NewsClick. He is also Investigative Reporting Fellow 2024 of The Reporters' Collective (TRC). In this fellowship, Kashif Kakvi has done research work on Right to Protest.

Although Article 19(1)(d) of the Indian Constitution guarantees Indian citizens the right to move freely throughout the territory of India, Article 19(5) allows the State to impose "reasonable restrictions" on this right in the interest of the general public. This clause provides the legal foundation for externment laws in various states, like Madhya Pradesh, which passed M. P. Rajya Suraksha

Adhiniyam in 1990.

States consider data on the number of externments sensitive and there is no national data available.

An 'Overreach' Of Authority

Three days before his year-long externment ended on 23 January 2025 on 20 January 2025, Madhya Pradesh High Court's Justice Vivek Agarwal struck down the externment order under the M.P. Rajya Suraksha Adhiniyam 1990, describing it as an "overreach of the district collector".

The high court also fined Bhavya Mittal, the district magistrate of Burhanpur, for Rs 50,000, holding her accountable for "misusing her authority" and "misleading the court".

The high court also directed the chief secretary of Madhya Pradesh, Anurag Jain, to convene a meeting with all district magistrates in the state, urging them to refrain from "passing orders under political pressure."

"...orders passed by the district magistrate and the commissioner without application of mind and without explanation. It is evident that the district magistrate has misused his authority," the court said.

The externment law was passed to "provide for the security of the State, maintenance of public order and certain other matters connected therewith." The law empowers the district magistrate to remove individuals deemed "prejudicial to the security of the State or the maintenance of public order."

Awase challenged the externment order in the Madhya Pradesh High Court on 26 November 2024 and fought the case for two months.

While the judgment went in his favour, the fact that he had already completed the externment period rendered his subsequent acquittal "less meaningful," said Nikita Sonavane, a criminal lawyer based in Madhya Pradesh and founder of the Criminal Justice and Police Accountability Project in Bhopal.

Challenging these orders is nearly futile because witness testimonies are seldom available, causing delays," said Sonavane, an Article 14 advisory board member.

When we asked why the order mattered to him when he had already finished his externment period staying with relatives in Khargone and Barwani districts, Awase said, "The order is important to prove that the DM and the State government not only framed me in false cases for my activism but also banished me in those false cases. The High Court judgement is a testament to my innocence, which may prevent further repressive actions."

"The order also washes away the social stigma attached to the externment order," he said.

More Than Three-Fold Spike In 8 Years

After the high court order, the externment law has been a topic of contention regarding its application, particularly its misuse for political reasons, especially during election periods.

According to Madhya Pradesh home department data, 31,843 externment ('zila badar') orders were issued against individuals between 2016 and 2023, a threefold surge in externment cases and a spike in election years. Congress was in power from December 2018 to March 2020.

In 2018, when the state was going for assembly polls, it saw 4,719 externment orders, and in the

next assembly year, 2023, it surged to 7,319 orders, indicating its misuse as a political tool, as pointed out by the high court in Awase's case.

"The system targets those who challenge the political or administrative status quo, building cases based on pending or acquitted matters rather than convictions as the law demands," said Sonavane. "Defendants are rarely given a fair chance to defend themselves."

"The government doesn't just banish individuals from their home district but from the entire administrative zone, encompassing all adjacent districts," said Sonavane. "This severely restricts their fundamental right to movement and trade."

When questioned Pawan Kumar Shrivastava, additional director general of police, criminal investigative department, said, "This law is being used against habitual offenders or the kingpin of the notorious gangs to control law and order in the district without taking strict action."

On Awase's case, Shrivastava said, "Police build the case on the basis of the FIRs lodged against the individual and send it to the district collector. Upon deliberation, the collector's office issues show cause notice to the accused, who is given proper time for defence. And if one fails, the externment order is issued."

"When Awase was externed in 2023, the law-and-order situation in Burhanpur was deteriorating, which was the cause of concern in the election year," he said.

Awase's Externment

Awase, a defender of tribal rights for the past ten years, was externed from Burhanpur district in January 2024 by the district magistrate Bhavya Mittal, declaring him a "threat to public safety" based on 11 complaints lodged by the state forest department and two FIRs (first information report) filed by the Nepanagar police in 2019 and 2022.

In these complaints, Awase has been accused of being a member of a tribal rights outfit, Jagrit Adivasi Dalit Sangathan, inciting protests, running plantation drives in the forest, collecting donations and holding rallies from that money, 'provoking' fellow tribals to encroach forest lands, pushing them to secure their land now under the government and manipulating innocent tribals under the garb of raising awareness on tribal land rights.

Awase's name was also added to an FIR in April 2022. Awase spent 20 days in prison between April and May in Khandwa jail, 80 km from Burhanpur, until he got bail.

The complainant, Pushpendra Singh Jadaun, on whose complaint his name was added to the FIR, has testified in the Burhanpur sessions court that he did not know Awase and added his name to the FIR because others said so.

Three months before the externment on 23 January 2024, the district administration issued a show-cause notice to Awase on 27 October 2023, giving him a week to defend himself.

Awase said he asked for more time, but the district collector of Burhanpur and the police commissioner of Indore never gave him a fair hearing.

After his externment order was passed on 23 January 2024, Awase challenged it in the Madhya Pradesh High Court.

Other activists belonging to the Nimar region of the state-an area covering Burhanpur, Barwani, Khandwa, and Khargone districts, populated by the Bhil and sub-tribes, including the Bhilala, Barela, and Patelia-have faced similar externment notices or were externed from their communities for

their activism.

This area is a stronghold of the ruling Bhartiya Janata Party, with the BJP winning all eight parliamentary seats and 47 of 66 Assembly seats across 15 districts of Malwa-Nimar region.

Awase and his fellow activists received show cause notices of externment between June and October 2023, a month before the state was scheduled for November Assembly elections.

The BJP lost Nepanagar and Burhanpur seats to the Congress Party in the 2018 assembly elections. It won back both seats in the 2023 state elections.

'This Attitude Is Grossly Inappropriate'

In the judgement order, Justice Agrawal said that although his period of externment would end on 22 January 2025, "the petitioner insisted that the matter be examined on its own merits…"

The court said that the externment order mentioned that 11 offences under the Forest Rights Act were registered against the petitioner from 2018 to 2023. Thereafter, in 2019 and 2022, two cases were registered under the Indian Penal Code, 1860, sections for rioting, deterring a public servant from discharging his duty, and attempt to murder.

The court ordered deputy advocate general Yash Soni, representing the State (respondents), to show how the offences under the Forest Rights Act will come under the preview of section 6 of the MP externment law.

The government counsel admitted that those cases did not fall within the ambit of externment law, but the two IPC cases were lodged in 2019 and 2022.

Justice Agrawal pointed out that only cases in which the person has been convicted in a criminal case are admissible under section 6 of the externment law, and the trial has yet to begin in both police cases.

In the externment order, district magistrate Bhavya Mittal mentioned that 16 people gave statements to the police that the "presence of the petitioner is a danger to the safety and security or to the public order."

When the court asked government advocate Soni to show statements of witnesses, the advocate admitted that statements could not be recorded because the locality in which the petitioner is operating is a "tribal infested area," and none of them came forward to depose against the petitioner.

When the court sought the names of the persons approached for recording of their statements and who refused, Soni failed to provide any name.

The court criticised the district magistrate for "misleading" the court by saying that none of the witnesses came forward to record statements.

"This attitude is grossly inappropriate," the court said.

Justice Agrawal said, "Two things are crystal clear. Firstly, forest offences are not mentioned in Section 6 of the Adhiniyam of 1990. Secondly, the petitioner is not convicted in the IPC cases which is mandatory to pass a banishment order. Therefore, the order of externment is apparently illegal and is set aside."

More Externed

Lawyers and activists said that other activists are externed on similar flimsy ground, and their

matters are pending before the Jabalpur bench of the high court.

Ratan Barela (49), Dilip Barela (42), and Madhuri Krishnaswamy (48), who has been working in the Nimar region for tribal rights, were also externed for a year between 2022 and 2024 for disrupting peace and "threat to public safety".

Ratan Barela, a farmer who is facing three criminal cases and three cases under the Forests Right Act, is the latest victim of the externment law.

On 27 November 2024, the Burhanpur district administration sent him a show-cause notice. Since then, he has been running pillar to post, from the district magistrate's office to the Indore police commissioner, to defend himself.

Dilip Barela, who is facing 10 cases of forest offences and three police cases and was served notice on 3 May 2024, said he was externed two months later without being given a proper chance to defend himself.

Madhuri Krishnaswami, who is facing 21 forest offences and four criminal cases for "carrying out rallies without permission, or obstructing work of the government," was also externed on 7 July 2023.

"Like Awase, Dilip and Madhuri have also challenged the order, and the matter is sub judice," said lawyer Quazi Fakruddin, advocate for all three. "It is a law which is rarely used and is now becoming common. The government and administration's respect for human rights violations has been eroding."

Close to 300 km west of Nepanagar, Mathiyas Bhuria, a tribal leader from Ranapur block in Jhabua district, was externed on 10 September 2024, linked to five cases registered after he opposed the smuggling of liquor from the shops on the border of MP and Gujarat causing damage to the indigenous population.

Bhuria held a press conference on 24 June 2024 "exposing" the enforcement agencies' involvement with the liquor syndicates and organised a rally in Ranapur block on 5 August 2024.

Zaid Pathan, a social activist from Indore, and nine others were served externment notices for protesting outside a police station on 21 August 2021 in Indore to demand a case be registered against the assailants who attacked Muslim bangle seller Tasleem Ali (32) for selling goods in a Hindu locality of Indore.

They were slapped with a criminal case for rioting and criminal intimidation. They served externment notices from the Indore district administration within a week, saying they were "threats to public peace" for allegedly "attempting to incite riots" in the city.

"I was served an externment notice within three days of the FIR," said Pathan, 40. "We were harassed for over six months under the garb of hearings for the externment notice."

"They didn't intend to extern us because they have no grounds," he said. "It was done to teach a lesson to those who stood up for Tasleem Ali."

आदिवासी: विकास के निर्णयों में बराबरी दरकार

कुलदीप भाटिया

परिचय

बैतूल निवासी कुलदीप भाटिया पत्रकारिता में स्नातकोत्तर हैं। अपनी उच्च शिक्षा के उपरांत वे बीते सात वर्ष से मैदानी पत्रकारिता कर रहे हैं। इस दौरान उन्होंने प्रमुख समाचार माध्यमों के साथ स्वतंत्र रूप से कार्य किया है। सामाजिक सरोकार से जुड़ी रिपोर्टिंग में कुलदीप भाटिया की विशेष रुचि है। आदिवासी बहुल जिले बैतूल के निवासी कुलदीप भाटिया ने इस फैलोशिप में भी आदिवासियों के संवैधानिक मूल्यों को अपने अध्ययन का विषय बनाया था।

फैलोशिप के दौरान बैतूल जिले के आदिवासी अंचलों में कार्य करते समय मुझे भारतीय संविधान में निहित मूल्यों की धरातली सत्यता को निकट से देखने का अवसर मिला। न्याय, समानता, स्वतंत्रता, बंधुत्व और व्यक्ति की गरिमा जैसे आदर्श, जिन पर हमारा संविधान टिका है, वहां के आदिवासी समुदायों के जीवन में केवल एक कल्पनाभर नज़र आएं, तो हमारे मस्तिष्क पर चिंता की लकीरें दिखना स्वाभाविक है। जब किसी परिवार को उसकी उपजाऊ भूमि से बेदखल किया जाता है, जब किसी महिला को कर्ज़ के बोझ तले मानसिक उत्पीड़न सहना पड़ता है या जब बच्चों को छात्रावासों में गरिमापूर्ण जीवन की जगह उपेक्षा और असुविधा मिलती है, तब यह स्पष्ट होता है कि संवैधानिक मूल्य केवल दस्तावेज़ों तक सीमित रह गए हैं, लेकिन जब 'नींद हराम आंदोलन' जैसे सांस्कृतिक प्रतिरोध सामने आते हैं, तो यह भरोसा भी जागता है कि इन मूल्यों के प्रति चेतना और संघर्ष जीवित है। यह अनुभव मेरे लिए न केवल एक अध्ययन का विषय रहा, बल्कि यह आभास दिलाने वाला भी रहा कि संवैधानिक आदर्शों की सार्थकता तभी है, जब वे समाज के हाशिए पर खड़े व्यक्ति के जीवन में भी स्पष्ट रूप से परिलक्षित हों।

भारत की लोकतांत्रिक संरचना में प्रत्येक नागरिक को गरिमामय जीवन और अवसर की समानता की परिकल्पना की गई है। आदिवासी समुदाय, जो परंपरागत रूप से जल, जंगल और जमीन पर आश्रित रहा है, आज आधुनिक विकास की दौड़ में कई स्तरों पर हाशिए पर खड़ा दिखाई देता है। मध्यप्रदेश के बैतूल जिले में इन समुदायों की सामाजिक-सांस्कृतिक अस्मिता, आर्थिक आत्मनिर्भरता और पारंपरिक अधिकारों को लेकर उपजे संघर्ष इस बात का सशक्त प्रमाण हैं कि न्याय और समानता जैसे मूलभूत आदर्शों की पहुंच अब भी अधूरी है।

बैतूल के कढ़ाई गांव में वर्ष 2003 में 'हरियाली खुशहाली योजना' के तहत आदिवासी परिवारों को कृषि के लिए पांच-पांच एकड़ भूमि दी गई थी। दो दशक बाद वही भूमि औद्योगिक परियोजना 'वुडन क्लस्टर' के लिए चिह्नित कर दी गई और स्थानीय प्रशासन ने यह कहते हुए कुछ परिवारों को बेदखल कर दिया कि वे वैध रूप से उस भूमि के स्वामी नहीं हैं। ग्रामीणों के अनुसार इस जमीन ने उन्हें सम्मानपूर्वक जीविकोपार्जन एवं आत्मनिर्भरता की दिशा में अग्रसर किया था। अब उन्हें इससे वंचित किया जाना, उनके आत्मसम्मान तथा अधिकारों पर एक गहरा प्रहार है। यह घटनाक्रम केवल जमीन छीनने तक सीमित नहीं, बल्कि आदिवासियों की जीवनदृष्टि एवं परंपरागत संरचना के विरुद्ध एक सुनियोजित हस्तक्षेप है।

आठनेर और भैंसदेही क्षेत्रों के कई आदिवासी किसानों के साथ ट्रैक्टर खरीद के नाम पर धोखाधड़ी हुई। उनके दस्तावेज़ों का उपयोग कर बगैर उनकी जानकारी के कर्ज लिया गया और जब किश्तें नहीं चुकाई गईं, तो बैंकों ने वसूली आरंभ कर दी। ये घटनाएं आर्थिक शोषण के ऐसे रूप को उजागर करती हैं, जहां भोले-भाले ग्रामीणों की अनपढ़ता और विश्वास को हथियार बनाया गया। इन मामलों की सबसे गंभीर बात यह है कि इनमें न केवल आर्थिक नुक्सान हुआ, बल्कि पीड़ितों को अपराधी जैसा महसूस कराया गया।

जामठी क्षेत्र की आदिवासी महिलाएं माइक्रोफाइनेंस कंपनियों के कर्ज-तंत्र का शिकार हो रही हैं। समूह ऋण के नाम पर बड़ी रकम तो दी जाती है, पर वसूली के समय पारदर्शिता नदारद होती है। कर्ज की रकम से पहले बीमा और अन्य शुल्क काटे जाते हैं, ब्याज दर अस्पष्ट रहती है और देरी होने पर अतिरिक्त दंड वसूला जाता है। महिलाओं के अनुसार किश्तों की वसूली के दौरान वसूलीकर्ता अभद्र भाषा, धमकी एवं मानसिक उत्पीड़न देते हैं। यह स्थिति न केवल आर्थिक, बल्कि सामाजिक और मानसिक शोषण का भी गंभीर विषय है।

बैतूल जिले के कई आदिवासी परिवार वर्षों से वनभूमि पर खेती कर रहे हैं। यह भूमि उनकी जीविका का आधार है, लेकिन वन विभाग द्वारा इन्ही निजी जमीनों को संरक्षित वन क्षेत्र घोषित कर, उन पर कब्जा कर लिया गया। यह बिना किसी वैध प्रक्रिया के किया गया और न ही प्रभावित परिवारों को कोई मुआवजा या विकल्प दिया गया। इस प्रकार के हस्तक्षेपों से स्पष्ट होता है कि परंपरागत भूमि स्वामित्व और उपयोग के आदिवासी अधिकार आज भी केवल व्याख्याओं तक सीमित हैं।

अभिभावक जब अपने बच्चों को आदिवासी छात्रावासों में भेजते हैं, तो उन्हें यह उम्मीद होती है कि वहां बुनियादी सुविधाएं उपलब्ध होंगी, किंतु बैतूल जिले के कई छात्रावासों में घटिया गद्दे, फर्जी बिलिंग और सामग्री की अनुपलब्धता की शिकायतें सामने आई हैं। छात्रों को ठंड में अपर्याप्त बिस्तर सामग्री के सोना पड़ता है, जो न केवल असुविधाजनक है, बल्कि उनकी सेहत के लिए भी खतरनाक है। यह स्थिति शिक्षा के अधिकार को हास्यास्पद बना देती है।

'नींद हराम आंदोलन' जैसे विरोध प्रदर्शन यह दर्शाते हैं कि अब आदिवासी समुदाय अपने अधिकारों को लेकर सजग और संगठित हो रहा है। घोड़ाडोंगरी विधानसभा क्षेत्र में हुए इस आंदोलन में आदिवासी समुदाय ने रातभर ढोल-नगाड़ों के साथ नृत्य कर अपने अधिकारों की मांग रखी। यह कोई सामान्य प्रदर्शन नहीं था, बल्कि यह एक प्रतीकात्मक क्रांति थी– एक ऐसा सांस्कृतिक प्रतिरोध, जो प्रशासन को झकझोरने की शक्ति रखता है।

बैतूल के पिपरिया क्षेत्र में ड्रोन सर्वे के जरिए आदिवासी भूमि को सरकारी भूमि के रूप में चिह्नित कर दिया गया। इसमें न केवल खसरा नंबर बदले गए, बल्कि कुछ भूमि को नाले में दिखाकर उसकी वास्तविक उपयोगिता समाप्त कर दी गई। यह तकनीकी प्रक्रिया यदि सामुदायिक सहमति और पारदर्शिता के बिना अपनाई जाए, तो यह संवेदनशील क्षेत्रों में एक बड़े अन्याय का कारण बन सकती है।

वन विभाग के कर्मचारियों पर यह आरोप लगे कि उन्होंने तीन आदिवासी ग्रामीणों को अवैध रूप से दो दिनों तक बंधक बनाकर शारीरिक प्रताड़ना दी। यह घटना न केवल मानवाधिकारों का उल्लंघन है, बल्कि यह प्रशासनिक निरंकुशता का भी स्पष्ट उदाहरण है। इस प्रकार की घटनाएं जब बिना जांच और दंड के रह जाती हैं, तो वे एक भयावे परंपरा को जन्म देती हैं– जहां शक्ति का उपयोग न्याय के विरुद्ध होता है।

धसेड़ गांव में एक व्यक्ति ने ठेका लेकर आदिवासी किसान की भूमि पर अफीम की अवैध खेती की। पुलिस ने सीधे भू-स्वामी को गिरफ्तार किया, परंतु गांव की पारंपरिक शांति एवं विवाद निवारण समिति ने जांच कर दोषी व्यक्ति की पहचान की, जो कि वास्तविक ठेकाकर्ता था। यह दर्शाता है कि यदि परंपरागत न्याय प्रणालियों को उचित सम्मान और अधिकार

दिए जाएं, तो वे स्थानीय स्तर पर न्याय की प्रभावशाली व्यवस्था बन सकती हैं।

ताप्ती मेगा रिचार्ज परियोजना, मेलघाट अभयारण्य का विस्तार और चिल्लौर-नहरपुर योजना... ये सभी हजारों आदिवासी परिवारों के लिए विस्थापन का संकट बनकर खड़ी हैं। इन योजनाओं के पीछे विकास की परिकल्पना है, परंतु जब ग्राम सभाओं को विश्वास में लिए बिना निर्णय लिए जाते हैं, तो यह लोकतंत्र की भावना के विपरीत जाता है। जल, जंगल और जमीन की रक्षा के लिए आदिवासी समुदायों का संघर्ष किसी एक जिले की समस्या नहीं, बल्कि एक व्यापक सामाजिक चेतना का प्रतीक है।

बैतूल जिले की आदिवासी स्थितियां भारत की लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं के समक्ष एक गंभीर प्रश्न खड़ा करती हैं। कागजों पर दर्ज अधिकारों को जब वास्तविक रूप में अमल में नहीं लाया जाता, तो उनका कोई महत्व नहीं रह जाता। आर्थिक और सामाजिक न्याय केवल नीतियों की भाषा में नहीं, बल्कि धरातली क्रियान्वयन में दिखना चाहिए। समय की मांग है कि आदिवासी समुदायों के परंपरागत ज्ञान, जीवनशैली एवं अधिकारों को केवल संरक्षण ही नहीं, बल्कि संबल भी दिया जाए, ताकि वे मात्र 'विकास के आंकड़ों' में नहीं, अपितु 'विकास के निर्णयों' में भी बराबरी से शामिल हो सकें।

"तरुवर फल नहिं खात हैं, सरवर पियहिं न पान।
कहि रहीम पर काज हित, संपति संचहि सुजान॥"

– रहीम

रहीम कहते हैं कि परोपकारी लोग परहित के लिए ही संपत्ति को संचित करते हैं। जैसे वृक्ष फलों का भक्षण नहीं करते हैं और ना ही सरोवर जल पीते हैं बल्कि इनकी सृजित संपत्ति दूसरों के काम ही आती है।

शिक्षा का अधिकार: सरकारी बेहाल, निजी में लूट अपार

नीतेश उचबग्ले

परिचय

बतौर स्वतंत्र पत्रकार कार्य कर रहे नितेश उचबगले बीएससी कृषि तथा माखनलाल चतुर्वेदी राष्ट्रीय पत्रकारिता एवं संचार विवि, भोपाल से डिजिटल जर्नलिज्म से एम.ए. हैं। उन्होंने खेतीफ्रेश में इंटर्नशिप के बाद दैनिक भास्कर और एशियानेट न्यूज में कार्य किया है। स्वयं के यूट्यूब चैनल न्यूज ऑन ग्राउंड के माध्यम से ग्रामीण पत्रकारिता कर रहे हैं। इस फैलोशिप के तहत नितेश उचबगले ने बालाघाट में शिक्षा के अधिकार की स्थिति पर अध्ययन किया है।

भारत को आजाद हुए 78 साल पूरे हो चुके हैं। वहीं, आजादी के 55 साल बाद शिक्षा को 86वें संविधान संशोधन द्वारा मूल अधिकारों में शामिल किया गया। साल 2009 में, बच्चों के लिए निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा का अधिकार अधिनियम (आरटीआई) पारित किया गया, जो इस मौलिक अधिकार को लागू करता है।

अब सवाल यह उठता है कि शिक्षा को मूल अधिकारों में शामिल करने के 23 साल और 86वें संविधान संशोधन के तहत अनिवार्य शिक्षा के कानून बनने के बाद कितनी चीजें बदलीं और कितनी बदलना बाकी हैं, ऐसे ही कुछ सवालों के साथ मैं विकास संवाद फैलोशिप से जुड़ा था। अब इस बात को करीब एक साल पूरा हो रहा है।

फैलोशिप के लिए इंटरव्यू और ओरिएंटेशन के बाद कई दिनों तक तो यह समझ नहीं आ रहा था कि शुरू कैसे करना है। संवैधानिक मूल्य क्या होते हैं और उन्हें अपने आलेखों में कैसे उतारा जा सकता है, लेकिन एक ओरिएंटेशन और दो सत्रों के बाद धीरे-धीरे चीजें समझ आने लगीं।

फैलोशिप की यात्रा को समझने के लिए हमें इसे तीन पड़ाव में बांटना पड़ेगा

पहला पड़ाव वास्तविकता यह है कि पहला पड़ाव सिर्फ यह समझने में निकल गया कि संवैधानिक मूल्य क्या होते हैं। इन्हें कैसे लेखन में उतारा जाए। यह समय मेरे लिए काफी कठिन रहा। पारिवारिक समस्या और कैरियर दोनों को लेकर परेशान रहा। इसके बाद मैंने विकास संवाद से मिली किताबें पढ़ना शुरू किया। इससे मेरे सोच, विचार एवं चिंतन पर काफी असर पढ़ने लगा। शुरूआत मैंने किताब पढ़ने से की थी। इस दौरान मैंने जीवन में संविधान, बंधुता और समानुभूति किताब को गहराई से पढ़ा। इन किताबों ने मुझे संवैधानिक मूल्यों को समझने में मदद की। खासतौर से मैं जिक्र करना चाहूंगा 'बंधुता और समानुभूति' पुस्तक का। इस किताब को पढ़कर मुझे यह समझ में आया कि समानुभूति और बंधुता एक-दूजे के पर्याय हैं। समानुभूति का एहसास नहीं होगा, तो बंधुता के भाव जाग्रत नहीं होंगे या यूं कहे कि बंधुता का भाव नहीं होगा, तो समानुभूति का एहसास नहीं होगा।

इस किताब से मुझे यह भी समझ आया कि समानुभूति और सहानुभूति में एक महीन-सा अंतर है। दरअसल सहानुभूति मतलब किसी पर दया कर उसके दुख पर अफसोस जताना है। वहीं, समानुभूति, यानी किसी के दर्द को महसूस कर, वही हो जाना है। अब इस किताब का असर भी मुझ पर हुआ। दरअसल एक दौर था, जब मेरा और अस्पताल का एक

अनचाहा रिश्ता बन गया था। अपना कैरियर बनाने वाली उम्र से ही परिवार की जिम्मेदारियों का भार था। स्वाभाविक है, ऐसे में परेशान रहना, गुस्सैल स्वभाव और चिड़चिड़ाहट की प्रवृत्ति बन गई थी। फिर किताब को आस्था के साथ पढ़ा। तब कुछ समझ आया कि संवैधानिक मूल्य क्या होते हैं। किसी का दर्द क्या होता है। यह समझ आया कि हमारे भीतर ही नफरत और प्यार के बीज हैं। हमें क्या पोसना है, यह हमें स्वयं तय करना है। फिर तय किया और जीवन में मूल्यों को उतारने का एक सार्थक प्रयास शुरू हुआ। ऐसे में अस्पताल का स्टाफ, दूसरे मरीजों के परिजन या अन्य लोग, जो मेरे आसपास थे, उनके साथ बंधुता के भाव उत्पन्न हुए। इसी के साथ मन-मस्तष्कि में मूल्यों को जानने, मानने और अपनाने की प्रक्रिया शुरू हुई।

अब बात शिक्षा के अधिकार की...

संवैधानिक मूल्यों पर आधारित विकास संवाद की फैलोशिप मुझे मिली और मेरा विषय 'शिक्षा का अधिकार' था। मैंने इस विषय को इसलिए चुना, क्योंकि मुझे लगता है कि शिक्षा ही वे हथियार है, जो समाज के पिछड़े और अंतिम पंक्ति के लोगों को आगे ला सकता है। यह समझना था कि जिस देश में महिलाओं को 'लाड़ली बहना' जैसी महत्वाकांक्षी योजना पर तीन महीने में ही 45 सौ करोड़ रुपए खर्च किए जाते हैं, लेकिन स्कूल शिक्षा विभाग पर सालभर में महज 37 सौ करोड़ रुपए। ये सवाल भी थे कि गांव के स्कूल शहर के स्कूल से क्यों अलग है? गांव के सरकारी स्कूल को भात खाया स्कूल क्यों कहा जाता है? अब इन सवालों के जवाब शायद धीरे-धीरे मिलने लगे।

22 नवंबर, 2024 को मैंने एक स्टोरी की थी। बालाघाट जिले के कटंगी विकासखंड के अंतर्गत आने वाले 12 स्कूल ऐसे हैं, जिनमें एक भी नियमित शिक्षक नहीं है। वहीं, 8 स्कूल ऐसे भी हैं, जो सिर्फ एक शिक्षक के भरोसे पर चल रहे हैं। मध्यप्रदेश के शिक्षा विभाग का शैक्षिक-सत्र अप्रैल से शुरू हो जाता है। साल 2024 का शैक्षिक-सत्र अप्रैल में ही शुरू हुआ, लेकिन आधा शिक्षा-सत्र बीत जाने तक अतिथि शिक्षकों की भर्ती नहीं हुई थी। अतिथि शिक्षकों की भर्ती वाले जीएमएफएस पोर्टल पर कई खामियों के चलते सितंबर तक स्कूलों में शिक्षकों की भर्तियां नहीं हो सकीं। ऐसे में कई स्कूल शिक्षकों की कमी से जूझते रहे।

'इस स्टोरी को करते वक्त मुझे समझ आया कि सरकार की इस व्यवस्था से न सिर्फ बच्चों के अधिकारों का हनन हो रहा है, बल्कि उन शिक्षकों की मंशा पर पानी फेर देती है, जो बच्चों के भविष्य को बेहतर बनाने के लिए मेहनत करना चाहते हैं।'

ग्राउंड रिपोर्ट: छात्रों का भविष्य अधर में! जर्जर भवन और खराब शौचालयों के बीच चल रही है पढ़ाई

साल 2016 में कटंगी विकासखंड के अंतर्गत आने वाले पांच स्कूलों का उन्नयन, यानी अपग्रेड किया गया। ये स्कूल माध्यमिक से हाईस्कूल में अपग्रेड हुए। समस्या यह कि स्कूल अपग्रेड तो हुए, लेकिन इनके लिए भवन नहीं बन पाए। ऐसे में इन स्कूलों के शैक्षणिक कार्यों में बाधाओं का सामना स्टाफ सहित बच्चों को भी करना पड़ रहा है।

'दिग्घा हाई स्कूल' के शिक्षक सुशील खोब्रागड़े ने बताया कि जिस भवन में प्राथमिक स्कूल लगता था, वे 1956 में बना था। वे काफी जर्जर हो चुका है। इस बारिश में बच्चों को पढ़ाने में हमें काफी दिक्कत आ रही थी। ऐसे में हमें स्कूल को दो पालियों में लगाना पड़ रहा है। अब ठंड बढ़ने लगी है। ऐसे में प्राथमिक स्कूल के बच्चों (सुबह की पाली में आने वाले) की समस्या बढ़ रही है। साल 2016 में कटंगी विकासखंड के अंतर्गत आने वाले 5 स्कूल को अपग्रेड कर हाईस्कूल बनाया गया था, लेकिन इन स्कूलों के लिए भवन नहीं बन पाए हैं। इनमें दिग्घा, बोथवा, हरदोली, सावंगी और मानेगांव के हाईस्कूल शामिल हैं।

निकायाधीन स्कूलों की व्यथा-कथा

साल 2002 में मध्यप्रदेश के 44 निजी स्कूलों को शासन ने अपने अधीन कर लिया था। उन स्कूलों को निकायाधीन स्कूल कहा गया। ऐसे ही दो स्कूल बालाघाट जिले में हैं। इनमें एक है जिले के टेकाड़ी गांव में स्थित 'शासकीय महात्मा गांधी उच्चतर माध्यमिक विद्यालय'। इस स्कूल में न बिल्डिंग है न ही शिक्षक। ध्यान देने वाली बात तो यह है कि इस स्कूल में अतिथि शिक्षक की भी नियुक्ति नहीं होती है। ऐसे में स्कूल में पढ़ रहे बच्चे क्या बिना शिक्षक शिक्षा हासिल कर पाएंगे? और तो और शाला विकास खाते में मात्र 1868 रुपए हैं। ऐसा ही हाल 'शासकीय गुरुकुल बावनथड़ी हायर सेकंडरी स्कूल' बम्हनी का भी है, जहां पर 331 बच्चे पढ़ते हैं।

बालाघाट जिले में निजी स्कूलों में शिक्षा के नाम पर 'गोरख धंधा' चल रहा है। निजी स्कूलों में 25 प्रतिशत सीटें आर्थिक और सामाजिक रूप से पिछड़े बच्चों के लिए आरक्षित होती हैं, लेकिन बालाघाट के भारती विद्या निकेतन स्कूल में आरटीई के तहत एडमिशन लेने वालों बच्चों से भी फीस वसूली जा रही है। एक महिला ने नाम न लिखने की शर्त पर बताया कि स्कूल संचालक ने अवैध फीस न चुकाने पर टीसी और अंकसूची देने से मना कर दिया था। ऐसे में नातिन के भविष्य को ध्यान में रखते हुए उन्होंने अपनी पैरपट्टी (पैरों में पहना जाने वाला गहना) गिरवी रखी थी। इस मामले में कोई अधिकारी कार्रवाई भी नहीं कर रहे हैं।

छत्तीसगढ़ बॉर्डर से लगे इस क्षेत्र में 5 गांवों के बच्चों के लिए केवल एक सरकारी माध्यमिक स्कूल है। हालत यह है कि यहां 72 बच्चों के लिए सिर्फ 3 शिक्षक हैं, जिनमें से एक ही नियमित है और दो अतिथि शिक्षक हैं, जिनकी नियुक्ति भी आधे सत्र के बाद हुई। स्कूल में कुल 72 बच्चे नामांकित हैं, जिनमें से 70 बच्चे जनजातीय समुदाय से और 2 ओबीसी वर्ग से आते हैं, लेकिन इतनी बड़ी संख्या के बावजूद यहां सिर्फ तीन शिक्षक हैं! इनमें से केवल एक ही नियमित शिक्षक है, जबकि दो अतिथि शिक्षकों की नियुक्ति भी काफी देरी से हुई।

यह है उम्मीद की किरण

ग्राम पंचायत चरेगांव की सरपंच मीना बिसेन ने बीते साल मार्च से अपने गांव में हर क्लास के बच्चों को पढ़ाना शुरू किया। उन्होंने बताया कि वे 17 साल से शिक्षा से जुड़ी रहीं। उन्होंने अपने जीवन का लंबा समय शिक्षा से जोड़े रखा है। ऐसे में उनकी दिलचस्पी शिक्षा में रही है। वे पंचायत के काम के साथ गांव के बच्चों का विकास हो सके, इस विचार के साथ स्कूल और पंचायत में बच्चों को फ्री में ट्यूशन पढ़ाती हैं। वहीं, 10वीं और 12वीं के बच्चों को बोर्ड परीक्षा के लिए भी तैयार कर रही हैं।

शिक्षा अधिकार है खैरात नहीं

फैलोशिप के दौरान कई ऐसी जानकारियां सामने आईं, जिनसे यह समझ आया कि सिस्टम शिक्षा को महज औपचारिकता समझता है। ऐसे में शासकीय स्कूलों में व्यवस्था नहीं और निजी स्कूलों पर लगाम नहीं। जहां सरकारी स्कूल शिक्षकों की कमी से जूझ रहे हैं, वहीं दूसरी तरफ निजी स्कूलों में दूसरे पैमाने तो दूर क्वालीफाइड टीचर ही नहीं हैं। ऐसे में ज्यादातर समस्या ग्रामीण क्षेत्रों के बच्चों को आ रही है। सरकारी स्कूलों में व्यवस्था नहीं और प्राइवेट स्कूलों की लूट से गुणवत्ता-युक्त शिक्षा पहुंच से दूर हो रही है।

ऋषभ राज सिंह

न्याय: जो 'अपराध' हुआ नहीं, 6 साल तक लड़ी उसकी लड़ाई

'मोहद गांव' मध्य प्रदेश की राजधानी भोपाल से 350 किमी दूर बुरहानपुर जिले का एक दलित, आदिवासियों और आदिवासी से मुस्लिम बने तड़वी मुसलमानों का एक गांव है। बुरहानपुर शहर से 20 किमी दक्षिण की तरफ स्थित मोहद गांव की आबादी लगभग चार हजार है जहां पक्के घर कम और छोटे मिट्टी और टीन शेड के घर ज्यादा देखने को मिलते हैं। कम साक्षरता वाले इस गांव में ज्यादातर लोग या तो छोटे किसान हैं या फिर मजदूर, जिनका घर सरकारी राशन से चलता है। विकास की राह देख रहा मोहद गांव जून 2017 में एक अफवाह की वजह से उस वक्त सुर्खियों में आया जब आईसीसी चैंपियंस ट्रॉफी के फाइनल मैच में पकिस्तान क्रिकेट टीम ने इंडियन क्रिकेट टीम को शिकस्त दी। अफवाह फैलाई गई कि पाकिस्तान की जीत पर इस गांव में जश्न मनाए गए और पाकिस्तान जिंदाबाद के नारे भी लगे। तब आज की तरह ना मोबाइल का चलन इतना था ना ही वायरल वीडियो का।

परिचय

माखनलाल चतुर्वेदी राष्ट्रीय पत्रकारिता एवं संचार विवि से अध्ययन के बाद ऋषभ राज सिंह ने वेबपोर्टल 'हम समवेत' के साथ जुड़ कर नियमित पत्रकारिता आरंभ की है। पत्रकारिता के उच्च अध्ययन के दौरान ऋषभ राज सिंह ने द वायर, जनसत्ता जैसे विविध मंचों पर लेखन कार्य किया है। यूथक्चेक फाउंडेशन सोसायटी का गठन कर संस्थान माध्यम से विभिन्न सामाजिक कार्य, राजनीतिक-सामाजिक मुद्दों पर लेखन उनकी पहचान है। इस फैलोशिप के तहत ऋषभ राज सिंह ने संवैधानिक मूल्यों के प्रकाश में विचाराधीन कैदियों की स्थिति पर अध्ययन किया है।

लिहाजा, जब इस अफवाह ने तूल पकड़ा तब बुरहानपुर के शाहपुर थाने में इस गांव के 17 वयस्क मुस्लिमों और दो नाबालिगों पर आईपीसी की धारा 124–ए (देशद्रोह), 120–बी, और (आपराधिक षडयंत्र) के तहत एफआईआर दर्ज़ की गई। पुलिस ने गांव के ही एक दलित व्यक्ति सुभाष कोली को शिकायतकर्ता बता कर एफआईआर दर्ज कर सबको गिरफ़्तार कर लिया। यह घटना रमजान में हुई जब सब रोजे में थे। सारे आरोपियों को बुरहानपुर से सटे खंडवा जिले की सेंट्रल जेल भेजा गया जहां अधिकांश आरोपी एक हफ़्ते से ज्यादा समय तक जेल में रहे। ईद जेल में बीती। इधर टीवी/मीडिया ने इन आरोपियों और उनके परिवारवालों को आतंकवादी घोषित कर दिया। मोहद गांव, बुरहानपुर जिला और यहां के पूरे मुस्लिम समाज को कई उपमाएं दी गई थीं। मीडिया ट्रायल के दौरान तो यहां तक पोल करा लिए गए थे की आरोपियों को फांसी दी जाए या उम्रकैद! ऐसा इसलिए भी हुआ क्योंकि मध्य प्रदेश के महाराष्ट्र से सटे बुरहानपुर में मुस्लिमों की खासी आबादी है। बुरहानपुर मुगलकाल में समृद्ध शहरों में गिना जाता था, जहां मुगल बादशाह औरंगजेब ने अपने जीवन के कई वर्ष गुजारे। इसकी झलक आज भी बुरहानपुर शहर की दीवारों, रहन-सहन और खान-पान में देखी जा सकती हैं। मीडिया ने बिना सच्चाई जाने अपने-अपने हिस्से की नफरत इनके खिलाफ फैलाई।

बहरहाल, घटना के दो हफ्ते के अंदर सभी को जमानत तो मिल गई पर हर हफ्ते उन्हें थाने में हाजिरी लगाने के निर्देश थे और हर दो से तीन हफ्ते में उन्हें पेशी के लिए 20 किमी दूर बुरहानपुर जिला अदालत जाना पड़ता था। थाने में हाजिरी

के दिन उन्हें कथित तौर पर जलील किया जाता था। दाढ़ी पकड़ कर मारा जाता था और पेट्रोल डाल कर आग लगाने की धमकी दी जाती थी। यह लगभग हर हफ़्ते अनके साथ होता था। हाजिरी के अलावा जब ये लोग पेशी के लिए कोर्ट जाते तो वकील नारे लगाते थे। कई बार हाथापाई भी हुई। सब पर परिवार की जिम्मेदारी थी पर हर हफ्ते हाजिरी के कारण वे ना तो बाहर कमाने जा सकते थे और ना ही उन्हें गांव में काम मिलता।

इस घटना के बाद उन्हें कोई काम पर रखना भी नहीं चाहता था और रिश्तेदारों ने भी किनाराकशी कर ली थी। नतीजतन, हालात बिगड़ते चले गए और सभी कर्ज और उधार लेकर परिवार का पेट पालने लगे और अपने ऊपर लगे झूठे मुकदमे को गलत साबित करने की जद्दोजहद कर रहे थे। रोजमर्रा की झंझट, कर्ज़ का बोझ और कोर्ट की जद्दोजेहद से तंग आकर एक आरोपी रुबाब नवाब (40) ने फरवरी 2019 को ज़हर पीकर इस दुनियां को अलविदा कह दिया। वे अपने पीछे एक बेसहारा बीवी और 12 और 6 साल के दो बेटे शोएब और वसीम छोड़ गए। लगभग 6 साल बाद यानी अटूक्बर 2023 को बुरहानपुर कोर्ट ने इस मामले पर फ़ैसला दिया और सभी को बरी कर दिया। बरी करने के पीछे की वजह चौंकाने वाली है।

दरअसल, शिकायतकर्ता सुभाष कोली और 12 गवाहों ने कोर्ट में एफआईआर के इतर बयान दिया। कोर्ट में सबने पुलिस पर फर्जी एफआईआर करने और बेगुनाह मुस्लिमों को फंसाने का आरोप लगाया। मुख्य शिकायतकर्ता सुभाष कोली ने तो कोर्ट में हलफनामा देकर यह बताया था कि उसने कभी एफआईआर दर्ज़ करवाई ही नहीं। ठीक ऐसे ही 12 गवाहों ने भी इस घटना से इनकार किया और पुलिस पर गंभीर आरोप लगाए। कोर्ट ने सभी को बरी तो कर दिया पर, फर्जी मुकदमा लिखने और सिर्फ उनके धर्म के आधार पर उन्हें प्रताड़ित करने वाले जिम्मेदार अधिकारियों पर कोई कार्रवाई नहीं हुई। कोर्ट का फैसला आने के कुछ माह पहले मुख्य शिकायतकर्ता सुभाष कोली की कैंसर से मौत हो गई। उसे याद करते हुए गांव के लोग कहते हैं कि वे दलित होते हुए हिंदू-मुस्लिम एकता का पैरवीकार था, पर अफसोस वे फैसला आने तक जीवित नहीं रह पाया। उसकी मौत के बाद उसके परिवार का कोई भी पुरसाहाल नहीं है। घर में पत्नी और बहन है जिसे लोग पागल (दिमागी रूप से कमजोर) करार दे चुके हैं और समाज से लगभग बेदखल कर दिया है।

कोर्ट में पीड़ितों का पक्ष रख रहे वकील शोएब कहते हैं कि यह पूरा केस राजनीतिक उद्देश्य की प्राप्ति के लिए बनाया गया था। 2018 विधानसभा चुनाव से पहले मोहद गांव के लोग इसके शिकार बने। कोर्ट में हमने उनका पक्ष रखा, जो सच्चाई थी उसे बताया। मुख्य शिकायतकर्ता से लेकर सभी गवाहों ने कहा कि एफआईआर झूठी है। इस आधार पर कोर्ट ने अपना निर्णय दिया। शोएब पुलिस के रवैये को लेकर कहते हैं कि पुलिस भी दबाव में होती है। राजनीतिक दबाव के कारण पुलिस गरीब अल्पसंख्यकों को टारगेट करती है। मध्य प्रदेश में लगभग 8% मुस्लिम आबादी है पर 2017 में यह मध्य प्रदेश का शायद पहला मामला था जब मुस्लिमों पर पकिस्तान समर्थक होने का मामला दर्ज हुआ। इसके बाद मध्य प्रदेश में इस तरह की घटनाओं का सिलसिला शुरू हो गया और लगभग एक दर्जन मामले सामने आए। उज्जैन, शाजापुर, कटनी सहित कई जिलों में यह घटनाएं देखने को मिली और लगभग सभी मामले कोर्ट में पहुंचते ही मुंह के बल गिर पड़े।

रुबाब ने आत्महत्या क्यों की?

मोहद गांव पहुंचने के लिए बुरहानपुर से कोई पब्लिक ट्रांसपोर्ट की सुविधा नहीं है। सुबह करीब 11 बजे जब हम गांव पहुंचे, तो सबसे पहले रुबाब नवाब के घर जाने की इच्छा हुई। उनकी पत्नी जुबैदा बाई (40) उस वक्त घर के बाहर एक बाल्टी में पानी और कुछ गंदे बर्तन लेकर बैठी थीं। बर्तन में लगी कालिख को घिस रहीं जुबैदा से जब उस दिन के बारे में पूछा तो बर्तन घिसने की घिर-घिर आवाज रुक गई। मैं वहीं उनके बराबर बैठ गया। वे अनजान इंसान देख कर घबराई हुई थीं, पर गांव का एक युवक साथ होने की वजह से उन्होंने थोड़ा भरोसा दिखाया। कालिख लगा हाथ धोकर उन्होंने अपने

पल्लू में पोछा और सिर पर आंचल रखते हुए वे कहने लगीं कि अफवाह फैलने के कुछ देर बार दो पुलिस वाले घर में आ घुसे। उन्होंने नाम पूछा और नाम सुनते ही गाली-गलौज शुरू कर दी। वे धर्म-सूचक गलियां दे रहे थे और उन्हें (पति) मारने लगे। बारह साल का शोएब और छह साल का वसीम पिता को पीटता देख रोने लगे। मैं उन्हें गोदी में उठा कर चुप कराने लगी। तब उन्होंने मुझे और मेरे बच्चों को गाली देते हुए देशद्रोही की औलाद तक कहा।

वे कहती हैं कि मैंने पुलिस से लाख मिन्नतें कीं कि हमारे शौहर बेगुनाह हैं, पर पुलिस नहीं मानी और लगातार पीटती रही। जब वे जमीन पर गिर गए तो उन्हें जानवरों की तरह घसीटकर ले गए। रमजान का महीना था, पुलिस ने मेरे पति को दो दिन तक थाने में रखा यातनाएं दीं, फिर खंडवा जेल भेज दिया। जब वे जमानत पर बाहर आए तो हर रविवार थाने जाकर हाजिरी लगाते थे। आज भी जब मैं वे मंजर सोचती हूं, तो कांप उठती हूं, यह कहकर उन्होंने पल्लू से अपने डबडबाई आंखें पोछीं। एक बीवी और एक मां की बेबसी देख मुझे बेचैनी हो रही थी। मैं उन्हें चुपचाप सुनता रहा। वे आगे कहती हैं, ''हमारे पति ने पहले ही कर्ज ले रखा था। कोर्ट केस और बाहर ना जाने की पाबंदी की वजह से कर्ज बढ़ता चला गया। जिंदगी जहन्नुम हो गई थी लेकिन मैंने हमेशा अपने पति का ढांढस बंधाया। मैं हमेशा कहती रही कि सच की जीत होगी और वे जल्द बरी हो जाएंगे, लेकिन एक दिन वे इन सबसे थक गए और फरवरी 2019 में अपनी जान दे दी। उन पर क्या बीती, वे तो मैं भी नहीं बता सकती। अब उनके जाने के बाद से कर्जदार हमारे पीछे पड़े हुए हैं। हमारे ऊपर अब भी दो लाख का कर्ज है। अब शोएब बालिग हो चुका है, पिता की मौत के बाद वे पढ़ाई छोड़कर मजदूरी करने लगा है। वहीं, उसके छोटे भाई वसीम ने पढ़ाई छोड़ दी।''

पुलिस ने एफआईआर में क्या लिखा?

19 जून 2017 को बुरहानपुर के शाहपुर थाने में दर्ज हुई एफआईआर के मुताबिक, 18 जून को आईसीसी चैंपियंस ट्रॉफी मैच के दौरान जब भारत का तीसरा विकेट गिरा, तो आरोपियों ने कहा कि आज तो पाकिस्तान ही जीतेगा। पांचवां विकेट गिरा तो वे गांव के चौराहे पर पहुंच गए। सभी के हाथों में पटाखे थे। थोड़ी देर में भारत मैच हार गया और जैसे ही भारत की हार हुई वे चौराहे पर एक-दूसरे को मिठाई खिलाने लगे। लोगों ने वहां पाकिस्तान जिंदाबाद के नारे लगाए और आतिशबाजी भी की।

बता दें कि आईसीसी चैंपियंस ट्रॉफी का फाइनल मुकाबला 18 जून 2017 को खेला गया था, जिसमें पाकिस्तान के 339 रन का पीछा करने उतरी भारतीय टीम 30.3 ओवर में ही ऑल आऊट हो गई थी। भारतीय टीम महज 158 रन ही बना सकी थी। तब बुरहानपुर के इस गांव में पाकिस्तान की जीत पर जश्न मनाने और पाकिस्तान जिंदाबाद के नारे लगने की खबर पूरी मीडिया ने खूब उछाला था।

खैर, पुलिस ने सबको गिरफ्तार कर जेल भेज दिया और खूब तालियां बटोरीं। एफआईआर में बारह चश्मदीद गवाहों के नाम भी डाल दिए, लेकिन शिकायतकर्ता सुभाष कोली ने मृत्यु से पहले मीडिया और कोर्ट में कई बार कहा कि उसने कोई शिकायत की ही नहीं थी। यह सब पुलिस का किया धरा है। शिकायतकर्ता सुभाष कोली गांव का ही रहने वाला था, जिसकी पिछले साल ही कैंसर से मौत हो गई।डिश एंटीना ठीक कर जीवनयापन करने वाले कोली ने कोर्ट में हलफनामा देकर कहा था कि पुलिस ने उससे गलत बयान लेकर गांव के लोगों के खिलाफ देशद्रोह का मामला दर्ज कर लिया, जबकि वे उस दिन गांव में मौजूद ही नहीं था। सुभाष कोली का कहना था कि यदि उसकी मोबाइल लोकेशन देखी जाएगी, तो साफ हो जाएगा कि शिकायत के वक्त वे गांव में था ही नहीं। उसने हलफनामे में बताया कि वे एक पड़ोसी की मदद करने के लिए थाने पहुंचा था, जिसे नारे लगाने के आरोप में पुलिस उठा ले गई थी।

पुलिस की बर्बरता

गांव के ही एक और गवाह करण सिंह ने बताया कि अफवाह के बाद पुलिस गांव में आई और लोगों को घरों से उठाकर मारपीट कर थाने ले जाने लगी। वे बताते हैं कि घटना के तीन दिन बाद तक पुलिस गांव में आती रही और जिन मुस्लिमों के घर में भी मर्द दिख जाता उन्हें उठा कर ले जाते। इस डर से गांव के कई लोग लगभग एक हफ़्ते तक गांव से 500 मीटर की दूरी पर मौजूद पहाड़ी में छिपे रहे। ऐसे में पुलिस आती भी तो महिलाओं को देख गाली-गलौज कर चली जाती। ग्रामीणों ने बताया कि मुस्लिमों के साथ-साथ पुलिस ने गांव के करीब एक दर्जन हिंदुओं को भी उठाया था। जिन लोगों का घर सड़क किनारे था वे पुलिस की जद में आ गए। मुस्लिमों को आरोपी तो हिंदुओं को गवाह बना दिया गया। आरोपों के घेरे में 32 साल के इमाम तड़वी भी आ गए। इमाम का नाम उन 17 लोगों में था, जिन्हें पुलिस ने आरोपी बनाया था।

हालांकि, मजदूरी कर टीन शेड के घर में अपनी गुजर बसर करने वाले इमाम के घर में तब भी टीवी अथवा एंड्रॉयड फोन नहीं थी और आज भी नहीं है। उनके घर की कल्पना आप शहरों में बने टीन की झुग्गियों से कर सकते है।

इमाम और उनका घर

जब हम उनके घर पहुंचे तो वे अपना घर दिखाने लगे। इमाम कहते है मुझे जरा भी अंदाज़ा नहीं था कि पुलिस उन्हें क्यों गिरफ्तार कर रही है। ना मेरे घर में टीवी है और ना ही क्रिकेट मैच में मेरी कोई रूचि। मुझे तो जेल जाने के बाद पता चला कि क्यों गिरफ़्तार किया गया है। जिनके घर में टीवी है, वह भी रमजान की वजह से बंद था क्योंकि रमज़ान में लोग टीवी नहीं देखते। उन्होंने बताया कि वे मजदूरी से लौट कर इफ्तार कर घर के बाहर बच्ची के साथ खड़े थे। उन्हें क्रिकेट मैच और उसके बाद फैली अफवाह की जरा भी भनक नहीं थी। लेकिन पुलिस ने उन पर भी आरोप लगाया कि उन्होंने पाकिस्तान की जीत पर पटाखे फोड़े और जिंदाबाद के नारे लगाए। इमाम बताते हैं कि पुलिस ने उन्हें दो दिन थाने में रखा उसके बाद उन्हें जेल भेजा गया। आठ दिन उन्होंने जेल में बिताई।

उस दिन को याद करते हुए वे अपनी 9 साल की बेटी जैनब को बुलाकर उसके चेहरे पर लगी चोट के निशान हमें दिखाते हैं। इमाम बताते हैं कि 18 जून की रात वे जैनब को गोद में लेकर घर के बाहर खड़े थे। जैनब उस वक्त ढ़ाई साल की थी। तभी कुछ पुलिस वाले आए और उन्होंने नाम पूछा। जैसे ही अपना नाम इमाम तड़वी बताया वैसे ही उन्होंने जैनब को झटककर गिरा दिया और इमाम की गर्दन पकड़ ली। उन्हें आतंकवादी कहते हुए वे मारने लगे। गोद से मुंह के बल नीचे गिरने से जैनब के नाक पर चोट लग गई, उसके नाक से खून बह रहा था। वह रो रही थी, लेकिन पुलिस को दया तक नहीं आई। इममा उठाने गए तो वे उन पर टूट पड़े। बाद में पता चला कि जैनब का हाथ भी टूट गया था।

बकौल इमाम थाने में पुलिस ने उनसे पूछा कि तू नमक किसका खाता है? जब उन्होंने कहा कि अपने घर का ही नमक खाता हूं। उन्होंने कुछ नहीं किया, किसी का नमक नहीं खाया, तो बहुत देर तक पिटाई की गई। इमाम के पास जमीन नहीं है। वे मजदूरी कर 200 रुपए रोज़ कमाते हैं। हफ्ते में उन्हें रोज काम भी नहीं मिल पाता। इमाम पर मुकदमे के कारण 1.12 लाख़ का कर्ज हो गया है। उनका कहना है कि वे दो-तीन साल में सारा कर्ज चुका देंगे। वे कहते हैं "हमारे पास खाने के रुपए नहीं हैं, टीवी पर मैच देखकर पटाखे छोड़ने की हैसियत किसकी है।''

पुलिस को बताया पैर टूटा है, तो पुलिस ने वहीं लाठी मारी। इमाम से बातचीत करते-करते वहां कुछ लोग जमा हो गए। उसी भीड़ में सरफराज (38) भी मौजूद थे। इन्हें भी आरोपी बनाया गया था। जब हम मुखातिब हुए तो सरफराज ने बताया कि 18 जून की रात पुलिस को जो मिला, पुलिस उसे उठा ले गई। पुलिस ने मुस्लिमों को आरोपी और हिंदुओं को

गवाह बना दिया। सरफराज इंटरमीडिएट पास हैं। अन्य आरोपियों के मुकाबले वे पढ़े-लिखे थे। पुलिस को गांववालों और महिलाओं के साथ मारपीट करते देख सरफराज खुद को रोक नहीं पाए। उन्होंने कहा कि पुलिस वाले महिलाओं के साथ अभद्रता करते थे और घर के मर्दों की जानकारी मांगते थे। जब वे पुलिस को समझाने गए तो पुलिस ने उन्हें भी पकड़कर पीटना शुरू कर दिया। जब उन्होंने पुलिसकर्मियों को बताया कि उनके पैर में फ्रैक्चर है, मत मारिए तो उन्होंने उसी पैर पर बारह लाठियां मारी।

इस फर्जी एफआईआर में बड़ों के साथ-साथ दो नाबालिगों को भी आरोपी बनाया गया। जुबैर उनमें से एक था। 2017 में जुबैर 15 साल का था जब पुलिस उसे उठा ले गई। दो दिन तक मारपीट की और उन्हें जमानत मिल गई। जुबैर तब 9 वीं का छात्र था। केस दर्ज होने के बाद स्कूल में सब उसे आतंकवादी बुलाते थे। केस लड़ने के लिए पैसा भी चाहिए था, जो पढ़ाई लिखाई से नहीं मिल सकता था। वह मजदूरी कर उसे चुकाने में लग गया। हर हफ्ते हाजिरी लगाने थाने जाना पड़ता था, फिर हर पेशी में भी 500 रुपए खर्च होते थे। इसलिए 15 साल की उम्र में ही उसने मजदूरी शुरू कर दी। जुबैर फिलहाल इंदौर के एक दरगाह में नौकरी करता है। उसे 8000 तनख्वाह मिलती है। जुबैर का कहना है कि अगर उस वक्त पढ़ाई नहीं छूटती तो उनके पास आज कोई अच्छी नौकरी होती। जुबैर के अलावा पुलिस ने मुबारक मुशरफ को भी गिरफ्तार किया था, वह भी नाबालिग था।

इस घटना को लेकर कोऑर्डिएनेशन कमेटी फॉर इंडियन मुस्लिम्स के सेक्रेट्री मसूद अहमद खान कहते हैं कि मध्य प्रदेश में मुस्लिमों और आदिवासियों के प्रति पुलिस का रवैया हमेशा खराब रही है। मोहद गांव के मामले में कोर्ट को पुलिस के खिलाफ एक्शन लेना चाहिए। मसूद अहमद कहते हैं कि आज मीडिया जो काम कर रहा है, उसका असर सभी के दिमाग पर हो रहा है और पुलिस भी इससे अछूती नहीं है। आप देखिए मीडिया का प्रभाव वकीलों पर भी पड़ रहा है। इस केस में वकील नारेबाजी करते थे। कोर्ट को ऐसे वकीलों को चिह्नित कर बार काउंसिल को निर्देश देना चाहिए कि उनका रजिस्ट्रेशन कैंसिल किया जाए।

क्रिमिनल लॉयर निकिता सोनवाने कहती हैं कि यह कॉमन हो गया है कि पुलिस जबरन आम आदमी को शिकायतकर्ता बना देती है। लंबे समय तक केस चलता है, फिर आरोपी बरी हो जाते हैं... लेकिन जिनपर आरोप लगा उनका क्या? उन्हें और उनके परिवार को तो कष्ट झेलना पड़ता है। जेल में यातनाएं सहनी पड़ती है। निकिता कहती हैं कि सुप्रीम कोर्ट का जजमेंट भी है कि ऐसे फर्जी केस में जिन्हें फंसाया जाता है उन्हें मुआवजा मिलना चाहिए। लेकिन बहुत कम मामलों में मुआवजा मिल पाता है और पीड़ित केस लड़ने में सक्षम भी नहीं होते हैं। ऐसे में आम लोगों के लिए न्याय पाना मुश्किल हो जाता है। निकिता कहती हैं कि आरोप सिद्ध नहीं होने पर बरी हो जाना ही न्याय नहीं है। फर्जी केसों में आरोपियों को जो झेलना पड़ता है, उसका क्या? मानसिक तनाव से लेकर आर्थिक नुकसान होता है। उसका क्या? असल न्याय तो तब होगा जब बरी होने के बाद क्षतिपूर्ति की व्यवस्था हो।

My Journey: Unmasking Power, Upholding Dignity

Ruchi Verma

When I first heard about the Vikas Samvad's Samvidhan Samvad Fellowship, I didn't think twice before applying. For me, as a journalist who has spent more than a decade chasing stories, walking through government offices, and interviewing people who had silently endured injustice, this fellowship not only felt like a natural extension of my work but also, perhaps, a more purposeful version of it.

Yet, I'll be honest about the fact that I was not aware then just how much it would change me. As a journalist, I have always believed in asking questions. But on this journey of the Vikas Samvad's Samvidhan Samvad Fellowship 2022, the questions became more intimate, more urgent. This time, the questions were not just for others-they were for me, too. What does justice mean beyond a news cycle? What does it mean to be a journalist in a constitutional democracy?

Now, journalism was not just about reporting facts but about reclaiming dignity, rights, and voices that had long been silenced.

Choosing the topic: not just a project, but a promise

When it came to picking a topic for my fellowship, I knew it had to be Sexual Harassment at the Workplace against Women. And the decision was not incidental. With over 12 years in journalism, covering diverse beats such as public health, education, industrial development and women and child development, I came across many women-teachers, nurses, government officials, bank employees and domestic workers-who shared disturbing experiences with me of how their careers and spirits were wounded by the harassment they faced on the job. Some stories made it to the news. Most didn't-not because they weren't important, but because such experiences were often shared off the record, as women feared losing their jobs, their reputations or simply didn't believe the system would protect them.

Introduction

Ruchi Verma is a bilingual journalist with over 14 years of experience in media, public relations, and socio-economic issues, having worked with DB Post (Dainik Bhaskar), Free Press, and the Health Journalism Network. She is currently freelancing with various English platforms. Her reporting focuses on health, gender, and development. As a constitutional fellow, she has focused on workplace gender justice-using journalism as a tool for public accountability and social transformation. In this fellowship, Ruchi Verma has done research work on sexual harassment against women at workplace.

Some cases still haunt me-like the government employee and mother to a small girl who stopped smiling after filing a complaint and being transferred to a remote district, or the 58-year-old factory worker who experienced hell on her job after her supervisor started "visiting" her desk a little too often. These weren't just incidents. They were ruptures in dignity, quiet exits from the constitutional promises our country proudly proclaims. In most of the cases, justice remained a distant hope.

Moreover, I was troubled by the media's selective amnesia-how quickly headlines faded and how rarely systemic solutions were pursued. Reporting sexual harassment sensitively and persistently remains a gap in our newsrooms. Through this fellowship, I wanted to correct that, however small my contribution may be. I saw this opportunity as a way to restore the dignity of workplace conversations, make institutional accountability visible and push for stronger implementation of laws like the POSH Act.

From reporter to constitutional witness

I have to admit, when I joined the fellowship, I thought I already understood the Constitution. After all, I had read the Preamble. I knew the articles. I could quote Ambedkar. But through this fellowship, I began to see those words not just as law but as lived experiences-or rather, as broken promises in the lives of ordinary women.

I began asking myself different kinds of questions: Can we really say a woman is equal under Article 14 when her male boss gets away with sending her vulgar messages? Is Article 21, which talks about dignity, even relevant if a woman has to resign from her job to protect herself from harassment? Does Article 19(1)(g)-the right to practice any profession-mean anything when women feel unsafe just by showing up at work? This shift was subtle at first, but over time, it became profound. I no longer saw harassment as just a crime or a scandal. I saw it as a violation of constitutional faith. And that understanding gave me a new kind of clarity and a heavier kind of responsibility.

Reading judgments like the Vishaka Guidelines case and the more recent Supreme Court statements on POSH compliance made it clear that the judiciary had spoken-but the streets, the offices and the shop floors had not yet listened. We were, and still are, far from translating legal text into lived realities.

What the field taught me: stories that stayed

As part of my research, I met dozens of women from different sectors-hospitals, schools, factories, courts and private companies.

Some of these interviews I will never forget.

Like the group of nurses at a government hospital in Bhopal who, tired of bearing their senior's comments and advances, came together to file a complaint. There was strength in their unity but fear in their eyes. They didn't know what would happen next-whether they'd be believed or punished. One victim, in a voice barely above a whisper, asked me, "But who do I complain to when the system is not listening?"

Her question hit me hard. It wasn't just about committees or posters. It was about visibility, about belonging, about rights that felt too far away. These women weren't just victims. They were fighters navigating a system rigged against them.

The Systemic Silence: More Than Just A Few Rotten Apples

One of the goals of the fellowship was to examine the issue from a constitutional and institutional angle. And that meant digging into the POSH Act-its history, structure and how it's actually working on the ground.

What I found was both eye-opening and heartbreaking:

Many organizations didn't even have Internal Committees.

Others had them in name only, with members unaware of their roles or protocols.

Several were headed by men-directly or indirectly (which violates the Act).

Most women I met didn't know what the Act was, let alone how to file a complaint.

Even institutions that considered themselves progressive often had deep gaps between policy and practice. In one office I visited, posters of the POSH policy were visible-but not one female staff member I spoke to knew who the committee members were.

And those in the informal sector? They were invisible. POSH, for them, was just another fancy word.

It became clear that compliance was not the same as commitment. Posters on walls were not enough. The law could not protect what it couldn't reach.

What it felt like: the journalist in me, the woman in me

There were many moments during this fellowship when I felt a heavy mix of emotions-frustration, sadness, guilt and sometimes, helplessness.

As a journalist, I've always tried to maintain objectivity. But this time, it wasn't just research. It was personal.

I would come home from fieldwork and sit quietly for hours, thinking of the women I met-what they had gone through, what they had left unsaid. Their pain sat with me, and I tried to carry it into my writing.

I realized that behind every statistic was a story, and behind every story was a system that had either failed or looked away. That realization changed me.

But it also gave me purpose. It reminded me that storytelling isn't just about reporting-it's about restoring dignity, restoring truth and sometimes, restoring belief in justice.

Learning from other fellows and mentors: many struggles, one constitution

One of the most powerful aspects of the fellowship was the chance to meet other fellows working on different issues-problems of workers from unorganised sectors, Dalits, farmers, tribal communities and more.

Their stories and research taught me that injustice rarely comes alone. It wears many faces-caste, class, gender, language, location. And all of them are tied together by the same thread: the failure to honour the Constitution in real life.

One fellow was working on the exploitation of migrant workers in Madhya Pradesh. Another was documenting the health crises of adolescent girls in tribal schools. In their narratives, I saw a mirror of mine. We were all fighting the same battle: to remind institutions that the Constitution is not optional. Listening to them gave me perspective. My fight wasn't in isolation. It was part of a larger chorus of voices calling for accountability, empathy and change.

My Experience with Mentors and Learning Spaces

A major highlight of this fellowship was the invaluable mentorship I received. The mentors weren't just guides-they were co-travellers, nudging us to dig deeper, ask harder questions and think constitutionally even when it was uncomfortable. They did not give us answers-they helped us refine our questions. In long conversations, informal chats and structured workshops, they taught me

how to connect lived realities to the letter and spirit of the law.

Our visits to learning spaces like Wardha-with its rich legacy of Gandhian thought and constitutional activism-were deeply impactful. Walking through those spaces, talking to people who had spent decades fighting for rights and engaging with local activists rooted in grassroots struggles gave me both context and clarity. It reminded me that the Constitution lives not in Delhi alone, but in the everyday struggles of people in villages, fields and factory gates.

What the fellowship gave me

This journey gave me more than a research report or a byline. It gave me:

★ A deeper understanding of constitutional values, beyond textbooks. The courage to ask uncomfortable questions, even in my own profession. A renewed belief in journalism as a tool not just for news, but for justice. The humility to listen without agenda and speak without fear.

★ And perhaps most importantly, it gave me a community of change-makers I now call my tribe.

What I carry forward

As I stepped out of the fellowship, I carried with me stories-some painful, some powerful, all unforgettable.

I want to do more. I want to:

★ Build a platform where survivors can share their stories anonymously, yet be heard and supported.

★ Advocate for real POSH implementation in workplaces-especially in the informal sector.

★ Train journalists in trauma-informed reporting of sexual harassment cases.

★ Collaborate with organizations to create safe, inclusive and gender-just workspaces.

★ Keep asking the hard question: "Is this system constitutional in spirit, or just in name?"

★ Launch awareness campaigns in local languages that explain women's rights in simple, accessible ways.

The end that really was a beginning

The Vikas Samvad's Samvidhan Samvad Fellowship didn't end for me when the final report was submitted. In fact, that's when it truly began-when the stories I heard and the questions I asked started shaping the way I look at every institution, every policy and every headline.

This wasn't just research. It was a reckoning.

It reminded me that we cannot build a constitutional democracy unless we centre dignity in every interaction, every workplace and every law.

It reminded me that behind every silent woman at work is a society too loud in judgment and too quiet in justice.

And above all, it reminded me that change begins not with power, but with courage.

And I'm here to be part of that courage-not just with words, but with action.

मेरी यात्रा: जमीन विवाद और संवैधानिक मूल्यों की जमीन

सतीश भारतीय

संविधान फैलोशिप की इस यात्रा का आगाज सितबंर 2022 में हुआ था। यह फैलोशिप संविधान को समझने और संवैधानिक मूल्यों के प्रति जागरूकता पैदा करने, उन्हें जमीन पर उतारने का एक जरिया रही है। यह फैलोशिप एक ऐसी यात्रा रही जिसमें हमें संविधान और संवैधानिक मूल्यों को करीब से देखने का अवसर मिला। फैलोशिप के पहले मैं संविधान और संवैधानिक मूल्यों को एक पाठक के रूप में समझता था।

परिचय

स्वतंत्र पत्रकार और लेखक सतीश भारतीय ने अपनी पत्रकारिता की शुरुआत मैदानी मुद्दों पर कार्य के साथ की थी। सतीश भारतीय सामाजिक न्याय और मानवाधिकार के मुद्दों पर जनचौक, द वायर, न्यूक्लिक, एनडीटीवी, सत्य हिंदी, आईडीआर, द रूरल वाईस, फारवर्ड प्रेस, द मूकनायक, गांव के लोग जैसे विभिन्न मीडिया प्लेटफॉर्म में रिपोर्टिंग और लेखन करते आ रहे हैं। इस फैलोशिप के अंतर्गत सतीश भारतीय ने विकास परियोजनाओं, विस्थापन और उससे जुड़ी समस्याओं पर अध्ययन किया है।

नागरिक बनने का बोध

फैलोशिप की सालभर की यात्रा से हमें यह सीखने मिला कि संविधान और संवैधानिक मूल्य हमारे आचरण, व्यवहार और कर्म का मूल आधार हैं। संविधान और संवैधानिक मूल्यों को हमारा आचरण, व्यवहार और कर्म लगातार प्रभावित करता आ रहा है, जिससे समाज में ऊंच-नीच गैर-बराबरी, सामाजिक-आर्थिक असमानता जैसी विभिन्न खाइयां मौजूद हैं। इन जटिलताओं को हम संवैधानिक मूल्यों के फैलाव से समाप्त कर सकते हैं और परंपराओं के अंधकार में जकड़े समाज को बदलने की राह पर ला सकते हैं।

इस फैलोशिप यात्रा में हमने एक अनुभव यह किया कि जब परियोजनाओं में लोगों की जमीन अधिगृहीत कर उन्हें विस्थापित किया जाता है। तब कई बार पुनर्वास नीतियों का पालन नहीं किया जाता है, जिससे विस्थापितों का पुनर्वास नहीं हो पाता। ऐसे में लोगों के जीवन जीने की स्वतंत्रता, व्यक्ति की गरिमा को ठेस पहुंचती है।

ग्राउंड रिपोर्टिंग के दौरान यह ज्ञात हुआ कि जमीन अधिग्रहण जैसे मामले में लोग अपनी जमीन परियोजनाओं को देने के लिए तैयार नहीं होते हैं। यदि तैयार होते हैं, तब उनकी मांग रहती है कि उन्हें जमीन के बदले जमीन दी जाए या फिर इतना मुआवजा दिया जाए कि लोग जितनी जमीन अधिगृहीत की जाती है, उतनी जमीन खरीद पाएं। लोगों की यह मांग उनके साथ आर्थिक न्याय जैसे संवैधानिक मूल्य का पक्षधर होती है।

...लेकिन लोगों की इस वाजिब मांग को नजरअंदाज किया जाता है और कम मुआवजा दिया जाता है, मुआवजे में लोगों के पेड़ों का या तो मुआवजा दिया नहीं जाता या कम दिया जाता है। ऐसे में लाखों रुपए के फल, फूल, लकड़ी देने वाले पेड़ों का उचित मुआवजा न मिलने से लोगों पर आर्थिक अन्याय का संकट दिखाई देता है।

विकास परियोजनाएं लोगों के विकास के लिए लाई जाती हैं। लेकिन इन परियोजनाओं में जिन हाशिए के लोगों की जमीन अधिग्रहण की जाती है, वे खुद के लिए ऐसी परियोजनाओं को विनाशक मानते हैं, क्योंकि ऐसी परियोजनाएं लोगों का घर, जमीन एवं अन्य संसाधन लील जाती हैं और बदले में लोगों के साथ गरिमापूर्ण न्याय नहीं कर पाती है।

लोगों का इन परियोजनाओं को लेकर एक नजरिया यह है कि ऐसी परियोजनाएं गरीब, संसाधनहीन, कम खेती वाले किसानों की भूमि पर से ही गुजारी जाती हैं और जबरन उन्हें विस्थापित किया जाता है। ये परियोजनाएं नेताओं, आर्थिक तौर पर मजबूत लोगों की जमीनी पर क्यों नहीं निकाली जाती हैं। यहां समानता जैसे संवैधानिक मूल्य का ध्यान नहीं रखा जाता।

मुझे जमीन विवाद जैसे विषय में एक गंभीर समस्या जमीन पट्टे की भी नजर आई। जमीन पट्टे की समस्या विभिन्न जिलों में सालों से चली आ रही है। लोग कई पीढ़ियों से सरकारी जमीनों पर खेती करते आ रहे हैं, लेकिन उन्हें पट्टा प्रदान नहीं किया गया। ऐसे लोग पट्टा प्राप्ति के लिए शासन-प्रशासन को सालों से ज्ञापन भी देते आए हैं, लेकिन उन्हें पट्टा नहीं दिया गया। ऐसे लोगों के शासन-प्रशासन, सरकार के प्रति विश्वास जैसे संवैधानिक मूल्य का ह्रास होता है। साथ-साथ लोगों का न्याय जैसा संवैधानिक मूल्य भी प्रभावित होता है।

फैलोशिप की इस यात्रा में एक पत्रकार के तौर पर खबरों को देखने का मेरा नजरिया बदला है। पहले मेरी ग्राउंड रिपोर्ट में मूल रूप से संविधान की बहुत कम भूमिका रहती थी, लेकिन फैलोशिप के दौरान मैंने समझा और जाना कि खबरों में संवैधानिक मूल्यों का हनन दिखाई देता है और खबर किसी न किसी संवैधानिक मूल्य से जुड़ी होती है। बस हमें देखने का एक नजरिया चाहिए।

फैलोशिप की यह यात्रा मेरी पत्रकारिता संबंधी समझ में बढ़ोतरी करने के साथ-साथ जीवनभर पत्रकारिता कार्य में संवैधानिक मूल्यों के हनन का दृष्टिकोण बनाए रखेगी और इजाफा करेगी। यह यात्रा केवल इस फैलोशिप तक सीमित नहीं रहेगी, बल्कि जीवनभर हमें संवैधानिक मूल्यों और संविधान के प्रति समझ विकसित करने, लोगों में जागरूकता पैदा करने और संवैधानिक मूल्यों को मजबूत करने के लिए प्रेरित करती रहेगी।

संविधान फैलोशिप में मेरा विषय जमीन विवाद रहा। जमीन विवाद हमें जमीन अधिग्रहण और जमीन कब्जा की वजह से उत्पन्न हुए जन-आंदोलन, विरोध प्रदर्शन की स्थिति में दिखाई देता है। जमीन विवाद के चलते रोजाना मारकाट की खबरें हमारे सामने होती हैं। जमीन विवाद कई बार तो इतना व्यापक रूप ले लेता है कि लोग धरना, प्रदर्शन, अनशन और अभियान खड़े कर देते हैं। तब भी जमीन विवाद का हल नहीं हो पाता है। यह जमीन विवाद अक्सर ऐसे वर्गों पर ज्यादा नजर आता है, जो संसाधनहीन हैं, जिनमें आदिवासी और दलित समुदाय के लोग ज्यादातर आते हैं। जब कोई पानी, बिजली जैसे अन्य स्रोतों के लिए परियोजना लाई जाती है, तब अक्सर आदिवासी, दलित जैसे अन्य हाशिए के समुदायों की जमीन को अधिगृहीत किया जाता है। मजबूत वर्ग, प्रशासनिक-राजनीतिक लोगों की जमीन को विकास परियोजनाओं में अधिगृहीत नहीं किया जाता।

जमीन विवाद पैदा कैसे होता है, इसे हम ऐसे समझ सकते हैं कि जब किसी परियोजना में लोगों की जमीन का अधिग्रहण किया जाता है और लोगों को विस्थापित किया जाता है, तब उन्हें जमीन का उचित मुआवजा नहीं दिया जाता, उन्हें जमीन नहीं दी जाती, आवास नहीं दिया जाता, लोगों के रोजगार के साधन छिन जाते हैं, लोगों को पानी, बिजली, स्वास्थ्य, जैसी उपयुक्त विभिन्न नागरिक सुविधाएं नहीं दी जातीं। ऐसी स्थिति में, विस्थापितों द्वारा अपनी जमीन की मांग को लेकर परियोजना और सरकारों का विरोध करना जमीन विवाद की स्थिति बना देता है। वहीं जहां दबंगों या अन्य किसी द्वारा जब

लोगों (भू-स्वामियों) की जमीनों पर कब्जा किया जाता है, तब अपनी जमीन के अधिकार की आवाज़ उठाना भी जमीन विवाद के रूप में दिखाई देता है। भारत में जमीन विवाद इतना भयानक रूप ले चुका है कि एक-एक फीट जमीन के लिए भी लोग एक-दूसरे की जान ले लेते हैं, जिससे आपसी सद्भाव, भाईचारा संकटग्रस्त हो जाता है।

जब परियोजनाओं में आदिवासी, दलित जैसे अन्य समुदायों की जमीन अधिगृहीत की जाती है, तब लोगों की समाजिक एकता, आर्थिक, सांस्कृतिक, पर्यावरणीय स्थिति, रोजगार, बच्चों का भविष्य, मवेशियों के संरक्षण एवं अन्य महत्वपूर्ण बातों का ध्यान नहीं रखा जाता, न ही निरीक्षण किया जाता है, जिससे दशकों से बसे लोगों का समग्र बिखराव हो जाता है और लोग दर-दर की ठोकरें खाने को मजबूर हो जाते हैं।

जब हम जमीन विवाद जैसे जटिल मुद्दों में संवैधानिक मूल्य संबंधी पहलू देखते हैं, तब आर्थिक एवं न्याय जैसे महत्वपूर्ण विषय नजर आते हैं। जमीन विवाद में विस्थापन और अधिग्रहण प्रक्रिया में सरकार की लोगों को उचित मुआवजा देने की मंशा कम ही नजर आती है। इसका एक उदाहरण पेंच परियोजना (छिंदवाड़ा) है। यहां दलित-आदिवासी लोगों को बहुत कम मुआवजा दिया गया है। उपयुक्त मुआवजा हेतु सुप्रीम कोर्ट में केस भी चल रहा है।

दूसरा, जमीन विवाद में सबसे अधिक समाजिक न्याय जैसा संवैधानिक मूल्य जुड़ा होता है। जब जमीन अधिग्रहण होता है, तब लोगों का समाजिक ताना-बाना टूट जाता है। एक सामाजिक बिखराव की हालत हमें दिखाई देती है। ऐसे में समाजिक न्याय जैसा संवैधानिक मूल्य बहुत प्रभावित होता है। इसका भी उदाहरण पेंच परियोजना है। जहां के गांव विस्थापित हुए, तब उनका सामाजिक विखंडन और सामाजिक ताना-बाना बिखर गया।

जमीन विवाद की स्थिति को लोगों और सामाजिक कार्यकर्ताओं द्वारा बार-बार ज्ञापनों, आवेदनों और प्रार्थना के माध्यम से प्रशासन के सामने लाया जाता है, लेकिन कई बार प्रशासन इन पत्रों का कोई जवाब नहीं देता। साथसाथ प्रशासन की उदासीनता भी नजर आती है। ऐसे में जमीन विवाद से पीड़ित लोगों के संवैधानिक मूल्य का हनन दिखाई देता है। राष्ट्र के विकास का हवाला देकर जो परियोजनाएं स्थापित की जाती हैं, उनमें अक्सर यह देखने को मिलता है कि जमीन अधिग्रहण प्रक्रिया में जो अधिनियम और प्राविधान होते हैं, उनका उचित ढंग से पालन नहीं किया जाता है, जिससे जमीन विवाद से पीड़ित लोगों के विधि के समक्ष समता (समानता) का संवैधानिक मूल्य संकट में होता है। इसके उदाहरण के रूप में हम बसनिया बांध (मंडला) के मामले को देख सकते हैं। यहां के लोग सालों से बसनिया बांध में जमीन अधिग्रहण के खिलाफ ज्ञापन देते आ रहे हैं, लेकिन प्रशासन की तरफ से कोई उत्तर नहीं आता है।पेंच जैसी जलापूर्ति परियोजनाओं में जमीन अधिगृहीत कर लोगों को बलपूर्वक विस्थापित किया जाता है। इस प्रक्रिया में वैयक्तिक गरिमा जैसे संवैधानिक मूल्य की नजरअंदाजगी दिखाई देती है। पेंच के लोग बताते हैं कि हमारे साथ जमीन अधिग्रहण मामले में अभद्रता और मारपीट की गई। हमें घर और दुकान का समान भी नहीं उठाने दिया। सब पेंच में डूब गया।

जमीन विवाद जैसे मुद्दे में प्रभावित होने वाला एक संवैधानिक मूल्य बंधुता है। बंधुता जैसे संवैधानिक मूल्य का उदाहरण चुटका परियोजना में लोगों की वाजिब मांगों को न स्वीकारना से लिया जा सकता है। लोगों की मांगों को नजरअंदाज करना प्रशासन और लोगों के बीच बंधुता को प्रभावित करता है।

जमीन विवाद जैसे विषय में स्वतंत्रता, समानता, न्याय जैसे कई संवैधानिक मूल्य संबंधी पहलू हैं, जो यह बताते हैं कि जमीन विवाद जैसे गंभीर विषय लोगों के जीवन को प्रभावित करते हैं, जो उनके संवैधानिक मूल्यों का हनन है। लोग अपने मूल्यों के संरक्षण की गुहार लगाते रहते हैं, लेकिन उनके हाथ अपने जीवन मूल्यों के संरक्षण की सुनिश्चितता के इंतजार में ही जीवन बिताने की गारंटी लगती है।

संवैधानिक मूल्यों के प्रति मेरी समझ

संवैधानिक मूल्य जीवन के असाधारण मूल्य हैं। सन 1947 में भारत देश ब्रिटिश दासता, शोषण, अत्याचार से आजाद हुआ। तब देश को चलाने के लिए भारतीय संविधान लिखा गया। इस संविधान की प्रस्तावना में लोगों को देश का कुशल नागरिक बनाने के लिए स्वतंत्रता, समानता, न्याय जैसे अन्य संवैधानिक मूल्य दर्ज किए गए। ये संवैधानिक मूल्य न सिर्फ देश के किसी भी नागरिक को गरिमामयी जीवन जीने का अधिकार देते हैं, बल्कि ये नागरिकों के हितों के सरंक्षण के रूप में भी विद्यमान हैं। संवैधानिक मूल्य की जिम्मेदारी और पालन हमारी नैतिकता पर निर्भर है। ऐसे में अक्सर हमें हमारे द्वारा बोले जाने वाले शब्दों और किए जाने वाले कार्यों में संवैधानिक मूल्य का पालन नजर नहीं आता है। वहीं, संविधान लागू होने के सात दशकों के उपरांत भी संवैधानिक मूल्यों पर सामाजिक ताने-बाने और कुप्रथाएं हावी हैं।

इस स्थिति में यह प्रश्न उठना लाजमी हो जाता है कि संवैधानिक मूल्यों पर आज सामाजिक कुप्रथाएं क्यों हावी है? तब इसके मूल कारण भी समझ में आतें हैं कि संवैधानिक मूल्यों का क्रियान्वयन उचित ढंग से नहीं किया गया है। इससे यह प्रतीत होता है कि संविधान निर्माताओं की परिकल्पना आज भी अधूरी है। ऐसे में सरकार से लेकर देश के हर नागरिक को संवैधानिक मूल्यों के प्रति नैतिक तौर से जिम्मेदार होना पड़ेगा। तब कहीं न्याय, स्वतंत्रता, समानता जैसे अन्य संवैधानिक मूल्य जमीन पर पहुंच पाएंगे।

फैलोशिप के पूर्व और फैलोशिप के दौरान संवैधानिक मूल्यों का एहसास

इस फैलोशिप से पूर्व संवैधानिक मूल्यों को मैं उतना ही समझता था, जितना एक विद्यार्थी संवैधानिक मूल्यों को संविधान की प्रस्तावना, अन्य में सामान्य तौर पर पढ़ता है, लेकिन यह फैलोशिप संवैधानिक मूल्यों को समझने, अनभुव करने और ग्रहण करने, संवैधानिक मूल्यों के प्रति आमजन की समझ विकसित करने, संवैधानिक मूल्यों के पालन को और दृढ़ करने के लिहाज से लिए मेरे एक महत्वपूर्ण अवसर रहा है। इस अवसर ने मुझे एक कर्तव्यनिष्ठ नागरिक होने का बोध कराया है। फैलोशिप की शुरूआत में संवैधानिक मूल्यों के प्रति मेरी समझ में तब निखार आया, जब मैंने संविधान की किताब 'जीवन में संविधान' (संविधान को लेकर काम कर रहे सचिन जैन जी द्वारा लिखित) का अध्ययन किया। किताब में सामाजिक, शैक्षिक अन्य समस्याओं पर कहानियां हैं। कहानियों में बताया गया कि कैसे नागरिकों के संवैधानिक मूल्यों का हनन होता है। किताब काफी रोचक और सरल है। इसके पश्चात जब संवैधानिक मूल्यों पर आधारित ग्राउंड रिपोर्टिंग की, तब यह आभास हुआ कि कैसे लोगों के संवैधानिक मूल्यों का हनन हो रहा है, जिससे लोगों के गरिमामय जीवन पर सकंट छाया हुआ है।

जैसा कि मैं ऊपर जिक्र कर चुका हूं कि संवैधानिक मूल्यों को लेकर मैंने 'जमीन विवाद' जैसा विषय चुना है। यह विषय इसलिए चुना, क्योंकि जमीन विवाद एक ऐसा गंभीर मुद्दा है, जिसमें सबसे ज्यादा हत्याएं होती हैं। वहीं, जमीनी विवाद की घटनाएं इतनी ज्यादा घटती हैं कि आए दिन हमें अखबारों की सुर्खियों में देखने को मिलती हैं। इस फैलोशिप में जमीन विवाद विषय पर रिपोर्टिंग करने पर मुझे एहसास हुआ कि खासतौर पर आदिवासी, दलित एवं हाशिए पर बैठे अन्य समुदायों की जमीनों को सरकार राजमार्ग, बांध निर्माण जैसी विभिन्न परियोजनाओं में अधिगृहीत कर लेती हैं, लेकिन उनके साथ आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक न्याय नहीं किया जाता है, इससे लोगों के जीवन जीने की स्वतंत्रता, व्यक्ति की गरिमा जैसे विभिन्न संवैधानिक मूल्यों का हनन होता है। लोग अपने संवैधानिक मूल्यों की गुहार लगाते रहते हैं, लेकिन बहुत हद तक इनके साथ न्याय नहीं हो पाता है। कई बार तो लोगों की जमीनों पर जो परियोजनाएं स्थापित की जाती हैं, उन परियोजनाओं की तय नीतियों का पालन नहीं होता। ऐसे में निश्चित तौर पर लोग विधि के समक्ष समता जैसे संवैधानिक

मूल्य से वंचित हो जाते हैं। ऐसे में लोग, विधि के समक्ष समता जैसे अधिकार के पालन के लिए गुहार लगाते दिखाई देते हैं।

वहीं, जमीन विवाद के अंतर्गत लोगों को भू-अधिकार पत्र प्राप्ति की भी समस्या लगातार बनी हुई है। भू-अधिकार पत्र न मिलने से व्यक्ति के गरिमापूर्ण जीवन जीने की स्वतंत्रता पर संकट नजर आता है, जबकि लोगों को अपने साथ आर्थिक न्याय का भी संकट दिखाई देता है।

संवैधानिक मूल्य की समझ के आधार पर कार्य में बदलाव

संवैधानिक मूल्यों की समझ के आधार पर मैंने अपने पत्रकारिता कार्य में संवैधानिक मूल्यों को कनेक्ट करने की एक कोशिश की है और जैसा कि मुझे लगता है पत्रकार का अधिकार है सवाल-जवाब करना, ऐसे में मेरे द्वारा सवाल-जवाब में संवैधानिक मूल्यों को ध्यान रखने का भाव जाग्रत हुआ है। मैं कोशिश करता हूं, कि यह भाव मेरी रिपोर्टिंग में झलके। मैं जहां तक संवैधानिक मूल्यों को समझ रहा हूं, उसको लेकर एक कोशिश भी करता हूं कि जहां तक संभव हो, मैं लोगों को उनके संवैधानिक मूल्यों के प्रति जागरूक करूं।

"जो दुःख देगा अन्य को, स्वयं करे दुःख-भोग।
दुःख-वर्जन की चाह से, दुःख न दें बुध लोग॥

माने नहिं पर दुःख को, यदि निज दुःख समान।
तो होता क्या लाभ है, रखते तत्वज्ञान॥

बुरा किया तो कर भला, बुरा भला फिर भूल।
पानी पानी हो रहा, बस उसको यह शूल॥

चौर्य-कर्म प्रति हैं जिन्हें, रहती अति आसक्ति।
मर्यादा पर टिक उन्हें, चलने को नहिं शक्ति॥

है गफलत की ताक में, पर-धन की है चाह।
दयाशीलता प्रेम की, लोभ न पकड़े राह॥"

– तिरुवल्लुवर

बुंदेलखंड: जहां मौत 'डेली का मामला' है...

सतीश मालवीय

बुंदेलखंड में पैसों के पहाड़ हैं। ये पहाड़ खरीदे जाते हैं, बेचे जाते हैं। फिर इनसे पैसे बनाए जाते हैं। कई खरीदे जा चुके हैं, कई खरीदे जाने बाकी हैं। इन पहाड़ों में अवैध खनन से ग्रेनाइट निकलता है और हादसों से इंसानों की लाशें। फर्क बस इतना है कि ग्रेनाइट का तो एक-एक ग्राम हिसाब रखा जाता है, लेकिन मौतों का हिसाब यहां नहीं रखा जाता। हिसाब क्या, मौतें दर्ज तक नहीं की जाती हैं, क्योंकि मरने वाले आम लोग हैं, गरीब हैं, मजदूर हैं।

बहुत दिन नहीं हुए जब बुंदेली चूहा सुरंग विधि, यानी रैटहोल माइनिंग की खूब चर्चा हुई थी। मध्यप्रदेश के टीकमगढ़ और पश्चिमी उत्तरप्रदेश के कुछ ऐसे खनन मजदूरों के नाम सामने आए थे, जिन्होंने अमेरिकी मशीन फेल हो जाने पर, महज 25 घंटे में पहाड़ को खोदकर 17 दिन से फंसे हुए 41 मजदूरों को उत्तरकाशी की सिलक्यारा सुरंग से बाहर निकाला था। साल बीतते-बीतते बहादुरी की ये दास्तानें तो पृष्ठभूमि में चली ही गईं, लेकिन किसी ने पलटकर यह जानने की कोशिश नहीं की कि दिल्ली से दूर अपने गांवों के पहाड़ों में इन मजदूरों की जिंदगी कैसे कट रही है, कैसे घट रही है।

विडंबना यह है कि बुंदेलखंड के जो मजदूर हाथ से खुदाई के लिए उत्तराखंड में मशहूर हुए, वे अपने यहां बरसों बरस से ड्रिलिंग मशीनों और विस्फोटकों की भेंट चढ़ते आ रहे हैं। बुंदेलखंड स्थित टीकमगढ़, छतरपुर, महोबा, बांदा की पहाड़ियों में फल-फूल रहे वैध-अवैध ग्रेनाइट और स्टोन क्रशर उद्योग में खनन ठेकेदारों, खनन कंपनियों एवं प्रशासन की मिलीभगत से जो पैसा बनाने का कारोबार चल रहा है, वे अब तक कई जिंदगियां लील चुका है। हर हफ्ते लोग मारे जा रहे हैं।

परिचय

सतीश मालवीय बीते 3 वर्ष से पर्यावरण, जलवायु, नदियों और आदिवासियों से संबंधित मुद्दों पर रिपोर्टिंग कर रहे हैं। सतीश मालवीय वेडिटम इंडिया फाउंडेशन और आउट ऑफ इडन वॉक के सहयोग से वॉक अलॉग द रिवर फैलोशिप का भी हिस्सा रहे हैं। इस कार्य के दौरान सतीश मालवीय ने भारतीय मरुस्थल की एक नदी लूनी के संग पैदल यात्रा की है। पत्रकारीय सरोकारों के तहत सतीश मालवीय मध्यप्रदेश में नर्मदा, केन और बेतवा नदी की पैदल यात्रा कर कर चुके हैं। इस फैलोशिप के तहत सतीश मालवीय ने व्यक्ति की गरिमा विषय पर अध्ययन किया है।

दुर्भाग्य यह है कि ये मौतें कहीं उस रूप में दर्ज नहीं हैं कि इन्हें कार्यस्थल पर सुरक्षा में लापरवाही के चलते हुई मौत ठहराकर मालिकान के खिलाफ इंसाफ की लड़ाई लड़ी जा सके, क्योंकि कुछ वैध और कुछ अवैध तरीके से हर तरह के कानून को ताक पर रखकर यहां धंधा किया जाता है। पहाड़वालों (बुंदेलखंड में लोग क्रशर और खनन कंपनियों को यही कहते हैं) के आगे कोई कानून नहीं चलता। नतीजतन, पुराने पहाड़ झरते जाते हैं और मौत का समानांतर पहाड़ खड़ा होता जाता है।

अपनी जान अपने जिम्मे

उत्तरकाशी की सुरंग में घटे हादसे से दस दिन पहले की बात है। तारीख 2 नवंबर 2023 की, जब मध्यप्रदेश विधानसभा

के चुनाव प्रचार का दौर जोरों पर था। हम छतरपुर के प्रकाश बम्होरी इलाके की तरफ बढ़ रहे थे। रास्ते में चुनाव प्रचार करने वाली राजनीतिक दलों की गाड़ियां भी धूल उड़ाती जाने किधर भागी जा रही थीं।

यहां दो दिन पहले ही, यानी 31 अक्टूबर 2023 को एक मौत हुई थी। बदौराकलां गांव की मां भद्रकाली खदान में पहाड़ से गिरकर 27 वर्षीय मजदूर टिंकू रेकवार की जान चली गई थी। इस इलाके में पिछले तीन महीनों में पहाड़ से गिरकर किसी मजदूर की यह तीसरी मौत थी, लेकिन चुनाव प्रचार में लगे नेताओं को इन मौतों से कोई सरोकार नहीं था। किसी भी राजनीतिक दल के वाहन का रुख इन मजदूरों के घर की तरफ नहीं था।

गांव पलटा और बदौराकलां का रास्ता प्रकाश बम्होरी से होकर जाता है। यहां पहुंचने के लिए एक ही सड़क है। सड़क पर सफेद धूल की मोटी परत जमी हुई थी, जिसने सड़क के बड़े-बड़े गड्ढों को ढंक रखा था। जब भी कोई वाहन यहां से गुजरता है, हवा में धूल फैल जाती है और आगे का रास्ता धुंधला हो जाता है। धूल में छुपे सड़क के गड्ढों और बेतरतीब ढंग से भागते दैत्याकार हाइवा डंपरों के कारण यहां चलना असमय मौत को न्योता देने जैसा लगता है।

धड़धड़ाते डंपरों के बीच चलना मौत को न्योता देना

हमारा स्थानीय सूत्र घटनाओं की गंभीरता और यहां के माहौल को अच्छे से जानता है। इसीलिए हमसे वे इस इलाके में प्रवेश करने से पहले प्रकाश बम्होरी थाना प्रभारी छत्रपाल सिंह से इजाजत लेने की बात करता है। हम थाना प्रभारी से 31 अक्टूबर को हुई टिंकू की मौत पर बातचीत करना चाहते थे, लेकिन छत्रपाल सिंह उसे महज एक हादसा बताते हुए हमसे साफ कहते हैं, 'मैं आपको वहां जाने की इजाजत नहीं दे सकता। अगर आप जाना ही चाहते हैं, तो खूब जाइए, पर आपके साथ कोई घटना घटती है, तो मैं जिम्मेदारी नहीं लूंगा, माहौल सही नहीं है यहां।'

थाना प्रभारी का रुख साफ था। हमारे इरादे भी ठोस थे। प्रकाश बम्होरी से पलटा की ओर निकलते ही सड़क के दोनों तरफ बड़े-बड़े गिट्टी के ढेर, स्टोन क्रशर और गहरी-गहरी खदानें दिखना चालू हो जाती हैं। प्रकाश बम्होरी से घटहरी और बदौराकलां के बीच तीस से ज्यादा खदानें और स्टोन क्रशर हैं। कुल 40 की संख्या बताई जाती है। बड़े-बड़े पहाड़, जो कभी यहां आसमान की तरफ सीना तानकर खड़े थे, अब वे गिट्टी के ढेर में बदले नजर आते हैं। जमीन, पाताल को छू रही गहरी खदानों तक पहुंच चुकी है, लेकिन पलटा गांव तक विकास वाली सड़क अब तक नहीं पहुंची है। गांव में गलियां हैं और गलियों में कीचड़ ही कीचड़।

पलटा में एक मौत

टिंकू के घर का माहौल गमजदा था। दालान में कुछ औरतें बैठी हुई थीं। कुछ लोग घर के आगे चबूतरे पर बैठे थे। उनमें टिंकू के दादा जल्लू रेकवार भी थे। शुरू में लोग हमसे बात करना नहीं चाहते थे। फिर धीरे-धीरे घटनाक्रम को लेकर भयावह विवरण सामने आने लगे।

पलटा गांव में गलियां हैं और गलियों में कीचड़ ही कीचड़

टिंकू के पिता मेवाराम ने बताया, 'मैं अपने खेत में काम कर रहा था, तभी मेरा भतीजा मोटरसाइकिल से आया और कहने लगाजल्दी चलो, खदान में कुछ हुआ है। मैं काम छोड़कर भागा। जब वहां पहुंचा, तो बहुत भीड़ लगी हुई थी। हम उसे जिंदा नहीं पा सके। लोग बता रहे थे कि वो 700 फुट ऊंचे पहाड़ से गिरा था। उसे पहाड़ में होल करने इतना ऊपर चढ़ाया गया था। अगर हमें पता होता कि इतना जोखिम भरा काम है, तो हम कभी नहीं जाने देते। वे तो केवल सफाई का काम

करता था वहां। बस पेट पालने के लिए वे यह काम कर रहा था। दो महीने पहले ही दिल्ली से काम छोड़कर आया था।'

टिंकू के दो छोटे बच्चे हैं। बच्चों और टिंकू की पत्नी अंजना को फिलहाल मायके भेज दिया गया है, यह बताते हुए मेवाराम असली कहानी पर आते हैं। पहाड़वालों (यानी कंपनी और ठेकेदारों ने) ने और समाज के लोगों ने मेवाराम को चुप रहने को कहा। शुरू में उन्हें 20 लाख रुपया मुआवजे की पेशकश की गई, लेकिन दो दिन में ही मामला 20 से 15 और 15 से 10 लाख पर आ गया।

बेबसी और रुआंसे चेहरे के साथ मेवालाल पूछते हैं, 'और हम क्या कर सकते हैं? जो वे कहेंगे करना पड़ेगा, हम गरीब आदमी किसी से क्या लड़ेंगे?'

मेवाराम द्वारा यह सब बताने के बाद ऐसा लगा कि वे लोग भी हमसे बात करना चाह रहे हैं, जो शुरू में इंकार कर रहे थे। देखते-देखते चबूतरे पर गांव के लोगों का जमावड़ा लग गया था। सभी बहुत उग्र और गुस्से में थे। सभी की परेशानी एक-सी थीपहाड़वालों का आतंक और बेरोजगारी।

मेवाराम के बोलने के बाद धीरे-धीरे सब बोलने लगे

यहीं बदौराकलां के युवक जयराम सोलंकी पहाड़ों में मजदूरों के साथ हो रही इस तरह की घटनाओं के बारे में विस्तार से बताते हैं, ''यहां घटनाएं इस तरह हो रही हैं कि मजदूरों से ऊंचे पहाड़ों और गहरी खदानों में डाई, यानी ड्रिल मशीन से चट्टानों में छेद (विस्फोटक भरने) कराने के लिए उन्हें बिना किसी सुरक्षा उपकरण के सैकड़ों फुट ऊपर लटकाया जाता हैसिर्फ एक रस्सी के सहारे। इसमें मजदूर के साथ भारी-भरकम ड्रिल मशीन भी होती है। मशीन चलाते वक़्त संतुलन बिगड़ते ही मजदूर सैकड़ों फुट नीचे गिरता है और उसकी मौत हो जाती है।''

सोलंकी की माने तो मजदूरों को पहाड़ पर चढ़ने के लिए मजबूर किया जाता है। इसके लिए उनका हफ्तेभर का पेमेंट रोक दिया जाता है, और कहा जाता है, अगर कहे अनुसार काम नहीं करोगे, तो रोका हुआ पेमेंट नहीं दिया जाएगा। मजबूरन मजदूर को ऊंचाई पर चढ़ना होता है। ऐसे चार से पांच हजार मजदूर इन पहाड़ों और खदानों में काम कर रहे हैं, जिनका न कोई बीमा है, न श्रम विभाग में रजिस्ट्रेशन, न ही उनकी सुरक्षा का कोई इंतजाम है।

जयराम कहते हैं, ''हमने कई बार खनिज इंस्पेक्टर से इस बारे में कहा, लेकिन सब पैसे का खेल है। कोई कार्रवाई नहीं होती। मजदूर मर जाता है, पहाड़वालों द्वारा मृतक के परिवार पर दबाव बनाया जाता और मामूली मुआवजा देकर उन्हें चुप करा दिया जाता है। प्रशासन में भी पैसा चला जाता है, बात ऊपर नहीं पहुंच पाती।''

वे बताते हैं कि पट्टे के बाहर भी कई खदानें अवैध चल रही हैं। यहां 2005 से 2022 तक, यानी 17 साल में 40 से ज्यादा मजदूरों की मौत हो चुकी हैं। जयराम के अनुसार अभी तक यहां के 15 से 20 पहाड़ बिल्कुल खत्म हो चुके हैं और फिलहाल यहां 50 से ज्यादा पहाड़ों में खनन चल रहा है, जिससे वे अगले पांच साल में खत्म हो जाएंगे। हमारी बातचीत के बीच में मेवाराम बोल पड़ते हैं, ''सब बेबसी का काम है, पेट के लिए।''

तोड़ने का सौदा

इसी बीच पहाड़ से काम करके लौट रहे कमलेश रेकवार लोगों का जमावड़ा और गहमागहमी देखकर यहीं ठहर जाते हैं। कुछ देर हमारी बातें सुनकर बीच में कहते हैं, ''पहाड़ में किसी के मर जाने पर पहाड़ वाले कहते हैंपैसा बोलो, कितना चाहिए? पहाड़ वाला सीधे पैसे की बात करता है। वे दबाव बनाकर कितने कम में मृतक के परिवार वालों को तोड़ लेता

है... जैसे परसों इनकी (टिंकू के पिता) 20 लाख में बात हुई थी न? हुई थी कि नहीं?'' वे इशारा करके पूछते है।

फिर गुस्से में कहता है, ''फिर कैसे 10 लाख में टूट गए?'' इतने में जयराम गुस्से में कहते हैं, ''यह तुम लोगों की कमी थी कि कैसे इतने कम में टूट गए? अड़ जाते, कहते जब तक जितना मांगा है, उतना मुआवजा नहीं मिलेगा, अंतिम संस्कार नहीं होगा।''

कमलेश का कहना है कि जिसका कोई मर जाता है, वे कुछ कहने के हाल में कहां रहता है? वे कहते हैं, 'ये पहाड़बाजी है, पहाड़बाजी। पहाड़वालों का काम है तोड़ना, चाहे आदमी हो या पहाड़। वे मजदूरों को एक नहीं होने देते। घटना के बाद सब पहाड़वाले इकट्ठा हो जाते हैं और मृतक के परिवार के पीछे लग जाते हैं। चारों तरफ से (पुलिस और प्रशासन) इतना दबाव बनाते हैं कि आपको कम से कम में टूटकर उनके दिए मुआवजे को स्वीकारना पड़ता है, उनकी शर्तें मानना पड़ती हैं, एफिडेविट पर साइन करने ही पड़ते हैं। एक बार साइन हो गए, तो फिर आप कहीं तहरीर करने लायक नहीं रहते। न्याय तो फिर दूर की बात हो जाती है।'

''तो फिर आप लोग पहाड़ में काम करने जाते ही क्यों हैं?'' इस सवाल पर कमलेश कहते हैं, ''यहां लोगों के पास कोई काम ही नहीं है, इसलिए हम पहाड़ पर काम करने जाते हैं। क्या करें, पेट के लिए कुछ तो करना पड़ेगा, जान पर खेलना पड़ता। मैं खुद ड्रिल करता हूं, होल में विस्फोटक भरता हूं। विस्फोटक भरने का काम बहुत खतरनाक होता है। वजनदार 20 किलो की मशीन लेकर 300-400 फुट ऊंचाई से उतरना होता है।''

तभी एक बुजुर्ग उत्तेजना में कहते हैं, ''वे तो साथ में गांव के लोग काम करते हैं, इसलिए हमें पता भी चल जाता है। यदि कोई बाहर का हो, तो पहाड़वाले पता नहीं कहां मरे आदमी को गायब कर दें। ऐसा पांच-छह मजदूरों के साथ हुआ है। पहाड़वाले सड़क दुर्घटना या मौत की कोई और वजह बताकर मामला रफा-दफा कर देते हैं। वे चुपचाप लाशें भी ठिकाने लगा देते हैं।''

बाकी लोग उस बुजुर्ग की हां में हां मिलाते हैं। ऐसी ही एक घटना के चश्मदीद जयराम और उनके गांव के कुछ लोग रहे हैं। ऐसा एक मामला पूर्वी उत्तरप्रदेश के देवरिया के एक मजदूर का था, जिसकी मौत पहाड़ से गिरकर हुई थी। उसके शव को उसके घर पहुंचाने के लिए गांव के लोगों ने चंदा किया था। मृतक की बूढ़ी मां और 12-13 वर्ष की छोटी बहन शव लेने आए थे। लोग बताते हैं कि उनको तो बहुत कम मुआवजे में पहाड़वालों ने तोड़ लिया था। पता नहीं उन तक पैसा पहुंचा भी या नहीं।

''कुल मिलाकर यहां मजदूर की जान की कोई कीमत नहीं। इतने मुआवजे में जीवन चल जाएगा? कोई घायल होता है, कोई ज़िंदगीभर के लिए अपाहिज होता है। ऐसे कई लोग हैं इस इलाके में, जो पहाड़ों में काम करते घायल और अपाहिज होकर घर बैठ गए। हमको न्याय चाहिए, पूरा न्याय। हमारी कोई नहीं सुनता। पुलिस, प्रशासन सब मिले हुए हैं'', उत्तेजना में नवलकिशोर रेकवार नाम का युवक कहता है। वे खुद खनन नहीं करता, लेकिन उसके भाई और रिश्तेदार इस काम में रह चुके हैं। नवलकिशोर के दो भाई पहाड़ों पर काम करने जाते थे, पर टिंकू की मौत के बाद से नहीं जा रहे।

टिंकू की मौत से पहले 23 सितंबर को इसी गांव के 22 वर्षीय प्रेम नारायण कुशवाहा की मौत भी चेतारी की मां भद्रकाली खदान में ही हुई थी। प्रेम नारायण के भाई बलवीर स्वयं घटना के चश्मदीद हैं।

वे बताते हैं, ''दोपहर का वक़्त था। मैं उससे थोड़ी दूरी पर काम कर रहा था। वे पहाड़ के नीचे खदान में फावड़े से पत्थर हटा रहा था। एकदम से पत्थर टूटने की बहुत जोर की आवाज आई। ऐसी आवाजें यहां आती रहती हैं, इसलिए मैंने गौर

नहीं किया, पर कुछ ही देर में वहां के कुछ मजदूरों का शोर सुनाई दिया। मजदूर चिल्ला रहे थेकोई दब गया, दब गया। मैं भागकर वहां पहुंचा। बहुत भीड़ थी, अफरातफरी मची हुई थी। सैकड़ों टन भारी पत्थर के नीचे वे दबा था। मजदूरों ने जैसे-तैसे पत्थर हटाया, तो पता चला वे मेरा भाई प्रेम नारायण है।''

और कुछ कहने से पहले बलवीर की आंखों में आंसू भर आते हैं। खुद को संभालकर वे कहते हैं, ''बिना किसी चेतावनी के पत्थर गिराया गया था। ऊपर पहाड़ पर लोग मौजूद थे। उस वक्त उन्होंने नीचे कोई सूचना नहीं दी थी। हादसे के तुरंत बाद मुंशी, मैनेजर सब भाग गए। फिर शाम को पोस्टमार्टम के समय मुंशी का फ़ोन आया कि पैसा ले लो और मामला खत्म करो। हमारा दिमाग़ काम नहीं कर रहा था। उन्होंने मुआवजे का 15 लाख बोला था, पर मिला 6 लाख ही।''

बलवीर छह साल से इलाके के अलग-अलग पहाड़ों पर काम करते आ रहे हैं। हमसे अपनी आंखों के सामने खदान और पहाड़ पर हुई कई मौतों का वे जिक्र करते हैं। बलवीर से बात करते हुए हमें बीच-बीच में पहाड़ों में हो रहे विस्फोटों की आवाज सुनाई दे रही थी।

सैकड़ों फुट ऊंचाई पर रस्सी के सहारे चढ़कर काम करते मजदूर

नाराज बलवीर कहते हैं, ''पहाड़ का मैनेजर-मुंशी बहुत (गाली) होते हैं। हमें खतरा महसूस होता है, तो हम पहाड़ पर चढ़ने से मना करते हैं। तब वे गालियां बकते हैं। कहते हैं जब काम नहीं करना, तो क्यों आए हो यहां। सिर्फ मशीन बांधने के लिए रस्सा दिया जाता है, इंसान के लिए नहीं।''

इन पहाड़ों पर मजदूरों का कोई रिकॉर्ड नहीं रखा जाता, न ही उनका नाम मस्टर रोल पर चढ़ाया जाता। उन्हें नकद भुगतान किया जाता है।

महोबा की मौतें

नवंबर के बाद दोबारा हमने इस इलाके का दौरा जनवरी में किया। कुछ और मृत मजदूरों के परिवारों से मिलने की कोशिश की, पर हमें निराशा हाथ लगी। सभी ने मिलने से इंकार कर दिया। सबका एक ही जवाब था''हमने एफिडेविट पर साइन किया है, अब हम कुछ नहीं कह सकते।''

जिस दिन टिंकू की पहाड़ से गिरने से मौत हुई, उसी दिन प्रकाश बम्होरी से 8 किलोमीटर दूर महोबा के डहर्रा पहाड़ में लाड़पुर के 26 वर्षीय परशुराम कुशवाहा की मौत पहाड़ से गिरकर ही हुई थी। हमने लाड़पुर में परशुराम के परिवार से मिलने की कोशिश की और गांव के लोगों से उसके बारे में जानकारी हासिल करनी चाही, पर हमें सफलता नहीं मिली

फिर खबर मिली कि इसी 9 जनवरी को कबरई के विशालनगर के रहने वाले 53 वर्षीय धनीराम अनुरागी की मौत डहर्रा के एक नंबर पहाड़ में ब्लास्टिंग के दौरान 259 फुट ऊंचे पहाड़ से गिरने से हुई है। स्थानीय अखबारों और न्यूज़ एजेंसियों में धनीराम की जगह किसी छद्म नाम 28 वर्षीय बनवारी लाल का जिक्र किया गया था। यह इस पहाड़ में उस पखवाड़े, यानी जनवरी के पहले पखवाड़े में हुई दूसरी मौत थी।

इस केस के बारे में महोबा में हमने कई पत्रकारों और एक्टिविस्टों से जानकारी जुटाने की कोशिश की, लेकिन किसी ने साथ नहीं दिया। यहां पहाड़वालों का असल दबदबा और दबंगई नजर आ रही थी। हमने जितने भी लोगों से संपर्क किया, उनके चेहरे पर पहाड़वालों का खौफ साफ दिखाई दे रहा था।

इसके बावजूद हमने कबरई के विशाल नगर में धनीराम के घर का दौरा किया। घर खोजने में हमें काफी मशक्कत करनी

पड़ी। धनीराम की मौत के तीसरे दिन हम उसके घर पहुंचे थे। बेहद कमजोर लग रही रचना (19), जो धनीराम की बड़ी बेटी हैं, हमें दरवाजे पर ही मिल जाती हैं। कोई उन्हें हमारे आने की खबर शायद पहले ही दे चुका था। रचना हमें बैठने को कहकर घर के भीतर चली जाती हैं।

धनीराम की छोटी बेटी सुलोचना (18) हमें बताती है, ''दीदी बहुत डिप्रेशन में हैं, तीन दिन से अस्पताल में थीं।'' घर के हालात देखकर इस बात का एहसास किया जा सकता था कि इस परिवार की दुनिया उजड़ चुकी है। फिलहाल, रचना की बीए फाइनल और सुलोचना की बीएएलएलबी की परीक्षाएं 17 जनवरी से शुरू होने वाली हैं और दोनों बहनों पर आगे पढ़ाई जारी रखने का संकट आन पड़ा है।''

घटना को याद करते हुए सुलोचना बताती हैं, '9 तारीख की सुबह दस-साढ़े दस बजे हमारे मोबाइल पर कॉल आया था पहाड़ से। हमें सीधे कहा गया था कि आपके पापा पहाड़ से गिर गए हैं और उनकी मौत हो गई है, महोबा अस्पताल पहुंचिए। पिताजी 17-18 साल से पहाड़ पर काम कर रहे थे।'

वहीं बैठे धनीराम के बहनोई भगवानदीन बीच में कुछ कहते हैं, पर सुलोचना उन्हें डांट देती हैं। सुलोचना को अपने साथ हुए अन्याय का एहसास है। वे बहुत गुस्से में थीं, लेकिन हमसे कहती हैं''हम इससे ज्यादा कुछ नहीं बता सकते भइया।''

धनीराम के परिवार ने भी मुआवजे वाले एफिडेविट पर दस्तखत किए हैं, जिस पर किसी से भी घटना के बारे में बातचीत न करने, खासकर मीडिया से कुछ न बोलने की शर्त लिखी हुई है। एफिडेविट पहाड़वालों के पास होता है, इसलिए हमें उसकी प्रति नहीं मिल सकी। यह सबकुछ मौत के दो दिन के भीतर निपट गया, ताकि परिवार को कहीं और फरियाद लेकर जाने का मौका ही न मिल सके!

धनीराम के परिवार को 14 लाख मुआवजे पर तोड़ लिया गया था। भगवानदीन कहते हैं, ''हमें वहां पहुंचने ही नहीं दिया गया, नहीं तो हम इतने कम में नहीं टूटने देते। अब देखिए न, दो-दो बच्चियां हैं। इनकी पढ़ाई-लिखाई, शादी, अपाहिज मां है, एक छोटा बच्चा है, सब कैसे चलेगा?''

सुलोचना के मामा संतोष कहते हैं, ''अब चले न चले, क्या करें? जैसे भी हो चलाना पड़ेगा। उस वक्त जो वे कहते हैं, मानना पड़ता है। हमारे हिसाब से तो ठीक नहीं है, पर हमारी हैसियत उनसे लड़ने की तो नहीं है।''

यहां रहना मुश्किल कर देंगे

कबरई के बाद हम डहर्रा गांव की तरफ बढ़ते हैं। धूल में सना डहर्रा, कबरई क्रशर मंडी के एकदम बीच में है। मुख्य सड़क (बांदा-महोबा) से डहर्रा तक स्टोन क्रशरों की विशाल शृंखला-सी दिखना शुरू हो जाती है। लोग बताते हैं कि यहां ज्यादातर परिवार ऐसे हैं, जिनके किसी न किसी सदस्य की मौत अवैध खनन के चलते हुई ही है।

डहर्रा के कल्लू अहिरवार (30) की मौत बीते 18 दिसंबर को पहाड़ से ट्रैक्टर के गिरने से हुई थी, ऐसा उनके भतीजे देशराज हमें बताते हैं। कल्लू पहाड़ की चट्टान में विस्फोटक भरने के लिए होल करने का काम करते थे।

कल्लू के भाई सिद्धा के अनुसार पहाड़ों में पुराने ट्रैक्टर काम पर लगाए जाते हैं, जिनका कोई मेंटेनेंस नहीं होता। सिद्धा कहते हैं, 'कल्लू को जो ट्रैक्टर दिया गया था, उसके ब्रेक काम नहीं कर रहे थे, बहुत पुराना ट्रैक्टर था वे।'

देशराज बताते हैं, ''यहां हफ्तेभर में किसी न किसी पहाड़ पर कोई मौत हो ही जाती है। मृतक या घायल यदि आसपास के गांव का होता है, तो उसके गांव वाले हो-हल्ला करके थोड़ा बहुत मुआवजा ले भी लेते हैं वरना कोई बाहर का हो, तो

पहाड़वाले कहां दबा दें, पता न चले। यहां बिहार, राजस्थान, छतीसगढ़ के भी मजदूर काम करते हैं।''

हमने जब सिद्धा के परिवार की तस्वीरें उतारनी शुरू कीं, तो सिद्धा की पत्नी मीरा बोली, ''कहीं पहाड़वालों को पता न चल जाए कि आप हमारे यहां पूछताछ के लिए आए थे। बड़ी मुसीबत हो जाएगी हमारे लिए। यहां रहना मुश्किल कर देंगे। आप जल्दी से यहां से निकल जाओ।''

बांदा रोड पर एक स्टोन मिल के मालिक से मजदूरों की मौतों पर बात हुई। उन्हें अपने व्यापार की चिंता ज्यादा थी। वे कहते हैं, ''मजदूरों की मौत तो डेली का मामला है, इसमें नया क्या है। हमारा तो व्यापार बैठा जा रहा है, चार साल से धंधा मंदा है। पंद्रह किलोमीटर दूर मध्यप्रदेश के प्रकाश बम्होरी में 102 रुपए रॉयल्टी है, तो इधर पांच गुना ज्यादा 500-600 रुपए है। इसलिए सारा धंधा वहां शिफ्ट हो गया। सरकार हमारा साथ ही नहीं देती। पहले सब अच्छा था, प्राइवेट मैनेजमेंट चलता था मंडी में। सब काम पहाड़ और क्रशर वाले देखते थे। रोज के 20000 डंपर आते थे मंडी में। अब उसका 10 प्रतिशत भी नहीं आते। अब यहां अधिकारियों की चलती है, उनका गुंडा टैक्स चलता है।''

वे बताते हैं कि अब यहां नेताओं के साथ-साथ अधिकारियों की भी गुंडागर्दी चलती है। हर अधिकारी को महीना चाहिए। अगर महीना नहीं पहुंचा, तो ये चालान, वो चालान, ये नियम वो नियम। वे कहते हैं, ''हमारा तो भट्ठा बैठ जाएगा। मजदूरों का मरना तो डेली का है, इतना बड़ी मंडी है, दुर्घटना होंगी ही और लोग मरेंगे ही।''

थोड़ी दूर स्थित डरहत गांव में हमें 37 साल के सुरेंद्र राजपूत मिलते हैं। सुरेंद्र 16 साल से पहाड़ों में काम कर रहे हैं। उनसे पुराना पहाड़ों पर काम करने वाला इस इलाके में नहीं है, लेकिन आज उनका मजदूरी कार्ड नहीं बना। वे बताते हैं कि यहां कई बार लखनऊ के अधिकारी आए, उनके कागज, फोटो ले गए, पर उन्हें आज तक कोई कार्ड नहीं मिला।

सुरेंद्र राजपूत के सिर पर भी एक बार पहाड़ से पत्थर गिरा था। सोलह टांके आए थे। वे बताते हैं कि इलाज का सारा पैसा उन्हें अपने घर से ही खर्च करना पड़ा था।

सुरेंद्र कहते हैं, ''पहाड़ पर कोई कायदा-कानून नहीं चलता। अधिकारी आते हैं और जाते हैं, पर पहाड़ पर कुछ नहीं बदलता। नियम के अनुसार ब्लास्टिंग कोई ट्रेंड (प्रशिक्षित) आदमी करता है, जिसका सरकारी रिकॉर्ड होता है, पर यहां सब हम ही करते हैं। कब, कहां, कैसे, ब्लास्टिंग करना है, होल कितना करना, होल में कितना विस्फोटक भरना है, कैसे भरना है, सबका कायदा होता है, नियम होता है, पर वे सब कागज पर ही होता है। पूरी मंडी में 5 से 6 हजार मजदूर हैंसारे अवैध और बंधुआ।''

पास में खड़े एक पुराने पट्टाधारक और ठेकेदार मुन्ना रेकवार कहते हैं, ''अब पहाड़ के काम में बहुत रिस्क है, गहराई बहुत बढ़ गई है। हर महीने दो-तीन मजदूरों की जान जा रही है।''

कबरई में हमें एक और पुराने पट्टाधारक मिलते हैं। नाम न छापने की शर्त पर वे कहते हैं, ''जब यहां कोई मौत होती है, तो डीएम-एसपी का कहना रहता है कि हमारे पास मत आओ, तुम अपना वहीं निपटा लो। हमारे यहां कोई न आए। न सूचना दो, न कोई एफआइआर करे, न कोई कार्रवाई। ये सब पहाड़वाले, पट्टाधारक, क्रशर मालिक इकट्ठा हो जाते हैं। इनका बड़ा संगठन है, यूनियन है, जो बहुत ताकतवर है। वे मृतक के परिवारवालों को शासन-प्रशासन तक पहुंचने ही नहीं देते। रिश्तेदारों पर समझौते के लिए दबाव बनाते हैं। हर तरफ से बुरी तरह घेर लेते हैं और तब तक पीछा नहीं छोड़ते, जब तक एफिडेविट पर दस्तखत नहीं करा लेते।''

वे कहते हैं, ''मैं भी खुलकर उनका विरोध नहीं कर सकता। मैं खुद पट्टाधारक हूं, अगर विरोध करता हूं, तो सारे अधिकारी,

पहाड़वाले, क्रशर वाले सब मिलकर मुझे ही तोड़-मरोड़ देंगे।''

तहरीर आए तो जांच हो

इस मसले पर हमने वरिष्ठ पत्रकार कैलाश तिवारी से बातचीत की। तिवारी लंबे समय से इस कारोबार पर नजर रखते आ रहे हैं। वे बताते हैं, ''कबरई में लगभग 500 क्रशर प्लांट हैं। इन प्लांटों में जो बोल्डर आता है, वे 200 से ज्यादा पहाड़ों के पट्टे हैं, जो डहर्रा, पचपहरा, गंगामइया, गंज, मध्यप्रदेश के प्रकाश बम्होरी के पहाड़ हैं। एक पहाड़ में औसतन 20 से 25 पट्टे होते हैं। पत्थर तोड़ने का जो तरीका है, वे एकदम देसी है। कभी रस्सी टूट जाती है, तो कभी ईडी बिछाते वक्त विस्फोट हो जाता है। सालाना औसतन 10-15 मौतें हो रही हैं, यानी हर महीने कम से कम एक।''

मुआवजे पर तिवारी बताते हैं, ''ज्यादातर पट्टाधारक ही क्रशर मालिक हैं या जो क्रशर मालिक हैं, वही पट्टाधारक भी हैं। इनकी एक यूनियन है, जो बहुत मजबूत है। उनका मुआवजे का एक मानक है, जो आजकल 20-22 लाख चल रहा है, लेकिन कितने पर मृतक का परिवार टूट जाए, कितना उन तक पहुंच पाता है यह दूसरी बात है। अक्सर पहाड़वाले मानते ही नहीं कि कोई घटना हुई है। मजदूर का कोई रिकॉर्ड नहीं होतान श्रम विभाग में न कहीं और, जिससे उन्हें सरकारी लाभ नहीं मिल पाता।''

वे इस धंधे के पर्यावरणीय आयाम भी गिनवाते हैं और कहते हैं कि प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड भी औपचारिकता ही करता है। राष्ट्रीय राजमार्गों (एनएच) का जो नियम है, उसके अनुसार एनएच से 500 मीटर के दायरे में कोई स्टोन क्रशर नहीं लगना चाहिए, पर सारे स्टोन क्रशर 500 मीटर के दायरे में ही हैं, एनएच के एकदम किनारे। हरित पट्टी और स्प्रिंकलर भी कागज पर ही हैं। पूरे क्षेत्र में धूल का गुबार छाया रहता है, जिसके चलते यहां लगातार टीबी, दमा, फ्लोराइसिस के मरीज बढ़ रहे हैं।

तिवारी के अनुसार, ''मजदूर की मौत और मुआवजे पर प्रशासनिक हस्तक्षेप तब होगा, जब कोई मुद्दई होगा, कंप्लेनेंट होगा, कोई तहरीर करने वाला होगा। अगर कोई होगा ही नहीं, तो फिर प्रशासन क्या कर सकता है? पहाड़वाले वहां तक पहुंचने ही नहीं देते। वे दबाव बनाकर एफिडेविट करा लेते हैं और मामला खत्म हो जाता है। प्रशासन को सब जानकारी है, लेकिन पहाड़वालों की लॉबी इतनी मजबूत है कि कोई अधिकारी ज्यादा नियम-कानून करेगा, तो वे उसे टिकने ही नहीं देंगे। रातोरात तबादले करा देते हैं।''

तबादला तो फिर भी ठीक है, यहां ठेकेदार, मालिक और प्रशासन के त्रिकोणीय समीकरण में हत्याएं भी देखी गई हैं। पहाड़वालों, क्रशर मालिकों और अधिकारियों के बीच लेन-देन किस तरह चलता है, इसका उदाहरण है क्रशर मालिक चंद्रकांत त्रिपाठी की हत्या का मामला। मीडिया रिपोर्ट के अनुसार त्रिपाठी की हत्या सितंबर 2020 में हुई थी। इस हत्या का आरोप तत्कालीन महोबा पुलिस अधीक्षक मणिलाल पाटीदार पर लगा था। एफआइआर के अनुसार मणिलाल, क्रशर मालिक पर हर महीने 6 लाख रुपए रिश्वत देने का दबाव डाल रहे थे। त्रिपाठी 8 सितंबर 2020 को मीडिया के सामने इस मामले को रखना चाह रहे थे, पर उसी दिन उनकी हत्या कर दी गई।

इसीलिए पहाड़ों में मजदूरों की मौतों से संबंधित लगभग हर स्थानीय मीडिया रिपोर्ट में सरकारी अधिकारियों का एक ही बयान छपा होता है कि 'कोई तहरीर आएगी, तो जांच और कार्यवाही की जाएगी'। जैसे हालात हैं, उनमें ऐसा लगता है कि न कभी तहरीर पहुंचेगी, न कभी कोई कार्रवाई होगी।

नायकड़ा: बंधुता का अभाव बन गया ऐतिहासिक भूल

सयाली पराते

एक दिन जब सारी नदियाँ
मर जाएँगी ऑक्सीजन की कमी से
तब मरी हुई नदियों में तैरती मिलेंगी
सभ्यताओं की लाशें भी
नदियाँ ही जानती हैं
उनके मरने के बाद आती है
सभ्यताओं के मरने की बारी।

जसिंता केरकेट्टा

विलियम शेक्सपियर अपने बेहद फेमस नाटक 'रोमियो-जूलियट' में एक वाक्य का इस्तेमाल करते हैं'What is in the name?' मगर भारतीय संदर्भों में वापस लौटें, तो नाम बेहद महत्वपूर्ण दिखाई देने लगता है। आप सयाली सुनते हैं, तो एक फूल का चित्र सामने आता है। फिर एक बात अक्सर आती है कि मराठी में बहुत-सी लड़कियों का नाम सयाली होता है, मगर फाका नाम सुनते हुए आपके ज़हन में क्या संदर्भ आते हैं? एक भूख और फिर उससे तड़पना? खैर, मूल बात यह है कि यह पहचान का वह पहला 'टूल' है, जिससे हम सब अपने संदर्भ तय करते हैं। यह संदर्भ हमारी बातचीत से लेकर उस नाम के प्रति धारणा को भी तय करते हैं।

परिचय

सयाली पराते स्वतंत्र पत्रकार है। शेड्स ऑफ रूरल इंडिया की मीरा फैलोशिप और पांढुर्णा में प्रत्यय एजुकेशन रिसर्च लैब की ग्रेजुएट स्टूडेंट फैलोशिप के फेलो रह चुकी सयाली पराते ने गांव के लोग, ग्राउंड रिपोर्ट और द बेटर इंडिया मीडिया जैसे संस्थानों के साथ कार्य किया है। सयाली पराते ने ग्रामीण क्षेत्रों में विभिन्न सामयिक मुद्दों और विषयों पर रिपोर्ट कर अपनी अलग पहचान बनाई है। इस फैलोशिप के दौरान सयाली पराते ने अलीराजपुर में नायकड़ा समुदाय पर अध्ययन किया है।

एक खबर को देखते हुए मुझे पहली बार अलीराजपुर के नायकड़ा समुदाय के बारे में पता चला था। मैं नदी किनारे जीने वाली इस सभ्यता को जानना चाहती थी, ताकि फाका नाम सुनने पर मेरे दिमाग में ककराना में रहने वाले एक व्यक्ति का चित्र बने, भूख से तड़पते हुए आदमी का नहीं। विकास संवाद की मीडिया फैलोशिप की यात्रा यहीं से शुरू होती है।

फैलोशिप में मेरा विषय 'नायकड़ा समुदाय के संवैधानिक प्राविधानों की स्थिति का अध्ययनः अलीराजपुर के संदर्भ में' है। घर से लगभग 700 किमी दूर अपना कार्यक्षेत्र चुनते हुए मुझे ज्यादा अंदाजा नहीं था कि यह काम कितना कठिन हो सकता है, लेकिन एक विश्वास था कि मैं यह काम कर सकती हूं। आगे बढ़ें उससे पहले बता दूं कि यह समुदाय देश के सबसे ग़रीब जिले में रहने वाला वह तबका है, जो बेहद मूलभूत सुविधाओं तक से दूर है। मुझे यह लिखते हुए अगर प्यास लगे, तो मुझे केवल अपने किचन तक जाना होगा, मगर तिरली बाई को पानी लाने के लिए पहाड़ चढ़ना-उतरना पड़ता है।

मैं नर्मदा नदी के किनारे मालवा के एक शहर में रहती हूं। वही नर्मदा, जिसका पानी मालवा लाने की ज़िद का सरकारी तमाशा ज़ोरों से चल रहा है।

कैसा था अलीराजपुर जाना?

अलीराजपुर के एक छोटे-से गांव में जाने से पहले कई लोगों ने कहा था कि तुम अकेले मत जाना, वहां अच्छे लोग नहीं हैं, कई बार तो लोगों ने यह भी कहा कि अकेले जाओगी तो वापस नहीं आ पाओगी। किसी ने कहा था कि अपने साथ कुछ स्प्रे रख लेना, सावधानी बरतना अच्छा होता है, लेकिन इसी बीच विभूति दा ने कहा कि कुछ नहीं है, तुम जाओ, देखो सब हो जाएगा, वहां जाओ तो एक बार।

यहां यह कहना ज़रूरी है कि इस यात्रा के दौरान मेरे अंदर भी बहुत से पूर्वाग्रह थे। ऐसे में यह यात्रा मेरे लिए उन पूर्वाग्रहों से निकलने की यात्रा है। ज्यादा मुश्किल नहीं था इस दौरान बस से अलीराजपुर के ककराना गांव में जाना। वहां पर एक स्कूल में रहने की व्यवस्था भी हो गई थी। यह एक आदिवासी स्कूल था, जहां रहकर मैंने अपनी पूरी फैलोशिप की यात्रा की है। नायकड़ा/नायक समुदाय से मिलने जाने के लिए नर्मदा नदी को पार करना, पहाड़ चढ़ना और पैदल चलकर उनसे मिलना यह सब इस यात्रा में शामिल था।

अलीराजपुर में रहने से लेकर वहां फील्ड में आई दिक्कत कभी दिक्कत लगी ही नहीं। इसका एक कारण यह भी था कि स्थानीय स्तर पर लोगों ने हर तरह से मदद की। वहां रुकने की व्यवस्था, लोगों के साथ बातचीत करना, फील्ड में साथ रहने को लेकर हो या फिर भाषा में आई दिक्कत हो। सब आसानी से हल हो जाती थी।

ककराना में बस से मैं लगभग 3 बजे पहुंची थी, यहां मुझे बस स्टैंड पर करीब 2 घंटे तक इंतजार करना पड़ा। बस स्टैंड के पास एक दुकान के सामने रखे मेज पर कुछ महिलाएं बैठी थीं, उनमें से एक महिला ने इशारे में पूछा कि कहां जा रही हो। भाषा अलग होने के कारण मुझे समझने में दिक्कत हुई। वहां सामने बैठी एक अन्य महिला, जो लगभग 19 साल की होगी और हिंदी जानती थी, मुझे बताती है कि वे यह पूछ रही हैं कि आपको कहां जाना है। मैंने बताया कि पास के गांव के एक स्कूल में जाना है। उस महिला ने कहा कि हम भी उसी गांव जा रहे हैं, हम तुम्हें वहां छोड़ते हुए चले जाएंगे। मैंने कहा, नहीं कोई आ रहा है, जो मुझे स्कूल तक छोड़ देगा। करीब 2 घंटे तक उस महिला ने इंतजार किया और जैसे ही उसकी बस आई वह मेरे करीब आकर बोली मैं रुक जाती हूं, जब तक आपके साथी लेने नहीं आएं। मैंने कहा, नहीं, आप जाइए। हो सकता है यह आपके गांव जाने वाली आखरी बस हो, मुझे तो लेने आ ही जाएंगे, लेकिन आप कैसे जाएंगी। उस महिला की मेरे प्रति चिंता मुझे अपनेपन का एहसास करा रही थी।

विनोद कुमार शुक्ल एक कविता में लिखते हैं-

हताशा से एक व्यक्ति बैठ गया था
व्यक्ति को मैं नहीं जानता था
हताशा को जानता था
इसलिए मैं उस व्यक्ति के पास गया
मैंने हाथ बढ़ाया
मेरा हाथ पकड़कर वह खड़ा हुआ
मुझे वह नहीं जानता था
मेरे हाथ बढ़ाने को जानता था।

यह महिला कौन थी, मैं नहीं जानती। मैं कौन हूं, वह भी यह नहीं जानती थी। संभव है, वह यह भी नहीं जानती हो कि बंधुता का मूल्य क्या होता है या फिर सामाजिकता शब्द का अर्थ क्या है, मगर यह सब न जानते हुए भी उसने मेरे साथ वह

बंधुता निभाई, जिसकी कल्पना हम एक सुरक्षित समाज की अपरिहार्य ज़रूरत के तौर पर करते हैं।

आदिवासी गांव और पूर्व धारणाओं को काटती यह बात मेरे अंदर कई सवाल खड़े कर रही थी। उस महिला के लिए मैं उसके गांव में दूरदराज से आई एक मेहमान थी, जिसे वह सुरक्षित अपने गंतव्य तक पहुंचने में अपना सहयोग दे रही थी।

कैसे नायकड़ा के बारे में पढ़ना शुरू किया?

मैं जब इस विषय के बारे में सोच रही थी, तब इस देश में एक बहस जोरों पर थीहमारा इतिहास सही लिखा गया है या फिर किसी विचारधारा के नुमाइंदों ने कुछ भी लिख दिया है? मगर गजब बात यह है कि हमारे देश के ही एक समुदाय के बारे में 'पढ़े-लिखे समाज' ने कुछ भी लिखना जरूरी नहीं समझा।

मेरे लिए सबसे मुश्किल काम था, नायकड़ा के बारे में रिसर्च। नायकड़ा के बारे में कहीं पर भी ज्यादा कुछ नहीं है, यदि हम एक-दो लेख और वेबसाइट्स को छोड़ दें तो। इनकी सहायता से ही मैंने पढ़ना शुरू किया। एक ऐसा समुदाय, जिसकी पहचान ही सबसे बड़ा मुद्दा है। क्या वे नायक हैं, क्या वे नायकड़ा हैं? हमें नहीं पता। कुछ लोगों से मिले, जहां से समझने की कोशिश की। लोगों ने बताया कि इनका इतिहास क्या रहा, कुछ किताबें पढ़ने से समझा और कुछ लोगों से बातचीत से समझ आया। इन सब बातों का तोड़ यही निकला कि ये सब एक ही हैं। इनके बुरी हालत में होने का सबसे बड़ा कारण है कि इनकी ओर कोई ध्यान ही नहीं दिया गया। ये जैसे हैं, उन्हें उसी हालत में छोड़ दिया गया।

इस बारे में सोचते हुए जब मैं संविधान पढ़ रही थी, तब यह बात मन में आई कि बंधुता के मूल्यों का अभाव कैसे ऐतिहासिक भूल का कारण बन जाता है। हमने एक तबके को अपना नहीं समझा, इसलिए न उनके बारे में कुछ लिखा न उनके बारे में ख्याल किया। बंधुता नहीं होगी, तो समानता कैसे होगी?

किन-किन लोगों से मिली, उनसे क्या बातचीत हुई

इस फैलोशिप का सबसे मुश्किल हिस्सा था, एक्सपर्ट्स को खोजना। अलीराजपुर क्षेत्र में काम करने वाले लोग और कुछ संस्थाओं को खोजा। फील्ड विजिट के दौरान मैंने स्थानीय स्तर पर कुछ लोगो को ढूंढ़ने की कोशिश की, लेकिन ऐसा कोई भी नहीं मिला, जो सीधे तौर पर नाईकड़ा के साथ काम करता हो। हालांकि पुराने फेलो और कुछ पत्रकार साथियों की मदद से मैं कुछ संस्थाओं को ढूंढ़ने में कामयाब हो पाई। जिसमें खेडूत मजदूर चेतना संगठन भी शामिल है। यह आदिवासी संगठन है और काफी समय से आदिवासियों के हित के लिए काम कर रहा है। इसी बीच मैं कुछ लोगो से मिली, जो बहुत सालों से आदिवासियों के लिए काम कर रहे हैं और नायकड़ाओं को करीब से जानते हैं। उनसे मिलकर नायकड़ाओं की स्थिति समझने की कोशिश की। उनसे मिलकर पता चला कि यह नायक लोग ही है, चूंकि गांव में बहुत-सी कुप्रथाएं होती हैं और उसके आधार पर नायकड़ा लगा दिया जाता है। इसलिए ये नायकड़ा ही बना दिए गए है, जबकि हैं ये आदिवासी, लेकिन जब जातियों के आधार पर लिस्ट तैयार की गई, तो उन्हें ओबीसी वर्ग में डाल दिया गया, लेकिन देखा जाए, तो ये आदिवासी ही हैं।

एक्सपर्ट्स को ढूंढ़ते हुए मैं राहुल बनर्जी से मिली। राहुल बनर्जी एनवायरमेंट एक्टिविस्ट हैं और आदिवासियों के लिए हुए कई आंदोलन का हिस्सा भी रहे हैं। उनका अलीराजपुर के ककराना में स्कूल है, जो आदिवासी बच्चों के लिए पढ़ाई का साधन भी है। उनके स्कूल'रानी काजल जीवन शाला' में रुककर ही मैं अपनी फैलोशिप की यात्रा पूरी कर पाई हूं। किसी कारण से राहुल बनर्जी जब भोपाल आए, तो मैं उनसे मिलने वहां पहुंची थी। नायकड़ाओं के बारे में बात करते हुए उन्होंने बताया कि वे नायकड़ा समुदाय के बच्चे को उच्च शिक्षा के लिए बाहर पढ़ने में सहयोग दे रहे हैं।

जितना मैं जानती थी, उसी आधार पर मैंने एक बच्चे का नाम लिया और कहा की क्या आप इसी की बात कर रहे हैं। उन्होंने कहा हां। जैसे ही उन्होंने नाम लिया, मैंने कहा इसने तो पढ़ाई छोड़ दी है और अब वह अपने गांव में रह रहा है। जैसे ही उन्हें यह पता चला, उन्होंने बहुत सारे फोन किए। बाद में पता चला कि वे जिस बच्चे की बात कर रहे थे, उसी बच्चे के बारें में मैं भी बात कर रही थी। उन्होंने तुरंत उस बच्चे को फिर से स्कूल में पढ़ने के लिए कई फोन किए। दूसरे दिन उनका एक लंबा मैसेज मेरे फोन पर आया, जिसमें लिखा थाआपका शुक्रिया! मैं कल आपसे मिला, तो मुझे पता चला कि उस बच्चे की पढ़ाई रुक गई है, जिसके बाद मैंने उसके परिजनों से बात की और अब वे उसकी पढ़ाई फिर आरंभ कराने के लिए तैयार हैं। साथ ही वे उसकी बहन की पढ़ाई भी करवाएंगे। यदि आप कल नहीं मिलतीं, तो मुझे पता ही नहीं चलता कि बच्चे ने पढ़ाई छोड़ दी है, अच्छा हुआ मैं आपसे मिला।

एक और एक्सपर्ट्स से मैं अलीराजपुर में मिली। जब मैं उनसे मिलने पहुंची और समुदाय के बारे में बात की, तो उन्होंने बताया कि कैसे वे अपना काम समुदाय के लिए कर रहे हैं। जब मैंने अपनी बातें बताना शुरू किया, तो उन्होंने तुरंत ही कहा कि मैं कल ही ज्ञापन दे दूंगा। कल ही हम सबको इकट्ठा कर लेंगे और आंदोलन शुरू हो जाएगा। मैं बस सुन रही थी, समझ नहीं आ रहा था कि इतनी जल्दी क्या और कैसे हो जाएगा और आंदोलन खड़ा करना क्यों? मैंने उन्हें बात समझाने की कोशिश की। कई सवाल उन्होंने इस दौरान मुझसे पूछे कि फैलोशिप खत्म हो जाएगी तो कौन इसे उठाएगा। आप तो थोड़ा-सा काम करके चली जाएंगी, फिर क्या होगा। तब समझ आया कि कैसे मुझे अपने काम को प्रेजेंट करना है। इन सब बातों से शायद मैं पहली बार ही रूबरू हो रही थी। इस तरह से सवाल मन में कई तरह से और सवालों को पैदा कर रहे थे।

जब फैलोशिप की यात्रा शुरू हुई, तो मेरा तो किसी से कोई भी कॉन्टेक्ट नहीं था, इस यात्रा में नीतू सिंह, शेड्स ऑफ रूरल इंडिया ने अलीराजपुर में एक व्यक्ति से परिचय करवाया था। भगत जी, जिन्होंने हमें पहली बार नायकड़ाओं से मिलवाया। इस यात्रा में जितना हो सकता है, मुझे सहयोग मिला, विकास संवाद के पुराने फेलो से, जिन्होंने राहुल बनर्जी से मिलवाया। राहुल बनर्जी ने अलीराजपुर में रुकने की पूरी व्यवस्था कर दी।

रोहित पडियार अलीराजपुर में शिक्षक के पद पर कार्यरत हैं। वे पढ़ने-लिखने का शौक भी रखते हैं। उन्होंने नायकड़ा समुदाय से संबंधित कुछ किताबें खरीद कर दीं, यह कहते हुए कि आप इसके पैसे मत दीजिए। ये मेरी तरफ से हैं। आप लोग अच्छा काम कर रहे हैं, इसमें मेरी ओर से यह सहयोग समझिए। फील्ड पर इतनी आसानी से सारी बातें हो जाना, मेरे अंदर के सारे सवालों को गलत साबित कर रहा था। इस काम के दौरान समस्याएं और कठिनाइयां आईं, लेकिन आसानी से उनका हल भी निकलता गया।

अभी नायकड़ाओं का जीवन कैसा है?

नायकड़ा समुदाय के लोगों से जब मैं पहली बार मिली, तो उनकी गरीबी मुझे सबसे पहले दिख रही थी। यहां पर नायकड़ा समुदाय सोंडवा जिले के ककराना, झंडाना, सुगट, भिताड़ा और उमराली इत्यादि जगहों पर निवास करता है। मैं सबसे पहले ककराना ग्राम में पहुंचकर मुझे समझ आया कि यह समुदाय सबसे पिछड़े समुदाय में आता है। ना तो इनके पास पक्के घर हैं, ना ही स्वास्थ्य सुविधाएं। शिक्षा के स्तर पर देखें, तो अभी तक कोई भी ऐसा नहीं है, जो उच्च शिक्षा प्राप्त कर सका हो।

नर्मदा नदी से मछली पकड़ना उनके रोजगार का मुख्य साधन है। वहीं जब नर्मदा नदी से मछली नहीं मिलती हैं, तो ये लोग मजदूरी करते हैं। मुश्किल से 200 से 300 रुपए दिन का कमा पाते हैं। इनके पास ना तो कोई योजनाएं हैं और ना ही किसी का सहारा है। इन लोगों की स्थिति की बात करें, तो वह वास्तव में चिंताजनक है। उनके पास रोजगार की कोई सुनिश्चितता

नहीं है। साफ पानी जैसी मौलिक जरूरतों से ये लोग वंचित हैं। वहीं, समाज में उनकी पहचान को लेकर स्पष्टता नहीं हैं। उनके घरों में जब काम नहीं होता हैं, तो ये घर के कामों में महिलाओं की मदद करते दिखाई देते हैं।

कितना बदलाव आया है

इस फैलोशिप के बाद बहुत-सी बातें बदली हैं। अपने घर से बाहर जाना और 700 किमी दूर जाकर एक समुदाय पर काम करना मेरे लिए आसान तो नहीं था, लेकिन जब फील्ड में काम करना शुरू किया, तो मुश्किल भी नहीं लगा। फील्ड पर जाने के बाद जो बातें सामने आती हैं, उन्हें किस तरह से हल किया जा सकता है, यह जाना। संवैधानिक मूल्यों को पढ़ते हुए मैंने कोशिश की कि मैं इसे अपने दैनिक जीवन में देखूं। इसके कई उदाहरण भी मेरे सामने रहे, जहां मैं देख रही हूं संवैधानिक मूल्यों का ह्रास हो रहा है। मेरे शुरुआती दौर में मुझे लगा था कि काम नहीं हो पाएगा और मैं नहीं कर पाऊंगी।

...लेकिन इस दौरान मैंने अपने मेंटर सुनील कुमार गुप्ता सर से बहुत-सी बातें कीं। फील्ड के दौरान आई समस्याओं पर कैसे काम करना है, यह उनसे समझा। इससे संबंधित बहुत-सी किताबें भी मैंने इस दौरान पढ़ीं। जिनके माध्यम से मुझे समझने में बहुत मदद मिली। सबसे अच्छी बात यह रही कि मैं अपनी कहानियों को निकालने में सफल हो रही हूं। ग्राउंड से आने के बाद रिपोर्ट को निकालना उतना ही कठिन था, जितना ग्राउंड पर जाकर लोगों से मिलना था।

इस दौरान यह भी समझ आया कि अक्सर लोग अपनी जिम्मेदारी से पीछे क्यों हट जाते हैं। एक रिपोर्ट पर वक्तव्य लेते हुए अलीराजपुर जिले के कलेक्टर से बात हो रही थी। बात नायकड़ा समुदाय के लोगों से संबंधित थी और ग्राम झंडाना में पानी की समस्याओं को उजागर करती थीं। फोन पर हुई बातचीत में पहले तो कलेक्टर ने हमें जिला पंचायत सीईओ से बात करने के लिए कहा। साथ ही कहा कि चूंकि सोंडवा पठार पर स्थित है, इसलिए वहां बोरवेल से भी पानी नहीं निकलता। उन्होंने बड़ी नाराजगी के साथ कहा कि हमारे द्वारा इस बात को जबरन मुद्दा बनाया जा रहा है। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि जब जिम्मेदार व्यक्ति ही इस तरह की बात करें, तो लोगों की मूलभूत समस्याओं के निराकरण की क्या आशा लगाई जा सकती है?

इस विषय पर अब तक काम करना नायकड़ा समुदाय के लिए कितना फायदेमंद रहा है, यह बात मैं खुद से नहीं कह पाऊंगी। यह समय और आप लोगों पर छोड़ देना उचित है, मगर यह यात्रा मेरे आंतरिक परिवर्तन के लिए बेहद महत्वपूर्ण रही है। मैं अब सोच पाती हूं कि अपने शहर को किसी बाहरी के लिए सहज बनाने का काम नगरपालिका का तो है ही, साथ ही मेरा भी है। यदि मैं किसी को किंचित मात्र राहत देने की इच्छा रखती हूं, तो उससे यह पूछना भर पर्याप्त होगा, ''क्या मैं आपको आपका रास्ता दिखा दूं?''

संवैधानिक मूल्यों की समझ ने मेरे पेशे को भी प्रभावित किया है। मुझे अपने सब्जेक्ट से बात करने में अब असहज महसूस नहीं होता। मैं समानुभूति के ज़रिए अपने सब्जेक्ट को और बेहतर तरीके से समझ पाती हूं। उससे उसके जीवन के बारे में जानते हुए, जो सावधानियां रखनी चाहिए वह अब सहज रूप से रख पाती हूं। समता कैसी हो, यह समझते हुए मुझे समझ आया कि संसाधनों का दोहन नहीं करना है, क्योंकि इनका बंटवारा जिस राज्य और तंत्र ने किया है, उसके अंदर समता का मूल्य आटे में नमक बराबर भी नहीं था। ऐसी कई अनुभूतियां हैं, जिन पर स्पष्टता इस फैलोशिप से निकलने के बाद भी आती रहेगी। यह लंबी यात्रा का एक पड़ाव भर है।

मेरी यात्रा: परिभाषा से परे बंधुत्व को जीते हुए देखा

शिशिर अग्रवाल

परिचय

मूल रूप से मध्य प्रदेश के मैहर के निवासी शिशिर अग्रवाल ने जामिया मिलिया इस्लामिया से पत्रकारिता की पढ़ाई की है। अपनी उच्च शिक्षा के बाद पत्रकारिता के लिए वे दूरस्थ मैदानी क्षेत्रों में पहुंचे और आदिवासी जन-जीवन को करीब से जानने का उपक्रम किया। इसी समझ ने उनकी पत्रकारिता को नई दिशा दी। ग्राउंड रिपोर्ट डॉट इन में हिंदी एडिटर के तौर पर काम करते हुए उन्हें पर्यावरण और उसमें हस्तक्षेप के विषयों पर लेखन जारी रखा है। इस फैलोशिप में शिशिर अग्रवाल से आदिवासी और संवैधानिक मूल्यों पर अध्ययन किया है।

जब मैं यह लिख रहा हूं, तो राजनीति में पहचान का उपयोग बेताहाशा किया जा रहा है। आदिवासी क्षेत्र में यह राजनीति पहचान का अतिक्रमण बन जाती है। आमतौर पर बड़ी ही लापरवाही से हम वनवासी और आदिवासी को एक-दूसरे के पर्याय के रूप में इस्तेमाल करते हैं, मगर ये शब्द नैरेटिव के स्तर पर एक-दूसरे के विपरीत हैं। फैलोशिप के विषय को चुनते हुए मेरे दिमाग में यही विचार था कि मुझे आदिवासी होने के वर्तमान मायनों को सामने रखना है। मेरी समझ के अनुसार संवैधानिक मूल्यों की बात झाबुआ और अलीराजपुर के आदिवासियों के जीवन पर बात किए बिना कोई भी पूरी नहीं कर सकता। यही कारण है कि मैंने अपना विषय ही 'आदिवासी जीवन और संवैधानिक मूल्य: झाबुआ और अलीराजपुर के संदर्भ में' चुना। यह वे जगह है, जहां मैं बतौर गांधी फेलो भी 2 साल काम कर चुका था और फिर बतौर पत्रकार भी यहां रिपोर्ट करते हुए 'बदलाव' को ध्यान से देख रहा था। यह फैलोशिप उन्ही बदलावों और जड़ताओं के दस्तावेजीकरण का मौका देती है।

आजादी और लोकतंत्र का सवाल

सर्वेश्वर दयाल सक्सेना कहते हैं कि देश कागज पर बना नक्शा नहीं होता। उनकी यह बात इस बारे में सोचने के लिए मजबूर करती है कि देश आखिर है क्या? 15 अगस्त, 1947 के बाद जब भारत ने आकार लेना शुरू किया, तो यह सवाल सबसे बड़ा था कि स्वतंत्रता आंदोलन में आज़ादी को लेकर जो वायदे किए गए थे, उनको पूरा कैसे किया जाएगा? कैसे हम एक बेहतर समाज का निर्माण करेंगे? बेहतर समाज का निर्माण हमारे लिए इसलिए भी एक जटिल सवाल था, क्योंकि 1947 से पहले मानव इतिहास की कई महत्वपूर्ण घटनाएं और आंदोलन हो चुके थे। ज्ञानोदय से लेकर फ्रांसीसी क्रांति तक कई ऐसी महत्वपूर्ण घटनाएं दुनिया पहले ही देख चुकी थी, जिसने दुनिया के एक बड़े हिस्से को बदलाव के लिए प्रेरित किया था।

हम न तो पूरी तरह पूंजीवादी हुए थे और न ही हमने सोवियत की तरह साम्यवाद का रास्ता चुना। हमने मिश्रित अर्थव्यवस्था या कहें बीच का रास्ता चुना, मगर पाश कहते हैं, 'बीच का रास्ता नहीं होता', यानी यह मार्ग दुर्गम था। यही कारण है कि हमारा संविधान अलग-अलग देशों से सीख लेते हुए बना। हमारे पुरखों ने ऐसे संविधान की कल्पना की, जो सामाजिक और राजनीतिक दोनों ही तरह के परिवर्तन को बराबर तरजीह देता है। ऐसा क्यों करना पड़ा? यही मेरी इस फैलोशिप का पहला सवाल था। पढ़ते हुए और मध्यप्रदेश के आदिवासी क्षेत्र में घूमते हुए यह समझ आया कि लोकतंत्र में लोक और

तंत्र दोनों को संवारना था, इसलिए ऐसा संविधान बना, जो कानून की किताब या अनुच्छेदों का समुच्चय भर नहीं है, बल्कि एक 'इंटेलेक्चुअल टेक्स्ट' है।

... मगर भारत तब तक लोकतांत्रिक देश नहीं बन सकता, जब तक यहां के सबसे दमित तबके के साथ न्याय न हो। अलीराजपुर में घूमते हुए मुझे एक वरिष्ठ पत्रकार ने बताया कि 1970 तक भी यहां के भील आदिवासी दिल्ली और संवैधानिक भारत को नहीं जानते थे। ऐसे में मुझे यह जानने का बेहद मन था कि आज़ादी के इतने साल बाद आदिवासी जीवन में संवैधानिक मूल्यों का क्या महत्व है? यदि गणतंत्र केवल तीन थके हुए रंगों का नाम नहीं है, तो ज़रूर इन आदिवासियों तक इन संवैधानिक मूल्यों से 'लेस' व्यवस्था का परिमाण होना चाहिए था। इसके अलावा इतने सालों में यह आदिवासी कितने बदले हैं और ऐसे में संवैधानिक मूल्यों की स्थिति कैसे बदली है, यह जानना भी मेरे लिए इस यात्रा का हिस्सा रहा है।

चूंकि मेरा विषय 'आदिवासी जीवन और संवैधानिक मूल्य' है, इसलिए संवैधानिक मूल्यों पर आने से पहले यह बात करना ज़रूरी है कि आदिवासी हैं कौन? फैलोशिप के शुरुआती 4 माह तक मैंने भोपाल, इंदौर, बड़वानी, खरगोन, झाबुआ और अलीराजपुर में आदिवासियों पर या इनके लिए काम कर रहे अलग-अलग तरह के लोगों से बात की। इसमें नर्मदा बचाओ आंदोलन के साथियों से लेकर शिवगंगा के वे कार्यकर्ता भी थे, जिनके हाथों में शिवलिंग पकड़ा दिया गया है। इसके अलावा फैलोशिप के दौरान मैं ऐसे भी आदिवासी कार्यकर्ताओं से मिला, जिन्होंने कांग्रेस के झंडे पकड़ने से अपनी राजनीति की शुरूआत की थी और अब भगवा झंडा लेकर अक्सर झाबुआ में यात्रा निकालते नज़र आते हैं।

इन सभी से संवाद करते हुए मैंने एक सवाल ज़रूर कियाआदिवासी मतलब क्या? इस सवाल के मुझे अलग-अलग जवाब मिले, मगर शिवगंगा के एक कार्यकर्ता के साथ हुआ संवाद बिना नाम लिए ज़िक्र करना बेहद ज़रूरी है। झाबुआ की हाथीपावा में हलमा के ज़रिए बनाए गए ट्रेंचेस को देखते हुए मैंने जब यह सवाल उनसे किया, तो उन्होंने मुझे टोकते हुए कहा'आदिवासी नहीं वनवासी बोलिए। आदिवासी बाहरी लोगों का दिया हुआ शब्द है, जिसका मतलब है कि ये लोग आदिमानव हैं और उनको कुछ नहीं आता।' झाबुआ के विषय में भोपाल में हो रहे एक सेमीनार में भी यही तर्क देते हुए एक वक्ता ने कहा था कि हमें वनवासी शब्द का ही इस्तेमाल करना चाहिए, मगर यही सबसे ज़्यादा दिक्कत देने वाला है। Narratives from the Margins: Aspects of Adivasi History in India नाम की पुस्तक में नंदनी सुंदर अपने लेख 'Adivasi Politics and State Responses' में लिखती हैं कि आदिवासियों को वनवासी कहना असल में उनको उनके मूल से काट देना है। इसे और साधारण शब्दों में कहें, तो वनवासी का मतलब वनों में निवास करने वाली जनसंख्या से है, जबकि आदिवासी का अर्थ है इस धरती के सबसे पुराने निवासी।

मेरे लिए फैलोशिप के शुरुआती दिनों में यह जिज्ञासा बेहद रोचक बन गई थी। इस पर पढ़ते हुए यह बात समझ आई कि यह पूरा मामला आदिवासियों की पहचान, इतिहास और न्याय के मूल्य से भी जुड़ा हुआ है, यानी बहुत सोचे-समझे तरीके से आदिवासियों के इतिहास को गोल कर उसमें अपना एजेंडा घुसाने का प्रयास किया जा रहा है, मगर एक सवाल यह भी है कि इस तमाम पड़ताल से मेरे अंदर क्या बदलाव हुए? मैंने अपने अंदर यह बदलाव महसूस किया कि मैं अब किसी भी व्यक्ति की पहचान और उससे जुड़े इतिहास को लेकर पहले से ज़्यादा संजीदा हो गया हूं।

आदिवासी जीवन में मूल्यों का स्थान

तोल्या बाबेरिया झाबुआ जिले के बावड़ी बड़ी गांव के रहने वाले हैं। वे बंधुत्व शब्द का ठीक-ठीक उच्चारण नहीं कर सकते, मगर जब मैं उनके घर गया, तो उन्होंने मेरा अभिवादन स्वीकार करते हुए मुझे बैठने के लिए कहा। लगभग 10 मिनट तक

वे इस बारे में चिंतित रहे कि मैं मुख्य सड़क से उनके गांव तक पैदल क्यों आ गया? उनका कहना था कि मैं अगर उनको फोन कर लेता, तो वे मुझे लेने खुद सड़क तक आ गए होते। यह कहते हुए वे ज़मीन पर बैठ गए। जबकि इस दौरान मैं खाट पर बैठा हुआ था। तोल्या बाबेरिया मुझे नहीं जानते। वे सिर्फ इतना जानते हैं कि मैं उनके गांव के तालाब और नदी देखने आया हूं। इन्हें दिखाना उनके काम का हिस्सा नहीं है, मगर वे पूरे दिन मुझे यह दिखाते हुए मेरे खाने और पानी पीते रहने का ख्याल रखे हुए थे।

मैं जब तोल्या के घर गया, उसके कुछ दिन पहले ही मैं खरगोन में था। इस शहर में मैं दो साल रहा, मगर खरगोन आने के शुरूआत के दिन मुझे सबसे ज्यादा याद हैं। यहां की जनसंख्या में गिने गए लगभग हर बाशिंदे ने मुझसे बात करना शुरू करने के शुरुआती सेकंडों में ही यह जानना चाहा कि मैं अपना उपनाम क्या लिखता हूं? और स्पष्ट कहें, तो वे यह जानना चाहते थे कि मैं कौन जात का हूं, मगर तोल्या खरगोन और ऐसी तमाम शहरी बसाहट से काफी दूर थे। भौतिक रूप से भी और सांस्कृतिक रूप से भी।

मुझे ठीक-ठीक याद है, जब इंदौर के एक थ्री स्टार होटल में मुझसे मेरी जाति पूछी गई थी। होटल के उस कमरे में महंगे गद्दे थे, मगर सुकून नहीं था, लेकिन तोल्या और उसके जैसे जिस भी आदिवासी के घर मैं दो-तीन और कभी-कभी हफ्तेभर भी रुका हूं, वहां मुझे अलग किस्म का सुकून महसूस हुआ। संविधान की उद्देशिका में ही बंधुता को व्यक्ति की गारिमा और राष्ट्र की एकता और अखंडता सुनिश्चित करने वाला बताया गया है, मगर दिक्कत यह है कि एक खास विचार में अंधे लोग इस बात को नहीं समझ सके। जैसे मेरे लिए इंदौर की उस होटल में रहना तब कठिन हो गया, जब मैं जाति, धर्म, लिंग, भाषा और शिक्षा जैसे तमाम आधारों पर प्रिविलेज हूं, तो सोचिए उन लोगों के साथ क्या सुलूक होता होगा, जो इनसे वंचित हैं।

झाबुआ के आदिवासी समुदाय ने मुझे बताया कि कैसे बंधुत्व सुनिश्चित कर हम समाज को स्वतंत्र और भयमुक्त बना सकते हैं। मैंने इस बारे में अपने दोस्तों और ख़ासतौर पर मेरे साथ रह रहे आकाश और विनय से खूब बातें कीं। हमने यह सुनिश्चित किया कि हमारे घर में पेपर डालने वाले भइया से लेकर खाना बनाने वाली दुर्गा आंटी तक, सभी को एक सुरक्षित माहौल दिया जा सके। ऐसा माहौल बनाना कठिन नहीं है, मगर मूल्यों के बारे में बात करना ज़रूर कठिन था। यह खतरा हमेशा था कि कहीं ये बातें कोरा ज्ञान और उबाऊ न हो जाएं, मगर विकास संवाद ने इस कठिनाई को हल करने में खूब मदद की। हमने सचिन सर की 'जीवन में संविधान' किताब पर बात की। यह किताब इस लिहाज़ से महत्वपूर्ण थी कि यह कहानियों का संग्रह है, मगर यह गाइड भी है कि कैसे हमारे आस-पास इन मूल्यों का ह्रास हो रहा है और कैसे खुद के प्रयासों से इसे ठीक किया जा सकता है। यह हमारी सामूहिक सफलता ही है कि हमारे घर आने वाले लोगों से उनकी जाति या धर्म इंगित करने का आग्रह नहीं किया जाता। दुर्गा आंटी का बड़े कप में ही चाय पी लेना हमारे लिए कोई आश्चर्यचकित करने वाली घटना नहीं है।

...मगर चाहे मेरा जीवन हो या फिर झाबुआ में रहने वाले आदिवासियों का, दोनों में ही राज्य का अच्छा-खासा दखल है। हाल ही में हुए एक संवाद में एक वरिष्ठ पत्रकार ने कहा कि ऐसा नहीं हो सकता कि किसी व्यक्ति में एक मूल्य हो और दूसरा न हो। यह सच भी है कि यह सब कुछ जुड़े हुए हैं। अपनी बात को और स्पष्ट तरीके से समझाने के लिए मैं अनिल यादव की लंबी कहानी 'गोसेवक' का उदाहरण देता हूं। इस कहानी में एक आदिवासी नेता राजनीतिक फायदे के लिए एक मुस्लिम युवक की लिंचिंग करवा देता है। लेखक ने अपने एक साक्षात्कार में कहा कि आदिवासी बदल गए हैं। वे पहले जैसे भोले नहीं रहे। मेरी अलीराजपुर की यात्रा के दौरान इंदौर में मेरी मुलाक़ात एक सामाजिक कार्यकर्ता से हुई, जो आदिवासी क्षेत्रों में वन अधिकार कानून दिलाने के लिए लड़ रही हैं। उन्होंने भी कहा कि बाज़ार और दक्षिणपंथी ताकतों

ने आदिवासियों को बदला है।

झाबुआ में भी यह बदलाव देखने को मिलता है। यहां मोबाइल के बढ़ते प्रचलन ने कई बदलाव किए हैं। यह बदलाव ऐसे देखिए कि लोगों ने शादी में परंपरिक गीतों की जगह डीजे बजाने को बढ़ावा देना शुरू कर दिया है। इससे हुआ यह है कि शादियां कर्ज लेने का बड़ा कारण बनने लग गई हैं। राणापुर के कुछ गांवों में जब मैं घूम रहा था, तो वहां के बुजुर्गों का कहना था कि उनके गांव के लड़कों में महंगी गाड़ियां लेने का चलन भी बढ़ा है। इससे भी आर्थिक बोझ गहराया है। मैंने जब इस विषय की और पड़ताल की, तो एक बात समझ आई कि इंस्टाग्राम की रील के जरिये बड़ी गाड़ियां झाबुआ के इन युवाओं के मन में बस गई हैं। अब शहर की तरह इन युवाओं में भी सुपर बाइक (अत्याधुनिक बाइक) लेना स्टेटस सिंबल बन गया है। इसने झाबुआ में एक पोटेंशियल मार्केट तैयार कर दिया है। कई निजी फाइनेंस कंपनियां यहां बड़ी आसानी से लोन दे रही हैं। इसकी कागज़ी कार्रवाई के बारे में अक्सर इन ग्रामीणों को केवल उतना ही पता होता है, जितना इन कंपनियों के एजेंट बताते हैं।

...मगर इससे आर्थिक बोझ और क़र्ज़ का दुश्चक्र भी कष्टप्रद हुआ है। इसका परिणाम यह हुआ है कि वहां आर्थिक अपराध भी बढ़ गए हैं। राणापुर में जब मैं था, तो भगोरिया का त्योहार मनाया जा रहा था। इस दौरान मेले से लौटते हुए लोगों के साथ हुई लूट के किस्से अखबार में पढ़ने को मिले। इस बदलाव ने यहां के लोगों के मन में एक-दूसरे के प्रति एक शंका पैदा की है। इस शंका ने यहां के बंधुत्व को भी प्रभावित किया है।

इसी तरह मेघनगर जाने पर मालूम हुआ कि यहां के एक मात्र औद्योगिक क्षेत्र में व्यक्ति की गरिमा से लेकर जीवन जीने के अधिकार तक को ताक पर रखा जा रहा है। यहां के मेघनगर औद्योगिक क्षेत्र में 22 केमिकल इंडस्ट्री की फैक्ट्रियां हैं। इनसे निकलने वाला अपशिष्ट न सिर्फ पास स्थित अनास नदी को दूषित करता है, बल्कि यहां के भूजल को भी विषैला बना रहा है। मैंने तय किया कि मैं प्रदूषित नदी का पूरा स्ट्रेच पैदल चलकर देखूंगा। इस दौरान यहां सांस लेना भी किसी संघर्ष से कम नहीं था। यह केमिकल वाला पानी गांव के एक तालाब में भी भरा हुआ है। गर्मी में यह इलाका एक-एक बूंद पानी के लिए तरसने लगता है। तब मवेशी इस तालाब का पानी पी लेते हैं, जिससे उनकी मौत हो जाती है। मैं जब प्रदूषित नदी के किनारे चल रहा था, तो ऐसे कई मृत जानवरों के शव मुझे पानी पर तैरते हुए दिखे।

गांव के लोगों ने बताया कि जब भी कंपनियों के खिलाफ शिकायत की जाती है, तो उनके विरुद्ध बस दिखावटी कार्रवाई की जाती है। इस मामले में मैं जब मप्र प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड के ऑफिस पहुंचा, तो यहां के एक बड़े अधिकारी मुझसे ही बहस करने लग गए। मैंने उनसे पूछा कि क्या वे जानते हैं कि प्रदेश में कितनी केमिकल इंडस्ट्री हैं? इस पर उन्होंने कहा कि वे मुझे क्यों बताएं कि प्रदेश में कितनी इंडस्ट्री हैं और मेघनगर पर क्या कार्रवाई की गई है? इस तरह उन्होंने मुझसे आधा घंटे बहस की और किसी भी तरह की सूचना देने से इन्कार कर दिया। बाद में मुझे यह जानकारी सूचना के अधिकार के तहत मांगनी पड़ी,मगर यह दिखाता है कि कैसे हमारे ही पैसे से वेतन पाने वाले लोगों से जानकारी लेने के लिए आपको कुछ होना पड़ेगा, यानी स्टेट के नजर में इंसान की जान सबसे कम कीमती है। अब राजनीतिक दखल का उदाहरण देखते हैं। शिवगंगा के प्रभाव के चलते प्रदीप भगत बन गए हैं। भगत होने का मतलब है कि वे चप्पल नहीं पहनेंगे और मांस-मछली नहीं खाएंगे, मगर इससे भी आगे एक और बदलाव यह आया है कि भगवा कपड़े अब प्रदीप के जीवन का अभिन्न हिस्सा हो गए हैं। वे मुझसे बात करते हुए बता रहे थे कि कैसे उनके पूर्वज सालों से शिवशंकर को ही पूजते आए हैं, मगर उन्हें यह नहीं बताया गया कि ये शिव हैं, इसलिए वे इसे बाबदेव कहते आ रहे थे। हालांकि अब भी ज्यादातर लोग उन्हें 'बाबदेव' या 'बड़ादेव' ही कहते हैं, मगर उनकी पूजा की पद्धति धीरे-धीरे बदल रही है। यह बदलाव उनके साथ एक राजनीतिक अन्याय है। यह उनकी पहचान के साथ भी खिलवाड़ है।

ये बातें आदिवासी समुदाय में घटित हो रही थीं, मगर मेरे लिए इसमें क्या था? मैंने इनसे क्या सीखा? इस सवाल का जवाब है कि यदि मैंने संवैधानिक मूल्यों के प्रति एक समझ विकसित न की होती, तो ये घटनाएं मेरे लिए विशेष होती हीं नहीं। ऐसी ही एक और घटना है, जिसमें केगू नाम का एक व्यक्ति सिकल सेल एनीमिया से पीड़ित है। वे कोई काम नहीं कर सकता और आर्थिक रूप से संघर्ष कर रहा है, मगर उसके रिश्तेदारों के लिए वे हंसी का पात्र है। उसे हर महीने खून की जरूरत होती है। इसकी पूर्ति उसके रिश्तेदारों से होती है, मगर इसके एवज में वे उससे शराब, आने-जाने का खर्च और अतिरिक्त पैसे की मांग करते हैं, यानी उसे अपनी जान बचाने के लिए हर महीने 5 हजार रुपए खर्च करना पड़ता है। यह एक व्यक्ति के मानव होने की गरिमा का भी हनन है।

इन घटनाओं को संवैधानिक मूल्यों के साथ देखने का नजरिया मुझे इस फैलोशिप में ही मिला। इस नजरिये ने यह सिखाया कि चीजें संविधान के लागू होने के बाद कैसी होनी चाहिए थी और कैसे नहीं हैं। इस बात ने मुझे इस चीज के लिए प्रेरित किया कि मैं अपने आप में ऐसा बदलाव लाऊं, जिससे ये हालात सुधर सकें। इस क्रम में मुझे कई छोटे-छोटे अनुभव हुए, जैसेहम अपने घर में कम करने वाली महिला को 'कहारिन' बोलते आए थे। यह एक भाषाई संस्कार की तरह हमारे अंदर विकसित हुआ, मगर हाल ही में अचानक मुझे यह महसूस हुआ कि यह एक जाति सूचक शब्द है। यह जानकर कि मैं इतने लंबे समय से एक जाति सूचक शब्द का इस्तेमाल कर रहा था, मुझे बेहद ग्लानि महसूस हुई। मैंने इस बारे में अपनी मां से बात की। उन्हें समझाया कि जैसे हमारी पहचान केवल इतनी नहीं है कि हम एक ख़ास उपनाम लिखते हैं, वैसे ही हमारे यहां काम करने वाली महिला की पहचान को भी सीमित कर देना गलत है। कई बार बात करने के बाद अब हालत यह है कि उन्हें उनके नाम से बुलाया जाता है न कि 'कहारिन' कहकर, मगर क्या इससे हमारे परिवार में व्याप्त जातिवाद खत्म हो गया? यह दावा करना भी अतिशयोक्ति है, लेकिन यह भरोसा जरूर मिला है कि छोटी-छोटी चीजों से समाज में बड़े बदलाव लाए जा सकते हैं।

इस फैलोशिप ने मुझे प्रोफेशनल फायदा भी पहुंचाया है। सबसे पहला फायदा तो यही हुआ कि मैंने 6 बड़ी-बड़ी रिपोर्ट की हैं। इस फैलोशिप ने हर बार मुझे कुछ और कुछ और खोजने के लिए प्रेरित किया। इसके चलते मैं झाबुआ और अलीराजपुर के एक दम अंदर तक जाकर वहां से ख़बरें ला सका। लोगों से देर तक बात करते हुए, जो संबंध विकसित हुए उनके आधार पर मैं कई दिनों तक गांव में रहा। इस दौरान लोगों ने मुझे उनके गांव, संस्कृति और समस्याओं के बारे में बताया। इससे मुझे स्टोरी आइडिया की कमी कभी भी महसूस नहीं हुई। साथ ही फैलोशिप के दौरान की गई पढ़ाई ने मुझे और संवेदनशील बनाया। इससे लोगों के साथ जुड़ने में सहायता मिली।

साथ ही इस संवेदनशीलता ने मुझे कुछ ऐसी ख़बरें करने के लिए प्रेरित किया, जो शायद मैं अन्यथा न देख पाता, मसलनमैं लोकसभा चुनाव की रिपोर्टिंग के लिए भोपाल के पास स्थित गांव जा रहा था। इस दौरान भरी धूप में मुझे 2 महिलाएं खेतों में काम करते हुए दिखीं। मुझे थोड़ा अचरज हुआ, क्योंकि इस दौरान तक गेहूं की फसल कट चुकी थी। ऐसे में यह सवाल आया कि ये महिलाएं यहां क्या कर रही हैं? मैंने जब उनसे जाकर पता किया, तो मालूम हुआ कि वे खेतों में फसल कट जाने के बाद बिखरी हुई गेहूं की बालियां चुन रही हैं। यह कई लोगों के लिए सामान्य है, मगर सोचिए कि जब देश की वित्तमंत्री ने 80 करोड़ लोगों को पीडीएस का राशन देने को एक सफलता के रूप में प्रस्तुत किया हो, तो इन महिलाओं द्वारा तपती धूप में अपने बच्चों का पेट भरने के लिए ऐसे गेहूं की बालियां चुनना एक बड़ी घटना है।

कुछ सफलताओं और असफलताओं की कहानी

मैं भोपाल में रहता था, जबकि मेरा कार्यक्षेत्र झाबुआ था। ऐसे में नियमित रूप से पियर ग्रुप के संपर्क में रहना नहीं हो पाया।

फिर भी हमने एक साल में 10 बार चर्चाएं कीं। ये चर्चाएं काफी अनौपचारिक थीं। हमने किसी भी तात्कालिक मुद्दे पर चाय पीते हुए बात करना शुरू की और यह चर्चा करने लगे कि संवैधानिक दृष्टि से चीजें कैसी होना चाहिए थी। शुरुआती 3 चर्चाओं तक हम 6 लोग थे. इनमें मेरे साथ एक वकील, एक सरकारी कर्मचारी, दो समाजसेवक (गांधी फेलो) और एक स्थानीय व्यापारी शामिल थे। तीन चर्चाओं के बाद मैंने यह महसूस किया कि उनमें चर्चा का उत्साह कम हो गया। इस बीच कुछ लोगों ने झाबुआ भी छोड़ दिया। ऐसे में अंत में हम 3 लोग ही बचे। हालांकि हमने न सिर्फ चर्चा की, बल्कि फील्ड में साथ गए भी, मगर यह बात मैं पूरी ईमानदारी से स्वीकार करूंगा कि मैंने एक साल में इस ग्रुप में कोई ख़ास बदलाव नहीं देखा। यह बात मुझे निराशा से भर देती थी कि ये चर्चाएं किसी गप्प की तरह बदल गई थीं, जिनका ज़हनी तौर पर कोई असर नहीं दिखाई दिया। हमारे ही पियर ग्रुप का एक साथी न सिर्फ राजनीति में उतरा, बल्कि अब वे अक्सर हाथ में भगवा ध्वज लिए यात्रा निकालते नज़र आता है। यह दिखाता है कि झाबुआ जैसे आदिवासी क्षेत्र में भी कैसे दक्षिणपंथी राजनीति ने अपने पैर जमाने शुरू किए हैं।

...मगर इस बीच भोपाल में भी एक पियर ग्रुप अपने आप ही विकसित हो गया। मेरे साथ रहने वाले आकाश और विनय से मैं अपनी दिनचर्या लगभग रोज कहता हूं। विकास संवाद से लाई गई किताबों में उन्होंने भी रुचि लेना शुरू किया। ऐसे में हमारे बीच ही संविधान को लेकर ऑर्गेनिक चर्चा होना शुरू हो गई। हमारे बीच होने वाली इन चर्चाओं के कारण हमारे घर में एक बदलाव महसूस हुआ। इसे एक घटना के माध्यम से समझाता हूं। दुर्गा आंटी जो हमारे फ़्लैट में खाना बनाने आती हैं, पर गुस्सा करते हुए हममें से एक ने कहा, ''आने दो उनको, आज खूब सुनाऊंगा।'' इस पर आकाश ने टोकते हुए कहा कि हम ऐसा नहीं कर सकते, क्योंकि वे हमारे घर में काम करती हैं और उसके बदले हम उनको पैसे देते हैं। यदि हमें उनका बनाया हुआ खाना पसंद नहीं आ रहा है, तो यह उनकी गलती नहीं है। आकाश ने कहा कि हमें किसी भी व्यक्ति की गरिमा पर प्रहार करने का हक नहीं है। इसके अलावा हमने दुर्गा आंटी को हर बार इस बात के लिए टोकना शुरू किया कि वे यदि कुछ खा रही हैं, तो जमीन पर नहीं, कुर्सी पर बैठें। इससे यह परिवर्तन भी आया कि उन्होंने हम पर और ज्यादा ध्यान देना शुरू कर दिया। यह हमारे बीच बढ़ते हुए बंधुत्व को महसूस करने का समय था।

मैं यह नहीं कहूंगा कि यह फैलोशिप मेरे लिए खत्म हो रही है, बल्कि मैं इसे एक शुरुआत मानता हूं। मुझे अभी और पढ़कर संवैधानिक मूल्यों के उन पक्षों पर बात करना है, जो इस पूरे संवाद में छूट गई है, जैसेहमने नीति-निर्देशक तत्वों पर सबसे कम बात की है, जबकि यह तत्व इस बात की गारंटी थे कि स्टेट अपनी नीतियां बनाते हुए संवैधानिक मूल्यों का कैसे पालन करेंगे, मगर राज्यों ने अक्सर ही इन तत्वों को तिलांजलि दी है। भारत के वन कानून इसकी सबसे बड़ी नजीर हैं। इसे मैंने सत्यम श्रीवास्तव के साथ चर्चा करते हुए बताने का प्रयास किया है। हालांकि इसमें कई बातें हैं, जिन पर और विस्तार से बात की जाना चाहिए। इस प्रकार यह एक पड़ाव मात्र है, जिसके आगे कई और काम करने बाकी हैं।

अंत में मैं शुक्रिया करना चाहूंगा विकास संवाद का, जिन्होंने न सिर्फ मुझे इस फैलोशिप के लायक माना, बल्कि काम करने की आज़ादी और खूब पढ़ने एवं सीखने का मौका दिया। मेरे करियर के सबसे पहले और सबसे बेहतरीन एडिटर पल्लव जैन का, जिन्होंने मुझे ग्राउंड रिपोर्ट में बतौर विशेष संवाददाता जगह दी और हर बार कहानियों को बेहतर ढंग से कहने के गुण सिखाए। राजीव भाई, जिन्होंने कहानियों को पर्सपेक्टिव के साथ कहना सिखाया। जामिया मिलिया इस्लामिया का, मेरे मेंटर चंद्रकांत नायडू सर, सचिन सर, चिन्मय सर, विभूति सर, पंकज सर, रेहमत सर एवं एनबीए के तमाम साथी, गायत्री और मेरे दोस्तों का।

मेरी यात्रा: खत्म नहीं होता स्वीकारे जाने का इंतजार

शिवांगी सक्सेना

अक्सर हम इन्हें देखकर गाड़ी का शीशा चढ़ा लेते हैं। आंखें इन्हें एक जिज्ञासा के साथ घूरती हैं। घिन भी आती है। हमने इन लोगों को मोहल्ले और बाजार में अक्सर देखा होगा, लेकिन जान नहीं पाए होंगे। इन्हें समझ नहीं पाए होंगे। हम इनकी परेशानियां सुन भी लेते हैं। लेकिन स्वीकार नहीं कर पाते। ये वे लोग हैं जो हर पल, हर लम्हे में अपनी पहचान से जूझते हैं। ज़िंदगी के हर कदम पर अपनी पहचान को ढूंढ रहे ये शख्स ट्रांसजेंडर हैं। ये वे लोग हैं जो जीवनभर अपने स्वीकार किए जाने का इंतजार करते हैं। लेकिन अपनी जिंदगी इस कशमकश में बिता देते हैं कि हम कौन हैं... और जब इसका जवाब मिलता है, तब हम ही नाक चढ़ा लेते हैं। ट्रांसजेंडर समुदाय हमेशा से हमारे समाज का हिस्सा रहे हैं, लेकिन दबे, कुचले और सहमे हुए। इनके जीवन की जितनी गहराई में झांकेंगे, उनके लिए दया आएगी। लेकिन इस फैलोशिप के अंत में दया या सद्भावना नहीं, इन्हें बराबर देखने का नजरिया मिलता है।

परिचय

शिवांगी सक्सेना ने बीते चार वर्ष की अपनी पत्रकारिता में राजनीति, लैंगिक हिंसा, सामाजिक न्याय और मानवाधिकार उल्लंघनों के मुद्दों पर कलम चलाई है। शिवांगी सक्सेना को लैंगिक-संवेदनशील पत्रकारिता का लाड़ली मीडिया पुरस्कार और आईआईएमसीएए रिपोर्टर ऑफ द ईयर पुरस्कार (2025) से सम्मानित किया गया है। उत्तर प्रदेश में कोविड-19 से हुई तबाही पर उनकी ग्राउंड रिपोर्टिंग को रेडइंक पुरस्कार (2022) के लिए चुना गया था। शिवांगी सक्सेना डीडब्ल्यू पर्यावरण पत्रकारिता इको-फ्रंटलाइन ग्रांटी (2023) भी हैं। संविधान संवाद फैलोशिप में शिवांगी सक्सेना ने ट्रांसजेंडर्स के अधिकारों पर अध्ययन किया है।

जब मैं पहली बार भोपाल के मंगलवारा और बुधवारा गई तो सबसे पहले मेरी मुलाकात रेशमा से हुई। वे एक कमरे वाले अपने मकान में अकेले बैठी थी। जब भी हम ट्रांसजेंडर महिला को सड़क पर भीख मांगते देखते हैं, हमें डर लगने लगता है। शायद इसी डर के कारण मैं कुछ दिन तक बुधवारा में घूमती रही लेकिन किसी से बात करने की हिम्मत नहीं जुटा पा रही थी। मैंने रेशमा से पूछा, ''क्या मैं आपसे थोड़ी देर बैठकर बात कर सकती हूं?'' रेशमा ने हंसकर जवाब दिया, ''क्या अपने दोस्तों से भी ऐसे ही पूछती हो?'' मैं भी हंसने लगी और फिर घंटों तक हमारी बात चली। रेशमा ने मुझे अपने समाज के बारे में बताया। जैसे बुधवारा में मर्दाना और मंगलवारा में जनानी रहती हैं। रेशमा ने अपने रहने के तौर तरीके भी बताए। सुबह 10 बजे से होते-होते दोपहर के डेढ़ बज गए। समय तेजी से बीत गया।

रेशमा ने मेरी मुलाकात शिवानी से कराई। शिवानी मॉडर्न ट्रांसमहिला लग रही थी। उसने जींस, टॉप और स्कार्फ पहना हुआ था। वे मॉडल बनना चाहती थी, लेकिन डेरे में रहने के लिए उसे टोली-बधाई का काम ही करना पड़ता था। उसे मुझमे कुछ उम्मीद दिखी थी शायद, क्योंकि मैं एक बड़े मीडिया हाउस में काम करती हूं। फिर बातों-बातों में उसे पता चल गया था कि मैंने मुंबई से पढाई की है। शिवानी ने मुझे अपना फोन नंबर दे दिया था। हम व्हाट्सएप पर बात करने लगे। एक दिन उसने मुझे सुबह 8 बजे मंगलवारा बुलाया। वे मुझे टॉयलेट की स्थिति दिखाना चाहती थी।

शिवानी मुझसे कहती हैं, ''भोपाल के कोने-कोने में सार्वजनिक शौचालय बने हुए हैं। लेकिन आपने गौर किया होगा इन शौचालय के बाहर 'पुरुष' और 'स्त्री' लिखा रहता है। जब कानून ने हमको तीसरे लिंग के रूप में मान्यता दी है तो सरकार यह भेदभाव क्यों कर रही है?''

भोपाल के दिल में बसा है मंगलवारा और बुधवारा जहां सैंकड़ों किन्नरों का बसेरा। यहां 30 से अधिक घराने हैं। मंगलवारा में 'महिला' प्रवृत्ति के किन्नर रहती हैं। वहीं बुधवारा में 'मर्दाना' रहते हैं। इनकी मांग है कि ये भी एक आम नागरिक की तरह जीवन बिता सकें।

सुबह 9 बजते ही सभी किन्नर इलाके में मौजूद 4 शौचालयों के बाहर लाइन लगाकर खड़े हो जाते हैं। अधिकतर किन्नर अपने घराने के बने टॉयलेट का इस्तेमाल करते हैं। यहां हमारी मुलाकात जानकी से हुई। पच्चीस वर्षीय जानकी कोहफिजा में रिसेप्शनिस्ट की नौकरी करती हैं। उनका कहना है कि भोपाल में ट्रांसजेंडर समुदाय के लिए सार्वजनिक शौचालय न होने के कारण प्रतिदिन उन्हें कई दिक्कतों का सामना करना पड़ता है।

शिवानी बताती हैं, ''अधिकतर किन्नर, महिलाओं के लिए बनाए गए शौचालय का उपयोग करते हैं, लेकिन जब हम उनके टॉयलेट में जाते हैं तो वो हमें घूरकर देखने लगती हैं। उन्हें असहज लगने लगता है कि ट्रांसजेंडर लेडीज़ शौचालय में क्यों आ गए। बहुत बार कार के पीछे जगह ढूंढ़नी पड़ती है। ऐसे में बहुत शर्मिंदगी महसूस होती है। पुरुष हमें सही नज़रों से नहीं देखते हैं। महिलाएं कई बार उल्टासीधा भी बोल देती हैं। कई औरतें मुझसे पूछ लेती हैं कि आप लड़के हो या लड़की। समाज के इस बर्ताव से बचने के लिए हमें शौच रोककर चलना पड़ता है। रास्ते में कोना ढूंढ़कर शौच करने में शर्म आती है। रुककर देखना पड़ता है, कहीं शौचालय में कोई महिला तो नहीं। महिलाओं वाला शौचालय जब खाली होता है, तभी उसका इस्तेमाल करती हूं।''

भारतीय संविधान का अनुच्छेद 21 प्रत्येक व्यक्ति को सम्मान के साथ अपना जीवन जीने का अधिकार देता है। इस अनुच्छेद में निजता को मौलिक अधिकार माना गया है। चूंकि ट्रांसजेंडर के लिए कोई सार्वजनिक शौचालय नहीं हैं, इसलिए उन्हें मजबूरन पुरुष शौचालयों का उपयोग करना पड़ता है। अक्सर इस हालात में उन्हें यौन उत्पीड़न का शिकार भी होना पड़ता है।

साल 2014 में सुप्रीम कोर्ट ने ट्रांसजेंडर लोगों को 'तीसरे लिंग' का दर्जा देते हुए एक व्यक्ति को स्वयं के लिंग का निर्धारण करने का अधिकार दिया। फैसले में अस्पतालों सहित सार्वजनिक स्थानों पर ट्रांसजेंडर व्यक्तियों के लिए अलग शौचालय का निर्देश शामिल था। भारत में ट्रांसजेंडर व्यक्तियों का कोई आधिकारिक डेटा उपलब्ध नहीं है। यह उनके लिए पॉलिसी बनाने में अड़चन पैदा करता है।

ट्रांसजेंडर एक्टिविस्ट सरिता बताती हैं, ''भारत की जनगणना विशेष रूप से 'ट्रांसजेंडर' पर कोई डेटा एकत्र नहीं करती है। साल 2011 में पहली बार जनगणना में महिला, पुरुष के साथ 'अन्य' भी एक केटेगरी बनाई। इसके अनुसार 5 लाख लोग इस केटेगरी में गिने गए, लेकिन अब यह संख्या बढ़कर 15 लाख पहुंच गई है। सरकार आज भी पांच लाख के आंकड़े को देखते हुए पॉलिसी बनाती है। आज भी ट्रांसजेंडर व्यक्तियों के साथ सबसे अधिक अपराध पब्लिक टॉयलेट और हाईवे पर होता है।''

वे आगे कहती हैं, ''पहले सुरक्षित पेयजल और स्वच्छता एक ही अधिकार हुआ करते थे, लेकिन स्वच्छता के साथ 'गरिमा' जुड़ी है। कमजोर और अल्पसंख्यक समूहों पर अधिक ध्यान दिया जाना चाहिए। ऐसा 2010 में यूएन कमिटी ऑन इकोनॉमिक, सोशल एंड कल्चरल राइट्स ने कहा था। संयुक्त राष्ट्र महासभा संकल्प सुरक्षित पेयजल और स्वच्छता का

मानव अधिकार, 2015 को याद करना होगा। सदन ने स्वीकार किया है कि सुरक्षित पेयजल और स्वच्छता तक समान पहुंच अहम मानवाधिकार है, जो बिना भेदभाव के लागू होना चाहिए। स्वच्छ भारत अभियान से पहले हमारे देश में स्वच्छता कोई अधिकार नहीं था। हालांकि सुप्रीम कोर्ट ने आर्टिकल 21 का हवाला देते हुए यह कहा है कि यह जीवन के मौलिक अधिकार का हिस्सा है और एक न्याययोग्य अधिकार है। फिलहाल स्वच्छता का अधिकार राज्य के नीति-निदेशक सिद्धांतों (भाग 4) का हिस्सा है।''

शिवानी ने मुझे अंजना से मिलवाया। अंजना ने सर्जरी कराई है। वे बचपन में पुरुष के शरीर में पैदा हुई, लेकिन उनका मन और आत्मा महिला का था। अंजना की सर्जरी के समय उसको खराब क्वालिटी का सिलिकॉन लगाने के कारण अक्सर उसके स्तन से खून निकलता था। बता दूं ट्रांसजेंडर में दो केटेगरी होती हैंट्रांसमेन और ट्रांसवूमन। ट्रांसमेन पैदा महिला के शरीर में हुए, लेकिन उनके भाव और पहचान महिला की है। वहीं ट्रांसवूमन वे हैं जो जन्म के समय पुरुष घोषित की गई, लेकिन उनका मन और आत्मा महिला का है। अक्सर ट्रांसजेंडर व्यक्ति एसआरएस सर्जरी के जरिए अपने गुप्तांग और ब्रेस्ट बदलवा सकते हैं, लेकिन इनमे लाखों का खर्चा आता है।

अंजना अपनी दोस्त निर्जरा की कहानी मुझसे साझा करती हैं। अंजना बताती हैं, ''भोपाल के सुभाष नगर में रहने वाली 23 वर्षीय निर्जरा की तबीयत कई महीनों से खराब चल रही थी। उनकी कोई सुनने वाला नहीं था। वो घर पर अकेली अपना इलाज करवा रही थीं। अगस्त में जब उनकी बीमारी और ज्यादा बढ़ गई तब उन्होंने एनजीओ से संपर्क करना शुरू किया। एक एनजीओ 'कम्युनिटी एंपावरमेंट ट्रस्ट' ने निर्जरा की मदद की। इलाज में पाया गया कि निर्जरा को एचआईवी है। निर्जरा अब हमारे बीच नहीं रही। जब 21 जुलाई 2022 को मैं निर्जरा के घर पहुंची तो वह जमीन पर पड़ी हुई थी। निर्जरा को पांच दिन पहले टाइफाइड हुआ था। तब हमने एक एनजीओ की मदद ली थी। हम उसे हमीदिया ले गए। वहां डॉक्टर ने हमें निर्जरा का इलाज करने से मना कर दिया। हम उसे एक प्राइवेट क्लिनिक ले गए। वहां जांच में पाया गया कि वे एचआईवी पॉजिटिव है। तीन दिन बाद डॉक्टर ने उन्हें एम्स में रेफर कर दिया। वहां पहुंचते ही निर्जरा की मौत हो गई।''

अंजना एक बहुत अहम बात बताती हैं, ''ट्रांसजेंडर व्यक्तियों के लिए कोई सरकारी हेल्पलाइन नंबर नहीं है। डॉक्टर को ये नहीं पता कि एक ट्रांसजेंडर की बनावट कैसी होती है। इस साल (2024) से एम्स भोपाल में हमारे जैसे ट्रांसजेंडर व्यक्तियों के लिए क्लिनिक खुला है। लेकिन इसका टाइमिंग कम है। दूसरा, डॉक्टर को हमारे शरीर की बनावट के बारे में नहीं पता। एक बार तो डॉक्टर ने मुझसे पूछ लिया तुम महिला जैसे हो, या पुरुष जैसे। यह कैसा अमानवीय सवाल था?''

अधिकतर ट्रांसजेंडर व्यक्ति मेडिकल सुविधा का लाभ नहीं उठा पाते। इसकी कई वजहें हैं। इंदौर के ट्रांसमेन ज़हीर की उम्र 31 साल है। वे हम से अपनी कहानी साझा करते हैं। ट्रांसमेन ज़हीर बताते हैं, ''मेरा जन्म मंदसौर के सुवासरा में हुआ था। बेटी पैदा हुआ तो माता-पिता ने नाम भी वैसा ही रखा। करीब छह साल उम्र रही होगी। मुझे अपने भीतर बदलाव महसूस होने लगा। लगता था कि शारीरिक रूप से लड़की जरूर हूं, लेकिन सोच लड़कों जैसी है। मुझे लड़कों के साथ खेलना पसंद था। क्लास में लड़कियों के साथ बैठाया जाता था, लेकिन अनकंफर्टेबल फील होता। किससे, क्या कहूं, कुछ समझ नहीं आता था। विचारों की ऐसी ही ऊहापोह के साथ मैं रोजाना बढ़ रहा था। किशोरावस्था में कदम रखा, तो शरीर में भी बदलाव आए। पीरियड्स भी शुरू हो चुके थे। आवाज बदलने लगी।'

वे आगे कहते हैं, ''मुझे यह सब अच्छा नहीं लग रहा था। सोचता था कि मुझे दाढ़ी क्यों नहीं आती? डिप्रेशन में रहने लगा। टॉयलेट में जाकर रोता। लगता था, मुझे बीमारी है। बारहवीं के बाद पढ़ने के लिए नागदा कॉलेज में एडमिशन लिया। यहां गर्ल्स हॉस्टल में रहता। यहां मैं लड़कों की तरह रहता, वैसे ही बात करता। हॉस्टल प्रबंधन को यह पसंद नहीं था।

डिस्कवरी चैनल पर मेरे जैसे लोगों पर शो आता था। इसे देखकर पता चला कि यह समस्या मेरी नहीं, बल्कि पूरी दुनिया की है। विदेशों में भी ऐसे लोग हैं, जो महिला पैदा हुए, लेकिन वे खुद को पुरुष के शरीर में बदल चुके थे। मुझे भी लगने लगा कि बदलाव संभव है।''

''2016 की बात है। ग्रेजुएशन खत्म होने वाला था। एक दिन मां ने फोन कर मंदसौर बुला लिया। मैं घर पहुंचा, तो मां ने 'सत्यमेव जयते' का एपिसोड दिखाया। इसमें समलैंगिक रिश्तों और आइडेंटिटी के बारे में दिखाया जा रहा था। मेरे हाव-भाव देखकर मां सब समझ गई। एपिसोड देखने के बाद वे सपोर्ट करने लगीं। एनजीओ बनाने के लिए प्रेरित भी किया।''

ज़हीर ने साल 2022 में एसआरएस यानी लिंग परिवर्तन सर्जरी कराने का सोच लिया। इसके लिए उन्होंने इंदौर के डॉ. सुमित जैस्वाल को संपर्क किया। लेकिन फिर जो हुआ उसे ज़हीर कभी नहीं भुला पाएंगे। ज़हीर बताते हैं, 'डॉ. सुमित जैसवाल इंदौर में 'जेनिथ' नाम से अपना क्लिनिक चलाते हैं। वे प्लाटिक व कॉस्मेटिक सर्जन हैं। भारत में अब तक एसआरएस सर्जेरी लीगल नहीं है। इसके लिए सरकारी अस्पतालों में कोई सुविधा नहीं है। कोई प्रशिक्षित डॉक्टर भी नहीं हैं। ऐसे में हमें प्राइवेट अस्पताल या क्लिनिक में सर्जरी करवाना पड़ती है। जिनके पास पैसे हैं वे थाईलैंड जाकर इसे करवाते हैं। हमारे पास पैसे नहीं है। भारत में इस सर्जरी के लिए पांच लाख रुपए से लेकर 10 लाख रुपए तक का खर्चा आता है।'

इंदौर के निकुंज तपिश फॉउंडेशन चलाते हैं। यह फाउंडेशन ट्रांसमेन के लिए काम करता है। वे बताते हैं, ''ट्रांसजेंडर व्यक्तियों को चिकित्सा देखभाल और सुविधा प्राप्त करने में कई बाधाओं का सामना करना पड़ता है। उन्हें भेदभाव का सामना करना होता है। उनके पास स्वास्थ्य बीमा नहीं होता। डॉक्टरों को हमारे शरीर के बारे में कोई जानकारी नहीं होती है। हमें कम उम्र में ही परिवार घर से निकाल देता है। आर्थिक परेशानियों के कारण हम अच्छा इलाज नहीं ले पाते। जेंडर डिस्फोरिया और मानसिक ट्रामा के दौरान हमें अच्छा डॉक्टर या मनोचिकित्सक नहीं मिलता। अधिकतर ट्रांसजेंडर व्यक्ति डिप्रेशन से जूझ रहे हैं। एचआईवी/ एड्स ने हमारी कम्युनिटी के 50 फीसदी लोगों को संक्रमित कर रखा है, लेकिन सेक्स वर्क के अलावा हमारे पास कोई चारा नहीं। कोई हमें काम नहीं देता और पेट पालना है। घर का रेंट तो देना पड़ता है।''

एक दिन दिल्ली में मेरी मुलाकात विशाखा से हुई। वे ट्रांसवूमन हैं। विशाखा पहले डेरा में अपनी गुरु के साथ रहती थी, लेकिन उन्हें रेड लाइट पर भीख मांगना नहीं पसंद था। विशाखा ने मुझे बताया, ''हमारा परिवार हमें घर से निकाल देता है। जिसके बाद डेरा ही हमारा सहारा बनता है। गुरु हमें पालती और खिलाती हैं। एक समय के बाद हमें अपनी कमाई का कुछ हिस्सा उन्हें देना होता है। लेकिन हमें न तो शिक्षा मिलती है और न नौकरी। ऐसा इसलिए, क्योंकि हर जगह हमारा शारीरिक और मानसिक शोषण होता है। जब मैं पांचवीं कक्षा में थी, तब लड़के मुझे टॉयलेट में बंद कर देते थे। वे मेरे कपडे उतारकर मजाक उड़ाते थे कि मैं लड़की हूं। मेरे पिता भी तंग आ गए और मुझे डेरा में छोड़ दिया। डेरा में आने के बाद हम टोली-बधाई करते हैं। या फिर बस, ट्रेन और सिग्नल पर भीख मांगते हैं। कुछ ट्रांसजेंडर रेड लाइट पर सेक्स वर्क का काम भी करती हैं। मैंने भी किया था। लेकिन मेरी एक सहेली एचआईवी से मर गई। उसके बाद मैंने यह काम छोड़ दिया।''

मैंने पूछा, ''सेक्स वर्क करते हुए डर नहीं लगता?''

विशाखा हँसकर जवाब देती हैं, ''डर उनको लगता है जिनकी जिंदगी की कीमत हो। मुझे तो यह भी नहीं पता कल को मुझे ट्रांसमाहिला होने के कारण मार दिया जाए।''

इस फैलोशिप में काम के दौरान मुझे कई ट्रांसमहिलाएं मिलीं जिनके साथ पढाई करते हुए या नौकरी के दौरान बलात्कार हुआ। लेकिन कोई उनकी मदद के लिए सामने नहीं आया। यह सब सुनकर हमारे भीतर सिंपथी की भावना आती है,

लेकिन मेरा नजरिया बदल चुका है। मैंने विशाखा को देखा है। वे रात को घर पर कैंडल बनाती है और सुबह बाजार में बेचती है। मैंने शिवानी को देखा है, जो इंस्टाग्राम पर मेकअप वीडियो डालती है और अब उसे मेकअप के ऑर्डर भी आते हैं। मैंने समझा है कि ट्रांसजेंडर व्यक्तियों को हमारी दया नहीं चाहिए, उन्हें हमारा समय चाहिए। वे घंटों तक अपनी कहानी बताना चाहते हैं। रोकर, हँसकर और गाते हुए। उन्हें रिजर्वेशन से अधिक अपने अधिकार चाहिए। पब्लिक में एक टॉयलेट हो। अस्पतालों में उनके लिए डॉक्टर हो। स्कूल और कॉलेज में उनके लिए जगह हो। नौकरी में केवल उनकी पहचान देखकर उन्हें न निकाला जाए। एक बार जब आप सशक्त ट्रांसजेंडर व्यक्तियों को देखेंगे, जैसे दिल्ली में संध्या अमेज़ॉन में काम कर रही हैं और जबलपुर में लारा जो सरकार के साथ मिलकर अपना एनजीओ चला रही हैं, तो कोई भी ट्रांसजेंडर व्यक्तियों को अपने समान ही देखने लगेगा। जरूरत है ट्रांसजेंडर व्यक्तियों को मुख्यधारा का हिस्सा बनाने का। इस शब्द 'किन्नर', 'हिजड़ा', 'मीठा' आदि को गाली की तरह देखना बंद करना होगा क्योंकि ये गाली नहीं, हमारी तरह समान नागरिक हैं।

"अगलिअ-नेह-निवट्टाहं जोअण-लक्खु वि जाउ।
वरिस-सएण वि जो मिलइ सहि सोक्खहं सो ठाउ॥"

– हेमचंद्र (प्रसिद्ध जैन कवि एवं आचार्य)

अगलित स्नेह में पके हुए लोग लाखों योजन भी चले जाएं और सौ वर्ष बाद भी यदि मिलें तो हे सखि, मैत्री का भाव वही रहता है।

मेरी यात्रा: अब मैं तटस्थ नहीं रहता हूं ...

विजय सिंह राठौर

अब से ठीक एक साल पहले विकास संवाद (संविधान संवाद) के साथियों से पहली बार संपर्क हुआ। चूंकि विकास संवाद को लेकर पहले से काफी सुन रखा था, ऐसे में मन में एक इच्छा थी कि मैं भी विकास संवाद से जुड़ूं। सोशल मीडिया व एक मित्र (पूर्व फैलो) के माध्यम से फैलोशिप से जुड़ने का तरीका मालूम हुआ। पहले मैंने दलितों की दुर्दशा को लेकर काम करने का मन बनाया था, मगर मुझे मेरे एक वरिष्ठ साथी ने सुझाव दिया कि चंबल की बेटियों के संघर्ष पर काम करने की जरूरत है। ऐसे में मैंने विषय चुना' आरंभ से अंत तक वजूद के लिए जूझती चंबल की बेटी', जिसमें महिलाओं से जुड़ी सरकारी योजनाओं की समीक्षा को भी बाद में समाहित किया गया।

सही मायने में कहा जाए, तो मुझे बीते एक साल में फैलोशिप का सिर्फ एक ही उद्देश्य समझ में आया। यह फैलोशिप व्यक्ति को इंसानियत या कहें भलमनसाहत का पाठ पढ़ाने का काम कर रही है, क्योंकि हर किसी को पता होता है कि किसी की गरिमा, बंधुता एवं सामाजिक न्याय की अवधारणा को कब चोट पहुंचती है, किंतु इसे बदलने पर पीड़ित वर्ग को छोड़कर किसी का विशेष ध्यान नहीं जाता है। गरिमा, बंधुता एवं सामाजिक न्याय के विषय पर लोगों को यह समझाने की कोशिश से मैं गहराई से जुड़ा, जो वास्तव में संवैधानिक मूल्य हैं। जिन मूल्यों के ह्रास का कई बार पीड़ित वर्ग को भी भान नहीं होता, उनके लिए अब अपेक्षाकृत अधिक चिंता मन में पैदा हुई है।

परिचय

माखनलाल चतुर्वेदी राष्ट्रीय पत्रकारिता एवं संचार विवि से मास कम्युनिकेशन में स्नातकोत्तर विजय सिंह राठौर को प्रिंट और इलेक्ट्रॉनिक मीडिया में कार्य करने का अनुभव हैं। वे स्टेट न्यूज, आईएनडी 24, हरिभूमि, नवदुनिया भोपाल और नईदुनिया ग्वालियर जैसे मीडिया संस्थानों में विभिन्न पदों पर कार्य कर चुके है। इस फैलोशिप के दौरान उन्होंने चंबल क्षेत्र में कन्या भ्रूण हत्या तथा महिला योजनाओं की स्थिति पर अध्ययन किया है।

आरंभ से अंत तक वजूद के लिए संघर्ष करती हैं, चंबल की बेटी... क्योंकि कोख में ही मार दी जाती हैं

ग्वालियर-चंबल अंचल प्रदेश के सबसे कम लिंगानुपात वाले जिले हैं। ऐसे में कहना गलत नहीं होगा कि चंबल की बेटियां अपना जीवन आरंभ के भी पहले से अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष करने को मजबूर होती हैं। यह उनकी नियति मान लो कि अंचल में ऐसे लोग बहु-संख्यक हैं, जो घर में बेटी के पैदा होने को स्वीकार ही नहीं कर पाते। यही कारण है कि कोख में ही कई बेटियों की हत्या कर दी जाती है, जिसका राज कभी खुल ही नहीं पाता। विडंबना यह है कि इस पाप में जितने पुरुष जिम्मेदार होते हैं, उतनी ही महिलाएं जिम्मेदार और हिस्सेदार होती हैं, जो हमारे पुरुष प्रधान समाज को अपनी कमजोर सोच के कारण पोषित कर रही हैं। सास, ननद, देवरानी, जेठानी, यहां तक कि नवजात को अपनी कोख में सहेजे हुए एक मां तक बेटी के पैदा होने पर एक अजीब अपराध-बोध खुद पर लाद लेती हैं।

ग्वालियर जिला पुलिस से प्राप्त हुए आधिकारिक आकंड़ों के अनुसार ही बीते 5 साल में 40 से अधिक भ्रूण हत्याएं एवं

परित्याग हुए हैं। सरकारी से इतर, वास्तविक आंकड़ा इससे कई गुना अधिक है। कई नवजात बच्चियों के शव कभी कूड़े में, कभी नाली में और कभी सड़क के किनारे पड़े हुए मिल जाते हैं। आश्चर्य की बात है कि अंचल के लोग ऐसी हृदय विदारक घटनाओं के इतने अभ्यस्त हो चुके हैं कि उनका दिल दहलता ही नहीं है।

फैलोशिप से पूर्व मेरी जानकारी में कई ऐसी घटनाएं मेरे सामने हुई हैं, जिनमें मैंने ज्यादातर पत्रकारों को देखा कि वे इन्हें हत्या की रुटीन खबर की तरह ही साधारण रूप में लिखते और महसूस करते हैं, जबकि एक नवजात शिशु की हत्या एक तरह से हमारी सामाजिक व्यवस्था की हत्या होने के जैसा है।

मूल्यों के लिए टोका तो बुरा मान गए साथी

फैलोशिप के 1 साल में यह बात अच्छी तरह समझ में आ चुकी है कि भला-बुरा हर कोई जानता है। सभी को पता है किसी के साथ अमर्यादित व्यवहार नहीं करना चाहिए। संविधान देश के सभी नागरिकों के लए समान है। उसी तरह मूल्यों की अवधारणा भी व्यक्तियों के लिए अलग-अलग नहीं हो सकती।

मूल्यों की समझ सभी को होती है, परंतु इसका ह्रास लोगों की आदत में शुमार हो जाता है। यदि कोई टोके, तो इस आदत को सुधार भी दिया जाता है। मैंने एक पत्रकार साथियों, अफसरों, नेताओं व व्यापारियों का ग्रुप बनाया। शहर के कई अन्य वॉट्सएप ग्रुपों से भी मैं सक्रिय रूप से जुड़ा हुआ हूं। मैंने पत्रकारों, चैंबर ऑफ कॉमर्स, कैट जैसे व्यापारिक संगठनों के वॉट्सएप ग्रुप में लोगों को गलत ढंग से संवाद करने, खबरें लिखने आदि पर रोकने-टोकने का काम शुरू किया। संवैधानिक मूल्यों, गरिमा एवं निजता का सम्मान न करने वालों को समझाइश दी। कई वरिष्ठ पत्रकार साथी नाबालिग लापता बच्चियों व अन्य संवेदनशील मामलों में महिलाओं के नाम व फोटो आदि का इस्तेमाल किया करते थे, जो कानूनन एवं नैतिक रूप से गलत था। लोगों को ग्रुप पर सार्वजनिक रूप से समझाया एवं उनकी गलतियां बताईं, तो वे नाराज हो गए। पहले काफी देर तक ग्रुप पर सार्वजनिक बहस की, परंतु अपने पक्ष को जब उन्होंने गलत पाया, तो व्यक्तिगत मैसेज कर बहस खत्म करने के लिए कहा, धौंस भी दिखाई, किंतु पर्सनल चैट में उन्हें अपनी गलती का एहसास हुआ। फिर भी उन्होंने अपनी गलती खुले शब्दों में तो नहीं स्वीकारी। हालांकि उनकी बातचीत का भाव बता रहा था कि उन्हें अपनी गलती का एहसास हुआ है, जिसे स्वीकार करने में वे खुद को अपमानित महसूस कर रहे थे। बहरहाल, उन्होंने अगले दिन से उन गलतियों को दोहराना बंद कर दिया। वे लड़कियों का नाम उजागर किए बिना ही काम करने लगे, जिससे महिलाओं की गरिमा को चोट पहुंचना बंद हुई।

साथियों ने समझा, जाना और माना

संवैधानिक मूल्यों के ह्रास पर रोकने-टोकने या चर्चा करने पर कई पत्रकार साथी, यहां तक कि सहकर्मी भी व्यक्तिगत बुराई करना मान लेते थे, जिसका दुष्प्रभाव खबरों के प्रस्तुतीकरण पर भी दिखता था। ऐसे में अपने उन पत्रकार साथियों से व्यक्तिगत रूप से बात की, जो समझाइश का बुरा मान गए थे। व्हाट्सएप ग्रुप पर सार्वजनिक बहस के बजाय, एक-एक करके बात करने से गलतफहमी दूर हो गई। संवैधानिक मूल्यों के लिए मेरे द्वारा कही गई बातों के उद्देश्य को उन्होंने समझा। यह गलतफहमी उनकी दूर हुई कि मैं उनकी व्यक्तिगत आलोचना कर रहा था। उन्होंने संवैधानिक मूल्यों के महत्व का मर्म समझा। उन्होंने समझा कि एक पत्रकार के तौर पर संवैधानिक मूल्यों की रक्षा करना हम सभी का कर्तव्य है।

बेटियों के पैदा होने पर किन्नर तक बधाई गीत गाने नहीं आते

गरिमा, समानुभूति एवं सामाजिक न्याय जैसी अवधारणाओं को हर वे इंसान समझ सकता है, जिसके अंदर थोड़ी भी

मानवीयता जिंदा होती है। फैलोशिप से पहले भी यूं तो मैं संवेदनशील इंसान रहा हूं, जो समाज के विभिन्न पहलुओं पर आत्मचिंतन व मनन करता रहा है, परंतु फैलोशिप से जुड़ने के बाद से कुछ कुरीतियां चुभन महसूस भी कराने लगी हैं। पहले जिसे सोचकर थोड़ी खीज होती थी, उन्हें अब परिभाषित करने का जरिया संविधान संवाद के माध्यम से मिले शब्दों से हुआ है।

चंबल की बेटियों से जुड़े अपने विषय पर खबरों की तलाश के दौरान मेरी एक पत्रकार मित्र से बातचीत हुई, जिसने मेरे विषय को समझकर खुद का एक उदहारण मुझे आम भाषा एवं सहज भाव से सुनाया...

वे बोला, ''मेरी खुद की एक बेटी है, जिस पर हर पिता की तरह मैं भी जान छिड़कता हूं, लेकिन जिस समाज में हम रह रहे हैं, वहां पर बेटियों के अस्तित्व को उनके जन्म के पहले से ही महत्वहीन समझा जाता है। मुझे याद है, जब मेरे छोटे भाई की शादी हुई थी, तब मेरी बच्ची अपनी मां के गर्भ में थी। शादी के बधाई गीत गाने और आशीर्वाद देने किन्नरों का घर आना हुआ था। वे शादी की बधाई के तौर पर कुछ अधिक राशि की मांग कर रहे थे, जिस पर मेरी मां ने उन्हें आश्वस्त किया कि बड़ी बहू गर्भवती है। कुछ ही दिन बाद तुम्हें दोबारा फिर आना है, दोबारा बधाई गीत गाना है। उपहार में रुपए लेना है। इस पर किन्नरों ने तपाक से कहा, अरे तब का तब देखा जाएगा, अगर मौड़ी (लड़की) हुई तो कहां से मिलेगा उपहार..? इस पर मां का जवाब सुन मन अंदर से मुस्कुरा उठा। मां ने कहा कि मौड़ी हो या मौड़ा, तुम्हें पूरे 5 हजार रुपए दूंगी...।

चूंकि मैं प्रिंट मीडिया का अपना काम कर रात 2 बजे घर लौटा था, इसलिए घर के आंगन में हो रहे इस संवाद को अपने कमरे से ही पूरे ध्यान से सुन रहा था। इस दिन को गुजरे एक सप्ताह ही बीता होगा, पत्नी की डिलीवरी हुई। नर्स ने बाहर आकर बताया बेबी (बेटी) हुई है। सच्चाई यही है कि माहौल चंद मिनटों के लिए ही सही, किंतु बोझिल-सा हो गया। हालांकि फिर सभी खुश होने लगे। इसी दौरान एक प्रियजन (रिश्तेदार) का फोन आया, जो मुझे सांत्वना-सी देने लगे। बोले'चिंता मत करना...' मैंने पूछा'किस बात की चिंता..?' रिश्तेदार शायद मेरे भाव को तुरंत भांप गए और बधाई देने लगे। बच्ची को घर लाया गया। मैं अंदर ही अंदर कई दिनों तक उन किन्नरों का इंतजार करता रहा, जो बेटी के पैदा होने पर बधाई गीत गाने के लिए आने वाले थे, लेकिन वे नहीं आए। करीब डेढ़ साल बाद छोटे भाई की पत्नी ने बेटे को जन्म दिया। किन्नर आए, बधाई गीत गाए और इनाम लेकर चले गए। न उन्होंने मेरी बेटी के बारे में कोई जिक्र किया और न ही उसके लिए गीत गाए न आशीर्वाद दिया।

मन में एक सवाल रह गया कि मां ने किन्नरों को वे 5 हजार रुपए दिए या नहीं, परंतु अंदर से संकुचाए मुझ आदमी ने यह सवाल अब तक नहीं पूछा। शायद पूछने की फुर्सत नहीं मिली या अनिवार्यता महसूस नहीं हुई। हो सकता है पैसों का लोभ रहा। हां, लड़ने का मन जरूर हुआ, परंतु किससे...? इसका जवाब मेरे पास नहीं। अब बेटी थोड़ी बड़ी हो गई है, लेकिन किन्नरों का कर्ज मन पर एक बोझ जैसा रखा हुआ है।''

बेटी पैदा होने पर तलाक की नौबत

बेटी पैदा होने पर होने वाले सामाजिक दबाव और उसके परिणाम का एक स्याह पहलू फैलोशिप के दौरान गहराई से महसूस हुआ। महिला थाने में पहले जो मैं केवल रोचक पहलुओं को टटोलने की कोशिश करता था, जिन्हें पढ़ने में पाठक को मजा आए। वे ऊर्जा अब रोचकता के बजाए गंभीरता व गहराई से विषय को समझने में खर्च होने लगी। ग्वालियर महिला थाने में एक दंपती की काउंसलिंग चल रही थी। कारण था बेटी पैदा होने पर तलाक की नौबत..। यह घटना सिर्फ एक परिवार की कहानी मात्र नहीं थी, बल्कि चंबल के बिगड़ते लिंगानुपात और लड़कियों के प्रति गहरी जड़ें जमा चुकी नकारात्मक मानसिकता की एक दर्दनाक तस्वीर थी।

काउंसलिंग को मैंने अपनी फैलोशिप के नजरिये से बड़े ध्यान से सुना। मालूम हुआ कि जहां एक महिला को बेटी को जन्म देने के कारण पति और ससुराल वालों के अत्याचार का सामना करना पड़ा। बात इतनी बढ़ गई कि मामला तलाक तक पहुंच गया। महिला को न्याय के लिए थाने का दरवाजा खटखटाना पड़ा। यह घटनाक्रम क्षेत्र में कन्या-भ्रूण हत्या और लिंग के चयनात्मक गर्भपात के गंभीर परिणामों की ओर इशारा था, जो अंचल के घटते लिंगानुपात का बड़ा कारण है। यह स्पष्ट है कि न केवल ग्वालियर-चंबल, बल्कि देश के ज्यादातर राज्यों में बेटियों को बोझ समझा जाता रहा है। उनके जन्म पर जश्न के बजाय तनाव के हालात होते हैं, जब तक इस मानसिकता को नहीं बदला जाता, तब तक सच्चे मायनों में इस स्थिति से पार पाना संभव नहीं है।

ग्वालियर-चंबल के लिंगानुपात की स्थिति पर गौर करना जरूरी

तमाम प्रयासों के बाद भी ग्वालियर का लिंगानुपात 900 का आंकड़ा नहीं छू पा रहा। आज भी बेटी-बेटे में भेद करने वालों की सोच का परिणाम है कि ग्वालियर की स्थिति भिंड, श्योपुर, शिवपुरी, दतिया से भी खराब है। ग्वालियर जिले में प्रति हजार लड़कों पर 864 बालिकाएं हैं। केवल मुरैना ही ग्वालियर से पीछे है। अन्य चारों जिलों की स्थिति ग्वालियर से काफी बेहतर है। खासकर भिंड में लिंगानुपात, ग्वालियर अंचल में सबसे बेहतर है।

जिले का नाम	लिंगानुपात
ग्वालियर	864
मुरैना	856
शिवपुरी	898
श्योपुर	902
दतिया	916
भिंड	932

संवैधानिक मूल्यों की राह पर

हमारा सफ़र

संविधान संवाद
अधिवक्ता फैलोशिप 2022–25

यात्रा, अनुभव और अभिव्यक्ति

विकास संवाद

बंधुआ मजदूरी से मुक्ति: संघर्ष से सफलता तक

आमीन खान

परिचय

मध्य प्रदेश हाईकोर्ट की ग्वालियर बेंच में वकालत कार्य करने वाले आमीन खान वर्ष 2014 से सभी संवैधानिक, सिविल, आपराधिक और पारिवारिक मामलों की पैरवी कर रहे हैं। 2017 से ह्यूमन राइट लॉ नेटवर्क (एचआरएलएन) के साथ संलग्न, बंधुआ श्रमिक, महिला स्वास्थ्य, बाल अधिकार, शिक्षा का अधिकार आदि मुद्दों पर कार्य करते हुए आमीन खान ने 300 से अधिक व्यक्तियों को बंधुआ मजदूरी से मुक्त करवाया है। इस फैलोशिप के तहत आमीन खान ने बंधुआ मजदूरी पर शोध कार्य किया है।

'बंधुआ मजदूरी' मध्यप्रदेश ही नहीं पूरे भारत में आज एक अभिशाप बन गई है। हमारे कानों में जब 'बंधुआ मजदूरी' शब्द सुनाई पड़ता है, तो हमें वह ठसकदार कटाक्ष याद आ जाता है, जब कोई किसी से अधिक या फिर फ्री में कार्य करने को लेकर कहता है, ''बंधुआ मजदूर समझा है क्या?'' तब हमें उस शब्दवाण से अंदाजा लगता है कि 'बंधुआ मजदूर' शब्द अपने आप में ही एक कहानी है या अनेकानेक कहानियों की एक किताब! यह शब्द सुनने पर लगता है कि यह कोई गुजरे जमाने की बात है। इस शब्द की गहराई तक कोई नहीं जाना चाहता।

वस्तुत: इसकी गहराई तक जाने के लिए इस शब्द का व्यापक अर्थ समझना बहुत जरूरी है। जब हम किसी 'बंधुआ मजदूर' का चित्र अपने मन में उकेरते हैं, तो हमारी आंखों के सामने एक मजबूर, असहाय, बेड़ियों-जंजीरों में जकड़ा इंसान उपस्थित होता है। हमें लगता है कि हम 'बंधुआ मजदूरी' के संबंध में सब कुछ जानते-समझते हैं, लेकिन जब हम 'बंधुआ मजदूरी' को जानना और समझना प्रारंभ करते हैं, तो हम पाते हैं कि 'बंधुआ मजदूरी' एक शब्द नहीं... यह एक ऐसी अमानवीय प्रथा है, जो हमारे समाज में, हमारी कार्य-पद्धति में पूर्ण रूप से घुली-मिली हुई है।

यह प्रथा समाज में सदियों व्याप्त रही दास-प्रथा का ही एक रूप है, जिसे सामान्यत: हम खुली आखों से नहीं देख सकते, क्योंकि 'बंधुआ मजदूर' को अदृश्य जंजीरों से जकड़ा जाता है। 'बंधुआ मजदूरी' की अदृश्य जंजीरें सिर्फ आंखों से दिखाई नहीं देती हैं। उन्हें देखने के लिए हमें 'बंधुआ मजदूरी' के कानून का अध्ययन एवं सदियों से चली आ रही दास-प्रथा और मजदूरी की कुप्रथाओं को समझना होगा। तब हमें यह पता चलेगा कि आर्थिक रूप से समाज के अंतिम पायदान पर खड़े एक लाचार व्यक्ति की विवशता का लाभ उठाते हुए समाज के ही कुछ लोग दिन-रात उसका, जिसे 'बंधुआ मजदूर' कहते हैं, खून चूसने का काम करते हैं।

कहने को हम सन् 1947 में ही आजाद हो गए थे, लेकिन उस मजबूर, नंगे पैर, बदन पर फटे, पुराने कपड़े लपेटे हुए, भयमुक्त स्वतंत्र जीवन जीने की राह ताक रहे इंसान से आजादी का महत्व पूछा जा सकता हैक्या उसे आजादी से पहले और आज के समय के अंतर का मूल्य मालूम है? सही कहा जाए, तो अभी तक हम 'बंधुआ मजदूरी' के संबंध में विशेष समझ नहीं रखते हैं और इसी समझ के अभाव में हम इस इस प्रथा का दंश भोग रहे व्यक्ति को ही दोषी या प्रताड़ित करने वाला समझ लेते हैं! दुखद बात यह है कि हम ही नहीं, जिन्हें 'बंधुआ मजदूरों' को मुक्त कराने की जिम्मेदारी दी जाती

है या जिन्हें 'बंधुआ मजदूर' के प्रति न्याय की पहल करना होता है, वे भी 'बंधुआ मजदूरी' प्रथा की समझ के अभाव में शोषण के शिकार 'बंधुआ मजदूर' को ही प्रताड़ित करते हैं।

हमारे समाज में मुफ्त में मजदूरी करवाने की प्रथा सदियों से चली आ रही है। जब कोई मुफ्त में मजदूरी नहीं करता था, तो उसे बंधक बनाकर मजदूरी कराना, डरा-धमकाकर मजदूरी कराना, गुलाम बनाकर मजदूरी कराना, अपाहिज बनाकर मजदूरी कराना जैसी कुप्रथाएं हमारे समाज में विद्यमान रही हैं। उसी के परिवर्तित स्वरूप को आज 'बंधुआ मजदूरी' कहते हैं। एक प्राचीन कहावत है'जाके पैर ना फटी बिवाई, सो क्या जाने पीर पराई''बंधुआ मजदूरी' की गुलामी बहुत ही असहनीय और पीड़ादायक है। जिसने इस पीड़ा को भोगा है, वही इसका दर्द समझ सकता है। पहले कोई गुलाम होता था, तो वह खुली आंखों से दिखाई देता था, लेकिन आज का 'बंधुआ मजदूर' खुली आंखों से कम दिखाई देता है, जिसका फायदा मालिक तो उठाता ही है, साथ ही हमारी सरकारें भी उसका लाभ उठाती हैं। सरकारें बड़ी आसानी से यह कह देती हैं कि हमारे राज्य में तो 'बंधुआ मजदूर' हैं ही नहीं। इस असत्य के सहारे सरकारें आंकड़े छुपाकर यह प्रदर्शित करती हैं कि हमारा राज्य एक संपन्न राज्य है। इस प्रकार वे अपने शासन की कटी नाक को भी 'बंधुआ मजदूरी' की अदृश्य जंजीरों के पीछे छिपा लेती हैं। मेरे द्वारा मध्यप्रदेश में कुछ वर्षों में लगभग 600 'बंधुआ मजदूरों' को मुक्त कराया गया है, जबकि प्रशासन आज भी इन्हें अनदेखा करता है।

मजदूरों के उत्थान के लिए कार्य करने वाले अनेक सामाजिक कार्यकताओं एवं संगठनों ने 'बंधुआ मजदूरी' को जड़ से समाप्त करने के लिए अनेक लड़ाइयां लड़ीं, अनेक आंदोलन किए, जिससे वे शासन की नजरों में खलनायक और मुल्जिम बने। इस लड़ाई में कितनों को तो जेल भी जाना पड़ा।

'बंधुआ मजदूरों' की मुक्ति एवं पुनर्वास के लिए सन् 1976 में एक कानून बना, जिसका नाम 'बंधित श्रम पद्धति (उन्मूलन) अधिनियम 1976' रखा गया।

इसे बहुत कम शब्दों या सरल भाषा में समझें, तो 'बंधुआ मजदूर' वह है, जो कि रहता तो खुले आसमान के नीचे है, लेकिन उसे उसकी मेहनत का फल (समुचित पारिश्रमिक) नहीं मिलता है या मिलता भी है, तो उतना ही कि वह अपना या अपने परिवार का पेट भर सके। मालिक उससे दिन-रात काम कराता है, उसे मजदूरी के रूप में कुछ पैसे या सूखा अनाज देता है, मालिक का मजदूर के ऊपर ऋण होता है, मालिक मजदूर को कहीं अन्य जगह पर मजदूरी करने नहीं जाने देता है। मालिक मजदूर से उसे दिए गए ऋण के ब्याज के बदले में कार्य कराता रहता है। मजदूरी का नकद पैसा मजदूर को नहीं मिलता है, तो मजदूर मालिक का ऋण कभी चुकता ही नहीं कर पाता है और मजदूर सालोसाल मालिक के यहां 'बंधुआ मजदूर' बनकर रह जाता है।

इस तरह एक मजदूर का जो खुली मजदूरी करने का हक होता है, उसे मालिक द्वारा छीन लिया जाता है। यदि कोई मालिक क्रूर है और मजदूर के साथ मार-पीट करता है, तो मजदूर ऐसे मालिक की तलाश करता है, जो मजदूरों के साथ मार-पीट नहीं करता हो, सिर्फ गालियां देता हो, चिल्लाता हो या डांटता हो। ऐसे मालिक से एडवांस लेकर वह पहले मालिक का ऋण चुकता कर देता है। वह दूसरे मालिक के पास काम करने चला जाता है, इससे उसका मालिक तो बदलता है, लेकिन वह 'बंधुआ मजदूरी' के जाल से बाहर नहीं आ पाता है।

मजदूर जब अपने आपको उस बंधन से मुक्त कराने के लिए पुलिस के पास जाता है, तो उसे पुलिस द्वारा भी डांट-डपटकर भगा दिया जाता है। यहां तक कि उल्टे उस पर ही आरोप लगाया जाता है कि तूने मालिक से एडवांस लिया है, तू मालिक द्वारा दी गई रकम को खाना चाहता है, इसलिए तू यहां आया है। उसे हिदायत दी जाती है कि तू मालिक से लिए गए ऋण

को वापस कर या फिर उनके यहां काम कर। जब कोई मजदूर लगातार किसी मालिक के यहां कार्य करता है, तो आस-पास जानने-पहचानने बालों को खबर लग जाती है कि यह उस मालिक के यहां पर 'बंधुआ मजदूर' है। ऐसे में यदि कोई उस मजदूर को खुली मजदूरी/प्रतिदिन की मजदूरी पर रखता है, तो मालिक द्वारा झगड़ा करने का खतरा होने के कारण पहचानने वाले उसे कभी मजदूरी पर नहीं रखते हैं या कहें कि कोई उससे दैनिक मजदूरी पर काम नहीं कराता है।

मेरे द्वारा अनेक बंधुआ मजदूर परिवारों को बंधुआ मजदूरी से मुक्त कराया है, और हर बंधुआ मजदूर की अपनी एक कहानी होती है। ऐसे ही एक बंधुआ मजदूर करन सहरिया की कहानी है -

करन सहरिया गुना जिले के एक छोटे-से गांव का रहने वाला है। उसके परिवार में उसकी पत्नी लक्ष्मी और उसके दो पुत्र राजवीर एवं रामवीर हैं, उसकी आर्थिक स्थिति अति दयनीय थी। वह एक टूटी हुई झोपड़ी में रहता था। उसे कोई साहूकार उधार पैसे नहीं देता था। उसके पास कोई जमीन-संपत्ति नहीं थी, इसलिए बैंक भी लोन नहीं देती थी। उसे अपनी झोपड़ी ठीक करनी थी। झोपड़ी की मरम्मत के लिए उसने अपने रिश्तेदारों से पैसे उधार मांगे, लेकिन किसी ने उसे पैसे नहीं दिए। एक दूर के रिश्तेदार ने राजस्थान के बारां जिले के रहने वाले भागवान मीना से उनके यहां काम करने की शर्त पर एडवांस 30 हजार रुपए दिलवा दिए।

मालिक ने करन सहरिया से कहा कि तुम्हें मेरे यहां चार माह मजदूरी करना होगा, जिससे तुम्हारे द्वारा लिए गए एडवांस के पैसे चुकता हो जाएंगे। करन सिंह इस बात पर तैयार हो गया। करन ने मालिक भगवान मीना से पैसे लेकर अपनी टूटी झोपड़ी ठीक करा ली और वह मालिक भगवान मीना के यहां मजदूरी करने राजस्थान जिला बारां चला गया। कुछ समय बाद मालिक ने करन सहरिया को अच्छी मजदूरी का लालच देकर उसकी पत्नी लक्ष्मी व उसके दोनों पुत्र राजवीर और रामवीर को भी बुलवा लिया। करन सहरिया के पूरे परिवार के आने के बाद मालिक पूरे परिवार से दिन-रात खेती-किसानी एवं गाय-भैसों का कार्य कराने लगा। चार माह बाद करन ने एडवांस लिए पैसों का हिसाब करने व अपनी, अपनी पत्नी एवं बच्चों की मजदूरी मांगी, तो मालिक ने करन को मजदूरी देने से मना कर दिया। साथ ही उसने और काम करने के लिए डराया-धमकाया। मालिक करन सहरिया के पूरे परिवार से दिन-रात काम कराता रहा।

मालिक उसे घर नहीं जाने देता था। अन्य स्थान पर खुली मजदूरी पर नहीं जाने देता। वह जो काम करता उसकी भी नकद मजदूरी नहीं देता। सूखा राशन लाकर उसे देता था, जिसे उसका परिवार पकाकर खाता था। करन, उसकी पत्नी एवं दोनों बच्चों के द्वारा मालिक के यहां दिन-रात कई महीने काम करने के बाद भी मालिक द्वारा दिए गए एडवांस के 30 हजार रुपए चुकता नहीं हो सके। एक दिन मौका देखकर करन सहरिया मालिक के यहां से भाग गया। उसकी पत्नी एवं बच्चे वहीं पर रह गए। थाने में शिकायत करने पर पुलिस ने उसकी मदद करने से मना कर दिया। इस संदर्भ में जब मुझे जानकारी मिली, तो मैं ग्राम महेशपुरा, तहसील अटरू, जिलाबारां, राजस्थान पहुंचा। वहां से मैंने करन, उसकी पत्नी एवं बच्चों को 'बंधुआ मजदूरी' मुक्ति प्रमाण पत्र दिलाने के साथ 'बंधुआ मजदूरी' के जंजाल से मुक्त कराया।

'बंधुआ मजदूर' करन सहरिया के साथ यह देखने को मिला कि जिस करन सिंह को कोई साहूकार कर्ज नहीं दे रहा था, बैंक लोन नहीं दे रही थी, उसमें भगवान मीना ने ऐसा क्या देखा कि उसे एडवांस के रूप में 30 हजार रुपए दे दिए? यदि ठीक से समझें, तो पता चलता है कि भगवान मीना को पहले से पता था कि करन सहरिया से फ्री में मजदूरी कैसे कराना है। इसीलिए उसने करन को एडवांस में 30 हजार रुपए दे दिए और वही एडवांस का लालच करन के लिए 'बंधुआ मजदूरी' का जाल साबित हुआ।

आज के परिवेश में जहां एक पढ़े-लिखे युवा व्यक्ति को कोई कंपनी या सरकारी विभाग भी एडवांस देने के लिए तैयार नहीं

है। एडवांस तो दूर की बात उन्हें समय पर वेतन मिल जाए, वही बहुत है, नहीं तो उसके लिए भी कर्मचारियों को कोर्ट के चक्कर लगाने पड़ते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि आर्थिक रूप से कमजोर एवं जिसके पास गारंटी के लिए भी कुछ भी नहीं है, ऐसे लोगों से फ्री में मजदूरी कराने के लिए मालिक उन्हें एडवांस का लालच देकर 'बंधुआ मजदूरी' के जाल में फंसाता है।

बंधित श्रम पद्धति (उन्मूलन) अधिनियम 1976 के कुछ विषेश महत्व एवं धाराएं-

धारा4 की उपधारा 2 (क)(ख) किसी भी 'बंधुआ मजदूर' को एडवांस देना एवं जबरदस्ती मजदूरी कराने को प्रतिबंधित करती है।

धारा5 'बंधुआ मजदूरी' के लिए किए गए किसी भी प्रकार के लिखित व मौखिक करार को शून्य और अप्रवर्तनशील करती है।

धारा6 'बंधुआ मजदूर' को बंधुआ मजदूरी के लिए दिए गए एडवांस/ऋण को चुकता करने के भार/दायित्व से 'बंधुआ मजदूर' को मुक्त करती है।

धारा7 'बंधुआ मजदूर' की संपत्ति यदि किसी के कब्जे में है, तो उसे उसी समय मुक्त कराने के लिए जिला कलेक्टर को पावर देती है।

धारा8 'बंधुआ मजदूर' को यह अधिकार देती है कि यदि 'बंधुआ मजदूर' जिस जगह रह रहा है, वह अगर मालिक की भी है, तो वह निवास स्थान उसे प्रतिफल स्वरूप दिया जाएगा।

धारा9 मालिक द्वारा मजदूर को दिए गए ऋण की वसूली के लिए किसी भी न्यायालय में वाद से मुक्ति।

धारा10, 11 एवं 12 जिला कलेक्टर को 'बंधुआ मजदूर' को मुक्त कराने, उसके कथन दर्ज कराने, उसके पुनर्वास के संबध में विशेष शक्ति देती हैं।

धारा16, 17 एवं 18 में किसी भी मजदूर को 'बंधुआ मजदूरी' के लिए बाध्य करने पर सजा का प्रावधान है।

'बंधुआ मजदूरों' का पुनर्वास-

'बंधुआ मजदूरों' के पुनर्वास के लिए केंद्रीय क्षेत्रीय योजना की मुख्य विषेशताएं

- ✶ देश में हर 'बंधुआ मजदूर', जिसमें बाल-बंधुआ मजदूर भी शामिल हैं, को इस योजना के तहत कवर किया गया है।
- ✶ बंधुआ मजदूरों के सर्वेक्षण के लिए सहायता राशि प्रति वर्ष प्रति जिला 4.50 लाख रुपए है।
- ✶ पुनर्वास पैकेज के रूप में वयस्क पुरुष लाभार्थी को 1 लाख रुपए प्रदान किया जाएगा। लाभार्थी के सामने धन को वार्षिकी योजना में जमा करने अथवा नकद अनुदान प्राप्त करने का विकल्प होगा। जिला प्रशासन लाभार्थी की नकद धन की आवश्यकता का आकलन करेंगे और इस मामले में उसके पक्ष में अपना सबसे बेहतर निर्णय देंगे। वयस्क पुरुष के खाते में पैसे उसकी समिति से वार्षिकी योजना के तहत डाले जाएंगे।
- ✶ अनाथ बच्चों, बालिकाओं, महिलाओं और विशेष वर्ग के अन्य लाभार्थियों, जो जबरन भीख मंगवाने वाले संगठन, जबरन बालश्रम अथवा वेश्यावृति जैसी समस्याओं से निकले हैं, उनके लिए पुनर्वास सहायता राशि 2 लाख रुपए है। इसमें से रुपए 1,25,000/प्रत्येक लाभार्थी के नाम पर वार्षिकी योजना में जमा होंगे तथा शेष राशि ईसीएस के माध्यम

से लाभार्थी के खाते में जमा की जाएगी।

- ✶ बंधुआ या बेगार श्रम के मामलों में तथा सर्वाधिक वंचित, हाशिए पर पड़े व्यक्ति, जैसेदिव्यांगों, वेश्यालयों, मसाज पॉर्लर, प्लेसमेंट एजेंसी आदि से दुर्व्यापार एवं यौन शोषण से मुक्त कराई गई महिलाओं, बच्चों और ट्रांसजेंडर आदि मामलों में अथवा उन स्थितियों में, जहां जिलाधिकारी उचित समझे, पुनर्वास सहायता राशि 3 लाख हो जाएगी, जिसमें से रुपए 2 लाख प्रत्येक लाभार्थी के नाम पर वार्षिकी योजना में जमा किए जाएंगे तथा 1 लाख रुपए ईसीएस के माध्यम से लाभार्थी के खाते में जामा किए जाएंगे।
- ✶ उपरोक्त लाभ के अतिरिक्त पुनर्वास पैकेज में भूमि, आवास, तत्व आदि से संबंधित लाभ भी मूल योजना में शामिल किए जाएंगे।

1. घरेलू स्थान तथा कृषिगत भूमि का आवंटन।
2. भूमि विकास।
3. कम लागत वाली निवास इकाइयों का प्रावधान।
4. पशु पालन, डेयरी, मुर्गी पालन, सुअर पालन आदि।
5. मजदूरी रोजगार, न्यूनतम मजदूरी को लागू करना आदि।
6. लघु वन इत्पादों का संग्रह तथा उनका संसाधन।
7. लक्षित सार्वजनिक वितरण प्रणाली के अंतर्गत आवश्यक वस्तुओं की आपूर्ति।
8. बच्चों के लिए शिक्षा आदि।

Sub-Classification of SC-ST: Legal History and Constitutional Principles

Amol Shrivastava

India's constitutional framework recognizes the historically entrenched inequalities faced by Scheduled Castes (SCs) and Scheduled Tribes (STs) and extends affirmative action as a tool of social justice. However, within the broad categories of SCs and STs, significant socio-economic disparities persist. Certain subcastes continue to remain marginalized despite the larger community's access to benefits. This imbalance has led to increasing demands for sub-classification of SCs and STs, allowing the most deprived among them to access a fairer share of state-sponsored opportunities.

A milestone in this regard came on August 1, 2024, when the Supreme Court, through a 6:1 majority in the case of State of Punjab Vs. Davinder Singh, overruled the EV Chinnaiah judgment, thereby permitting States to undertake sub-classification within SCs and STs to address intra-group inequalities. This judgment marked a pivotal shift in Indian jurisprudence on affirmative action, balancing the principle of equality with the need for targeted justice.

To understand this legal development, one must revisit the historical, administrative, and constitutional roots of caste categorization and examine the long-standing judicial discourse on affirmative action.

I. Pre-Independence Classification of Castes and Tribes

Colonial Census and the Construction of Caste

The categorization of Indian society into rigid caste hierarchies was significantly influenced by colonial administrative needs rather than sociological realities. Beginning with the 1872 Census, the British Raj began formal enumeration of castes, largely for tax, governance, and policing purposes. These classifications relied heavily on Brahmin scholars and textual interpretations of the Varna system, which did not accurately reflect the complex and fluid nature of caste in practice.

In the 1891 census, the lines between caste and tribe were blurred-groups like Jats and Rajputs were inconsistently categorized as both castes and tribes. By 1901, the term 'tribe' began to be used more systematically but caste enumeration remained inconsistent and often arbitrary. British census officials themselves acknowledged the dynamism of caste identities. J.H. Hutton (1931)

Introduction

Advocate Amol Shrivastava is based in Indore since 2011. Practising in various constitutional issues relating to human rights and administrative law. Amole Shrivastav has dealt with various constitutional issues regarding reservation before the High Court and Supreme Court. Government Advocate from 2019-2021, Standing Counsel CGST from 2015-2020. Standing Counsel of Indore Municipal Corporation for 10 years. In this fellowship did his research work on the topic 'Reservation in India: Constitutional Foundations and Socio-Economic Realities'.

and E.A. Gait (1911) noted how castes frequently changed their names, social status and even sub-divided or merged based on local conditions.

Emergence of Depressed Classes and Legal Categories

By the 1921 census, the British sought to identify 'backward' castes by designating them as 'depressed classes'. This term evolved into 'exterior castes' and finally took official form through the Scheduled Castes Order, 1936. The Communal Award of 1932, introduced by the British, further institutionalized caste distinctions by reserving legislative seats for depressed classes and granting them separate electorates.

Dr. B.R. Ambedkar supported separate electorates as a means of political autonomy for Dalits, while Mahatma Gandhi opposed this, fearing it would divide Hindu society. This conflict led to the Poona Pact (1932), wherein Ambedkar agreed to a greater number of reserved seats for SCs within a joint electorate framework.

II. Post-Independence Developments

Constitutional Provisions and Article 341

After independence, the Constitution adopted many colonial classifications. Article 341 empowered the President to specify castes or tribes as Scheduled Castes in a given State or Union Territory, with Parliament retaining the power to amend this list. The objective was to uplift these communities through reservation in education, employment, and political representation.

However, the reservation framework was designed as a temporary and transitional measure, with an understanding that it would be periodically reviewed. Despite this, no comprehensive caste census has been conducted since 1951. This has led to a lack of empirical data on how different SC and ST sub-groups have benefited-or failed to benefit-from affirmative action.

Census and Socio-Economic Data Limitations

The Indian census post-independence, continued to rely on rigid categorizations derived from colonial times. It largely ignored lived realities like untouchability, intra-caste discrimination and economic deprivation. The absence of data on intra-group disparities within SCs and STs severely limited the government's ability to tailor policies to those most in need.

An exception was the Mandal Commission Case tiled Indra Sawhney Vs. Union of India (1979), which sought to identify and extend reservation benefits to Other Backward Classes (OBCs). This led to a separate 27% reservation for OBCs in 1991 but demands for a nationwide caste census to rationalize reservations across all categories have remained unmet.

III. Judicial Discourse on Reservation and Classification

Early Cases: Equality vs. Social Justice

The legal conflict between equality under Article 14 and affirmative action under Articles 15 and 16 was first tested in State of Madras v. Champakam Dorairajan (1951). The Supreme Court held caste-based reservations unconstitutional under Article 15(1), prompting the First Constitutional Amendment to insert Article 15(4), allowing special provisions for socially and educationally backward classes.

In General Manager, Southern Railway v. Rangachari (1962), the Court upheld reservation in promotions but cautioned that it must be balanced against the efficiency of administration. M.R.

Balaji v. State of Mysore (1963) held that reservations should not exceed 50%, while T. Devadasan v. Union of India (1964) invalidated the 'carry forward' rule for unfilled reserved seats.

The Indra Sawhney Judgment

The watershed moment came with Indra Sawhney v. Union of India (1992), which upheld OBC reservations but imposed a 50% ceiling and introduced the concept of the 'creamy layer' to exclude affluent individuals from reservation benefits. The Court endorsed the idea of internal classification within OBCs but refrained from extending the same principle to SCs and STs.

EV Chinnaiah and Its Limitations

In EV Chinnaiah v. State of Andhra Pradesh (2005), the Supreme Court struck down a State law that attempted to rationalize SC reservations by dividing them into sub-groups. The Court ruled that SCs formed a homogenous class and that only Parliament could alter the Presidential list under Article 341. This effectively barred States from sub-classifying SCs and STs, even for equitable distribution of benefits.

IV. Demand for Reclassification and Growing Inequality

Over the decades, it became evident that certain castes within the SC and ST umbrella were monopolizing the benefits of reservation. Numerous studies, government reports and social audits revealed that large sections of these communities were left out, especially in employment and higher education. Yet, attempts to correct this through sub-classification faced constitutional roadblocks because of EV Chinnaiah.

States like Punjab, Andhra Pradesh, and Tamil Nadu pushed for sub-classification, arguing that social justice demanded differentiation based on inter-group backwardness. This led to the State of Punjab v. Davinder Singh litigation, where the issue of whether States could undertake such classification was once again placed before the Supreme Court.

State of Punjab Vs. Davinder Singh

(Sub Classification judgment)

The landmark judgment in State of Punjab v. Davinder Singh (2024) resolved a long-standing constitutional conundrum by affirming the State's power to sub-classify Scheduled Castes (SCs) for the purpose of distributing reservation benefits more equitably. Overruling EV Chinnaiah, a seven-judge Constitution Bench of the Supreme Court held, by a 6:1 majority, that sub-classification among SCs and STs is constitutionally permissible as long as it adheres to the principles of equality and is based on rational and empirical foundations.

Background and Legal Questions

The case arose from a challenge to the Punjab Scheduled Castes and Backward Classes (Reservation in Services) Act, 2006 which allowed sub-categorization among SCs based on backwardness. The Punjab government argued that groups such as Balmikis and Mazhabi Sikhs had remained significantly under-represented in public employment and education, despite forming a large proportion of the SC population. The Act reserved 50% of the SC quota for these groups, with the remaining 50% open to other SCs.

The High Court invalidated this sub-classification, relying on the EV Chinnaiah precedent. The matter was then escalated to the Supreme Court, which had to answer the following:

1. Are SCs a homogenous group for all constitutional purposes?
2. Does Article 341 prohibit sub-classification within the SC list?
3. Is the principle of sub-classification applicable only to OBCs (as per Indra Sawhney) or also to SCs and STs?

Court's Rationale

The Court held that Article 14 guarantees substantive-not just formal-equality. Therefore, treating unequals equally violates the spirit of the Constitution. It rejected the notion that SCs and STs are a homogenous class for all purposes and affirmed that intra-group heterogeneity-reflected in degrees of social exclusion, educational deprivation, and employment marginalization-can and should be addressed through lawful sub-classification.

Importantly, the Court clarified that the Presidential list under Article 341 merely identifies the groups eligible for SC status; it does not create an immutable, internally uniform category. Sub-classification within this list for the distribution of reservation benefits does not equate to "tinkering" with the list, nor does it require parliamentary action.

The Court laid down clear standards for sub-classification:

- There must be intelligible differentia between the sub-groups.
- The classification must have a rational nexus to the goal of equitable representation.
- The creamy layer principle, previously applicable only to OBCs, can also be applied to SCs and STs to exclude the more advanced among them.

Empirical data was extensively cited in the ruling. For instance, only 4–5 out of 60 SC communities in Andhra Pradesh had significantly benefited from reservations. In Punjab, Balmikis and Mazhabis made up nearly 42% of the SC population but were underrepresented in state employment. Sociological studies also revealed intra-Dalit untouchability and disparities in access to education, water, and employment.

The Court emphasized that such sub-classification should not eliminate any group from reservation entirely. Rather, it should provide proportionate and targeted access to those who are doubly disadvantaged. This makes the policy more equitable and prevents monopolization by dominant sub-castes.

Conclusion

The Supreme Court's ruling in Davinder Singh represents a paradigm shift in the evolution of India's reservation jurisprudence. By acknowledging the internal stratification within SCs and STs, the Court reaffirmed the need for a nuanced approach to affirmative action-one that prioritizes equity over blanket equality. This judgment not only rectifies the interpretive limitations of EV Chinnaiah but also operationalizes the spirit of Articles 14, 15, and 16 in a more inclusive and pragmatic manner.

Recognizing that social backwardness is not uniform, the ruling allows States to tailor reservation policies based on data, evidence, and socio-economic realities. It brings long-ignored and doubly marginalized sub-castes to the fore, ensuring they too benefit from the Constitution's promise of justice.

However, the ruling places significant responsibility on States. Sub-classification must be backed

by rigorous empirical studies and not devolve into political expediency. Misuse or arbitrary classifications could undermine the principle of equality and trigger renewed legal challenges.

In sum, Davinder Singh is not just a legal milestone-it is a social corrective. It paves the way for a more granular, justice-oriented reservation policy and reinvigorates the constitutional commitment to uplift the most disadvantaged. The true test will lie in its implementation, and whether the State machinery can ensure that equity does not become another bureaucratic formality but a lived reality for all.

REFERENCES:

- Census and caste enumeration: British legacy and contemporary practice in India Author(s): RAM B. BHAGAT Source: Genus, Vol. 62, No. 2 (April June 2006), pp. 119-134.
- Census Of India 1931 Vol.1 (report). by: Hutton., J.h.. Publication date: 1933 Page 425 https://indianculture.gov.in/ebooks/census-india-1931-vol-i-india
- Census Of India (1911) Vol. 1. by: Gait, E. A.. Publication date: 1913, Page 371 https://archive.org/details/in.ernet.dli.2015.196121/page/n7/mode/2up
- Indra Sawhney Vs. Union of India 1992 Supp (3) SCC 217
- State of Madras v. Champakam Dorairajan (AIR 1951 SC 226)
- General Manager, Southern Railway v. Rangachari (AIR 1962 SUPREME COURT 36)
- M.R. Balaji v. State of Mysore 1963 Supp (1) SCR 439
- T. Devadasan v. Union of India (1964) 4 SCR 680
- State of Kerala V/s NM Thomas AIR 1976 SUPREME COURT 490
- EV Chinnaiah v. State of Andhra Pradesh (2005) 1 SCC 394
- State of Punjab v. Davinder Singh 2024 INSC 562

RIGHTS OF THE VICTIM: Must be treated with compassion & dignity

Disha Singh

Pramendra Singh Thakur

What is a crime? If we try to understand it in the most basic form, then crime, by its definition, is an act or wrongdoing against not just an individual, but to society & mankind. It is an act which shakes the collective conscience of society at large. It is considered an assault against humanity itself, which is why the State is the one that initiates action against the accused.

However, the notion that crime being an assault against the humanity makes the entire society a victim of crime is obscures and downplays the significance of the real victims of crime. As they are reduced to the status of silent spectators who observe the court procedures between the accused and the State from the sidelines.

They are put in a position where they cannot even demand a thorough investigation of the crime, they are unable to challenge the accused's bail, while many of them lack access to adequate legal representation to support their claims. They have always been the "forgotten people in the system".

Our understanding of Justice is often prejudiced and confined to the thinking that protecting the victims and their property from harm while also providing them with compensation fulfills the responsibility of the State towards them. Despite the judges and the legal system playing a critical role in promoting the rights of victims, the importance and weight to victims' rights are not sufficiently acknowledged, and in order to do so, our legal system must undergo significant reform and development that put victims' rights first. Indian legal system has for a very long time marshalled the concerns of the culprits. There is no specific definition of the term "victim of a crime" in any statute or in Indian judicial interpretation. Nonetheless, Articles 1 and 2 of the United Nations General Assembly Declaration of Basic Principles of Justice for Victims and Abuse of Power, which was adopted in November 1985, which defines the term "victim". Both the legal system and citizens have predominantly focused on the events involving offenders, from their arrest to the pronouncement of their sentence. Society rarely explores victimology, and there is a widespread propensity to ignore the victim's experiences and the effects of the trial on them.

Introduction

Disha Singh is practising as an advocate at High Court, Jabalpur. She finished her BA LLB from Bangalore. she is an avid reader, and likes to read anything that she lay her hands on. She is a highly motivated person who believes in seizing every opportunity that comes on her way which helps her become a better version of herself both personally and professionally.

Pramendra Singh Thakur is practising as an advocate at High Court, Jabalpur from last 10 years. He has completed his LLB from Indore. He likes to keep himself open to acquire different skills sets and not be limited only to his professional avenues. Disha singh and Pramendra Singh both did research on the topic'Right of Victims" in this fellowship.

Introduction

The term "victim" is defined in **Section 2(wa)** of the Criminal Procedure Code, 1973. In simple terms, it means a person who suffers any loss or injury because of a crime. It does include his or her guardian or legal heir but is usually used in the context of the person whose suffering is a direct or proximate result of the crime.

Where in various countries, victims of crime receive protection, aid, and compensation. The criminal justice system in India frequently ignores victims. Which is exactly why Indian legal system urgently needs to adopt a more victim-centered stance, giving victims' rights and interests more consideration during the course of the investigation and prosecution. This should encompass providing victims with more choices during the trial of the accused and establishing a system for reparations or compensation, particularly for victims of violent crimes.

The UN Declaration of Basic Principles of Justice for Victims of Crimes and Abuse of Power, established in 1985, acknowledges the significant need to establish international standards and norms for the protection of crime victims. The declaration recognizes four primary rights of victims: access to justice and fair treatment, restitution, compensation, and assistance.

Thereafter in India, The Best Bakery Case highlighted that the rights and interests of victims can and should be integrated into the Indian Legal System.

Victimology as a Concept

The term "Victimology" was coined by French lawyer Benjamin Mendelson in 1947. Victimology is the study of a crime from the viewpoint of the person who was harmed, or the victim.

The term "Victimology" holds significance because in The 154th law commission report it was observed that "crimes often entail substantial harm to people and not merely symbolic harm to society. Consequently, the needs and rights of victims of crime should receive priority attention in the total response to crime."

Victimology is a relatively new concept in the legal industry which attempts to increase understanding of how a crime impacts the victim. Its goal include looking at crime from a viewpoint that emphasizes the responsibilities and duties of both the victim and the offender. Any individual who experiences injury or loss due to the actions of another is seen as a victim in the modern meaning, and victimology essentially studies the interaction between the victim and the offender.

Aftermath of a Crime

The physical impact of a crime upon a victim is such that they frequently have to decide between "fight of flight". This involves deciding whether to confront the perpetrator and resist the criminal act or succumb passively to the crime.

This is because after experiencing something as traumatic as a crime, a victim is likely to undergo a range of physical reactions or responses, which put them in the victim's care category.

The physical reaction may not manifest immediately but can emerge once the threat or danger has subsided. The victim may experience shock or anguish for the rest of their life as a result of this delayed reaction, which can result in mental trauma that resurfaces when their memory returns.

Financial Impact

The financial impact of crime on the victim can take various forms, including:

- **Medical treatment costs:** expenses incurred in acquiring medical treatment for physical injuries.
- **Property Damage:** costs related to the damage of property
- **Litigation costs:** inability to afford litigation expenses while fighting against the crime and the criminal
- **Loss of employment:** the loss of employment leading to a decline in earnings.
- **Funeral or burial expenses:** costs associated with funeral or burial arrangements if applicable.

In some instances, for security or other reasons, victims may occasionally be forced to relocate, which entails additional expenses for moving and relocating. The effects of crime can go beyond its financial and physical manifestation which includes the breakdown of marriage and family life. This is especially true for women who have been the victims of sexual offenses like rape, acid attacks, or other sexual crimes.

Victims of crimes like murder, rape, torture, assault, and robbery experience a long-lasting effect which includes the feelings of rage, dread, helplessness, and insecurity. In addition to affecting the victim directly, these impacts have the potential to spread throughout the community, creating a sense of insecurity among its members.

The Psychological Impact of Victimization

Crime-related trauma and emotional suffering might be so severe that no amount of compensation can make up for it. Further, victims of violent crimes may be permanently disabled, making it impossible for them to contribute to the society as a responsible member. Sometimes victims' drive for retribution can lead them to become seasoned criminals themselves.

Unfortunately, this cycle could persist into later generations, leading to family disputes and continuation of illicit activities.

The victims of rape and other sexual assaults often have to make difficult choice to either accept their circumstances or resort to extreme measures like suicide due to the significant impact these crimes have on their entire psyche. Some victims may develop neurotic diseases because of their traumatic experience.

The brutalization of children, as research indicates, can have lasting consequences, with the adage "Little victims grow into big terrorist" underscoring the potential long-term societal implications of such trauma.

Constitutional Rights of Victim

The Constitution of India holds the highest authority as the Supreme law of the land and is, therefore, regarded as the foundation for all existing laws. Fundamental rights outlined in Article 14 and Article 21 are integral to this framework, complemented by the Directive Principles of State Policy found in Article 39A, 41, 46, and 51C.

Rudal Sah v. State of Bihar (AIR 1983)

In this case, the court directed the state to provide compensation of Rs. 35,000 to Rudal Sah. Notably, Rudal Sah had been unjustly incarcerated for 14 years even after being acquitted on the grounds of insanity. The court held that the prolonged imprisonment, despite his acquittal, amounted to a violation of Article 21 and emphasized the responsibility of the State of Bihar to rectify this injustice by awarding compensation.

In the Nilabati Behra v. State of Orissa case , the petitioner's son was apprehended by the police, and the following morning, his lifeless body was discovered on the railway tracks, bearing multiple injuries. In a ruling by the Honorable Supreme Court, compensation amounting to Rs 1,50,000 was granted, with the obligation for the State to make the payment.

Gudalure Cherian v. UOI

In this case, the Hon'ble Supreme Court, adopting a progressive approach, initially ordered a fresh investigation by the CBI. Upon the completion of the investigation, the Court directed the Govt of Uttar Pradesh not only to suspend the police officials and medical officers who attempted to shield the accused but also mandated the state to provide compensation. The compensation awarded was Rs 2,50,000 to the victim of rape and Rs 1,00,000 to the victim of other crimes.

Victim's Rights under Indian Legal System

The 154 th Law Commission Report on the CrPC devoted an entire chapter to 'Victimology' in which the emphasis on victim's rights in criminal trials was discussed. It interpreted Article 41 (containing right to public assistance in certain cases) and Article 51-A (duty of every citizen to develop humanism and the spirit of inquiry and reform) to form the constitutional foundation of Victimology. It also suggested that the compensation should not just be limited to only fines, penalties & forfeitures realized.

In 2003, the Malimath Committee on reforms in the Criminal Justice System of India, was of the opinion that the strategies being introduced in the United Kingdom to give a better deal for victims should be considered for adoption in India. It stated that Victim compensation is a state obligation in all serious crimes, whether the offender is apprehended or not, convicted or acquitted.

In its report, it recommended the creation of a victim compensation fund to be administered by the Legal Services Authority. This led to the introduction of Section 357A of the Code of Criminal Procedure, which was a revolutionary step towards victim rehabilitation for the Indian Criminal Justice system.

United Nation's Contribution in the Field of Victimology

On November 29, 1985, during its 96th Plenary, the United Nations General Assembly adopted the Declaration of Basic Principles of Justice for Victims of Crime and Abuse of Power, commonly referred to as the UN Declaration. This marked a consequential acknowledgment on the international stage of the vital to establish norms and minimum standards within both international and national legal systems to safeguard the rights of crime victims. The UN Declaration identified four primary elements encompassing the rights of crime victims:

a. Right to access justice and receive fair treatment
b. Restitution
c. Compensation
d. Rehabilitation

Compensatory Provision under the Code of Criminal Procedure, 1973

Section 357(1) focuses on the allocation of compensation from the fine imposed on the offender during the sentencing process. Sub-section 1(a) of this section grants authority to a criminal court to compensate the prosecuting agency for expenses related to the prosecution by utilizing the fine imposed on the convict. Sub-section 1(b) of section 357 permits the court to grant compensation

to the victim for any harm or loss resulting from the offense, with the condition that such compensation must be recoverable through legal action in the civil court.

The term "recoverable" can be interpreted in two ways:

- It implies that the victim has the right to file a civil court suit against the offender for damages, and the offender is liable to pay
- It signifies that the offender had the financial capacity to fulfil the compensation obligation

Section 358 addresses the issue of compensating individuals who have been groundlessly arrested. The provision allows for compensation when an individual becomes a victim of arrest without valid reasons. To invoke this section, there must be a direct link between the complainant and the arrest.

Section 359 this section grants the court the authority to impose costs in non-cognizable cases, compelling the offended to pay to the complainant, who is typically the crime victim. Additionally, it stipulated that if the offender fails to comply with the cost order, they may face simple imprisonment for a period of up to 30 days.

Compensation provided to victims under special legislation

The protection of Women from Domestic Violence Act, 2005

In the case of Smt. Haimanti Mal v The State of West Bengal (2019) the issue of trauma resulting from physical abuse, even in the absence of medical reports, was acknowledged and redressed. The Calcutta High Court, relying on section 22 of this Act, granted a compensation of Rs 1,00,000 for mental torture and emotional distress.

A distinctive feature of this Act is its provision enabling victims to maintain ongoing access to facilities or resources they are entitled to use or enjoy due to an existing domestic relationship, including access to shared housing. When a complaint is received, the police officer or magistrate is obligated to apprise the victim of her right to seek a protection order, a monetary relief order, custody order, residence order, compensation order or a combination of such orders.

The probation of Offender Act, 1958

The Act includes a provision for compensatory relief to crime victims under section 5(1) of the Act. This section stipulated that when the court orders the release of an offender under section 3 or section 4 of the Act, if any, at its discretion, instruct the accused to provide compensation to the victim. The court determines a reasonable amount for the loss or injury suffered by the victims, along with covering the costs of the legal proceedings.

Compensation of Victims Under Motor Vehicles Act 1988

Victims of vascular accidents or their legal representatives, in case of the victim's death, have the right to seek compensation from the offender as per section 5 of the Motor Vehicle Act, 1988

Conclusion:

The United Nations Declaration of T**he Basic Principles of Justice for The Victims of Crime and Abuse of Power,** states the following,

"14. Victims should receive the necessary material, medical, psychological, and social assistance through governmental, voluntary, community-based, and indigenous means.

15. Victims should be informed of the availability of health and social services and other relevant assistance and be readily afforded access to them."

Thus, the victims must be treated with compassion & dignity as humans, rather than just another case. Like the Statute of Europe recommended, the questioning of the victim must be with due consideration to his personal situation, rights, and dignity. Police officers and other law enforcement personnel should be trained to deal with victims in a sympathetic and reassuring manner, just like they are taught to handle criminals. Despite the existence of numerous legislations and provisions within our Constitutional Justice System, there is a need for further enhancements. In order to improve the current situation, attention should be paid to strictly enforcing the rules that are already in place, actively incorporating victims in all stages of the judicial process and adopting a specific umbrella law that is only focused on accelerating justice for victims.

References:

1. Zahira Habibulla H Sheikh and Anr. vs State Of Gujarat And Ors AIR 2004 SUPREME COURT 3114, 2004 (4) SCC 158, 2004
2. 1983 AIR 1086, 1983 SCR (3) 508
3. 1993 AIR 1960, 1993 SCR (2)
4. 1992(1) CRIMES 2 (SC),

आदिवासी महिलाओं का संपत्ति में उत्तराधिकार: प्रथागत कानून को संहिताबद्ध करने का सही समय

डॉ. कमलेश पाटीदार

परिचय

विधि स्नातकोत्तर और पीएचडी डॉ. कमलेश पाटीदार 10 वर्षों तक विधि शिक्षक रहे हैं। कई बैंकों तथा कंपनियों के वकील के रूप में कार्य करने वाले डॉ. कमलेश पाटीदार ने कई शोध पत्र लिखें हैं शोध संगोष्ठियों में शोधपत्र पढ़े हैं। वे एक दशक से निःशुल्क विधिक सेवा तथा विधिक जागरूकता, विधिक साक्षरता के लिए निरंतर कार्य कर रहे हैं। धार जिले के कुक्षी में अधिवक्ता डॉ. कमलेश पाटीदार ने इस फैलोशिप के दौरान 'भिलाला आदिवासी महिलाओं के संपत्ति में उत्तराधिकार संबंधी रूढ़िगत विधियां' विषय पर शोध कार्य किया है।

प्राचीनकाल से समाज का ढांचा धर्म, आचार-विचार, दर्शन एवं व्यवहार पर आधारित था। विधि के स्वरूप को निर्धारित करने में अत्यधिक महत्व रखता है। व्यक्तिगत विधि के संबंध में विधि को सम्राट का आदेश नहीं माना गया है, बल्कि इनका धार्मिक या रूढ़िगत आस्था के कारण विकास हुआ है। हिंदू विधि प्रत्येक अहिंदू धर्मावलंबी के अतिरिक्त सभी व्यक्तियों पर लागू होती है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 366 के खंड 25 के अंतर्गत आने वाले किसी अनसूचित जनजाति के सदस्यों पर हिंदू विधि लागू नहीं होती, जब तक कि केंद्रीय सरकार राजकीय गजट (राजपत्र) में अधिसूचना द्वारा हिंदू विधि लागू होना घोषित न कर दे। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र हिंदू धर्म के चार वर्णों में आते हैं, अतः वे हिंदू हैं। जनजातियां पांचवां वर्ग होने से हिंदू विधि द्वारा स्पष्टतः शासित नहीं होती हैं। हालांकि हाल ही में उच्च न्यायालय मद्रास क्षेत्राधिकार के अंतर्गत दिनांक 22-02-2023 न्यायाधिपति एस.एम सुब्रमण्यम द्वारा निर्णय पारित 1. सरवन 2. वेंकटरमण अपीलार्थी विरुद्ध सेरमयी 2. पूनकोड़ी 3. मुरुगन प्रत्यार्थीगण के मामले में आदिवासी महिलाओं को रूढ़ियों एवं प्रथाओं में परिवार की संपत्ति पर कोई अधिकार नहीं होने का दबी जुबान में ऐसी किसी रूढ़ि या प्रथा का समुदाय में प्रचलित होने का उल्लेख या सबूत नहीं होने से आदिवासियों में महिलाओं को भी पुरुषों के समान हकदार मानकर जनजातीय पुत्री तथा माता को हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम की प्रयोज्यता के लिए हिंदू माना गया है तथा वादी जनजाति की महिलाओं को पुरुषों के समान अंश दिया है। यद्यपि इस विषय पर पृथक-पृथक जनजातियों के संबंध में विभिन्न न्यायालयों में मतैक्यता नहीं है तथा ना ही अधिनियमित विधि में अभी तक कोई प्राविधान है। हिंदू धर्म की व्यक्तिगत विधियों के संदर्भ में भिलाला जनजाति की रूढ़ियों के आलोक में सांस्कृतिक विधियों का विश्लेषणात्मक अध्ययन करने की चेष्टा यहां की है।

रूढ़ि एवं प्रथा शब्द ऐसे नियम की ओर संकेत करते हैं, जिसका एक लंबे समय से लगातार समानतापूर्वक अभ्यास किए जाने के फलस्वरूप उसे एक कानून का बल प्राप्त हो चुका है।[1] जनजातियां रूढ़िगत विधि से शासित होती हैं तथा रूढ़ियां कहीं लिपिबद्ध नहीं होतीं, जिसके अभाव में जनजाति से संबंधित व्यक्तियों के मामलों में न्यायालय को विवाद निराकरण में कई बार कठिनाइयां होती हैं। रूढ़ियों की अपेक्षा विधि का प्रवर्तन आसान होता है, किंतु रूढ़ि का प्रभाव विधि से अधिक होता है। रूढ़ियों में कमी एकमात्र अलिखित स्वरूप की होती है, इसलिए पश्चिम निमाड़ के भिलाला आदिवासियों की रूढ़िगत विधियों को लिपिबद्ध करने की आवश्यकता प्रतीत होती है, जिसमें महिलाओं को संपत्ति में अधिकार होने अथवा

नहीं होने का प्रश्न निहित है।

प्रायः भिलाला आदिवासियों में व्यक्तिगत एवं पारिवारिक विषयों पर विवादों का निराकरण जाति पंचायत के माध्यम से रूढ़ियों के अनुसार किया जाता है। भिलाला आदिवासी विकासशील जनजाति है। विकास अपने साथ कई समस्याएं लेकर आता है। भिलाला जनजाति पश्चिम निमा़ड़ की प्रमुख जनजाति है। वर्तमान समय में व्यक्तिगत विधि के विषय पर इनमें विवाद बढ़ने लगे हैं। पश्चिम निमाड़ के चार जिलेखरगोन, बड़वानी, धार व अलीराजपुर में भिलाला जनजाति रहती है।

रूढ़िगत विधि वास्तव में सामाजिक व्यवस्था का एक अंग होती है। सामाजिक व्यवस्था से आशय सामाजिक जन-जीवन, व्यापार-व्यवस्था, शिक्षा-निवास तथा सामाजिक मान्यता-सामाजिक तंत्र के सम्मिलित एवं समावेशी स्वरूप को ही सामाजिक व्यवस्था के नाम से समझा जाता है। प्रायः आदिम जीवन व्यतीत करने वाले दूरस्थ क्षेत्र के निवासियों को साधारण बोलचाल की भाषा में आदिवासी कहा जाता है। प्रत्येक जनजाति की अपनी एक प्रथक पंचायत एवं रूढ़िगत नियम होते हैं। जनजातियां मुख्य रूप से अपनी ही जाति में विवाह संबंध स्थापित करते हैं। वस्तुतः वे एक निश्चित भू-भाग में ही रहते हैं, समान भाषा बोलते है और विवाह, व्यवस्था या व्यापार-उद्योग के विषय में विकसित निषेधात्मक नियमों का पालन करतें हैं तथा पारस्परिक कर्तव्य की सुविकसित व्याख्या करते हैं।[2] भील महिलाओं तथा राजपूत पुरुष के बीच वैवाहिक संबंधों के परिणामस्वरूप जन्मी संतानों को भीलों में आला अर्थात् भिलाला नाम से संबोधित किया जाता है। भिलाला तथा बारेला दोनों ही सामान्यतः वर्णसंकर माने जाते हैं।[3]

भिलाला आदिवासी पर हिंदू अधिनियमित विधि के प्रावधान लागू नहीं होते हैं। ऐसी स्थिति में सहज प्रश्न उत्पन्न होता है कि फिर जनजातियां व्यक्तिगत विधि के विषयों पर किस विधि से शासित होती हैं? जनजातियों में प्रथाएं विधि के समान होती हैं। रूढ़ियां या प्रथाएं लंबे समय से अनवरत तथा समरूपतापूर्ण स्थिति में होने के कारण किसी स्थानीय क्षेत्र, जनजाति में विधि के बल को प्राप्त कर लेती हैं।[4] भिलाला आदिवासी एक पितृसत्तात्मक जनजाति होने के कारण परिवार का मुखिया घर का बड़ा पुरुष सदस्य होता है। वही परिवार की संपत्ति धारण कर प्रबंधन का कार्य करता है। निमाड़ में दत्तक ग्रहण की प्रक्रिया केवल राजपूत भिलाला समुदाय में देखने को मिलती है। अन्य भीलों में इस प्रथा का प्रचलन आम नहीं है। भिलाला आदिवासी कर्मठ तथा स्वाभिमानी होते हैं, जो अपना गृहस्थ जीवन प्रारंभ करने के साथ स्वावलंबी हो जाते हैं।

विश्व की प्रत्येक जनजातियों की उनकी विशिष्ट जनजातीय व्यवस्था है, जिसके पालन के लिए जनजातियां सदैव समर्पित रहती हैं। वे परिवर्तन कम ही पसंद करती हैं। संभवतः इसी कारण उन्हें आदिवासी कहकर संबोधित करते हैं। भिलालों में संरक्षता विषयक विवाद कम ही आते हैं। श्रमिक वर्ग होने के कारण शीघ्र ही जीविकोपार्जन में लग जाने के कारण स्वावलंबी होकर आत्म-निर्णय लेने में सक्षम हो जाते हैं। मान्यतानुसार भिलाला समाज में अविवाहित होने तक ही संतान को अप्राप्तवय मानते हैं।

प्रायः भिलाला आदिवासियों की रूढ़िगत विधि में विवाह विषयक रूढ़ियां हिंदू विवाह अधिनियम के समान ही हैं। वर्तमान में सामान्यतः भिलाला आदिवासियों में सपिंड अर्थात कुटुंब में विवाह निषिद्ध है। हिंदू समाज में दहेज-प्रथा के समान ही भिलालों में कन्या मूल्य चुकाना एक सामाजिक बुराई है। दूसरा पुरुष को बहुविवाह करने की स्वतंत्रता प्राप्त है, जबकि रूढ़ि अनुसार स्त्री बहु-विवाह नहीं कर सकती है। सामान्य भिलाला समाज में पुत्री को उत्तराधिकार पैतृक संपत्ति पर प्राप्त नहीं होता है। भरण-पोषण के संबंध में वृद्ध माता-पिता शारीरिक दुर्बलता के कारण व धनोपार्जन करने में असमर्थ होते हैं तथा पुत्र-पुत्रियां विवाह के बाद प्रथक जीवन व्यतीत करने लगते हैं। संयुक्त परिवार नहीं रहता है। विवाहित पुत्री को अपने माता-पिता की संपदा से भरण-पोषण प्राप्त करने का अधिकार नहीं होता है, जिसके कारण विधवा या परित्यक्त

अथवा अविवाहित पुत्री का जीवन दूभर होता है। इनमें यदि माता-पिता के मध्य विवाह विच्छेद होता है, तो दुधमुंहे बच्चों को भी माता से छीन लिया जाता है। अल्पायु में विवाह करने के कारण अवयस्क बच्चों को पिता का संरक्षण एवं शिक्षा का त्याग करना पड़ता है तथा पृथक घर-गृहस्थी का बोझ उठाना पड़ता है।

शासकीय जनजाति कार्य विभाग, जनजाति के जन-प्रतिनिधि तथा जनजाति के उच्च शिक्षित वर्ग मिलकर कार्य करें, तो जनजातियों के विशेष रूप से सीमांत वर्ग, समाज के आखरी पायदान पर निवास करने वाले वांछित, अशिक्षित, निर्धन तथा निःसहाय आदिवासीजन को न्याय प्राप्त हो पाएगा। वर्तमान में देखने में आता है कि आदिवासी समाज का सक्षम वर्ग अपनी इस जिम्मेदारी से विमुख होकर अपने ही परिवार की भलाई के बारे में सोचता है। एक प्रकार से एक ही जनजाति वर्ग में कई उपजाति वर्ग आर्थिक एवं शैक्षणिक आधार पर बन गए हैं, जिनमें संपन्न जनजाति का विपन्न जनजाति से कोई सरोकार नहीं है। इसका उदाहरण हाल ही में माननीय उच्चतम न्यायालय द्वारा आरक्षित वर्ग के समूह में से न्यूनतम आरक्षण का लाभ प्राप्त करने वाली जनजाति को विशेष कोटा तथा अधिकतम आरक्षण का लाभ प्राप्त करने वाली जनजाति को आरक्षण का लाभ नहीं देने के निर्णय पर प्राप्त प्रतिक्रियाओं में देखने को मिलता है। शासन द्वारा जनजातियों की रूढ़ियों का व्यापक सर्वेक्षण कराया जाना चाहिए, जिसके द्वारा प्रत्येक जनजाति की रूढ़िगत विधियों को लिपिबद्ध किया जा सके। यदि उनमें हिंदू अधिनियमित विधियों से समानता पाई जाती है, तो उन जनजातियों पर हिंदू विधि लागू करने हेतु राष्ट्रपति द्वारा उद्घोषणा जारी की जानी चाहिए। जिस जनजाति की रूढ़िगत विधियां हिंदू विधि से भिन्न हों, उस जनजाति में प्रचलित तथा संकलित की लिपिबद्ध रूढ़ियों को व्यक्तिगत विधि के रूप में उस जनजाति के लिए प्रतिष्ठित किया जाना चाहिए अथवा भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम 1925 में लागू किया जाना चाहिए। राजनेताओं विशेषकर जनजातीय जन-प्रतिनिधियों द्वारा लोकतंत्रात्मक प्रणाली में सदन के समक्ष प्रयास किया जाना जनजातियों के हित एवं विकास के लिए अनिवार्य है।

आज का भारत वैयक्तिक विधि की विविधता का देश है। हर धार्मिक संप्रदाय अपनी पृथक-पृथक वैयक्तिक विधि द्वारा शासित होता है। हिंदुओं के लिए हिंदू विधि, मुस्लिमों के लिए मुस्लिम विधि, ईसाइयों के लिए ईसाई विधि और पारसियों के लिए पारसी विधि, यहूदियों के लिए यहूदी विधि लागू होती है। लगभग प्रत्येक संप्रदाय की वैयक्तिक विधि में कुछ न कुछ धार्मिक अंश विद्यमान है। हिंदू और मुसलमान अपनी विधियों को दैवीय मानते हैं। संभवतः यही भारतीयों की वैयक्तिक विधि के एकीकरण में प्रमुख बाधा है।[5] रूढ़ि, विधि का सबसे पुराना स्रोत है। रूढ़ि को स्वयं समाज की उत्पत्ति का समकालीन माना जा सकता है। पाउंड की विधि के स्रोत और विधि प्रारूप की भाषा में, रूढ़ि विधि का स्रोत एवं प्रारूप दोनों हैं।[6] 'प्रथाओं का स्पष्ट प्रमाण लिखित मूल से अधिक प्रमाणित समझा जाएगा'।[7] 'प्रथा' भी रूढ़ि के समान उन्ही आवश्यक तत्वों की अपेक्षा करती है। प्रथा एवं रूढ़ि में अंतर मात्र इस बिंदु पर है कि साधारणतौर पर प्रथाएं तुलनात्मक दृष्टिकोण से रूढ़ि की अपेक्षा आधुनिक होती हैं, यद्यपि इनका अभ्यास भी दीर्घकाल से होता रहा है।[8]

भारतीय संविधान में राज्य के नीति-निर्देशक तत्वों के अंतर्गत राज्य का यह दायित्व होता है कि वह जनजातियों के हितों की अभिवृद्धि करने का प्रयास करें। इसी प्रावधान के अंतर्गत जनजातियों कों व्यक्तिगत विधि की परिधि से बाहर रखा गया है। जनजातियों की सांस्कृतिक विरासत के संरक्षण हेतु विहित प्रावधान उनके आर्थिक हितों का संरक्षण करने में असफल हो रहे हैं। जनजातियों के हितों का संवर्धन करने हेतु प्रावधान का मूल पाठ इस प्रकार है-

Article 46. Promotion of educational and economic interests of scheduled castes, Scheduled Tribes and other weaker sectionsThe State shall promote with special care the education and economic interests of the schedule Tribes, and shall protect than from social injustice and all from of exploitation.

The introduction of the statutory panchayarts meant the end for head of the village: the patel, whose legitimacy essentially law in his ownership of the land. The patel was responsible both tax collection and for the administration of justice, ecpesially in relation to the cases that involved the whole village. After the land reforms im 1951 the function of patel was abolished and his influence diminished empowering the caste leaders and cast-panchayat.[9]

किसी व्यक्ति के हिंदू धर्म की किसी जाति, जनजाति का सदस्य बनने के लिए यह आवश्यक है कि वह व्यक्ति हिंदू होने की घोषणा व इच्छा व्यक्त करे तथा उस विशिष्ट जाति, जनजाति उस व्यक्ति को स्वीकार कर ले।[10] जनजातियां जाति के विषय में संकुचित मानसिकता रखने के कारण सहज ही किसी विजातीय को अपनी जाति में स्वीकार नहीं करती हैं। यदि किसी जनजाति का हिंदूकरण नहीं हुआ है, तो वह हिंदू विधि द्वारा शासित नहीं होती है।[11] यदि किसी विशिष्ट जनजाति का हिंदूकरण हो गया, तो संहिताबद्ध हिंदू विधि उन पर पहले की ही भांति लागू होती रहेगी।[12] इस कारण से भिलाला जनजाति का विधिक अध्ययन रूढ़ियों के संबंध में आवश्यक है।

हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम 1956 की धारा 2 (2) के उपबंध के अनुसार अनुसूचित जनजाति के सदस्यों पर यह विधि लागू नहीं होती है।[13] वे अपनी रूढ़ियों द्वारा उत्तराधिकार प्राप्त करते हैं। जनजातियां जब तक स्वयं अधिनियम विधि से शासित होना नहीं चाहें या व्यक्तिगत विधि लागू करने की विहित घोषणा नहीं होगी, तब तक लागू नहीं होती हैं। वे अपनी रूढ़िगत विधियों से शासित होती हैं।[14] जनजातियों की आस्था चाहे हिंदुओं के अनुरूप हो, फिर भी वे अधिसूचना जारी किए बगैर हिंदू विधि की परिधि में नहीं आती हैं। हिंदू धर्म में आस्था रखने वाली जनजाति में गोद लेने का अधिकार रूढ़ि अनुरूप होने पर मान्य किया है।[15] जनजातियों में जाति पंचायत को व्यक्तिगत विधि से संबंधित विषयों में एक न्यायालय की प्रास्थिति प्राप्त है। उनके निर्णय अंतिम व सर्वमान्य होते हैं। जाति पंचायत द्वारा तलाक प्राप्त करने के पश्चात् द्वितीय विवाह करने को पूर्व विवाह की विद्यमानता के दौरान किया नहीं माना जाता है।[16] जाति पंचायत द्वारा सामान्यतः विवाह विषयक, उत्तराधिकार विषयक, दत्तक ग्रहण, भरण-पोषण तथा संरक्षता से संबंधित विवादों का निपटारा किया जाता है। भिलाला जनजाति में भी न्यायालय के द्वारा उक्त विषयों का निराकरण न कराते हुए सामान्य विधि के प्रावधानों के स्थान पर जाति पंचायत द्वारा रूढ़ियों के अनुसार निराकरण किया जाता है। म.प्र. की भिलाला जनजाति में जाति पंचायत का आज भी अत्यधिक महत्व है। जाति पंचायत की अध्यक्षता पटेल या मंडलोई करता है, जो पंचों रूढ़ियों के जानकार तथा अनुभवी सजातीय बड़े-बुजुर्गों से मिलकर बनी पंचायत के सहयोग से विवादों का निराकरण करता है।

म.प्र. की गौंड जनजाति में पुरुष की मृत्यु के पश्चात् उस मृतक की माता को संपत्ति में उत्तराधिकार कुछ दशाओं में प्राप्त होता है।[17] गौंड जनजाति में विवाहित पुत्री को पिता की संपत्ति में उत्तराधिकार प्राप्त नहीं होता है।[18] जबकि अवयस्क पुत्री को उत्तराधिकार प्राप्त है। गौंड जनजाति पर हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम 1956 लागू नहीं होता है।[19] उक्त अधिनियम लागू करने हेतु अधिसूचना जारी नहीं की गई है। जनजातियों में रूढ़ि अनुसार दत्तक अनुज्ञात होने पर दत्तक पुत्र को नैसर्गिक पुत्र के समस्त अधिकार प्राप्त होते हैं, किंतु आरक्षण प्राप्त करने का अधिकार नहीं है।[20] अनुसूचित जनजाति में पिता की मृत्यु के बाद यदि उन्हें दफनाया जाता है, तो उक्त रूढ़ि के प्रभाव में पुत्री को मृतक की संपत्ति में उत्तराधिकार प्राप्त नहीं होता है।[21] आदिम जनजाति, जो स्वयं को हिंदू मानती है, वह उत्तराधिकार के संबंध में हिंदू विधि से शासित हो सकती है। न्यायालयों में मान्यता तथा रूढ़ियों एवं प्रथाओं को साक्ष्य द्वारा साबित किया जाना कठिन है। प्रायः भिलाला जनजाति के व्यक्ति अशिक्षित होते हैं, उनमें भी महिला शिक्षा की स्थिति और भी दारुण है। ऐसी परिस्थितियों में अशिक्षित भिलाला आदिवासी महिलाओं का अपने अधिकारों के लिए न्यायालय का द्वार खटखटाना एक बड़ी चुनौती होता है। उसके बाद अधिनियमित विधि से इतर अपना पक्ष प्रस्तुत करना तथा अपने पक्ष में पुरुष प्रधान इसी जनजाति से लिखित अथवा

साक्ष्य लाकर न्यायालय में प्रस्तुत करना, जिसमें लिखित साक्ष्य उपलब्ध कराना लगभग असंभव होता है। वहीं दूसरी ओर न्यायालय को मौखिक साक्ष्य में से अकाट्य साक्ष्य पर विश्वास करना किसी घास के ढेर से सुई खोजने के समान अत्यंत दुष्कर होता है।

इस प्रकार से कोई जनजाति जब हिंदू विधि स्वयं पर लागू करती हो या उसे मान्यता प्रदान करती हो, तब संपत्ति का बंटवारा हिंदू विधि के अनुसार होता है।[22] अर्थात् यदि जनजाति हिंदू धर्म एवं व्यवस्था में रच-बस जाती है, तो वह जनजाति हिंदू अधिनियमित विधि से शासित होती है। जनजाति में घर-जमाई को उत्तराधिकार प्राप्त करने संबंधी रूढ़ि होने पर ससुर की संपदा में उत्तराधिकार भी प्राप्त होता है।[23]

ऐसी रूढ़ि नहीं होने पर जनजातियों में घर-जमाई को अपने ससुर की संपदा में उत्तराधिकार प्राप्त नहीं होता, तो ऐसी संपदा पुत्री को अंतरित होती है।[24]

भारतीय संविधान में अनुसूचित जनजातियों के अंतर्गत कौन व्यक्ति आते हैं? इस बात की परिभाषा या मापदंड नहीं दिए गए हैं। अनुसूचित जनजाति की सूची में किसी जाति का नाम जोड़ना या घटाना संसदीय विधि द्वारा राष्ट्रपति के हस्ताक्षरित आदेश के माध्यम से किया जाता है। अनुसूचित जनजाति वर्ग के लिए भारतीय संविधान में विशेष प्रावधान किए गए हैं। मध्यप्रदेश, जो कि आदिवासी-बहुल प्रदेश है, जिसके पश्चिम निमाड़ क्षेत्र में बहुतायत से पाई जाने वाली भिलाला जनजाति के अंतर्गत उपजातियों के अतिरिक्त भिलाला आदिवासी जनजाति संशोधन अधिनियम 1976 के द्वारा मध्यप्रदेश की सूची में अनुक्रमांक 07 पर अंकित अधिसूचित जनजाति हैं। प्रत्येक जनजाति की विशिष्ट सामाजिक व्यवस्था तथा मान्यता होती है। समस्त जनजातियां एक समान रूढ़ियों से शासित नहीं होती है। कई बार तो एक जनजाति की भिन्न-भिन्न उपजातियों की रूढ़ियों में इतना अंतर होता है कि प्रथम दृष्टया वे एक-दूसरे से विपरीत प्रतीत होती हैं।

वे आदिवासी, जिन्होंने वास्तव में हिंदू धर्म को स्वीकार किया हो, उन पर हिंदू विधि ही लागू होगी और वे हिंदू विधि के अनुसार ही दत्तक ग्रहण करने के अधिकारी होंगे, जब तक कि उनके विरुद्ध कोई प्रथा संबंधी सबूत न्यायालय में पेश न किया जाए।[25] यह जाति भील जनजाति की वर्णसंकर उपजाति मानी जाती है।[26] जिनकी उत्पत्ति राजपूत पुरुषों तथा भील कन्याओं के संबंध से हुई है। इसी कारण भिलाला अपने आप को भीलों से श्रेष्ठ या भीलों में आला मानते हैं। भिलालों का मुख्य व्यवसाय कृषि तथा पशुपालन है। भिलाला मुख्य रूप से पश्चिम निमाड़ अर्थात् बड़वानी तथा खरगोन जिले एवं अधिकांश धार व अलीराजपुर जिले में निवास करते हैं। भिलाला जाति अनुसूचित जनजाति में शामिल होने के कारण व्यक्तिगत विधि से शासित न होकर रूढ़िगत विधि से शासित होती है।

भिलाला जनजाति में उत्तराधिकार के संबंध में अत्यधिक संकुचित रूढ़ियां हैं। भिलाला समाज भी अपने मूल भील समाज की तरह एक पितृसत्तात्मक जनजाति है और पिता की मृत्यु के पश्चात् उसकी समस्त संपत्ति का बंटवारा जाति पंचायत (पंचों) की सलाह से कर दिया जाता है। सामान्यतया पिता के खाते की संपूर्ण भूमि उसके सभी पुत्रों में बराबर हिस्से में बांट दी जाती है। यदि संपत्ति की मालिकी विधवा मां के पास है, तो वह संपत्ति अविवाहित लड़की के लिए सुरक्षित रहती है, किंतु लड़की अविवाहित नहीं है या बाद में विवाह हो जाता है तब समस्त संपत्ति लड़कों में बांट दी जाती है। यदि संपत्ति मां की है और पिता मां को छोड़ अन्य महिला के साथ रहता है, तब मां की मृत्यु के पश्चात् संपत्ति प्राप्त करने की अधिकारी सभी संतानें होती हैं, यदि माता दूसरे पुरुष से विवाह कर लेती है, तो माता की मृत्यु के बाद माता की संपत्ति की अधिकारी सभी संतानें होती हैं, किंतु यदि नया पिता बच्चों का पालन पोषण करता है, तो मां की मृत्यु के पश्चात् मां की संपत्ति का उत्तराधिकारी मृत मां की सभी संतानों के साथ उसका दूसरा पति भी होता है।

सामान्यतया भिलाला आदिवासियों में रूढ़ि यह है कि माता-पिता अपने जीवनकाल में ही अपने जीवनयापन के लिए कुछ कृषि भूमि, कुछ वृक्ष एवं पशुधन अपने पास सुरक्षित रख लेने के पश्चात् शेष भूमि अपने सभी पुत्रों में विभाजित कर देते हैं। उक्त माता-पिता द्वारा संयुक्त रखी संपदा कृषि भूमि, वृक्ष तथा पशुधन दोनों में से किसी एक की मृत्यु होने पर उत्तरवर्ती जीवित के पास चली जाती है अर्थात् पिता की पहले मृत्यु हो जाने पर माता के पास तथा माता की मृत्यु होने पर पिता के पास चली जाती है। कुल मिलाकर भिलाला वृद्ध दंपती (माता-पिता) को अपने जीवनकाल में उक्त कृषि भूमि से ही जीवनयापन करना होता है तथा इसी कृषि भूमि की सहायता से अपना तथा अपनी अविवाहित पुत्रियों का भरण-पोषण तथा विवाहित पुत्रियों की आवभगत आदि कार्य करना होता है। माता-पिता दोनों की मृत्यु के पश्चात् उनके द्वारा सुरक्षित रखी हुई कृषि भूमि (पेड़, खेत, पशु) आदि का बंटवारा सभी पुत्रों में समान रूप से हो जाता है।

भिलाला आदिवासियों में विवाहित पुत्रियों को माता-पिता की संपत्ति पर सामान्यतया कोई अधिकार नहीं होता है, किंतु पुत्रहीन माता-पिता की मृत्यु के पश्चात् माता-पिता की संपत्ति पर विवाहित पुत्रियों का भी समान अधिकार होता है। गोद लिए गए पुत्र का दत्तक ग्रहीता माता-पिता की समस्त चल-अचल संपत्ति पर पूर्ण एवं एकमात्र अधिकार एक नैसर्गिक पुत्र के समान होता है।

भिलाला समाज में विवाह के परिणामस्वरूप पति का अपनी पत्नि पर अनन्य अधिकार माना जाता है पति का एकल विवाह हुआ हो अथवा बहु-विवाह होने पर भी सभी पत्नियों को एक साथ एक ही घर में निवास करना होता है। प्रायः पृथक्करण की अनुमति नहीं होती है। इसी कारण पृथक निवासरत पत्नि को ससुराल की संपत्ति में एक परित्यक्त या तालाकशुदा महिला के समान ही उत्तराधिकार प्राप्त नहीं है।

दत्तक ग्रहण के परिणामस्वरूप पुत्रहीन दंपति, जिनकी पुत्रियां हों फिर भी संपत्ति में उत्तराधिकार केवल दत्तक पुत्र को प्राप्त होता है। माता-पिता की मृत्यु के बाद यदि उनके पूर्व मृत पुत्र की विधवा यदि पुनर्विवाह नहीं करती एवं जीवित है, तो उसे अपने पति का हिस्सा प्राप्त करने के अधिकार होते हैं या जारता (असात्विक) की अवस्था में रह रही हो, तब ऐसी स्थिति में पूर्व मृत पुत्र का पुत्र या पुत्री, जो जीवित हो, तो ऐसे पौत्र-पौत्री अपने पिता के हिस्से के उत्तराधिकारी होते हैं। इसी प्रकार माता-पिता की मृत्यु के पश्चात् पूर्व मृत पुत्र की तलाकशुदा पत्नी, जिसने चाहे पुनर्विवाह नहीं किया हो या परित्यक्त होने के पश्चात् सात्विक जीवन व्यतीत करती हो, ऐसी महिला अपने पति के हिस्से के लिए उत्तराधिकार नहीं होती है।

प्रायः महिलाओं को सांपत्तिक अधिकार प्राप्त नहीं हैं। महिला अपने भाई के होते हुए पिता की संपदा में उत्तराधिकारी नहीं हो सकती है। भिलाला महिलाओं की जो स्थिति पुत्री के रूप में होती है, वही आगे चलकर माता के रूप में भी बनी रहती है। ऐसी महिला अपने स्वयं के धन की व्यवस्था भी स्वयं अपनी इच्छा से नहीं कर सकती है। प्रायः महिला के स्त्रीधन पर भी अधिकार उसके पुत्रों का होता है। पैतृक संपत्ति व स्त्रीधन दोनों ही स्थिति में संपत्ति पर एकमात्र अधिकार पुत्रों का होता है।

भिलाला पुरुष की मृत्यु पर उसकी पुत्री-विधवा एवं माता को अंतरित नहीं होती, क्योंकि रूढ़िगत नियमानुसार विवाहित पुत्र का पृथक परिवार हो जाता है। अतः विवाहित पुत्र की संपत्ति उसकी मृत्यु के पश्चात् उसकी माता को नहीं वरन् विधवा को अंतरित होती है। रूढ़ि अनुसार पुत्र के होते हुई पुत्री उत्तराधिकार प्राप्त नहीं करती है, किंतु पुत्र संतान नहीं होने की स्थिति में पुत्रियों को पिता की संपदा में उत्तराधिकार प्राप्त होता है। भिलाला आदिवासियों की रूढ़िगत विधि के अनुसार पुत्रहीन पिता द्वारा रक्त संबंधी कुटुंब के पुरुष का दत्तक अनुज्ञात है, किंतु पुरुष प्रधान समाज के बंधनों के कारण लड़की का दत्तक ग्रहण मान्य नहीं है।

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 14 में प्रदत्त समता के अधिकार का उल्लंघन रूढ़िगत विधियों में किया है, जिसका मूलपाठ

इस प्रकार से है Equality before Law The State shall not deny to any person equality before the Law are the equal protection of the laws within the territory of india.

रूढ़िगत विधियों में कई स्थानों पर विधि के समक्ष समता के अधिकार का उल्लंघन देखा गया है। पति द्वारा बहु-विवाह करने की स्थिति में पहली विवाहित पत्नी के पास किसी भी प्रकार का विधिक उपचार प्राप्त नहीं होता है। प्रथम पत्नी को अपने पति की दूसरी पत्नी को स्वीकार करना पड़ता है अथवा अपने पति से विवाह विच्छेद प्राप्त करने का उपचार होता है। इस प्रकार से दोनों में किसी एक विकल्प का चयन करने की बाध्यता होती है। रुढ़ि अनुसार प्रत्येक पत्नी को उत्तराधिकार प्राप्त करने का अधिकार होता है किसी भी दशा में भिलाला पत्नी अपने पति को रुढ़ि अनुसार बहु-विवाह करने से नहीं रोक सकती है ।

ऐसी स्थिति में पत्नी के मानवाधिकार एवं मूल अधिकारों का उल्लघंन होता है। वहीं दूसरी ओर भिलाला समाज में कन्या जन्म को शुभ माना जाता है, किंतु पुत्र एवं पुत्री के विषय में भिन्नता देखने में आती है। पुत्री को एक सावधि जमा निक्षेप अथवा निवेश मानकर उसका पालन-पोषण किया जाता है। विवाह के समय वर के पिता से वधू के पिता को पुत्री के पालन-पोषण के बदले कन्या मूल्य प्राप्त कर पुत्री (वधू) को समस्त सांपत्तिक अधिकारों से वंचित कर दिया जाता है। कन्या मूल्य को समाज के परिवेश में उपयुक्त या उचित नहीं ठहराया जा सकता है।

कन्या को विवाह के पश्चात् दूसरे परिवार की सदस्य मानकर माता-पिता के परिवार से पृथक कर दिया जाता है। विवाहित पुत्री के अपने पिता की संपत्ति में निहित समस्त अधिकार समाप्त हो जाते हैं। पुत्री को अविवाहित रहने तक पिता की संपदा से मात्र भरण-पोषण प्राप्त करने का अधिकार होता है। दत्तक पुत्र के होने पर भी नैसर्गिक पुत्रियों को पिता की संपदा में उत्तराधिकार प्राप्त नहीं होता है। रूढ़ि अनुसार दत्तक-ग्रहण पुत्री का नहीं हो सकता है। भिलाला समाज में उत्तराधिकार मात्र पुत्रों एवं पत्नियों को सामान्यतः प्राप्त होता है। यद्यपि भिलालाओं में संपत्ति का विभाजन रक्त संबंधी कुटुंबजन के बीच ही होना रूढ़ि अनुसार अनुज्ञात है।

भिलाला आदिवासी भी एक सामान्य हिंदू समाज के समान पुत्र मोह से ग्रसित है। इसी कारण से रूढ़िगत विधि में पुत्री का दत्तक मान्य नहीं है। चूंकि भिलालाओं पर हिंदू विधि लागू नहीं होती है। वे अपनी रूढ़िगत विधियों से शासित होते हैं। रूढ़िगत विधि में पुत्री का दत्तक मान्य नहीं है। इस प्रथा से रूढ़िगत विधियों द्वारा पुत्र एवं पुत्री में विभेद किया गया है। यद्यपि रूढ़ि अनुसार पुत्र संतान नहीं होने तथा किसी पुत्र को दत्तक नहीं लेने की स्थिति में सभी पुत्रियों को पिता की संपत्ति में समान उत्तराधिकार प्राप्त होते हैं। विविध उच्च न्यायालयों एवं माननीय भारत के सर्वोच्च न्यायालय ने आदिवासी महिलाओं के सांपत्तिक अधिकारों का संरक्षण एवं परिवर्धन करने का प्रयास किया है साथ ही केंद्र सरकार को निर्देशित भी किया है।

हाल ही में भारत के सर्वोच्च न्यायालय ने सिविल अपील सं. 2022/6901 कमला नेती बनाम विशेष भूमि अधिग्रहण अधिकारी व अन्य के मामले में निर्णय 9 दिसंबर, 2022 को अभिनिर्धारित कियाभारत के संविधान, जिसमें समानता के अधिकार की गांरटी दी गई है, के 70 वर्षों की अवधि के बाद भी आदिवासियों की बेटी को समान अधिकार से वंचित करने के लिए, केंद्र सरकार के लिए इस मामले को देखने और यदि आवश्यक हो, तो यह सही समय है विधायिक को चाहिए कि हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम के प्रावधानों में संशोधन करे, जिसके द्वारा हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम अनुसूचित जनजाति के सदस्यों के लिए लागू नहीं किया गया है। यद्यपि उक्त अपील को खारिज कर सरकार को निर्देशित किया कि हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम की धारा 2 (2) के तहत प्रदान की गई छूट को वापस लेने, जहां तक हिंदू उत्तराधिकार के

प्रावधानों की प्रयोज्यता है, केंद्र सरकार द्वारा इस प्रश्न की जांच करना उचित और आवश्यक है कि अनुसूचित जनजातियों के लिए अधिनियम और एक उपयुक्त संशोधन लाना है या नहीं? माननीय सर्वोच्च न्यायालय ने इस प्रकरण में आशा एवं विश्वास व्यक्त किया कि केंद्र सरकार इस मामले को देखेगी और भारत के संविधान के अनुच्छेद 14 एवं 21 के तहत गारंटीकृत समानता के अधिकार को ध्यान में रखते हुए आदिवासी महिलाओं के संपत्ति में अधिकार के संबंध में निर्णय लेगी। उच्च न्यायालय झारखंड रांची द्वारा पारित प्रभा मिंज पिता स्व. सरन लिंडा विरुद्ध मार्था एक्का पति स्व. अजीत एक्का निर्णय दिनांक22-04-2022 के एक अन्य मामले में अभिनिर्धारित किया कि उरांव और संथाल जनजातियों के बीच विरासत का एक सामान्य प्रथागत कानून, जिसमें महिला उत्तराधिकारियों को विरासत के अधिकार से वंचित करना बाध्यकारी हो, न्यायिक उत्तराधिकार के प्रथागत कानून को समानरूप से या लगातार मान्यता देने से परहेज किया है, जिसमें महिला को विरासत से बाहर रखा गया है, ताकि यह माना जा सके कि उन्होंने सामान्य प्रथागत कानून की बाध्यकारी शक्ति हासिल कर ली है। प्रत्येक मामले में स्वत्वाधिकार के दावे का निर्णय प्रचलित रीति-रिवाज के संबंध में प्रथागत कानून के अभिवचन और प्रमाण के आधार पर किया जाना है। यह उचित समय है कि उत्तराधिकार के प्रथागत कानून को संहिताबद्ध किया जाए और उसे वैधानिक रूप से दिया जाए।

संदर्भ:

1. कमला पंडा विरुद्ध जूना पटेल, 1993 (1) एच.एल.आर. 175.
2. डॉ. शिव कुमार तिवारी व श्री कमल शर्माम.प्र. की जनजातियां, समाज एवं व्यवस्था, म.प्र. हिंदी ग्रंथ अकादमी भोपाल, 2000, पृ. 3 पर उद्धृत.
3. प्रेमनारायण श्रीवास्तव-पूर्व एवं पश्चिम निमाड़ जिला गजेटियर, 1972, पृ. 97.
4. अनिरुद्ध जगदेवराव विरुद्ध बाबा राम इरबाजी, ए.आई.आर. 1983 बम्बई 391.
5. डॉ. पारस दीवानआधुनिक हिंदू विधिइलाहबाद एजेंसी पब्लिकेशन इलाहबाद, 2004 पृ. 1
6. Pond jurisirudance, The Law book exchange Vol. 2, 2000, P. 389.
7. कलेक्टर ऑफ मदुराई विरुद्ध मुत्तुराम रामलिंगम, 1868/12 एम.आई.ए. 397
8. हंसो उर्फ हनी विरुद्ध हरभजन सिंह 1982 एच.एल.आर. 35
9. Livia S. HoldenSouth Asia redearch journal SAGE Publication New Dehli Nov. 2003.
10. दुर्गा प्रसार विरुद्ध सुदर्शन स्वामी 1940 मद्रास 513 एवं वि.वि. गिरि विरुद्ध डी.एस. दोरा1956 सु.को. 1318
11. गोपाल विरुद्ध गिरि बाला 1991 पटना उच्च न्यायालय 138
12. कुंदन विरुद्ध जितन, ए.आई.आर. 1988 पटना उच्च न्यायालय
13. लालाशाही विरुद्ध बोधनराम ए.आई.आई. 2001 एम.पी. 159.
14. डॉ. सूरजमणि विरुद्ध दुर्गाचरण एस.सी.सी. 2001 (3) = ए.आई.आर. 2001 एस.सी. 938
15. धनुर्जम किरसानी विरुद्ध सक किरसानी ए.आई.आर. 1987 उड़ीसा 205
16. सुशीला कुमारी विरुद्ध खैरातीलाल 1987 मनीसा हाईकोर्ट 8 पृ. 26
17. जागोसिंह विरुद्ध जमनी बाई 1988 वीकली नोट 205
18. कंदान सोरेन विरुद्ध जितन हेमरोन ए.आई.आर. 1963 पन्ना 206
19. छुइया व झड़ी विरुद्ध मंगरी बाई व अन्य 2000 (2) एम.पी.एल.जे. 441
20. धनुर्जभ किरसानी विरुद्ध सक्र किरसानी ए.आई.आर. 1987 उड़ीसा 205
21. गोपालसिंह भूमजी विरुद्ध गिरि बाला भूमजी ए.आई.आर. 1991 पटना 138
22. जागोसिंह विरुद्ध जमनी बाई 1988 वीकली नोट 205
23. कंदान सोरेन विरुद्ध जितन हेमरोन ए.आई.आर. 1963 पन्ना 206
24. छुइया व झड़ी विरुद्ध मंगरी बाई व अन्य 2000 (2) एम.पी.एल.जे. 441
25. धनुर्जभ किरसानी विरुद्ध् सक्र किरसानी ए.आई.आर. 1987 उड़िसा 205.
26. प्रेमनारायण श्रीवास्तव पश्चिम निमाड़ जिला गजेटियर 1973 पृ. 97

मेरी यात्रा: अंतिम व्यक्ति तक न्याय की पहुंच का मार्ग

मोहन दीक्षित

परिचय

विदिशा और भोपाल की जिला अदालतों में वकालत कर रहे मोहन दीक्षित वंचित और शोषित समाज को न्याय दिलाने के लिए संघर्षरत हैं। वर्ष 2020 में महात्मा गांधी के पौत्र राजमोहन की प्रेरणा से शुरू हुए नेतृत्व कार्यक्रम "डिसोम' में चयनित हुए मोहन दीक्षित ने 15 माह तक पूरे देश की यात्रा कर स्वयं को अधिक प्रतिबद्ध बनाया है। सामाजिक न्याय आधारित कार्य पर नेशनल फाउंडेशन ऑफ इंडिया ने मोहन दीक्षित को भारत रत्न सी. सुब्रमण्यम राष्ट्रीय पुरस्कार प्रदान किया है। इस फैलोशिप के तहत मोहन दीक्षित ने 'अंतिम व्यक्ति तक न्याय की पहुंच' विषय को केंद्र में रख कार्य किया है।

जब भी अंतिम व्यक्ति की बात होती है, तो तुरंत ही हमें महात्मा गांधी जी की याद आती है। उनका दिया हुआ अचूक ताबीज शाश्वत है, इसमें महात्मा गांधी कहते हैं कि 'मैं तुम्हें एक ताबीज दूंगा, जब भी तुम्हें संदेह हो या जब अहंकार तुम्हारे साथ बहुत अधिक हो जाए, तो यह परीक्षण लागू करेंसबसे गरीब और सबसे कमजोर आदमी का चेहरा याद करें, जिसे आपने देखा हो और खुद से पूछें कि क्या आप जो कदम उठाने पर विचार कर रहे हैं, वह उसके लिए किसी काम का होगा। क्या उस व्यक्ति को इससे कुछ हासिल होगा? क्या यह उसे अपने जीवन और भाग्य पर नियंत्रण वापस दिलाएगा? दूसरे शब्दों में, क्या यह स्वराज की ओर ले जाएगा? भूखे और आध्यात्मिक रूप से भूखे लाखों लोगों के लिए? तब आप पाएंगे कि आपका संदेह और अहंकार पिघल रहा है।'

जब मेरी फैलोशिप की यात्रा शुरू हुई, तो मेरे लिए पहला सवाल यही था कि इसका विषय क्या होगा? उस समय मैं ऐसी स्थिति में था कि वकालत से मेरा विश्वास धीरे-धीरे उठ रहा था और न्यायालय में चल रहे ढर्रे को देखकर लगता था कि यहां से न्याय मिलना बहुत मुश्किल है। फिर भी कार्य के प्रति अपनी लगन एवं मूल्यों के प्रति निष्ठा से न्याय की उम्मीद बनी हुई थी। मैंने भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन का इतिहास पढ़ा है। उसमें मैंने पाया कि क्रांति एवं बदलाव में अधिवक्ताओं की भूमिका अहम होती है। इसी प्रकार आज के समय में भी समाज में वैचारिक बदलाव और क्रांति की आवश्यकता है। यह सोचकर मैं विचारों के द्वंद्व से जूझते हुए भी वकालत का कार्य करता रहा। फिर भी हमेशा की तरह यही सवाल बना रहा कि न्याय की प्रक्रिया से मैं अंतिम व्यक्ति को न्याय दिला पाऊंगा या नहीं.. और अंतिम व्यक्ति तक न्याय की पहुंच के रास्ते क्या होंगे? इसीलिए मैंने फैलोशिप की यात्रा में अपना विषय 'अंतिम व्यक्ति तक न्याय की पहुंच' को चुना।

आज़ादी के बाद देश के सामने सबसे बड़ी चुनौती यह थी कि वंचित समुदाय तक न्याय की पहुंच कैसे सुनिश्चित हो? सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय का अर्थ है कि सबको गरिमापूर्ण जीवन जीने का अधिकार मिले, वर्ण या जाति के आधार पर कोई भेदभाव न हो, सभी लोगों को आर्थिक समानता मिले और लोकतांत्रिक कार्यप्रणाली में सबकी भागीदारी सुनिश्चित हो, लेकिन संविधान लागू होने के 75 वर्ष बाद भी सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय की हकीकत बिल्कुल अलग है। अगर लोग अदालत से किसी भी तरह के न्याय की आस रखते हैं, तो पैसा सबसे महत्वपूर्ण होता है। अमूमन यह कहा जाता है कि जिसके पास पैसा

होगा, वही केस लड़ पाएगा या कहें कि न्यायालय की चौखट तक पहुंच पाएगा। वास्तविकता तो यह है कि न्याय पाने या न्याय करने में पैसा होना या ना होना मायने ही नहीं रखता। वह तो स्वाभाविक या प्राकृतिक प्रक्रिया है।...और इस बात को कुछ हद तक फलीभूत करने के लिए मैंने इस विषय को चुना है। जस्टिस डीवाई चंद्रचूड़ ने कहा कि किसी मामले का नतीजा चाहे जो भी हो, सिस्टम की ताकत न्याय देना है, किंतु सवाल यह है कि सिस्टम तक आवाज कैसे पहुंचेगी? भारत के वर्तमान चीफ जस्टिस ने भी कहा है कि किसी व्यक्ति की मनमाने ढंग से गिरफ्तारी, विध्वंस की धमकी और अगर उनकी संपत्ति को गैरकानूनी तरीके से कुर्क किया जाता है, तो विश्वास की इस भावना को सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों में सांत्वना और आवाज मिलनी चाहिए। तब यह आवश्यक हो जाता है कि हम जैसे लोग इस तरह के अनाचार, अत्याचार को न्यायालय तक पहुंचाएं। भारतीय न्यायपालिका का इतिहास आम लोगों के रोजमर्रा के संघर्षों का इतिहास है। न्यायालय की सबसे बड़ी चुनौती भी यही है कि अंतिम व्यक्ति तक न्याय की पहुंच सुनिश्चित करते हुए उनके दैनंदिन जीवन को सुगम और सुविधापूर्ण बनाया जाए, लेकिन बढ़ती हुई आबादी के बीच आपसी संघर्षों ने इस चुनौती को हमेशा ताजा रखा है। क्योंकि न्याय की लंबी प्रक्रिया और तुलनात्मक रूप से शीर्ष न्यायालय पर न्याय का बोझ अधिक है, जहां तक हर सामान्य आदमी नहीं पहुंच पाता अंतिम आदमी की तो बात ही दूर है। ऐसे में अंतिम व्यक्ति का न्याय से भरोसा उठ गया है और उसे लगता है कि न्यायालय के माध्यम से न्याय संभव ही नहीं है। अब न्याय व्यवस्था के अलावा लोकतंत्र में भरोसा रखने वालों के लिए भी यह एक चुनौती है कि उस व्यक्ति में न्याय के प्रति भरोसा जाग्रत किया जाए। उसे महसूस कराया जाए कि वह भी लोकतंत्र का नागरिक है, जहां न्याय प्राप्त करने का मौलिक अधिकार सभी को समान रूप से प्राप्त है।

इस विश्वास को कायम करने के लिए मैंने सामाजिक न्याय पर आधारित प्रकरणों पर कार्य करना शुरू किया और पाया कि न्याय का वास्तविक अर्थ है कि सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्र में सभी के साथ समान और समतापूर्ण व्यवहार किया जाए। जहां किसी भी तरह का लिंग, जाति, पंथ, धर्म, भाषा-बोली, रहन-सहन, स्थान, शरीर की भिन्नता के आधार पर भेदभाव न हो। सभी व्यक्तियों को अपना धर्म मानने, कहीं भी बसने और आजीविका चलाने के समान अवसर मिलें, किंतु एक ओर जहां हमारा संविधान हमें समान सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय देने का सौभाग्य प्रदान करता है, वहीं दूसरी ओर हमारा दुर्भाग्य भी है कि कुछ लोगों का व्यक्तिगत स्वार्थ और राजनीतिक महत्वाकांक्षाएं देश में संविधान की परिकल्पना को साकार होने देने में बाधक हैं। इस विषय को मैंने मुख्य रूप से इसलिए भी चुना, क्योंकि आज के दौर में न्यायालय के माध्यम से गरीब और वंचित वर्ग के लिए न्याय पाना एक सपना बनकर रह गया है। आर्थिक अभाव में पीड़ित व्यक्ति का न्यायालय तक पहुंचना ही मुश्किल होता है और अगर वह पहुंचता भी है, तो न्याय मिलने में इतना समय लग चुका होता है कि तब तक उसके साथ अन्याय हो जाता है या वह बचता ही नहीं है। इस कारण आज लोगों ने अधिकांशतः अन्याय के खिलाफ आवाज उठाना ही बंद कर दिया और उसे सहन करना ही अपनी नियति समझ बैठे हैं। वर्तमान समय के इस भागदौड़ भरे जीवन में आज के युवाओं को संविधान और कानून की समझ ना के बराबर है। भारत के नागरिक को अपने अधिकार और कर्तव्य का बोध संविधान से होता है। इसलिए मेरा मानना है कि संविधान की पहुंच समाज में होना बहुत आवश्यक है, जो आज देखने को नहीं मिलती है।

इस विषय के माध्यम से मेरे द्वारा ग्रामीण युवा, महिलाओं एवं शोषित और वंचित समुदाय को मैंने अपने कार्य के केंद्र में रखा था, क्योंकि मेरा मानना है कि युवा भविष्य की पूंजी है और युवाओं के साथ काम करने से समाज में बदलाव संभव है एवं महिलाओं व वंचित समुदाय के साथ काम करने का मेरा उद्देश्य इसलिए था, क्योंकि संविधान और संवैधानिक मूल्य इन समुदायों के लिए आज तक स्वप्न है। यदि हम अंतिम व्यक्ति की बात करते हैं, तो हमारा यह कर्तव्य है कि हम न्याय, संविधान और संवैधानिक मूल्यों जैसे शब्दों का अर्थ समाज के इन तबकों में साकार करने का काम करें।

मूल्यों की पहचान और हम

मुझे लगता है कि मनुष्य जन्म से ही अपने जीवन में मूल्यों को अपनाता है, किंतु वह उन मूल्यों का व्यवहार में एहसास नहीं कर पाता है। मैंने अपने कार्य व आचरण में संवैधानिक मूल्यों का एहसास इस फैलोशिप की यात्रा में किया है। शुरूआत में मुझे मूल्यों का उतना गहरा एहसास नहीं होता था, किंतु पिछले वर्ष मैंने व्यवहार में संविधान नाम की किताब का अध्ययन किया था। उसके बाद मुझे एहसास हुआ कि मुझे भी अपने कार्यों को संवैधानिक मूल्यों के नजरिये से देखना चाहिए। ...लेकिन कैसे देखूंगा? यह मेरे लिए एक प्रश्न था। तब मैंने अपनी डायरी लेखन के दौरान इस बात पर ध्यान देना शुरू किया कि मैं अपने दिनभर के कार्यों का संवैधानिक मूल्यों के नजरिये से आकलन कर सकूं। धीरे-धीरे इस कार्य को करते हुए मैं मूल्यों का एहसास अपने निजी जीवन व कार्य व्यवहार में भी करने का प्रयास कर पाता हूं। मैंने यह एहसास किया है कि मूल्य आधारित काम से एक अलग तरह का सुकून मिलता है और काम के आधार पर समाज में विश्वास भी पैदा होता है। मुझे इस कार्य से स्वयं के काम में एक स्थायित्व नजर आने लगा है। पहले मेरे मन में वकालत को लेकर काफी द्वंद्व रहते थे, लेकिन मूल्य आधारित काम से अब बहुत हद तक मुझे इस बात का एहसास हुआ है कि यदि हमारे काम करने के पीछे की सोच स्पष्ट है, तो फिर हमारा रास्ता भी सही होगा, क्योंकि पहले मुझे लगता था कि वकालत का कार्य झूठ और भ्रष्टाचार पर आधारित है, लेकिन जैसे-जैसे मेरे जीवन में मूल्यों की स्पष्टता आती जा रही है, वैसे ही मन में संतुष्टि भी आ रही है कि यदि हम न्याय की सोच के साथ न्यायालय में प्रकरण की पैरवी करेंगे, तो फिर साधन और साध्य दोनों की पवित्रता बनी रहेगी। मैं 2020 के पहले के अपने प्रकरणों को देखता हूं, तो मुझे लगता है कि पहले मैं केवल यह देख पाता था कि मेरे प्रकरण में मेरे पक्षकार को न्याय मिल रहा है या नहीं, किंतु अब मैं प्रकरण की पैरवी करने से पूर्व ही यह समझने का प्रयास करता हूं कि जिस प्रकरण की मेरे द्वारा पैरवी की जा रही है अथवा की जाएगी उसका समाज पर क्या प्रभाव पड़ेगा। इसके साथ ही वकालत का न्याय के लिए जो महत्व है, उसे भी समझ पाया हूं। आज मैं इस बात को बखूबी समझ पाता हूं कि हमें सबसे पहले सामाजिक न्याय के बारे में सोचना पड़ेगा, क्योंकि सामाजिक न्याय के बगैर हम आर्थिक व राजनीतिक न्याय की परिकल्पना भी नहीं कर सकते। एक वकील होने के नाते मैं अपने पक्षकार से सत्यता के साथ सम्मानपूर्वक व्यवहार करता हूं। यह सम्मान एक मजबूत विश्वास को जन्म देता है और उस गरिमापूर्ण व्यवहार से बंधुत्व को मजबूती मिलती है। हमारे आपस के रिश्ते मजबूत होते हैं। मेरे ही एक अन्य प्रकरण, सागर में हुए दलित हत्याकांड में जब फरियादी की ओर से पैरवी की जा रही थी, तभी फरियादी की भी मौत हो जाती है। ऐसे में मैंने देखा कि मैं परिवार के किसी भी सदस्य को नहीं जानता था, फिर भी परिवार के लोगों ने मुझसे संपर्क किया और कहा कि इस परिस्थिति में केवल आप ही हमारा साथ दे सकते हो। जबकि मेरी उन लोगों से पहले कभी कोई बातचीत नहीं हुई थी। यह केवल काम के द्वारा ही संभव हुआ था कि वे मुझ पर भरोसा कर पा रहे थे।मैं फैलोशिप की शुरूआत के दौरान यह समझ पाता था कि समता, स्वतंत्रता और न्याय पर आधारित बंधुतापूर्ण समाज निर्माण के लिए संवैधानिक मूल्यों की पहुंच बनाना आज बहुत आवश्यक है, किंतु सवाल यह भी है कि उन संवैधानिक मूल्यों तक हमारी पहुंच कैसे होगी?

सामाजिक प्रभाव

फैलोशिप के दौरान जब मैंने ग्राम न्यायालय पर अध्ययन शुरू किया, तब देखा कि यदि हम अंतिम व्यक्ति की बात करते हैं, तो हमें गांव का खयाल आता है। ग्राम न्यायालय, गांव में मूल्य आधारित समाज निर्माण में बहुत महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकते हैं, क्योंकि जब हम न्यायालयीन प्रक्रिया में जाते हैं, तो निश्चित रूप से एक पक्ष असंतुष्ट होता ही है, किंतु ग्राम न्यायालय के माध्यम से बीच का रास्ता संभव हो सकता है और हम बंधुत्व के भाव को भी गहरा कर सकते हैं। इसलिए ग्राम न्यायालय अधिनियम का विस्तार एवं पूर्ण अधिनियमित होना आवश्यक है।

अब तक मैंने जिन मामलों में स्वयं पैरवी की है, उनमें पाया है कि सजा दिलाने का भाव सदैव ही नफरत व द्वेष पैदा करता है। वहां बदले की भावना गहरी होती जाती है और मानव की गरिमा व समानता जैसे मूल्यों का ह्रास भी होता है। जिससे मनुष्य की आपराधिक प्रवृत्ति बढ़ती है, किंतु जब भी दोनों पक्षों की सहमति के माध्यम से प्रकरणों में समझौता किया जाता है, तो वहां दुश्मनी समाप्त होकर संवाद के माध्यम से बंधुत्व और त्याग का भाव पैदा होता है। ग्राम न्यायालय अधिनियम के माध्यम से हम इस भाव को और भी मजबूत कर सकते हैं। इस दौरान विभिन्न प्रकरणों में पैरवी करते समय मैंने समझा है कि लोग हमारे अनुभव से ज्यादा हमारे कार्य व्यवहार को देखकर ही भरोसा करते हैं। पिछले दिनों मेरे पास सीहोर से एक दंपती आए और उन्होंने कहा, ''उनकी नाबालिग बेटी की हत्या हो चुकी है, लेकिन पुलिस उसे आत्महत्या का रूप देकर कार्रवाई नहीं कर रही है। हम चाहते हैं कि इस प्रकरण की पैरवी आप करें।'' मैंने उनसे कहा कि मेरा उतना अनुभव नहीं है। तब उस बच्ची की मां का कहना था कि 'अनुभव से कुछ नहीं होता साहब, हमें आपके बारे में पता है आप सच्चाई के लिए लड़ेंगे और बिकेंगे नहीं'। इस तरह से जब हम समाज में विश्वास की कड़ी को देखते हैं, तो काम करने के लिए हौसला और भी ज्यादा मजबूत हो जाता है।

इसी दौरान पिछले ही माह 2020 से चल रहे पांच परिवारों के मध्य आपसी लड़ाई-झगड़े के प्रकरण में न्यायालय में समझौता पेश करवाया है। इन कार्यों को करते हुए मैंने एहसास किया कि शुरूआत में कठिनाइयां जरूर आती हैं, लेकिन जब लोग भरोसा करने लगते हैं, तो समाज भी काम में साथ देने लगता है और समस्याएं आसानी से हल हो जाती हैं।

न्याय के संघर्ष में मूल्यों की भूमिका और समाज

न्याय का अर्थ है प्रत्येक व्यक्ति को वह देना, जिसका वह हकदार है। यह अधिकार, ईमानदारी, समानता और कानून के पालन की पुष्टि से जुड़ा है। हम किसी ऐसे समाज की कल्पना नहीं कर सकते, जहां न्याय की उपस्थिति ही नहीं हो। कोई भी समुदाय या समाज बिना न्याय के नहीं बना रह सकता, किंतु न्याय के लिए इतिहास से लेकर वर्तमान तक हमेशा व्यक्ति को संघर्ष करना पड़ा है। जिस संघर्ष का दायरा वर्तमान में और ज्यादा बढ़ गया है, क्योंकि पहले वर्ण, जाति आधारित संघर्ष था, किंतु अब आर्थिक असमानता का संघर्ष है। न्यायालय की प्रक्रिया बहुत खर्चीली हो गई है, जिस कारण देश का एक बहुत बड़ा वर्ग प्रत्येक स्तर पर अपने जीवन में न्याय और संविधान में प्रदत्त अपने अधिकारों के लिए तरसता है। उस परिस्थिति में अधिकार एवं न्याय प्राप्त करने के लिए मूल्यों की भूमिका बहुत अहम है। मुझे लगता है कि संविधान के जो मूल्य हैं और हम जिस आदर्श समाज की परिकल्पना करते हैं, उस समाज में हम समानता, न्याय, बंधुता, एकता और मानव के प्रति गरिमापूर्ण व्यवहार देखते हैं। इन मूल्यों के बगैर एक आदर्श समाज की परिकल्पना असंभव है। अधिकारों में भी यदि मूल्य का भाव न हो, तो मुझे लगता है कि वे अधिकार अपूर्ण होंगे। अधिकार और मूल्य परस्पर एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं, जहां समता और समानता के भाव न्याय और बंधुत्व से जुड़े हुए हैं। न्याय के बगैर समता संभव नहीं है और बंधुता के बगैर समानता संभव नहीं है। बंधुत्व के बिना स्वतंत्रता और समानता हासिल करना संभव नहीं है और आज अगर हम स्वतंत्रता और समानता की समाज में बात करते हैं, तो सबसे पहले हमें अपने व्यवहार में करुणा को लाना होगा, क्योंकि बंधुत्व के साथ करुणा जुड़ी हुई है। गांव में बंधुत्व का भाव निहित था, इसीलिए ग्रामदान जैसा प्रयोग भारत में संभव हो पाया, जो विश्व को भारत की एक बहुत बड़ी देन है। वरना आज के समय में इंचभर जमीन के लिए मुकदमे हो जाते हैं। इससे हम कह सकते हैं कि हमारे समाज में मूल्यों का ह्रास हुआ है, यही कारण है कि आज हम जिस अंतिम व्यक्ति की बात कर रहे हैं, वह समाज और न्यायालय दोनों ही जगह न्याय के लिए तरस रहा है। इसलिए आज आवश्यकता है कि हमारे कार्य व व्यवहार में मूल्यों का समावेश हो। यह समावेशिता हर स्तर पर आवश्यक है, तभी हम विषय के उद्देश्य को हासिल कर सकते हैं।

सबके लिए न्याय: भारत में शहरी स्व शासन व्यवस्था

नवेंदु मिश्रा

आजादी के बाद से ही भारत में शहरीकरण बढ़ता नजर आ रहा है। जैसे-जैसे आर्थिक और व्यावसायिक गतिविधियां बढ़ती जा रही है, वैसे-वैसे भारत में शहरीकरण अधिक तेजी से बढ़ता चला जा रहा है। आजादी के समय भारत की कुल आबादी का लगभग 17 प्रतिशत शहरों में निवास करता था, परंतु पिछले कुछ दशकों में आबादी का शहरों की ओर बढ़ना बहुत तेजी से बढ़ा है। शहरीकरण बढ़ने का एक बड़ा कारण आर्थिक गतिविधियों का शहरों में केंद्रित होना भी रहा है। भारत की आर्थिक विकास की रफ्तार का केंद्र आजादी के बाद खेती से उद्योगों की ओर तेजी से बढ़ा है, जिसके परिणामस्वरूप हमें बढ़ता शहरीकरण नजर आता है।

शहरीकरण के साथ अनेक समस्याएं भी उत्पन्न होती हैं। जहां एक ओर सघन आबादी से घिरा क्षेत्रफल, जहां रहने की जगह कम और लोग ज्यादा होते है, वहीं दूसरी ओर संसाधनों का अभाव जहां पानी, राशन, स्वास्थ्य सेवाएं, शिक्षा, मकान, परिवहन जैसी अनेक बड़ी समस्याएं होती हैं। ऐसी व्यवस्था में इस पूरे समूह के नागरिकों का संवैधानिक अधिकारों के साथ गुजर-बसर करना अपने आप में चुनौती है। शहरों में स्थानीय नागरिक बड़ी संख्या में होते हैं, वहीं अन्य ग्रामीण एवं कामगार नागरिक बड़ी संख्या में वहां आकर या तो दिन में काम करते है या फिर अस्थाई तौर पर निवास करते हैं। संवैधानिक तौर पर इन सबकी मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति भी उतनी ही जरूरी हो जाती है।

आंकडे बताते है कि जहां आजादी के समय की 17 प्रतिशत शहरी आबादी वर्ष 2000 में बढ़ कर 25 प्रतिशत हो गई तथा वर्तमान में यह लगभग 35 प्रतिशत हो चुकी है। शहरों में जातिवाद, सांप्रदायिकता के साथ-साथ आर्थिक असमानता बहुत अधिक नजर आती है। जहां एक ओर शहरों में बंगले और बड़ी गाड़ियों एवं अथाह संपत्ति के मालिक निवास करते हैं, वहीं दूसरी ओर बड़ी संख्या में ऐसी बस्तियां भी नजर आती है जहां जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं होती और जहां सिर छुपाने के लिए आशियाने भी नहीं हैं।

आज के उपभोक्तावादी जीवन और व्यवस्था ने आम नागरिक का जीवन दूभर कर दिया है। इन सब परिस्थितियों को देखते हुए आम नागरिक के जीवन की मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु समुचित व्यवस्था की आवश्यकता है। इसी नजरिये से यह आवश्यक हो जाता है कि नागरिकों की मौलिक सुविधाओं हेतु संवैधानिक व्यवस्था का निर्माण किया जाए।

परिचय

सिवनी जिला अदालत में वकालत कर रहे नवेंदु मिश्रा 'सर्वन्याय: न्याय सबके लिए' नामक नागरिक न्याय पहल के संस्थापक एवं निदेशक हैं। वे 'अग्रिनी समाज कल्याण समिति' शैक्षणिक एवं सामाजिक विकास संगठन के निदेशक भी हैं। अधिवक्ता और सामाजिक कार्यकर्ता के रूप में नवेंदु मिश्रा का पूरा ध्यान संवैधानिक अधिकारों, समुदाय सशक्तीकरण और सुशासन पर केंद्रित है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए नागरिक समूह के चेतना विकास और सक्रियता के सूत्रधार हैं। इस फैलोशिप के तहत नवेंदु मिश्रा ने 'समाज के सभी वर्गों तक न्याय की पहुंच' विषय पर कार्य किया है।

वैसे तो केंद्र और राज्य के रूप में शासन व्यवस्था तय की गई है। जनता सांसद और विधायक के रूप में अपने प्रतिनिधि चुनती है ताकि समाज की समस्याओं का समाधान हो चके। अधिक जनसंख्या और बड़े क्षेत्रफल के कारण चुने गए जनप्रतिनिधि सभी की रोजमर्रा की जरूरतों पर ध्यान नहीं दे पाते हैं। बड़ा वर्ग सुविधाओं से चूक जाता है। ऐसी परिस्थिति में ग्रामीण एवं शहरी दोनों स्थानों पर स्थानीय शासन व्यवस्था की आवश्यकता दिखाई देती है।

शासन व्यवस्था में शहरी स्थानीय शासन प्रणाली और ग्रामीण स्थानीय शासन प्रणाली में काफी अंतर रखा गया था। भारतीय संविधान के 73 वें एवं 74 वें संशोधन एक विकेंद्रीकृत स्थानीय शासन व्यवस्था की स्थापना की जानी सुनिश्चित हुई। ग्रामीण क्षेत्रों में पंचायती राज और शहरी क्षेत्रों में नगर पंचायत/नगर पालिका/नगर निगम प्रशासन व्यवस्था का निर्माण हुआ। संवैधानिक व्यवस्था के अनुसार स्वशासन व्यवस्था भी लोकतांत्रिक आधार पर ही रखी गई। नियमित चुनावों के माध्यम से निर्धारित समय अवधि के लिए निकाय परिषद का गठन किया जाना तय हुआ। भारतीय संविधान के 73 वें व 74 वें संशोधन ने नागरिकों को अपना स्थानीय प्रशासन संचालित करने की जवाबदारी दी। ग्रामीण स्तर पर ग्राम सभाओं के रूप में यह व्यवस्था जरूर दिखाई देती है, परंतु शहरी क्षेत्रों में इस प्रकार की व्यवस्थाएं दिखाई नहीं देती, इसका सीधा असर भारतीय लोकतांत्रिक व्यवस्था पर पड़ता है।

शहरी क्षेत्र में इस प्रकार के मंचों की अनुपलब्धता बहुत अधिक है जहां पर नागरिक सीधे अपने जन-प्रतिनिधियों के साथ संवाद कर सके। ग्रामीण स्तर पर ग्राम सभा के माध्यम से शासन-प्रशासन व्यवस्था का ग्रामीण समुदाय से नियमित जुड़ाव संभव होता हैं, वही शहरी क्षेत्र में पारिवारिक, सामाजिक और शैक्षणिक स्थल कहीं पर भी इस प्रकार के सामुदायिक जुड़ाव का कोई अनुभव नहीं होता है। इस बात का सीधा असर नागरिक के तौर पर शहरी जनसंख्या पर पड़ता है। ऐसी स्थिति में आवश्यक हो जाता है कि जो प्रावधान सीधे नागरिक अधिकारों को सशक्त करते हो उन पर बल दिया जाए तथा उन्हें और मजबूत किया जाए, जिनके माध्यम से भारतीय लोकतंत्र की नीव को और मजबूत किया जा सके।

2011 में पहली बार मध्य प्रदेश नगर पालिका अधिनियम में मोहल्ला समिति का जिक्र दिखाई देता है। तब पहली बार यह बात की गई कि शहरी क्षेत्र में स्थानीय निकाय के रूप में स्थापित नगर पालिका, नगर परिषद एवं नगर निगम में जनता की सीधी भागीदारी शासन चलाने में कैसे होगी। इसके लिए 2011 में नियम बनाए गए और उन नियमों के आधार पर मोहल्ला समितियां का गठन के तरीके, समितियों के कार्य, कार्यों को संपादित करने की प्रक्रिया और तरीकों, ऑनलाइन समितियां के कार्यकाल आदि पर विस्तार से बताया गया। 2011 में नियम बनाए जाने के बावजूद 2015 तक इनका गठन नहीं किया जा सका था। इसका बड़ा कारण राजनीतिक है। नगर पालिकाओं में इस तरीके से सीधे लोकतंत्र का मजबूत होना शहरों में राजनीतिक तौर तरीकों को प्रभावित कर सकता है, इसलिए मोहल्ला समितियों के गठन में राजनीतिक दलों की रुचि नहीं रहती है।

वर्ष 2015 में पहली बार नगर पालिका में मोहल्ला समितियां का गठन तो किया गया परंतु गठन की नियम प्रक्रिया के अनुसार मोहल्ला समिति के लिए बार-बार आवेदन करवा कर मोहल्ला समितियां का निर्माण किया जा रहा है। वस्तुत: जिस प्रकार गांवों में ग्राम सभाएं पूरी तरह स्थायी ग्राम सभाएं हैं, बार-बार आवेदन की बाध्यता नहीं है, उसी प्रकार मोहल्ला समितियों में भी वार्ड के एक बूथ के समस्त नागरिकों को शामिल किया जाना आवश्यक है। समिति में नागरिकों को शामिल करने की प्रक्रिया एक बार न कर बार-बार किए जाने से लोकतंत्र की पूरी व्यवस्था को कमजोर बनती है क्योंकि नागरिकों मोहल्ला समिति के लिए बार-बार आवेदन कर पाना बहुत मुश्किल होता है।

गठन प्रक्रिया की जटिलता के साथ ही मोहल्ला समितियों को दिए गए अधिकार बहुत ही सीमित हैं। इन अधिकारों को

और विस्तृत और मजबूत किए जाने की आवश्यकता है। शहरीकरण के परिणामस्वरूप समानता, न्याय, स्वतंत्रता एवं बंधुता जैसे मूल्यों की व्याप्ति में काफी चुनौतियां देखी जा रही है। एक ओर शहरों में आर्थिक स्तर पर जीवन जीना बहुत महंगा और कष्टदायक है। इससे व्यक्ति की सामाजिक स्थिति भी कमजोर होती जाती है। शिक्षा, स्वास्थ्य और रोजगार शहरी नागरिकों के लिए बड़ी समस्या बन गए हैं। इन समस्याओं में व्यक्ति की गरिमा बड़ा प्रश्न है। चिंतन का विषय है कि बस्तियों में जीवनयापन कर रहे नागरिकों की रोजमर्रा की आवश्यकताओं का संघर्ष क्या व्यक्ति की गरिमा के अनुरूप है, वह गरिमा जो हमारा संवैधानिक लक्ष्य है? ऐसे में स्थानीय प्रशासन में अधिक व्यापक तरीके से लोकतांत्रिक मंचों और अधिकारों की आवश्यकता नजर आती है। अस्थायी तौर पर शहरों में निवास करने वाले नागरिकों की स्थानीय प्रशासन में भागीदारी, उनके अधिकारों और मूल्यों का समावेश कैसे हो, यह भी एक बड़ा प्रश्न है?

भारतीय संविधान के 73 वें व 74 वें संविधान संशोधन में यूं तो पूरी तरह से स्थानीय स्व-शासन की बात की गई है परंतु वास्तविकता यह है कि यह व्यवस्था पूरे भारत में समान रूप से दिखाई नहीं देती। पहला अंतर तो शहरी और ग्रामीण व्यवस्था में दिखाई देता है। इस अंतर को आसानी से समझने के लिए ग्रामसभा तथा मोहल्ला समितियों की शक्तियों के तथा नगरपालिका व ग्राम पंचायतों की शक्तियों के मध्य तुलनात्मक अध्ययन किया जा सकता है।

भारत में पंचायती राज की त्रिस्तरीय प्रणाली काम करती हैं, जिला पंचायत, जनपद पंचायत और ग्राम पंचायत। इस व्यवस्था की सबसे ज्यादा मजबूत संरचना ग्रामसभा होती है। ग्रामसभा, ग्राम में निवास करने वाले समस्त मतदाताओं का संगठन है जिसमें सभी मिलकर ग्राम के विकास एवं संवैधानिक प्रावधानों के तहत प्राप्त शक्तियों के लिए मिलकर निर्णय लेते है। किसी भी परिस्थिति में ग्रामसभा का निर्माण करने की कोई आवश्यकता नहीं होती है। ग्राम की मतदाता सूची में शामिल समस्त मतदाता इसके स्वाभाविक सदस्य होते हैं।

गांव से जुडे हर मुद्दे का अनुमोदन ग्रामसभा से करवाया जाना आवश्यक होता है। गांव से जुडे समस्त प्रस्ताव ग्रामसभा के समक्ष विचार हेतु प्रस्तुत किए जाते हैं। ग्रामसभा के निर्णयों के आधार पर ही उनका क्रियान्वयन होता है। वैसे तो त्रिस्तरीय पंचायती राज व्यवस्था में ग्राम पंचायत का जिक्र मिलता है परंतु ग्राम पंचायत भी ग्रामसभाओं से मिलकर ही निर्मित होती है। इस प्रणाली को यदि हम लोकतांत्रिक नजरिये से देखते हैं तो समझ में आता है कि यह वास्तव में लोकतंत्र को मजबूत बनाने वाला सबसे मजबूत मंच है हालांकि इसका प्रावधानों के अनुरूप इस्तेमाल कम ही हो पाता है। भारत में अलग-अलग राज्यों के अलग-अलग पंचायती राज अधिनियमों के माध्यम से ग्रामसभाओं की शक्तियों का बंटवारा किया जाता हैं। मध्यप्रदेश में दो प्रकार की ग्रामसभाएं बनाई गई है जिनमें से एक सामान्य क्षेत्रों की ग्रामसभाएं व दूसरी अधिसूचित क्षेत्र की ग्रामसभाएं हैं।

इसी प्रकार 74 वें संविधान संशोधन से निर्मित मोहल्ला समितियों में यह एकरूपता एवं सार्वभौमिकता पूरे देश में दिखाई नहीं देती है। जिस प्रकार सारे देश में पंचायती राज को द्रुत गति से लागू किया गया और ग्रामसभाओं का निर्माण व शक्तियां प्रदान की गई और इसका प्रचार-प्रसार हुआ वैसा हमें नगरपालिका/नगर निगम अधिनियम में देखने को नहीं मिलता है। आज भी भारत के अनेक राज्यों में मोहल्ला सभाओं से संबंधित कानूनों का या तो निर्माण नहीं हुआ है या फिर वे बड़े ही शिथिल हैं, जिस कारण शहरी क्षेत्रों में लोकतांत्रिक मंचों का अभाव दिखाई देता है। जिस प्रकार पंचायती राज की सबसे सशक्त प्रणाली ग्रामसभा है और ग्राम पंचायत/ जनपद पंचायत/ जिला पंचायत को अपने निर्णयों का अनुमोदन ग्रामसभाओं से करवाया जाना आवश्यक होता है, वैसा शहरी क्षेत्रों में मोहल्ला सभाओं के लिए लागू नहीं किया गया है। यहां के जनप्रतिनिधियों एवं सरकारी अधिकारियों से बनी नगर पालिकाएं सबसे सशक्त नजर आती हैं। यहां सारे निर्णय लेने का अधिकार केवल नगरपालिकाओं/ नगर पंचायतों/ नगर निगमों/ वृहद नगर पालिकाओं को है। आज भी शहरी

क्षेत्रों में निर्णयों में सीधे मतदाताओं की भागीदारी नहीं हो पाई है। मोहल्ला समितियों की भागीदारी भी अपने वार्ड से संबंधित निर्णयों को लेने में नहीं होती, अपितु वे केवल अपने सुझाव पालिकाओं तक भेज सकती हैं एवं उनके कामों पर निगरानी रख सकती हैं, केवल सीमित शक्तियों के साथ।

इसके अतिरिक्त अन्य प्रावधानों में भी सिवनी नगर पालिका सिवनी के अध्ययन में पाया गया है:

1. सूचना के अधिकार के प्राविधानों का उल्लंघन

सूचना के अधिकार की धारा 4 प्रत्येक लोक अधिकारी को जिनमें नगर पालिकाएं सम्मिलित है, यह दायित्व प्रदान करती है कि वे अपने विभाग से जुड़ी जानकारी, जैसे संगठन की संरचना, सीधे जनता से जुड़ी संस्थाओं की जानकारी, अपने बजट, बैठकों की जानकारी, बैठकों में लिए गए निर्णयों की जानकारी, वार्षिक ऑडिट रिपोर्ट, जारी परियोजनाओं की जानकारी आदि का प्रकाशन इलेक्ट्रानिक मीडिया/ प्रिंट मीडिया अथवा डिजिटल माध्यम, वेबसाइट आदि से प्रकाशित करेंगी, जो सभी नागरिकों के लिए आसानी से देखी जा सकने वाली और पारदर्शी रहे। इसके अतिरिक्त अपने विभाग से जुड़े प्रमुख अधिकारियों और कर्मचारियों के नंबर पटल पर लिखे जाएंगे।

जब इस धारा के अंतर्गत सिवनी नगर पालिका की साइट का विवरण देखा तो पाया कि सभी जानकारियां वहां से गायब हैं। साइट को अपडेट भी नहीं किया जाता है और न ही उसमें नई जानकारी डाली जाती है। साथ ही बैठकों की सामान्य सूचना का प्रकाशन तो स्थानीय प्रिंट मीडिया में कभी-कभी कर दिया जाता है, परंतु बैंठकों में हुए निर्णयों की कोई जानकारी प्रकाशित नहीं की जाती है।

2. लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं का हनन

सामान्यत: किसी भी बड़ी परियोजना के समय स्थानीय निकाय द्वारा स्थानीय नागरिकों के सुझाव और आपत्तियां बुलाई जाती हैं परंतु पिछले कुछ वर्षों के कार्यों के दौरान पाया है कि चाहे वह नवीन जलावर्धन योजना हो, जिसकी लागत लगभग 65 करोड़ है या दलसागर तालाब में फुट ओवरब्रिज व म्यूजिकल फांउटेन का कार्य जिसकी लागत लगभग 10 करोड़ रही या फिर सिवनी शहर की मुख्य सड़क का निर्माण जिसमें एक रेल ओवरब्रिज का निर्माण भी शामिल रहा है, जिसकी लागत भी लगभग 117 करोड़ रुपए थी, इन सभी कार्यों हेतु किसी भी प्रकार के सुझाव व आपत्तियां नागरिकों से नहीं ली गईं। इतना ही नहीं, नागरिकों द्वारा इन कार्यों का ब्यौरा मांगे जाने पर भी संबंधित विभाग सूचना के अधिकार के अंतर्गत सामान्य जानकारी भी प्रदान नहीं करते हैं। हमारे संविधान की प्रस्तावना भारत को एक लोकतांत्रिक गणराज्य बनाने का सपना देखती है पर जमीन पर हकीकत कुछ और ही नजर आती है। इसलिए नागरिकों में लोकतंत्र के प्रति आस्था में कमी दिखाई देता है।

3. तकनीक के आधार पर भी विफल

अधिकांश नगर योजनाओं के डीपीआर का अध्ययन करने से यह समझ आता है कि स्थानीय स्वशासी निकायों में अधिकांशतः तकनीकी अमलों की या तो कमी है या फिर वे काम नही करना चाहते हैं या फिर जानते बूझते तकनीकी भूल करते हैं। इसका उद्देश्य ठेकेदारों या संबंधितों को फायदा पहुंचाना होता है। पिछले कुछ समय में काम करते हुए मुझे कुछ महत्वपूर्ण योजनाओं का अध्ययन करने का मौका मिला जिसमें पाया कि इतनी बड़ी तकनीकी भूल कैसे की जा सकती है और यह भूल डीपीआर के साथ जबलपुर एवं पालिका मुख्यालय भोपाल से लौटकर पास होकर आ जाती है। पहला उदहारण, मुख्य रूप से सिवनी में 2015 से शुरू हुई जलावर्धन योजना है जिसकी तकनीकी स्वीकृति पाइप लाइन के

मैप के बिना पास होकर भोपाल से आ जाती है और ठेकेदार का काम स्वीकृत हो जाता है। इतना ही नहीं इस परियोजना का इंटेकवेल भी भीमगढ़ डैम के डेड वाटर एरिया में न बनाकर, इसे 2.5 किमी दूर नाले में बना दिया जाता है। इसी का परिणाम है कि 2025 में शहर की लगभग 2 लाख से ज्यादा आबादी पेयजल से वंचित हो जाती है परंतु किसी अधिकारी या जनप्रतिनिधि पर कार्रवाई नहीं होती, केवल एक-दूसरे पर दोषारोपण दिखाई देता है। लगभग सभी परियोजनाओं में इसी प्रकार की स्थितियां दिखाई देती हैं। कायाकल्प परियोजना के नाम पर सिवनी शहर में 17 करोड़ रुपए खर्च किए जाते हैं। इस राशि से सीमेंट की सडकों पर डामरीकरण कर दिया जाता है जो बहुत ही अल्प समय में उखड़ भी जाता है।

4. भ्रष्टाचार

अपने अध्ययन में जन-प्रतिनिधियों और अधिकारियों के लापरवाह तरीके से कार्य करने का परिणाम स्थानीय स्वशासन व्यवस्था में भ्रष्टाचार के तौर पर निकलकर आता है, इसमें से प्रमुख हैं:

अ. दैनिक कार्यों में भ्रष्टाचार, जैसेमैरिज सर्टिफिकेट, जन्म प्रमाण-पत्र या समग्र आईडी का कार्य। इन जैसे सामान्य कार्य करवाने हेतु कुछ पैसे देने होंगे अन्यथा कोई कार्य नहीं होगा।

ब. भवन अनुज्ञा या एनओसी प्राप्त करना भी बिना एक्स्ट्रा पैसे दिए संभव नहीं है। यदि कोई अधिकारी या जन-प्रतिनिधि कह देगा, तो शायद कुछ पैसे कम हो सकते हैं।

स. किसी परियोजना में अपना नाम जुड़वाने के लिए, जैसेप्रधानमंत्री आवास या फुटकर व्यापारी लोन या फिर किसी प्रकार की पेंशन स्कीम, किसी भी व्यक्ति को एड़ी-चोटी का जोर लगाना होगा या फिर पैसे देने होंगे। इसके बगैर पालिकाओं में कार्य होना संभव नहीं है।

5. स्थानीय स्व-शासन में अपने दायित्वों का पालन न करना

सिवनी नगर पालिका के अध्ययन में पाया कि स्थानीय स्वशासन में केवल चुनावों के बाद जन-प्रतिनिधियों की जनता के प्रति किसी प्रकार की कोई जवाबदेही बचती नहीं है। पालिका द्वारा सामान्य दायित्वों के कार्य जैसे साफ जल उपलब्धता, नाले-नलियों की साफ-सफाई, पशु संधारण, नियमित सड़क व नालियों की मरम्मत के कार्य नहीं किए जाते हैं और न ही इनके प्रति कोई जवाबदेही दिखाई देती है।

केस स्टडी

दलसागर फुट ओवरब्रिज: विकास के नाम पर पर्यावरण के साथ खिलवाड के विरूद्ध एक नागरिक पहल

दलसागर तालाब मामले की शुरुआत 2019 में गोंड राजा दलपत शाह की मूर्ति स्थापना एवं सौंदर्यीकरण का कार्य जिला योजना समिति के निर्णय के साथ हुई। इसमें केवल दलसागर तालाब के सौंदर्यीकरण एवं मूर्ति स्थापना की बात कही गई थी। कुछ समय पश्चात इस कार्य में दलसागर के बीच बने टापू तक एक पुल निर्माण की योजना भी शामिल की गई। इस पर किसी भी व्यक्ति को कोई आपत्ति नहीं थी। योजना के आरंभ में दलसागर का निर्माण करवाने वाले दलपत शाह की अष्ट धातु की मूर्ति स्थापना का उल्लेख किया गया था। इसे बाद में पत्थर की प्रतिमा में बदल दिया गया। जिला योजना समिति एवं नगर पालिका परिषद के किसी प्रस्ताव में आदिवासी जनजाति के किसी पूजन स्थल का टापू पर स्थित होने का कोई उल्लेख नहीं था। दलसागर तालाब में फुट ओवरब्रिज निर्माण हेतु तीन बार टेंडर बुलाए गए, जिनमें कभी भी दलसागर तालाब को खाली करवाए जाने का कोई भी प्रस्ताव नहीं था। चुनावी वर्ष की शुरूआत हो चुकी थी और विधायक सिवनी

अपने इस प्रोजेक्ट को जल्द से जल्द पूरा कराना चाहते थे इसीलिए अक्टूबर 2022 में नगर पालिका द्वारा प्रस्ताव लाकर फुट ओवरब्रिज निर्माण हेतु दलसागर तालाब को खाली करने का प्रस्ताव पारित किया गया। जनवरी 2023 में टेंडर जारी किया गया और मई 2023 में कार्यादेश सरकारी ठेकेदार राहुल जैन को दे दिया गया। चुनावी वर्ष को ध्यान में रखते हुए इसके पूर्व ही अप्रैल 2023 में दलसागर तालाब के पश्चिमी किनारे को तोड़कर वहां से पानी बहाना शुरू कर दिया गया, जहां आम नागरिकों के आने जाने हेतु लगभग 20 फीट चौड़ी सड़क थी। इस समय विवाद की शुरूआत होती है कि केवल ब्रिज बनाए जाने हेतु हजारों गैलन पानी क्यों बहा दिया गया है। इसके बाद जब पुल निर्माण कार्य शुरू किया जाता है, तब दलसागर की भूमि, सड़क और टापू पर बड़ी-बड़ी मशीनें लगाई जाती हैं जिनके लिए टापू के पेड़ काटे जाते हैं। सड़क निर्माण हेतु तालाब की आर्द्र भूमि को कठोर किया जाता है। क्रेन और जेसीबी का उपयोग किया जाता है। स्टैंड बनाने के लिए टापू में बड़ा गड्ढा किया जाता है जिससे मिट्टी की संरचना का भी नुकसान होता है।

यह सब परिस्थितियां देखते हुए मैंने एवं सिवनी के अन्य नागरिकों ने सर्वप्रथम अप्रैल 2023 में दलसागर तालाब तोड़े जाने पर एक आपत्ति नगर पालिका परिषद सिवनी एवं कलेक्टर सिवनी के समक्ष प्रस्तुत की। इसमें उल्लेख किया गया था कि निर्माण के समय दलसागर के पानी को खाली न कराया जाएं एवं टापू के पेड़ों व कोमल संरचना ध्यान में रखते हुए भारी मशीनों का उपयोग न किया जाएं। इस आपत्ति पर कोई ध्यान नहीं दिया गया। इसके पश्चात् जब जुलाई 2023 में तत्कालीन मुख्यमंत्री के आगमन के पहले भी इसी प्रकार की एक आपत्ति नगर पालिका सिवनी एवं कलेक्टर सिवनी के समक्ष प्रस्तुत की गई। जब इन दोनों आपत्तियों पर कोई ध्यान न देते हुए भारी मात्रा में दलसागर के तल को नुकसान पहुंचाया गया और टापू के पेड़ काटे गए। भारी मशीनों का इस्तेमाल जारी रहा। दलसागर को बारिश के समय भी भरने नहीं दिया गया।

इससे व्यथित होकर मैंने मजबूरन आर्द्र भूमि नियम 2017 का सहारा लेते हुए सितंबर 2023 में राष्ट्रीय हरित न्यायाधिकरण में याचिका प्रस्तुत की। 20 अक्टूबर 2023 को इस मामले की पहली सुनवाई रखी गई। इसमें कोर्ट ने एक समिति का गठन किया जिसमें मध्यप्रदेश प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड जबलपुर के सदस्य, कलेक्टर सिवनी के प्रतिनिधि एवं नगर पालिका सिवनी को शामिल किया गया। कमेटी को निर्माण कार्यों से दलसागर तालाब को हुए नुकसान एवं उसमें अपेक्षित कार्रवाई के संबंध में एक रिपोर्ट प्रस्तुत करने को कहा गया। इस रिपोर्ट के आधार पर 8 जनवरी 2024 को कोर्ट ने दलसागर तालाब पर जारी निर्माण कार्य पर पूर्ण रोक लगा दी तथा नियमों का उल्लंघन कर जो निर्माण किया गया था उसे हटाने के निर्देश दिए गए। साथ ही मध्यप्रदेश प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड ने नगर पालिका परिषद पर 4 करोड 80 लाख रूपए का जुर्माना भी लगाया। इसका मुख्य कारण नालों एवं नालियों के माध्यम से प्रदूषित जल दलसागर तालाब में छोड़ा जाना था।

30 जनवरी एवं 23 मार्च तक कोर्ट ने नगर पालिका परिषद सिवनी, सिवनी कलेक्टर एवं राज्य सरकार से इस मामले में अपना पक्ष रखने का समय दिया। किसी प्रकार का कोई संतुष्टिपूर्ण जवाब न आने के कारण कोर्ट ने अंततः 9 जुलाई 2024 को निर्माण कार्य को पूर्णतः हटाए जाने का आदेश दिया। कोर्ट ने एक माह के अंदर निर्माण कार्य हटाने तथ पर्यावरणीय हानि रोकने को सुनिश्चित करने के लिए एक समिति का गठन किया। इस निर्माण से दलसागर तालाब को हुई क्षति के साथ भूमिगत जलस्तर को हुई हानि की गणना करने को कहा गया। यह हानि दलसागर तालाब के लगभग 1 वर्ष खाली रहने के कारण हुई है। नगर पालिका परिषद एवं कमेटी को 1 माह के अंदर अपनी रिपोर्ट पेश करने कहा गया।

अपना दबदबा बताने के लिए विधायक सिवनी ने कोर्ट के स्टे आदेश के विपरीत 26 जून 2024 को राजा दलपत शाह मूर्ति को स्टैंड पर स्थापित करवा दिया गया। यह कोर्ट की अवमानना है जिसके लिए एक अलग अंतरिम आवेदन कोर्ट के समक्ष प्रस्तुत किया गया है। इस पर कार्रवाई अभी लंबित है। जब यह केस चल रहा था उस दौरान मुझे कई प्रकार के

प्रलोभन दिए गए ताकि मैं इस मामले से स्वयं को हटा लूं परंतु मैंने इंकार कर दिया। साथ ही मुझ पर राजनीतिक दबाव भी बनाया गया। अंत में मेरे एवं मेरे परिवार की पैतृक दुकान के पूर्वजों द्वारा किए गए निर्माण को अवैध बताते हुए उसे तोड़ने के लिए धारा 187 का नोटिस भेजा गया। इस सबके बाद भी मैं अपनी बात पर अड़ा रहा।

इस पूरे मामले को उठाने का मेरा मकसद केवल और केवल शहर के पर्यावरणीय संसाधनों की रक्षा एवं संरक्षण करना रहा है, परंतु सभी जन प्रतिनिधि इसे अपने प्रभुत्व की लड़ाई बनाए हुए हैं। इस मामले में जुलाई 2023 में शुरू हुए कार्य पर अगस्त 2023 में ही लगभग 1 करोड 17 लाख का भुगतान झूठी एमबी बुक के आधार पर ठेकेदार राहुल जैन को कर दिया गया था। जहां लगभग 40 फीट नीचे तक मिट्टी है वहां 17 फीट खोदकर खंबे बनाए गए हैं जो नागरिकों के जीवन के साथ खिलवाड़ एवं भविष्य में बडी दुर्घटना को आमंत्रण देना है। अब जब मामला न्यायालय की ताकत के दम पर हार गए हैं तो मिथ्या तर्कों के आधार पर झूठे आरोप लगाकर भोले-भाले आदिवासी समुदाय के सामने मुझे एक खलनायक के रूप में पेश किया गया, जबकि मेरा उद्देश्य केवल दलसागर का संरक्षण एवं संवर्धन करना रहा है।

इस पूरी प्रक्रिया से मिले अनुभव के आधार पर कुछ सुझाव उभरे हैं:

- नगर पालिकाओं में ग्रामसभा जैसी स्थायी मोहल्ला सभाएं बनाना अनिवार्य किया जाए।
- नागरिक भागीदारी के मंच (जैसे सोशल ऑडिट, पब्लिक मीटिंग्स) को कानूनन मान्यता दी जाए।
- नगर पालिकाओं की वेबसाइट/डिजिटल सूचना अनिवार्य रूप से अपडेट हो, जिसकी निगरानी स्वतंत्र एजेंसी करे।
- पर्यावरणीय एवं अन्य परियोजनाओं में जन-भागीदारी पूर्व सहमति की व्यवस्था हो।
- जन-प्रतिनिधियों की कानूनों और प्रक्रियाओं के लिए नियमित प्रशिक्षण कार्यक्रम आयोजित हो।

Constitutional Values & its Relativity with the Property Rights

Pratyush Mishra

Imagine

-John Lennon

Imagine there's no heaven, It's easy if you try;
No hell below us, Above us, only sky.

Imagine all the people,
Living for today.

Imagine there's no countries, It isn't hard to do;
Nothing to kill or die for, And no religion, too.

Imagine all the people,
Living life in peace.

Imagine no possessions, I wonder if you can;
No need for greed or hunger, A brotherhood of man.

Imagine all the people,
Sharing all the world.

You may say I'm a dreamer,
But I'm not the only one,
I hope someday you'll join us,
And the world will live as one.

Yes, it's a "dream" which may not see the dawn but it's a beautiful "dream" and dreams may come true also. This poem/song by the revolutionary artist John Lennon and his band "the Beatles," not just changed the music of Europe rather revolutionized the entire Europe in socio-political aspect, is the perfect brief of my research. As the "Excessive Possession" is the problem and the "Sharing" is the solution.

Introduction

Pratyush Mishra, after earning his BA, LLB and a PG Diploma in Environmental Law, began practicing at the Indore Bench of the Madhya Pradesh High Court, as well as in District Courts and other tribunals, in 2013. He became a Fellow of 'Lawyers for Change Fellowship' in 2014. In 2019, Pratyush Mishra started working with the child rights organization CRY.' He is recognized for his work in public interest litigations addressing issues such as child rights, health and medical facilities before the High Court.

From the dreams now we are shifting to the reality. This paper covers various aspects of the Constitutional Values, as "property" is not just an asset, rather it provides livelihood, shelter, dignity, freedom, sense of security & strengthen. More or less the future of present and next generations of individual or the family depends upon the "property" owned or possessed by them.

History of property is as old as the history of the earth but here in this paper, which is the brief of detailed research paper, I would like to begin with the importance of the property in the "State" as per the political science. "Property" that is "territory" is basic ingredient of "State" when we talk about four basic ingredients of State, which are essential to constitute one "State." There cannot

be any "State" without the "territory."

There is another concept which requires clarification is the concept of individual ownership and the collective ownership, the term "territory" can be considered as the form of collective ownership of the property. This research, in particular, is concentrating on the individual ownership, necessity of individual ownership, limitation of individual ownership, State's power of eminent domain and their relationship with fundamental & constitutional aspects of the property.

The original of concept of individual ownership can be traced to different civilizations. There are different time-periods as well as different journeys of different civilizations to develop the concept of individual ownership. One common factor is the development of the agrarian society. Earlier, the agrarian society developed on the concept of collective ownership but later with time and need & greed of the people, the same has been transformed into the concept of individual ownership. In other words when the "We" transformed into the "I," the concept of individual ownership started. During the past, the only source to establish and maintain the individual ownership was the muscle power. With the development of the "State," "rule of law" came into force and the ownership comes within the parameters of "established laws," be it in the written or oral form.

It is also essential to understand that with the development of the "State," the concept of community ownership, ownership of society and the ownership of nature has gone in vain and the concept of individual ownership starts gaining power, obviously within the parameters of the laws of State and with the power of Eminent Domain of State.

Indian society being a diverse society is having the diversity in the nature of ownerships also. This diversity can be traced even to the present era also. Basis of diversity can be the economic status, caste & class difference, geographical difference, and historical difference but this research paper is classifying the property and ownership on the basis of nature of locality that are Urban, Rural and Forest locality.

India became independent in the year of 1947 but the work of drafting the Indian Constitution, a rule book to govern the India as a nation had started prior to Independence. We, the people of India, gave ourselves the Indian Constitution and became the republic in the year of 1950, by adopting the "rule of law" that is the "Constitution of India".

Fundamental Rights mentioned under Chapter – III of Constitution of India and Article 19 Guaranteed certain rights to the Citizens. In the year of 1950, those rights were absolute but by way of 1st Constitution amendment brought in the year of 1951, certain restrictions were imposed, and the rights ceased to be absolute. The primary legal basis of ownership was Article 19(1)(f) and Article 31 of the Constitution of India, which characterized "Right to Property" as the "Fundamental Right". Article 19(1)(f) and Article 31 reads as under-

"Article 19Protection of Certain Rights regarding Freedom of Speech, etc.-

(1) All Citizens shall have right-

. . . .

(f) to acquire, hold and dispose of property,

. . . .

Article 31Compulsory Acquisition of Property-

1. No person shall be deprived of his property save by authority of law.
2. No property, movable or immovable, including any interest in, or in any company owning, any

commercial or industrial undertaking, shall be taken possession of or acquired for public purposes under any law authorising the taking of such possession or such acquisition, unless the law provides for compensation for the property taken possession of or acquired and either fixes the amount of the compensation, or specifies the principles on which, and the manner in which, the compensation is to be determined and given.

3. No such law as is referred to in clause (2) made by the Legislature of a State shall have effect unless such law, having been reserved for the consideration of the President, has received his assent.

4. If any Bill pending at the commencement of this Constitution in the Legislature of a State has, after it has been passed by such Legislature, been reserved for the consideration of the President and has received his assent, then, notwithstanding anything in this Constitution, the law so assented to shall not be called in question in any court on the ground that it contravenes the provisions of clause (2).

5. Nothing in clause (2) shall affect-

   (a) The provisions of any existing law other than a law to which the provisions of clause (6) apply, or

   (b) The provisions of any law which the State may hereafter make-

      (i) for the purpose of imposing or levying any tax penalty, or

      (ii) for the promotion of public health or the prevention of danger to life or property, or

      (iii) in pursuance of any agreement entered into between the Government of the Dominion of India or the Government of India and the Government of any other country, or otherwise, with respect to property declared by law to be evacuee property.

6. Any law of the State enacted not more than eighteen months before the commencement of this Constitution may within three months from such commencement be submitted to the President for his certification; and therefore, if the President by public notification so certifies, it shall not be called in question in any court on the ground that it contravenes the provisions of sub-section (2) of section 299 of the Government of India Act, 1935."

By way of the Constitution (Forty-fourth amendment), 1978, which was effective from 20.06.1979, both the abovementioned provisions which categorized "Right to Property" as Fundamental Right were omitted and the new ChapterIV, with Article 300A added in the Constitution of India. Article 300A reads as under-

"Article 300A Persons not to be deprived of property save by authority of law-

No person shall be deprived of his property save by authority of law"

With the deletion of the Article 19(1)(f) & Article 31 and addition of Article 300-A of Constitution of India, theoretically the "Right to Property" only got converted into the "Constitutional Right". This drastic amendment in the Constitution of India on one hand helped in the process of "Nationalization" in India, and on the other hand, limited the rights of individual ownership. It is necessary to mention here that the process and nature of "Nationalization" is entirely different from the "Community Ownership" which was existed during the pre-British era in India. Through Nationalization, ownership of the State is established, whereas in "Community Ownership" responsibility and benefits of the property and assets of the property lies within the community only, used by the

community as whole or by any individual, with the permission of community.

It is necessary to mention here that prior to the 44th Constitutional Amendment, by way of 1st Constitutional Amendment foundation of nationalization, proper division with respect to the property were introduced, by introducing the Article 31-B and 9th Schedule in the Constitution of India, the first and the strong step was taken for the "nationalization" and "land reforms" most of the Statutes incorporated in 9th Schedule were with respect to the abolition Zamindari process and Acts aiming towards the land reforms. It meant that India as a Nation adopted the concept of socialism and discarded the monarchy & Zamindari system. It was one of the most important steps toward strengthening country's democracy. Portion of Statements and Objects of "The Constitution (First Amendment) Act, 1951 reads as under-

"The main objects of this Bill are, accordingly to amend article 19 for the purposes indicated above and to insert provisions fully securing the constitutional validity of zamindari abolition laws in general and certain specified State Acts in particular. the opportunity has been taken to propose a few minor amendments to other articles in order to remove difficulties that may arise."

From the above reading it is crystal clear that the makers of the Indian Constitution and/or the Government during the period of 1950-1951 emphasized upon the proper distribution of the land and also emphasized upon the ownership of "State", rather than of any individual.

As the very nature of the Indian Constitution is that it develops and evolves with time, in the words of Pt. Jawaharlal Nehru, the first Prime Minister of India and Member of Constituent Assembly-

"While we make a Constitution which is sound and as basic as we can, it should also be flexible and for a period we should be in a position to change it with relative facility."

More than 100 amendments in Constitution of India describe the flexibility. Further, the unamended basic charter demonstrates values enshrined in the Constitution. The same theory is applicable with respect to the concept of property and ownership also. With the establishment of the various precedents by the Courts in India, right to property has been merged with various fundamental rights like Right to Life, Right to Livelihood, Right to Shelter, Right to Peaceful Possession, Right to Live with Dignity etc. Therefore, "Right to Property," remains in grey area between the Fundamental and Constitutional Rights.

Due to the allied rights with the "Right to Property," there are various Constitutional Values like equity, dignity, justice, security, freedom etc. associated with this. To provide regulation and ease of operation of "Right to Property," various laws were enacted and still in operation in accordance with the diversified character of the India. Supreme Court in the case of Chameli Singh v. State of U.P. reported in (1996) 2 SCC 549 held that Right to Live does not mean the "mere living like an animal" it involves the basic human right like, right to shelter and right to food etc, paragraph no. 7 reads as under-

7. "In any organised society, right to live as a human being is not ensured by meeting only the animal needs of man, it is secured only when he is assured of all facilities to develop himself and is freed from restrictions which inhibit his growth, all human rights are designed to achieve this object. Right to live guaranteed in any civilised society implies the right to food, water, decent environment, education medical care and shelter. These are basic human rights known to any civilised society. All civil, political, social and cultural rights enshrined in the Universal Declaration of Human Rights and Convention or under the Constitution of India cannot be exercised without these basic human rights."

Further, in the matter of **Vimala Ben Ajit Bhai Patel v. Vatsala Ben Ashok Bhai Patel** reported in **(2008) 4 SCC 649** in paragraph no. 42 held as under-

"42. The right of property is no longer a fundamental right. But still it is a constitutional right. Apart from constitutional right it is also a human right. The procedures laid down for deprivation thereof must be scrupulously complied with [See-Devinder Singh and Ors. vs. State of Punjab and Ors.: JT 2007 (12) SC 256]."

From the conjoint reading of above-mentioned two judgments, it is crystal clear that the "Right to Live" is having the wider meaning and directly associated with property. Therefore, value of the individual ownership from the property cannot be ignored. Further, the constitutional values mentioned in hereinabove are also associated with the property.

Now the question arises, how and in what manner the Constitutional Values enshrined under the Constitution of India are affected by the deletion of "Right to Property" from the Fundamental Rights and insertion of the same in the Constitutional Rights.

With the development of "Rule of Law", the concept of "Eminent Domain of State" also developed, which actually demonstrates that in one way or another the "State" have the ownership on each and every property that comes within its territory and the individual property rights having Constitutional and Statutory backing do not constitute absolute right.

One of the most significant examples of the "Eminent Domain of State" is the Land Acquisition Act (both of 1894 and of 2013), the Constitutional source of Land Acquisition Act is Article 300-A of Constitution of India, which states that the person cannot be deprived of its property, without following the due process of law. It, thereby, means that the person can be deprived from his property against his will, if the procedure established by the law is being followed.

To explore and analyze the issue closely, the basis of this research is the Local Laws of Madhya Pradesh governing the Urban, Rural and Forest Areas. The analysis includes the implementation and effect of the Local Laws on public at large, or in other words we can say that it is the analysis of the practicality of implementation of laws with the theory of Constitutional Values.

The irony is that the "Land" is the subject matter of State List as per the Constitution and "Land Acquisition" is the subject matter of the Union List.

Technically, the Central Land Acquisition Act should prevail, but here in Madhya Pradesh, especially in Urban Areas, the Municipal Acts, Town & Country Planning Act, and its allied rules were used to grab the land of the individuals, without paying the adequate compensation and without providing proper rehabilitation. Recent demolitions carried out in the major cities of Madhya Pradesh namely Bhopal and Indore, in the name of road widening by the Municipal Corporation are a case in point where the lawful form of granting compensation has not been pursued. Here, the Local Authorities demolished the houses for road widening and granted the certificate for extra construction only on the remaining land of landowner! This action adversely affected the individual right of ownership and is a brutal example of power of Eminent Domain of State.

Rural areas predominantly, are the areas in which the agrarian society exists. There are different sets of laws to govern the land be that Madhya Pradesh Land Revenue Code, or the Panchayat Laws or Mine and Minerals Act etc. So, the situation in rural areas of Madhya Pradesh is quite different from the Urban Areas. Notably, development of industrial clusters in the rural areas is also affecting the property rights of individual. In addition to that, the State's reluctance in following the procedure established by the Land Acquisition Act and trying to acquire the land by adopting

the guideline of "acquisition by mutual consent" for acquiring the land of the land owners is also affecting the individual property rights, as under this process, the authorities require to pay the cost of the land only and need not to rehabilitate or resettle the affected persons, further the authorities are also not require to grant the extra benefits and protections ensured under the Land Acquisition Act.

At last, Forest Areas are having entirely different situation as the beginning of the laws governing the forest in the name of conservation of the Forest were enacted in the 19th century in India by the British Rule and the same concept has continued in the post-independence India also. Majorly, all these laws enacted with the concept that the forest, animals and the humans cannot live together and the presence of humans are the cause of destruction of the forest. For the first time in the year of 2006, Forest Rights Act, 2006 came into force, by which the Union of India accepted the cardinal principle of nature, i.e., Forest, animals, and humans can co-exist.

Through this research an attempt has been made to find-out the embodied constitutional values behind the "property" and the "ownership." In terms of the need to safeguard it. The infringement on "Right to Property" and their legal consequences need to be looked into. This research is also a small step to suggest the solutions of the problems like illegal grabbing of land by State, proper way of measures including land acquisition, rehabilitation, and resettlement so as to further the importance and necessity of "ownership" in the present era. This article provides this crucial perspective. It is also essential to mention here that the introduction of 1st Constitutional Amendment which by one way or another limits the erstwhile "Fundamental Right to Property" and encourage the concept of Ownership of the "State" is the amalgamation of idea of Gandhian philosophy, Ambedkar's philosophy and Nehruvian socialism.

A unique character of any research is that the author has to give at-least one conclusive answer or should have the conclusive approach towards the issue, but the readers can derive their own conclusions, which may be different from those of the author. My conclusive analysis from this research can be explained with the help of the words of President John Adams (1797-1801)-

> "Property is surely a right of mankind as real as liberty.
> . . . .
> . . . .

The moment the idea is admitted into the society that property is not as sacred as the laws of God, and that there is not a force of law and public justice to protect it, anarchy and tyranny commence."

So, the ideal situation is **"Imagine there is no possession,"** but if there is need and requirement of "Possession" and "Ownership," then the same has to be protected by law, to secure the allied Constitutional Values, guaranteed under the Constitution of India, which are interdependent with "Right to Property."

Spirit of Indian Constitution and Present Environment Laws

Saloni Baheti

Despite over two hundred environmental laws, rules, and regulations, the entire planet is facing a significant threat due to climate change.

As per the United Nations Environmental Programme in its report "one in 69 people i.e., 1.5% of the global population, is forcibly displaced due to climate change. The Indian Metrological Department in its report stated that 17 of the country's 36 states and Union Territories experienced warm nights during summer and what is worrying is that nights appear to be warming faster than the days."

Whereas we have recognised the threats of climate change, but we are still dominated by anthropocentric laws. Environmental compliance is no longer a matter of choice, but it should be compulsion. It is imperative that we conduct a comprehensive review of our current environmental legislation based on an accurate model of nature and human behaviour where humans engage in more environmentally conscious behaviours where they more fully assimilate with, and become a part of, nature. To revisit the environmental laws and make it more relevant, time is of the essence.

Inspite of having impressive laws and regulations that addresses various environmental related issues and problems, rapid urbanization, industrial growth and a rising population, ineffective justice delivery system hinder its effective enforcement. When laws are enacted in furtherance of constitutional duty, it is essential that those laws are implemented keeping in mind those duties which are enshrined in our Constitution.

Introduction

Saloni Baheti is a graduate of ILS Law College, Pune. She is currently practising in the Madhya Pradesh High Court and various District Courts in the state. In addition, she serves as a State Panel Lawyer for the Madhya Pradesh High Court. During her fellowship, she conducted extensive and in-depth research on current environmental laws in light of constitutional values. This research work is important for understanding the current environmental crisis from a legal perspective.

The Hon'ble Supreme Court, way back in 1996, has aptly said that if the mere enactment of laws relating to the protection of environment was to ensure a clean and pollution free environment, then India would perhaps be the least polluted country in the world. But this is not so. There are stated to be over 200 Central and State Statutes in India which have at least some concerns with environmental protection, either directly or indirectly. The plethora of such enactments has unfortunately not resulted in preventing environmental degradation which on, the contrary, has increased over the years. Enactment of a law, relating to protection of environment, usually provides for what activity can or cannot be done by people. If the people were to voluntarily respect such a law, and abide by it, then it would result in law being able to achieve the object for which it was

enacted. Where, however, there is a conflict between the provisions of law and personal interest, then it often happens that self-discipline and respect for law disappears.

Climate Change poses several challenges not just to stable environment, but also to human life. The right to health which is a part of the right to life under Article 21 is impacted due to factors such as air pollution, rising temperatures, droughts, crop failures etc. Law alone is not enough to protect the environment or deal with the climate change. It begins at the level of individual as well. We must be mindful of our actions affect others and our surroundings. This is the essence of fundamental duty enshrined in Article 51 A(g) of the Constitution of India.

National Action Plan on Climate Change (NAPCC)

Now the question arises is that how should one draw a line between climate policies and development actions that have a climate benefit? For that The Government of India launched National Action Plan on Climate Change (NAPCC) on 30th June, 2008 outlining eight National Missions on climate change:

1. National Solar Mission
2. National Mission for Enhanced Energy Efficiency
3. National Mission on Sustainable Habitat
4. National Water Mission
5. National Mission for Sustaining the Himalayan EcoSystem
6. National Mission for a Green India
7. National Mission for Sustainable Agriculture
8. National Mission on Strategic Knowledge for Climate Change

National Solar Mission

The Indian government launched the Jawaharlal Nehru National Solar Mission in January 2010. It was the first major initiative to promote the growth of solar energy. The National Solar Mission has significantly advanced solar energy adoption and expanded the nation's renewable energy sector. It has surpassed initial solar power capacity goals and lowered tariffs, making solar power more competitive. This has encouraged private sector involvement and investment in solar energy projects.

It is also pertinent to mention here that several areas require attention to support the growing capacity of solar energy installations. The distribution and transmission infrastructure needs improvement, including grid integration, intermittency challenges, and power evacuation in solar-rich areas. Prompt payments to solar power producers and simplified regulatory procedures would also boost investor confidence and private sector involvement.

The government has identified specific reasons for the slower-than-expected rooftop solar installations. According to a PIB report, these include concerns about revenue loss for DISCOMs, delays in approvals and meter installations by DISCOMs, a lack of uniform regulations and awareness, and the impact of the COVID-19 pandemic. The program has been extended until March 31, 2026, based on a third-party evaluation.

However, there is not enough research on how much the end-to-end lifecycle costs in this mission. Land is finite, but demand is not. Solar can need 300 times as much space as nuclear, and biomass more than 8,000 times. At the same time, wind turbine blades and solar panels have to be replaced every couple of decades, resulting in potentially enormous waste problems. It is not

like that fossil fuels like coal will be directly replaced by solar and wind energy. This assumption is misleading. In reality, the transition involves gas, nuclear energy and large hydro projects none of which are particularly climate friendly.

For example, the commercial use for lithium not only found inside smart phones and laptops, but also vital to the clean energy transition, for the batteries that power electric vehicles and store energy so renewable power can be released steadily and reliably. According to the World Bank, five times more lithium than is mined currently is going to be necessary to meet global climate targets by 2050. But the problem is obtaining lithium by conventional means takes its own environmental toll, or rather three: carbon emissions, water and land.

National Mission for Enhanced Energy Efficiency

It is true that for the first time Hon'ble Apex Court declared that the right against adverse effect of climate change is a fundamental right but fails to address the rights of people displaced by renewable energy megaprojects. There is no protection for communities impacted by development induced displacement.

As per a broad estimate by the International Energy Agency, a single Chat-GPT search consumes 10 times more energy than a similar query on Google. One large data centre in Iowa owned by Meta is estimated to burn just in one year, the equivalent of 7 million laptops working 8 hours a day. India faces the dual challenge of sustaining rapid economic growth and addressing climate change. Human-caused greenhouse gas accumulation, intensive industrial growth, and high-consumption lifestyles in developed nations contribute to this global threat, which may impact India's natural resources and quality of life. A national strategy is crucial for India to adapt to climate change and enhance the ecological sustainability of its growth. This also involves international cooperation to address the challenge collectively.

India's development prioritizes rapid economic growth to alleviate poverty and improve living standards. Investing in infrastructure, technology, and energy access is essential to achieve this objective and mitigate climate risks. The mission focuses on identifying policies that support development goals while combating climate change. Cost-effective energy efficiency and conservation measures are particularly important in this context. The core principle of this mission is to achieve sustainable growth by balancing energy, efficiency, equity, and the environment.

National Mission on Sustainable Habitat

National Mission on Sustainable Habitat is good linkages with existing schemes such as Jawaharlal Nehru National Urban Renewal Mission (JNNURM) and city sanitation plans, without creating separate bureaucracies but major challenge in the mission is protecting the transport and housing needs of the vulnerable and poor will be an increasing challenge given the growing strength of vested interests. The first version of NMSH (2010-2020) focused on promoting energy efficiency in buildings, solid waste management, and public transport, including biodiesel and hydrogen options. Key achievements include developing standards and guidelines for various urban sectors.

Since 2015, new initiatives like AMRUT, Smart City, HRIDAY, Swachh Bharat Mission, National Policy on Biofuels 2018, National Electric Mobility Mission Plan 2020, and National Urban Livelihoods Mission have been launched to support NMSH.

NMSH 2.0 (2020-2030) aims to promote low-carbon urban growth to reduce GHG emissions intensity, aligning with India's NDC, and to build urban resilience against climate change impacts and related disaster risks.

National Water Mission

National Water Mission, which affirms the need to build a comprehensive water database in the public domain but to be successful, the mission should be led by interdisciplinary experts, which is not how the ministry is currently set up. Improving water use efficiency is crucial for sustainable water development. The National Water Policy, 2012 emphasizes water conservation, aiming for at least a 20% increase in efficiency across demand and supply. Key strategies include: Demand-side management: Research in agriculture, industry, and domestic water use; promoting micro-irrigation, water-neutral technologies, recycling, and appropriate cropping patterns. Supply-side management: Full utilization of existing facilities, improved design, and proper operation and maintenance.

Modernizing old projects and developing command areas can boost overall irrigation efficiency by 20-21%. Field demonstrations of technological interventions have also shown increased yields and water savings.

The United Nations Water Conference in 1977 observed that "All people, whatever their stage of development and their social and economic conditions, have the right to have access to drinking water in quantum and of a quality equal to their basic needs". Similarly the Hon'ble Apex Court in Narmada Bachao Andolan Vs Union of India observed that "Water is the basic need for the survival of human beings and is part of the right to life and human rights as enshrined in Article 21 of the Constitution of India."

National Mission For Sustaining The Himalayan Eco-System

National Mission for Sustaining the Himalayan Eco-system is recognizes the importance of the Himalayas in sustaining a large number of people and serves as an opportunity to promote a mountain-driven rather than plains-driven approach but there is an inadequate attention to establishing research programmes on the unique and vastly diverse ecosystems. Also, there is a challenge to implement uniform laws, regulations and policies across the entire Himalayan landscape. It is very unfortunate that Venezuela has likely to become the first country to lose all its glaciers. India is also at the risk of losing its glaciers. They are melting at unprecedented rates across the Hindu Kush Himalayan Mountains ranges and could lose up to 80 % of their volume this century.

[1](2000)10 SCC 664

National Mission for a Green India

National Mission for Green India describes a 'reform agenda', could bring institutional and regulatory reform in local community institutions but issues of land availability and land ownership need to be resolved through fair means in order to achieve the goals. Also the mission should not be reduced to a plantation programme when implemented. The *18th biennial state of Forest Report (IFSR-2023) by the Forest Survey of India found a marginal gain of 156 Sq. Km in forest cover, and a sizable increase of 1,289 Sq. km in tree cover since 2021*. These are plantations because natural forests do not grow this fast. The replacement of natural dense forests with plantations has been criticised by many experts. In 2018, the United Nations Framework Convention on Climate Change (UNFCCC) flagged India's assumption that plantations reach the carbon stock level of existing forests in just eight years.

The Birla Institute of Scientific Research in its report on social Forestry in India: problems and prospects (1986 reprint) has beautifully described that tree leaves recharge the atmosphere with life giving oxygen, take away excess carbon dioxide and transmit moisture to the atmosphere by

way of transpiration. It is also estimated that one hectare of woodland consumes 3.7 tonnes of carbon dioxide and gives out 2 tonnes of oxygen per year. A tree covered environment is much healthier to live and work in.

National Mission For Sustainable Agriculture and National Mission on Strategic Knowledge for Climate Change

The mission on sustainable agriculture does not address the needs and challenges of marginal and poor farmers; Identifying and scaling up successful sustainable farming practices in different agroclimatic zones is vital to address food security and for tackling climate change these elements are clearly missing in the mission design. Looking at the history also, the National Commission on Agriculture 1976 noticed the inadequate implementation of the 1952 National Forest Policy and proposed various amendments like encouraging large scale industrial plantation to foster growth of forest industries. The problems of forest preservation and protection was no more to be separated from the lifestyle of tribals. The approach required a shift from the dependence of law and executive implementation to dependence on the conscious and voluntary participation of the masses. This required educating the masses as well as appropriate education of the departmental employees. Similarly National Mission on Strategic Knowledge for Climate Change invests in research for the long-term but in my opinion other missions discuss their strategic knowledge requirements, without linking them to the Strategic Knowledge Mission which in turn has an architecture that does not clearly connect it to the other missions.

We see significant developments when we carefully evaluate the entire journey of judicial pilgrimage from the decade of 1960 till this date. In the decade of 1960, hardly anyone expressed concern about ecology and environment. The statement of Sir Edmund Hillary quoted in the Karnataka Industrial Areas Development Board Versus C Kechappa And Others that "Mount Everest was littered with junk from the bottom to top and nobody hardly spoke about it, nor was any serious concern shown about environmental degradation" However, in the decade of 1970, a serious concern about the degradation of ecology and environment was articulated. The Stockholm Conference of 1972 was a major watershed in the history of the world. Later, it was realised that for a civilised world both development and ecology are essential.

Devil lies in the details

In my opinion, the mission document is no different from the usual planning document with a few points on climate thrown in it. It is true that the Implementation challenges are also lies within existing ministries because development targets of the eight missions are not prioritised with clear sustainable development focussed approaches and long term goals. independent expert body is required to address these climate challenges. Being an interdisciplinary in its character, breaks traditional ministerial boundaries. Unless the country is able to do these things, our goals and aspirations for 'climate-proof' development will not be attained. It is also important that implementation report should be required at central, state and local levels. It would have to involve central, state and local government bodies including civil society groups and communities as necessary for each mission. The government cannot wash its hand off by saying there are enough regulations in place when, in spirit and in implementation, they do not promote environmental justice. The clock is ticking, and the time to act is now.

[2](2006)6 SCC 371

न्यायालय परिसर में संवैधानिक मूल्यों का सिंचन

शेख मुईन अहमद

परिचय

शेख मुईन अहमद वर्ष 2008 से जिला एवं सत्र न्यायालय हरदा में अधिवक्ता हैं। गैर-सरकारी संगठनों के साथ मिलकर मनोवैज्ञानिक परामर्श व समाज सेवा कार्य विगत 20 वर्ष से जारी है। शेख मुईन अहमद को पुलिस प्रशासन, स्कूलों व अन्य संस्थाओं में लैंगिक अपराधों से बालकों का संरक्षण अधिनियम एवं नियम का प्रशिक्षण देने का अनुभव है। फैलोशिप के तहत उन्होंने पॉक्सो एक्ट 2012 के अपराध से पीड़ित बच्चों को न्याय दिलाकर उसकी समता, गरिमा को पुनः स्थापित करने पर कार्य किया है।

सन 2008 से जिला एवं सत्र न्यायालय, हरदा में अधिवक्ता के रूप में कार्य कर रहा हूं। देशभर के विभिन्न जिला न्यायालयों में पैरवी करने का अवसर प्राप्त हुआ। कमोबेश सभी जिला न्यायालयों में एक जैसी संस्कृति व प्रक्रिया का पालन होते देखा, किंतु कहीं भी भारत के संविधान में वर्णित मूल्यों का पूरी तरह पालन नहीं हो रहा है, यह देख-जानकर दुःख हुआ।

जिला न्यायालय हरदा में भी अधिवक्ता सहित न्यायाधीश एवं कर्मचारीगण का यह मानना था कि संविधान की चर्चा सर्वोच्च व उच्च न्यायालय का विषय है, क्योंकि संविधान के मुद्दों पर उच्च न्यायालय एवं सर्वोच्च न्यायालय में सुनवाई होती है। अतः संविधान के विषय पर जिला न्यायालय में सोचने-विचारने, जानने-मानने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती है।

फैलोशिप से पहले मैं यह मानकर चलता था कि संविधान का महत्व 'संवैधानिक विधि' से है। ऐसा इसलिए होता है कि एलएलबी करते समय हमारे प्रोफ़ेसर 'संवैधानिक विधि' पर जोर देते हैं ना कि संवैधानिक मूल्यों पर। विद्यार्थी जीवन की बनी सोच संवैधानिक विधियों तक ही सीमित हो जाती है। इस दीवार को इस फैलोशिप ने तोड़ दिया। अब मेरे नजरिये में बहुत बदलाव आया है।

सितंबर 2022 में संविधान संवाद फैलोशिप से जुड़ने का अवसर प्राप्त हुआ। अगले 6 माह में संविधान के मूल्यों को देखने-समझने के नजरिये में परिवर्तन आना शुरू हुआ। न्यायालय परिसर हरदा में एलएलबी के विद्यार्थियों एवं साथी अधिवक्ताओं का पीयर ग्रुप बनाकर उनके साथ मूल्यों पर संवाद करना शुरू किया। शुरुआती बैठकों में पीयर ग्रुप के साथी अधिवक्ताओं को मूल्यों पर संवाद करना असहज लगता था। वे यह व्यक्त करने में हिचकिचाते नहीं थे कि जिला न्यायालय में अधिवक्ता व्यवसाय करने वाले का संविधान से क्या वास्ता....? इस सवाल का उत्तर खोजते-खोजते इसी बहाने मूल्यों पर संवाद होने लगा।

अगले 3 माह में न्यायालय परिसर में मूल्यों पर संवाद के प्रति रुचि बढ़ने लगी। अब हम सभी जानना चाहते थे कि हमारे जीवन मूल्य, सामाजिक मूल्य, पारिवारिक मूल्य, धार्मिक मूल्य और संवैधानिक मूल्यों के बीच क्या समानताएं हैं? धीरे-धीरे संवाद के माध्यम से हम सभी के बीच आम सहमति बनी कि मानवीय मूल्य ही संवैधानिक मूल्य हैं।

अधिवक्ताओं के बीच पीयर ग्रुप संवाद में चुनौतियां आने लगीं, क्योंकि न्यायालय परिसर में अधिवक्ताओं के पास कभी

भी किसी भी समय उनके पक्षकार आ जाते थे और उन्हें संवाद छोड़कर जाना पड़ता था। इस समस्या का समाधान करने के लिए पीयर ग्रुप में एलएलबी के विद्यार्थियों, जिनमें संजु मोहे, हरिओम मालवीय एवं हरदा जिले में डिग्निटी संस्था के फेलो साथी निकिता तिवारी, हिमांशु कौशल, इरशाद खान, निधि परते, विवेक परते एवं मनोज जैन (शिक्षक) के साथ मिलकर पीयर ग्रुप की गतिविधियों को सतत जारी रखने में सफलता मिली।

अब न्यायालय परिसर में संवाद का समय एवं स्थान निश्चित ना रखते हुए इसे पूरी तरह खोल दिया, जैसेलंच के समय, लंच करते हुए, चाय की दुकान पर चाय पीते हुए या कोर्ट में अपने केस का नंबर आने के इंतजार के समय संवाद करने लगे।

पीयर ग्रुप के साथियों के साथ मेंटर चिन्मय मिश्र सर ने 6 अगस्त 2023 को होटल रुद्राक्ष, हरदा में संविधान के मूल्यों पर एक दिवसीय संवाद शाला का आयोजन किया। मेंटर सर के मार्गदर्शन के बिना फैलोशिप की यात्रा अधूरी रहती। उन्होंने हर कदम पर विषय को चुनने से लेकर समझने तथा अपने जीवन में मूल्यों को जीना सिखाया।

पीयर ग्रुप के साथी अधिवक्ता अनिल वर्मा ने संवाद के दौरान बताया कि मेरी पत्नी शिक्षक है, मेरा एक लड़का और एक लड़की है। मेरी पत्नी लडके को एक गिलास भरकर दूध पिलाती है, लेकिन बेटी को आधा गिलास दूध ही देती है। मैंने उससे कहा कि दोनों बच्चों को समान मात्रा में दूध दिया करो, तो पत्नी ने तर्क दिया कि बेटा खेल के मैदान में खेलने जाता है, मेहनत करता है, इसलिए उसे अधिक दूध की आवश्यकता है। बेटी तुलनात्मक रूप में घर के हल्के काम करती है, इसलिए समता को स्थापित करने के लिए उसे कम दूध देती है। अब हमारे सामने यह प्रश्न था कि 2 बच्चों के बीच असमान तरीके से दूध का वितरण किया जा रहा है या समता के मूल्य को स्थापित किया जा रहा है। समूह में शामिल संजु मोहे ने व्यक्त किया कि अक्सर घर में लड़कियों के साथ ऐसा ही व्यवहार किया जाता है, क्योंकि पितृसत्ता हावी है और लड़कियों के साथ पितृसत्ता दोयम दर्जे का व्यवहार करती है। काफी विचार विमर्श के बाद यह तय हुआ कि घर के काम के साथ-साथ बेटी भी खेलकूद में हिस्सा लेती है, अतः दोनों की शारीरिक ऊर्जा समान रूप में खर्च होती है। इसलिए उन्हें बराबर मात्रा में दूध दिया जाना चाहिए। इस तरह से हम पीयर ग्रुप में संवाद के माध्यम से समता, समानता और न्याय के मूल्य को समझने लगे।

निर्भया केस के बाद लैंगिक शोषण पर कठोर कानून लागू किया गया। अन्य लैंगिक अपराधों से संबंधित कानूनों में संशोधन किया गया तथा 14 नवंबर, 2012 को एक नया कानून 'लैंगिक अपराधों से बालकों का संरक्षण अधिनियम 2012' लागू किया गया। इसके लिए जिला न्यायालय में विशेष न्यायालय की स्थापना की गई।

पॉक्सो कानून लागू होने से पहले ही न्यायालय में अधिवक्ता व्यवसाय कर रहा था। नए कानून के साथ विशेष न्यायाधीश, अधिकारी कर्मचारी एवं अधिवक्ताओं को क़ानूनी ज्ञान तो था, किंतु उसके व्यावहारिक पहलू को प्रभावी ढंग से लागू नहीं किया जा रहा था। इस तरफ कोई भी गंभीरता से विचार नहीं कर रहा था।

फैलोशिप मिलने के बाद मूल्यों को जानने, मानने एवं अपनाने की प्रक्रिया में मैंने यह जाना कि पॉक्सो पीड़ित बच्चों के मूल्यों का भी हनन हो रहा है। न्यायालय में गवाही के लिए उपस्थित पीड़ित बच्चा एवं उसके परिजनों के नाम की पुकार लगाई जा रही है। बुलंद आवाज में पुकार को सुनकर पीड़ित बच्चा तथा उसके परिजन असहज महसूस करते हैं। उनकी निजता और गरिमा का यह स्पष्ट हनन था। फैलोशिप के पहले मेरा भी इस ओर ध्यान नहीं गया था, क्योंकि यह सदियों से न्यायालय में होता आ रहा था। हालांकि मैं जानता था कि पॉक्सो कानून में पीड़ित एवं उसके परिजनों की पहचान को गोपनीय रखने का प्रावधान है। मैंने विशेष न्यायाधीश महोदय दिनेश कुमार सिंह से कहा कि सर न्यायालय की प्रक्रिया में पीड़ित तथा उसके परिजनों की पहचान उजागर हो रही है। पीड़िता की गरिमा और पॉक्सो कानून के प्राविधानों को ध्यान में रखकर आप इसे बंद कराएं।

विशेष न्यायाधीश महोदय ने मेरी बात को गंभीरता से लिया एवं उनके स्टाफ को तत्काल आदेश दिया कि तत्काल प्रभाव से पीड़ित एवं उसके परिजनों के नाम की पुकार नहीं लगाई जाएगी, उनकी निजता और गरिमा का ध्यान रखा जाए। इस तरह से जोर से नाम की पुकार लगाने वाली प्रथा बंद हो गई।

संवैधानिक मूल्य पर संवाद करते-करते हम उन मूल्यों को धीरे-धीरे जानने, समझने लगे और वे हमारे जीवन में भी बस गए। पॉक्सो की धारा 37 स्पष्ट प्रावधान करती है कि विशेष न्यायालय द्वारा बाल यौन उत्पीड़न के मामलों की सुनवाई बंद कमरे में एवं बालक/बालिका के माता-पिता या किसी ऐसे अन्य व्यक्ति की उपस्थिति में की जाएगी, जिसमें बच्चे का विश्वास हो।

धारा 37 के अनुसार न्यायालय को यह भी अधिकार है कि यदि आवश्यकता हो, तो वह बच्चे की जांच न्यायालय के बाहर किसी अन्य स्थान पर कराए, वहां वह दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 284 के प्रावधानों के अनुसरण में कमीशन निकालने के लिए कार्यवाही करेगा, किंतु इस धारा के प्रावधान को पूरी तरह से लागू नहीं किया जा रहा था। केवल गंभीर यौन अपराध, जैसेबलात्कार, गैंगरेप इत्यादि में न्यायालय का बाहरी गेट बंद करके विचारण किया जाता है, किंतु खिड़कियां खुली होती हैं और कोर्ट के अंदर काम करने वाले अन्य स्टाफ भी वहां मौजूद रहते हैं। सिर्फ आम जनता या उस केस के अलावा अन्य किसी अधिवक्ता को आने-जाने से रोक दिया जाता है, जो कि पर्याप्त नहीं है।

धारा 37 विक्टिम की निजता के साथ-साथ उसकी गरिमा का भी खयाल रखती है। अतः बंद कमरे में विचारण (सुनवाई) का मतलब होगा कि ऐसे कक्ष/कमरे में विचारण हो, जहां न्यायाधीश, महिला टाइपिस्ट, पीड़िता व उसके माता या पिता या जिस पर उसे भरोसा हो तथा अभियुक्त के अधिवक्ता के अलावा अन्य कोई भी व्यक्ति ना हो। दरवाजा बंद हो खिड़कियों पर परदे लगे हों, उस कक्ष के बाहर विचारण के दौरान होने वाली बातचीत सुनाई ना दे इतनी व्यवस्था की जाती है, तब कानून की मंशा पूरी होती है, किंतु विशेष न्यायालय हरदा में यह प्रावधान औपचारिक रूप से बहुत लचर ढंग से लागू हो रहे थे।

मैंने विशेष न्यायाधीश महोदय से आग्रह किया कि इस प्रावधान के कानूनी उद्देश्यों को पूरा किया जाना पीड़िता को न्याय दिलाने के साथ-साथ उसकी निजता एवं गरिमा की रक्षा करना भी हमारा कर्तव्य है। उन्होंने इस बात को गंभीरता से लिया और उसी दिन से पीड़िता के साथ 'न्यायाधीश कक्ष' में बंद कमरे में खिड़कियां बंद कर, पर्दे लगाकर सुनवाई की जाने लगी।

फैलोशिप के माध्यम से मैं पॉक्सो के अपराध से पीड़ित बच्चों के जीवन में न्यायिक समानता, गरिमा और बंधुत्व पुनर्स्थापित कर पाया। यह विषय मैंने लिया ही इसलिए था कि बाल यौन शोषण के मामलों में वृद्धि हो रही है, ये कम नहीं हो पा रहे हैं?

मेरा लक्ष्य यही था कि पीड़ित को शारीरिक और मानसिक पीड़ा में सहायता पहुंचाना है और समाज में पुनः उसकी गरिमा, समता, बंधुत्व के साथ उसे न्याय दिलाने में सहायता करना है। मेरे विषय का संबंध प्रत्यक्ष रूप से संवैधानिक मूल्यों से जुड़ता है, क्योंकि यौन उत्पीड़न का शिकार बच्चा भी देश का भविष्य है। अतः उसके संवैधानिक मूल्यों की रक्षा की जाना चाहिए।

फैलोशिप के दौरान मैंने कई पीड़ित बच्चों के लिए न्यायालय में पैरवी की। जब वे न्याय की आस छोड़ चुके थे, उनके अंदर पुनः न्याय के मूल्य को जगाया। मध्य प्रदेश राज्य द्वारा महिला पुलिस थाना हरदा विरुद्ध कृष्णा उर्फ कन्नू की पीड़िता अल्पायु की है। वह एचआईवी रिएक्टिव होने के साथ-साथ मानसिक रूप से अक्षम और दृष्टि-बाधित है। उसके परिवार की आर्थिक स्थिति दयनीय है। माता-पिता दोनों मजदूरी पर चले जाते हैं। घर में उसकी देखभाल करने वाला अन्य कोई

नहीं है। वह अपने घर एवं आस-पड़ोस में ही असुरक्षित है। काफी प्रयास करने के बावजूद उसके लिए सुरक्षित शेल्टर होम ढूंढ़ पाना मुश्किल हो रहा है।

फैलोशिप से पहले मैं प्रोफेशनल ढंग से वकालत किया करता था। फैलोशिप ने मुझे सिखाया कि कानूनी बिंदुओं के अलावा पीड़ितों के मानवीय पहलू एवं उनके परिवार के जीवन मूल्य पर भी उनके साथ बेहतर संवाद किया जाना चाहिए, जिससे कि उनके दु:ख को कम किया जा सके। इसके बाद मैं अधिक संवेदनशीलता के साथ उनके दु:ख-दर्द सहज करने में सहायता करने लगा। यह काम बिना फैलोशिप के किसी भी अधिवक्ता के लिए सीख पाना मुश्किल लगता है।

संवैधानिक मूल्यों का लगातार अभ्यास करते रहने का असर हुआ कि न्यायालय में काम करते समय मैं अपने पक्षकारों एवं साथियों के साथ संवाद करते हुए उनकी बातों को ध्यान से सुनता हूं तथा संवैधानिक मूल्यों के अनुरूप चर्चा को आगे बढ़ाने का मेरा यह सतत अभ्यास निरंतर जारी है।

संवैधानिक मूल्यों को स्कूली बच्चों तक पहुंचाने के लिए सामाजिक संस्था के साथ मिलकर मैंने शासकीय कन्या शाला हरदा में 7 सितंबर, 2024 को 'बाल यौन शोषण एवं संवैधानिक मूल्य' विषय पर केंद्रित नुक्कड़ नाटक किया। इस नाटक को देखने के बाद स्कूल के शिक्षक, शिक्षिका एवं विद्यार्थियों ने जाना कि 'बाल शोषण' क्या होता है और उससे कैसे बचा जा सकता है। साथ ही साथ संवैधानिक मूल्यों के प्रति भी उनकी समझ पहले से बेहतर हुई।

फैलोशिप प्रोग्राम तीन वर्षीय होने से मूल्यों को आत्मसात करना आसान हुआ। प्रथम एक वर्ष में सिर्फ समझ विकसित होना प्रारंभ होती है। जैसे, विश्वविद्यालय के स्नातक कोर्स में अपने विषय की समझ विकसित हो जाती है और आगे स्नातकोत्तर कोर्स में विद्यार्थी अपने विषय को जीवन में जीने लगता है। तब माना जाता है कि अब वह अपने विषय में कोई नया शोध करने के योग्य हुआ है।

मूल्यों का लंबे समय तक सतत पालन करने से वे नैसर्गिग रूप से जीवन मूल्य बन जाते हैं, अतः फैलोशिप की समय सीमा को पीएचडी स्तर तक विस्तारित किया जाना सही मायने में उचित होगा।

न्यायालय परिसर में बने जिला अधिवक्ता संघ की दीवार पर विकास संवाद द्वारा प्रकाशित पोस्टर 'संवैधानिक मूल्य व्यवस्थाएं और व्यवहार' को जिला अधिवक्ता संघ की अनुमति से चस्पा कर दिया, जिसका प्रभाव यह हुआ कि अधिवक्ता के साथ-साथ कोर्ट में आने वाले आम नागरिक, पक्षकार उस पोस्टर को पढ़कर-समझकर आपस में संवाद करने लगे। दीवार पर लिखा एक नारा या पोस्टर भी बदलाव की दिशा में बढ़ा एक कदम होता है, जिससे क्रांति का आगाज़ होता है।

इस तरह हम सब ने मूल्यों को जीना, उनका निरंतर अभ्यास करते हुए व्यापक दायरे तक पहुंचाने का प्रयास किया।

मनोवैज्ञानिक एवं समाजशास्त्री मानते हैं कि मूल्य सामाजिकीकरण प्रक्रिया से जीवन में आते हैं। किसी भी व्यक्ति में उसके धार्मिक एवं सांस्कृतिक मूल्य सबसे मजबूत क्यों होते हैं? वे इसलिए होते हैं, क्योंकि व्यक्ति ने बचपन से ही अपने परिवार में उन मूल्यों का पालन होते देखा है। अतः वे नैसर्गिक रूप से उसके जीवन में मजबूती से स्थान ले लेते हैं। आश्चर्य तो तब होता है कि एक व्यक्ति के मन में अपने धर्म के आलावा अन्य धर्म, समुदायों के प्रति नफरत, भेदभाव, छुआछूत, असामनता, अन्याय आदि भाव क्यों होते हैं ? इसका उत्तर शायद व्यक्ति के पारिवारिक-सामाजिक परिवेश में व्याप्त अनैतिकता एवं कट्टरता हो सकती है, जो आनुवंशिक एवं सामाजिकीकरण प्रक्रिया के माध्यम से उसके अंदर स्थापित हो जाते हैं। यहां यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि मूल्य जन्मजात नहीं होते, अधिगम के जरिए प्राप्त होते हैं, सीखे जाते हैं। अतः मूल्यों को जीवनपर्यंत सीखने योग्य मानकर कभी भी सीखे हुए के स्थान पर पुनर्स्थापित कर सकते हैं।

इसका तकनीकी पहलू बहुत सामान्य हैपुराने नफरत भरे मूल्य एक अनुबंधन/ कंडीशनिंग के तहत जीवन में अपना लिए गए हैं उसकी डी-कंडीशनिंग करने के बाद पुनः नए मूल्यों को सीख जा सकता है।

सच झूठ, आशीर्वाद, श्राप, सद्भावना, दुर्भावना सभी सीखा हुआ व्यवहार है, जो अधिगम यानी समय के साथ सीखते जाने की मनोभावी, व्यावहारिक मानवीय प्रक्रिया है, जिसे जीवन के किसी भी स्तर पर बदला भी जा सकता है |

मूल्यों के ह्रास की वजह क्या है? क्या हमने अपनी संस्कृति भुला दी? नैतिकता खोने लगे? या पूंजीवादी अर्थव्यवथा में अपने आर्थिक एवं निजी हितों पर केंद्रित हो गए? घोर सांप्रदायिकता में फंस गए? इन गंभीर सवालों को हल किए बिना संवैधानिक मूल्यों का सर्वव्यापी होना मुश्किल होगा |

ज्ञानार्जन जीवनभर चलने वाली सतत प्रक्रिया है। इस फैलोशिप के माध्यम से मैं ऐसा वातावरण निर्मित करने का प्रयास करता रहा और उसका परिणाम यह हुआ कि अब महसूस होने लगा है कि मेरी समझ समता, न्याय, गरिमा, बंधुता के मूल्य पर बेहतर हो रही है एवं आशा है आने वाले वर्षों में मूल्य आधारित जीवन जीने का सिद्धांत मन-मस्तिष्क में सुदृढ़ता से स्थापित हो जाएगा।

अपने जीवन में एवं कार्यस्थल पर मूल्यों का सिंचन करने के परिणामस्वरूप मेरे चैंबर एवं विशेष न्यायालय (पॉक्सो एक्ट), हरदा का वातावरण मूल्यों के अनुरूप प्रदर्शित होने लगा है। उम्मीद करता हूं कि आने वाले समय में इस प्रकार के भाव, विचार एवं व्यवहार और बेहतर ढंग से कोर्ट कैंपस में प्रसारित कर सकूंगा।

तुका बस्तर (वस्त्र) बिचारा क्या करे रे,
अन्तर (हृदय) भगवान होय ।
भीतर मैला केंव (कब) मिठे रे,
मरे उपर धोय ।।

– तुकाराम

तुकाराम कहते हैं कि बेचारे वस्त्र को बार-बार धोने से क्या होगा? भगवान बाहरी वस्त्र में नहीं, हृदय में निवास करते हैं। आन्तरिक मैल को कब मिटाओगे? सिर्फ़ बाहरी सफ़ाई से तो हम मर जाएंगे यानी सिर्फ़ बाहरी सफ़ाई से हमारा बचाव नहीं होगा।

संविधान, सामाजिक न्याय और हम

उर्मिला अहिरवार

हमारा समाज सामाजिक नियमों द्वारा निर्मित एवं संचालित होता है। सामाजिक नियम ही सामाजिक संबंधों, जिनसे समाज की रचना होती है, को परिभाषित तथा नियंत्रण करने में हमारी मदद करते हैं। किसी नियम की सामाजिक नियम के रूप में स्वीकार्यता हमेशा न्याय पर आधारित होती है। सामाजिक नियम किसी विचार, दर्शन एवं मूल अवस्था से विकसित या संपोषित और न्याय पर आधारित होते हैं। कभी भी कोई भी नियम, विचार या दर्शन यह नहीं कहता है कि वह अन्याय पर आधारित है और अन्याय की रक्षा के लिए बना है, भले ही वह अन्याय का पोषण करता हो। अन्याय पर आधारित निर्णय या नियम समाज में अपनी प्रासंगिकता खो देते हैं। न्याय हमेशा से किसी भी समाज की रचना और उसे रचना को बनाए रखने में आधारभूत भूमिका अदा करता है।

परिचय

उर्मिला अहिरवार जिला एवं सत्र न्यायालय छतरपुर, सिविल न्यायालय लवकुश नगर में अधिवक्ता हैं। वकालत और सामाजिक कार्य के माध्यम से वंचित समुदाय के हक की लड़ाई लड़ रही उर्मिला अहिरवार ऑल इंडिया लीनेस उड़ान क्लब छतरपुर की सदस्य हैं। समाजशास्त्र में स्नातकोत्तर उर्मिला अहिरवार ने एलएलएम के उपरांत 'मध्यप्रदेश में हिरासत में हिंसा एवं मृत्यु' विषय को विधिक आलोचनात्मक अध्ययन के लिए चुना है। इस फैलोशिप के तहत उन्होंने मध्य प्रदेश में महिलाओं के विरुद्ध अपराध एक कानूनी एवं सामाजिक अध्ययन विषय पर शोध किया है।

सामाजिक न्याय

सामान्य रूप से न्याय वह नैतिक अवधारणा है जो बिना किसी भेदभाव, पक्षपात के समस्त नागरिकों के प्रति उचित, समान और संतुलित हो। इसके अंतर्गत तीन महत्वपूर्ण बातें हैं:

1) कसौटी, जिसके आधार पर न्याय-अन्याय का निर्धारण होता है। न्याय की कसौटी है कानून, नियम एवं व्यवस्था। कानून का निर्माण विधायिका करती है नियम एवं व्यवस्थाएं सरकार, स्थानीय संस्थाओं या निगमों के द्वारा बनाए जाते हैं। न्याय का दूसरा तत्व निर्णय है। निर्णय किसी कार्य आचरण को न्याय संगत या अन्याय पूर्ण निरूपित करता है। वैधानिक दृष्टि से यह कार्य न्यायालय द्वारा संपादित होता है। न्यायाधीश विधान की कसौटी पर किसी कार्य आचरण को कस कर उसे न्यायसंगत या अन्यायपूर्ण प्रदर्शित करते हैं। प्रशासनिक दृष्टि से यह कार्य सक्षम प्रशासनिक अधिकारी द्वारा प्रशासनिक नियमों के तहत किया जाता है। व्यक्तिगत दृष्टि से न्याय-अन्याय का निरूपण व्यक्ति का अंतस करता है, जबकि सामाजिक दृष्टि से यह कार्य समाज (मानव समूह) का नैतिक अंतर्मन करता है।

न्याय का तीसरा महत्वपूर्ण पक्ष है उसका क्रियान्वयन अर्थात निर्णय को लागू करना। न्यायाधीश के निर्णय देने पंचायत के फैसले करने तथा अधिकारी द्वारा अपना मत व्यक्त कर देने से ही पीड़ित को न्याय नहीं मिल जाता है। अगर पीड़ा देने वाला किसी प्रकरण में सक्षम प्राधिकारी द्वारा दिए गए निर्णय को नहीं मानता है, तो समाज में किसी ऐसी मशीनरी का होना

जरूरी है जो बलपूर्वक निर्णय को लागू करे। सामान्यतः यह कार्य कार्यपालिका, पुलिस प्रशासन द्वारा संपन्न किया जाता है। इन तीनों में से किसी भी स्तर पर अगर पक्षपात बढ़ता जाता है तो वहीं पर न्याय का अभाव देखने को मिलता है; मसलन, कानून यदि दोषपूर्ण व पक्षपातपूर्ण है तो न्यायालय, पुलिस और प्रशासन के निष्पक्ष और ईमानदार रहने के बावजूद समाज में अन्याय रहेगा। इसी प्रकार यदि कानून सही व निष्पक्ष है और निर्णय को लागू करने वाली मशीनरी भी सही व निष्पक्ष है किंतु निर्णयकर्ता निष्पक्ष नहीं है अथवा कानून और न्यायाधीश दोनों अपनी-अपनी जगह सही व निष्पक्ष है किंतु निर्णय को लागू करने वाली पुलिस और प्रशासन की मशीनरी भ्रष्ट व पक्षपातपूर्ण है तब भी समाज में न्याय का अभाव होगा। तात्पर्य यह है कि समाज में न्याय की प्राप्ति के लिए विधायिका, कार्यपालिका एवं न्यायपालिका का आचरण सत्य, निष्पक्ष एवं यथार्थपूर्वक होना जरूरी है। जब हम इन बातों को सामाजिक संदर्भ में देखते हैं तब हम सामाजिक न्याय के होने की बात करते हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो जब कोई समाज अपने सभी वर्गों, उपवर्गों के साथ सही एवं पक्षपातरहित बर्ताव करता है तो इस स्थिति को सामाजिक न्याय कह सकते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि यदि किसी समाज के विधान व कानून सत्य, यथार्थपरक एवं निष्पक्ष हैं अर्थात् वे अपने सभी वर्गों, उपवर्गों व समूहों के हितों की समान रूप से रक्षा करते हैं और उनके अधिकारों को समान रूप से सुनिश्चित करते हैं तथा उनमें कानून व विधान के आधार पर निर्णय देने वाली व निर्णय को अमल करवाने वाली मशीनरी निष्पक्ष रूप से अपना दायित्व निभाती है, तो कहा जा सकता है कि समाज में सामाजिक न्याय विद्यमान है।

सामाजिक न्याय समाज में खासतौर से उन विभिन्न समूहों के हितों पर विशेष ध्यान देता है जो पिछड़े व कमजोर हैं तथा अपनी स्थिति के लिए स्वयं उत्तरदायी नहीं है। यह व्यक्ति के हितों की अवहेलना नहीं करता किंतु समाज में सेवाओं व संसाधनों के न्यायोचित विभाजन, उनके क्षमतामूलक वितरण तथा नियमों की सामूहिक उपयोगिता पर अधिक ध्यान देता है। यह नियमों के निर्माण, उनकी व्यवस्था और उन्हें लागू करने में सामूहिक हितों की पूर्ति वैयक्तिक हितों की पूर्ति के साथ समायोजित करने पर बल देता है।

स्वतंत्रता और समानता, सामाजिक न्याय के आधारभूत तत्व माने जाते हैं किंतु कुछ लोग, विशेष रूप से जो उदारवादी, उपयोगितावादी या पूंजीवादी विचारधारा से अधिक प्रभावित हैं, स्वतंत्रता को अधिक महत्वपूर्ण मानते हैं। उनकी दृष्टि में समानता बहुत कुछ स्वतंत्रता का ही विस्तारित रूप है। उनका मानना है कि समाज में स्वतंत्रता का जितना कम विस्तार होगा विषमता उतनी अधिक स्थायी होगी। इसके विपरीत कुछ लोग, विशेष रूप से साम्यवादी एवं समाजवादी विचारधारा से प्रभावित लोग, समानता को अधिक महत्वपूर्ण मानते हैं। उनकी दृष्टि में स्वतंत्रता वास्तव में समानता का ही विस्तारित रूप है। उनका मानना है कि यदि लोगों के जीवन की बुनियादी दशाओं में उनके अधिकारों व सुविधाओं में समानता नहीं है तो उनके जीवन में स्वतंत्रता का कोई अर्थ नहीं है। जिनके पास जीविका का कोई साधन नहीं है, जो बेरोजगार व भूखा है, उसके लिए स्वतंत्रता कोई मायने नहीं रखती है।

एक न्यायपूर्ण समाज में स्वतंत्रता और समानता दोनों का होना जरूरी है क्योंकि समानता के अभाव में समाज में कुछ लोग दूसरों से इतना आगे बढ़ जाते हैं कि बाकी लोगों के जीवन का कोई अर्थ नहीं रह जाता है। ऐसे में अधिकांश लोगों का जीवन कुछ लोगों की गुलामी करने में बदल जाता है। जब हम स्वतंत्रता की बात करते हैं तो स्वतंत्रता के अभाव में समानता बहुत कुछ आरोपित या यांत्रिक हो जाती है, जिसके परिणामस्वरूप व्यक्ति के लिए पहल करने को कुछ नहीं रह जाता है। उसकी सृजनशीलता कुंठित हो जाती है।

जहां तक एक न्यायपूर्ण समाज के लिए स्वतंत्रता और समानता दोनों के जरूरी अथवा वांछनीय होने का सवाल है, इस पर ही शायद किसी को ऐतराज होगा कि दोनों की क्या मात्रा होना चाहिए अर्थात क्या समाज में स्वतंत्रता व समानता दोनों को

समान रूप से होना चाहिए अथवा उनमें से कोई अधिक होना चाहिए और कोई कम होना चाहिए। इस बात पर सभी एक मत नहीं है। वैसे दोनों का समान अनुपात में होना मुश्किल है क्योंकि दोनों की प्रकृति में जहां सामंजस्य का अभाव है, वहीं उसमें नैसर्गिक विरोध भी है। वैसे एक के बिना दूसरे का अस्तित्व असंभव है, साथ ही सामाजिक न्याय के अंतर्गत दोनों एक दूसरों से अभिन्न रूप से जुड़े हुए भी हैं, किंतु जब एक को प्राथमिकता दी जाती है तो दूसरे का अस्तित्व स्वत: कमजोर हो जाता है। समाज में यदि स्वतंत्रता को बढ़ावा दिया जाता है तो असमानता बढ़ती है इसके विपरीत यदि समानता को प्राथमिकता दी जाती है तो स्वतंत्रता का हनन होता है। पश्चिमी समाज ने अपने विकास के लक्ष्य को पाने के लिए स्वतंत्रता को अहमियत देने का रास्ता अपनाया जबकि समाजवादी व साम्यवादी देशों ने समानता को प्राथमिकता देने का रास्ता चुना। स्वतंत्रता व समानता दोनों ही आवश्यक है किंतु जहां जीवन की बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति एवं विकास की दृष्टि से शिक्षा, स्वास्थ्य एवं रोजगार संबंधी आवश्यकताओं की पूर्ति का प्रश्न है, तब समानता को ही निर्धारक सिद्धांत के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए।

ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

सामान्य तौर पर यह कहा जा सकता है कि लोगों को न्याय का बोध सामाजिक जीवन के अस्तित्व में आने के साथ अवश्य हुआ होगा क्योंकि जैसा की पूर्व में स्पष्ट किया गया है कि न्याय उन नियमों का आधार है जिनमें सामाजिक संबंध और समाज की रचना होती है। भले ही प्राचीन काल में न्याय का आधार ईश्वरीय था। ईश्वर या मोहम्मद पैगंबर द्वारा जो कुछ कहा गया वही न्याय था। समाज में न्यायिक नियमों की रचना, उनकी व्याख्या, उनके आधार पर न्याय के निर्धारण का कार्य पुरोहित वर्ग का था। कालांतर में राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि निरूपित करने के साथ न्याय के अधिकार में पुरोहित के साथ राजा की भी भागीदारी होती थी। किंतु नियम व विधान की रचना और उनकी व्याख्या का अधिकार सामान्यतः पुरोहित वर्ग के हाथ में ही हुआ करता था। इन विषयों पर राजा का अधिकार नहीं था। यदि था, तो वह बहुत सीमित था। राजा का अधिकार क्षेत्र मुख्य रूप से न्याय को लागू करने तक सीमित रहता था। भारत में यह स्थिति मध्यकाल और किसी हद तक ब्रिटिशकाल तक बनी रही। इन कालों में न्याय से समानता का अर्थ व्यक्ति द्वारा उसके लिए निर्धारित वर्ग या वर्गीयदायित्व को पूरा करना था। जब किसी सामाजिक व्यवस्था में विभिन्न वर्गों के व्यक्ति अपने वर्ण या वर्ग के लिए निर्धारित दायित्व को सुचारूपूर्वक निभाते थे तो उस सामाजिक व्यवस्था को न्यायपूर्ण दर्शाया जाता था।

विज्ञान के विकास के साथ-साथ स्वतंत्र चिंतन का मार्ग भी प्रशस्त हुआ। चिंतन के धर्म की पकड़ से मुक्त होने के परिणामस्वरूप लोक व्यवहार के नियमन का कानून ईश्वरीय विधान से मुक्त हो गया। आगे चलकर लौकिक विधान के निर्माण, उसकी व्याख्या और उसे लागू करने का अधिकार राजा अर्थात ईश्वर के प्रतिनिधि के हाथ से निकलकर जन-प्रतिनिधि के हाथ में आ गया। फ्रांस की क्रांति के फलस्वरुप स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व पर आधारित सामाजिक न्याय की अवधारणा का विकास हुआ। इस प्रकार प्राचीन समाज में सामाजिक न्याय की अवधारणा व्यक्ति के औचित्य पर जोर देती थी और व्यक्ति का औचित्य संपूर्ण व्यवस्था को बनाए रखने में, उसे वर्गीयदायित्व के निर्वाह से जोड़ता था। इसके विपरीत आधुनिक समाज में सामाजिक न्याय की अवधारणा एक औचित्यपूर्ण समाज की परिकल्पना करती है जिसमें सभी व्यक्तियों व समूह के साथ समान व्यवहार हो। यह वर्गीय कर्तव्य की जगह नागरिक अधिकार को महत्व देता है। नागरिक अधिकार समाज में सभी व्यक्तियों व वर्गों को स्वतंत्रता और समानता सुनिश्चित किए जाने पर बल देता है।

आधुनिक काल में लौकिक आचरण का धार्मिक विधान के नियंत्रण से मुक्त होकर लौकिक विधान के दायरे में आना तथा मानव अधिकार, सुरक्षात्मक भेदभाव एवं कल्याणकारी राज्य की अवधारणाओं का अस्तित्व में आना सामाजिक न्याय के युग के उत्थान का परिचायक है। बीसवीं सदी के दौरान समाज में संपत्ति के अधिकार की स्वीकृति, संविदात्मक स्वतंत्रता

का कानून, अवसर की समानता की गारंटी, श्रम नियमों का निर्माण महिलाओं एवं अन्य कमजोर वर्गों के संरक्षण एवं सुरक्षा व कल्याण के लिए पहल, इन वर्गों को आरक्षण का लाभ दिया जाना तथा पर्यावरण सुरक्षा संबंधी कानून आदि इस बात के परिचायक हैं कि हम 19 वीं सदी के न्याय के वैयक्तिक आधार से सामाजिक आधार की ओर अग्रसर हुए हैं।

संविधान और सामाजिक न्याय

भारतीय संविधान की उद्देशिका में सामाजिक न्याय की प्राप्ति को संविधान का प्राथमिक उद्देश्य बताया गया है। संविधान का उद्देश्य अपने सभी नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक न्याय तथा विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म एवं उपासना की स्वतंत्रता, अवसर की क्षमता प्राप्त करवाना है तथा उसमें व्यक्ति की गरिमा को सुनिश्चित करते हुए बंधुता की भावना का विकास करना है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए संविधान के माध्यम से एक ओर उन बाधाओं को दूर किया गया जो परंपरात्मक समाज में भेदभाव पैदा करती थी और लोगों की मौलिक आजादी पर प्रतिबंध लगाती थी। दूसरी ओर, लोगों को सामाजिक न्याय सुनिश्चित करने की दृष्टि से जो भी आवश्यक उपबंध थे संविधान में उनका प्रावधान किया गया। संविधान के माध्यम से विधायिका, कार्यपालिका एवं न्यायपालिका के ऐसे स्वरूप का निर्धारण किया गया और उनकी कार्यप्रणाली सुनिश्चित की गई जिससे समाज में सामाजिक न्याय संबंधी लक्ष्यों की प्राप्ति में सहूलियत हो सके।

सामाजिक न्याय के संदर्भ में ही संविधान के भाग 3 एवं 4 में कमजोर वर्गों की परंपरात्मक निर्योग्यताओं को दूर कर उन्हें आवश्यक नागरिक अधिकार प्रदान किए गए हैं। इसके अतिरिक्त इस भाग में इन अधिकारों की रक्षा के लिए वैधानिक उपचारों का प्रावधान भी किया गया है। भाग 4 में राज्य के नीति-निर्देशक तत्व बताए गए हैं जो समाज में आर्थिक न्याय सुनिश्चित करने एवं जन कल्याण में अभिवृद्धि किए जाने की दृष्टि से उपयोगी हैं।

भारतीय संविधान बिना किसी भेदभाव के अपने सभी नागरिकों को समान रूप से शैक्षिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक एवं आर्थिक अधिकार प्रदान करता है। कमजोर वर्गों को सामाजिक न्याय सुनिश्चित करने की दृष्टि से यह विविध सुरक्षा के उपाय हैं। अनुच्छेद 14,15,16,(1) व (2), 17,19,21,23,24, शैक्षिक (अनुच्छेद 29), सांस्कृतिक (अनुच्छेद 25,26,27,28), राजनीतिक (अनुच्छेद 5,10,325, 326) एवं आर्थिक (अनुच्छेद 38,39) अधिकार प्रदान करते हैं। इसके साथ ही भारतीय संविधान कमजोर वर्गों को सामाजिक न्याय सुनिश्चित करने की दृष्टि से उन्हें विधिक सुरक्षा भी प्रदान करता है जो कि अनुच्छेद 15 (3) व (4) 16(4), 46, 330, 332, 334, 335, 338 एवं 340 में उपबंधित किए गए हैं। सरकार को यह शक्ति दी गई है कि सरकार ऐसी योजनाएं बनाए जो कल्याणकारी राज्य बनाने में मुख्य भूमिका निभाने का काम करें। इस लक्ष्य को अनुच्छेद 41, 42, 43 एवं 45 उपबंधित करता है। भारतीय समाज में लोगों को सामाजिक न्याय सुनिश्चित करने की दृष्टि से संविधान में दिए गए प्रावधानों में अनुच्छेद 32, 34 एवं 50 अत्यंत महत्वपूर्ण है क्योंकि संवैधानिक उपचारों का अधिकार और शक्तियों का पृथक्करण महत्वपूर्ण भूमिका में शामिल हैं। इसके साथ ही संविधान के अनुच्छेद 38, 39, व 39 ए द्वारा राज्यों को निर्देशित किया गया है कि वे ऐसी नीतियां बनाए एवं उनका अनुसरण करें तथा ऐसी व्यवस्था करें, जिससे लोगों को सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक न्याय मिल सके।

सामाजिक न्याय: 75 वर्ष की उपलब्धि

स्वतंत्रता के पश्चात भारतीय समाज में जन्म,लिंग व धर्म के आधार पर कोई भेदभाव नहीं होगा और भारतीय संविधान में ऐसी परंपराओं, शास्त्रीय नियमों व प्रथाओं का अंत कर दिया जाएगा जो व्यक्तियों व समूहों की स्वतंत्रता को परिसीमित करते हैं, समानता को नकारती हैं और जन्म, लिंग व वंश के आधार पर समाज में भेदभाव को आश्रय देते हैं। तात्पर्य यह है कि राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान सामूहिक प्रयास केवल राजनीतिक स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिए ही नहीं चल रहा था,

अपितु सामाजिक-धार्मिक आधारित जीवन में कतिपय वर्गों के साथ सदियों से जो अन्याय होता आ रहा था, उसे दूर करने के लिए भी कोशिश जारी थी। इसके लिए एक तरफ सामाजिक व धार्मिक सुधारक प्रयासरत थे तो दूसरी तरफ, नागरिक अधिकारों की वैधानिक अभिस्वीकृति और उसके व्यावहारिक उपभोग के लिए कमजोर वर्गों के लोग एकजुट होकर संघर्ष कर रहे थे। उस दौर में राजनीतिक परतंत्रता के विरुद्ध चल रहा संघर्ष आंतरिक स्वतंत्रता के लिए किए जाने वाले संघर्ष से अधिक प्रभावित था। यह स्वाभाविक भी था क्योंकि पराधीनता से मुक्ति पाने के पश्चात ही आंतरिक पराधीनता के विरुद्ध संघर्ष कारगर हो सकता था। इसलिए लोगों का जोर आंतरिक पराधीनता पर अधिक था।

स्वतंत्रता के उपरांत संविधान के माध्यम से सामाजिक न्याय को स्थापित किए जाने की व्यवस्थित रूप से पहल सर्वप्रथम वैधानिक आधार पर की गई। सामाजिक न्याय को न केवल संविधान का लक्ष्य निरूपित किया गया बल्कि संविधान में सामाजिक न्याय संबंधी आवश्यक प्रावधान भी किए गए, साथ ही इन प्रावधानों को मजबूत करने के लिए आवश्यक प्रावधान भी किए गए। दूसरी तरफ, पंचवर्षीय योजनाओं के माध्यम से विकास कार्यक्रमों की योजना बनाने एवं उन्हें लागू करते समय कमजोर वर्गों की स्थिति पर विशेष ध्यान दिया गया। समाज में विद्यमान सामाजिक व आर्थिक विषमता एवं भेदभाव को दूर करने का प्रयास भी किया गया। परिणामस्वरूप विगत 75 वर्ष में अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति, पिछड़ी जातियां तथा महिलाओं की सामाजिक आर्थिक दशा में विभिन्न स्थितियों में सुधार हुआ और उनकी स्थिति पहले से बेहतर हुई। सत्ता में जहां इन जातियों की भागीदारी बढ़ी, वहीं उनमें शिक्षा का स्तर भी बढ़ा है। विभिन्न स्तरों पर सरकारी नौकरियों में भी उल्लेखनीय वृद्धि देखने को मिली है। लोगों के स्वास्थ्य व शिक्षा की दशा में सुधार हुआ है। समाज में साक्षरता की दर बढ़ी है। गरीबी रेखा के नीचे जीवनयापन करने वाले परिवारों के अनुपात में भले ही कमी आई है, फिर भी वर्तमान परिस्थितियों के हिसाब से समाज में सामाजिक, आर्थिक विषमता की खाई अभी भी गहरी है। उद्योगपति व व्यापारिक घराने पहले से अधिक धनी हुए हैं। उच्च अधिकारी, नेता एवं प्रोफेशनल पहले से अधिक सुविधा संपन्न हो गए हैं। मध्यमवर्गीय परिवार एवं बड़े किसान पहले से अधिक बेहतर जीवनयापन कर कर रहे हैं, परंतु सामान्य जन, किसान एवं मजदूर की दशा पहले से ज्यादा खराब हुई है। अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति के लोगों के विकास का स्तर अभी भी खराब है। अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति समाज के विरुद्ध अत्याचारों में वृद्धि हुई है। इससे स्पष्ट होता है कि सामाजिक न्याय को संविधान का लक्ष्य प्राप्त करने तथा उसमें दिए गए संरक्षणात्मक उपायों को पूरा करने में हमारी सरकारें कहीं ना कहीं पीछे हैं।

पिछले 75 वर्ष के दौरान हम भारतीय समाज में सामाजिक न्याय की कहां तक स्थापना कर पाए हैं, इसका पता लगाने के लिए हमें कई सामाजिक, आर्थिक, शैक्षणिक व स्वास्थ्य संबंधी विश्वसनीय मानकों के परीक्षण की जरूरत होगी। यदि इसका अनुमान किसी एक मानक के आधार पर किया जाना हो तो वह जाति व्यवस्था के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता।

सामाजिक न्याय और जाति व्यवस्था में विलोम संबंध है। समाज में जाति व्यवस्था जितनी कमजोर होगी, सामाजिक न्याय उतना अधिक प्रभावी होगा। इसलिए, भारतीय संविधान में जाति की जगह पर लोकतंत्र को सामाजिक रचना का आधार बनाया गया है क्योंकि सामाजिक न्याय और लोकतंत्र में सीधा संबंध है। समाज में लोकतंत्र जितना अधिक मजबूत होगा, सामाजिक न्याय उतना अधिक प्रभावी होगा। भारत में लोकतांत्रिक विकेंद्रीकरण पंचायत राज, ग्राम सभा आदि के माध्यम से लोकतंत्र तो मजबूत हुआ है किंतु अधिकांश रूप में भारतीय लोकतांत्रिक व्यवस्था, जाति व्यवस्था की जड़ में आ गया है, जिसकी वजह से भारतीय समाज में सामाजिक न्याय उतना कारगर नहीं हो पाया है जितना कि होना चाहिए। हमारे लिए यह एक आश्चर्य की बात है कि वैधानिक अनुमोदन के अभाव में भी भारतीय समाज में जाति व्यवस्था बनी हुई

है। समाज में जाति वर्ग का बना रहना सामाजिक न्याय की स्थापना की राह में बहुत बड़ी बाधा के रूप में सामने आ रही है।

संविधान लागू होने के 75 वर्षों के बाद भी सामाजिक भेदभाव, असमानता लगातार देखने को मिलते आ रहे हैं अभी भी अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति के छात्र-छात्राओं के साथ भेदभाव देखने को मिलते हैं। छात्रावासों के अधीक्षकों द्वारा उनके कल्याण के लिए बनाई गई सरकार की योजनाओं का पूरा लाभ एवं तय गुणवत्ता का भोजन भी प्रदान नहीं किया जाता है, न ही उन्हें स्वच्छ वातावरण प्रदान किया जाता है। बुंदेलखंड के बहुत सारे क्षेत्रों में आज भी छात्र-छात्राओं की फर्जी उपस्थित दिखाकर एवं उन्हें मीनू अनुसार भोजन न देकर उनके अधिकारों का हनन किया जाता है। मानक गुणवत्ता वाला भोजन न मिलने की वजह से उन्हें स्वास्थ्य संबंधित समस्याओं का सामना करना पड़ता है। इन बच्चों को अच्छी शिक्षा से वंचित करने का काम भी किया जा रहा है।

आज भी अनुसूचित जाति एवं जनजाति समुदाय के व्यक्तियों को घोड़े पर बैठकर बारात निकालने के लिए पुलिस संरक्षण की आवश्यकता होती है। ज्यादातर मामलों में गंभीर अपराध से पीड़ित व्यक्तियों को अपने खिलाफ होने वाले अपराधों में रिपोर्ट लिखवाने के लिए पुलिस थानों के चक्कर लगाने पड़ते हैं। इन्हीं कमजोर समुदाय को पुलिस द्वारा प्रताड़ित भी किया जाता है। सबसे ज्यादा लैंगिक असमानता का शिकार भी कमजोर तबके की महिलाएं हो रही हैं। अनुसूचित जाति व जनजाति की महिला जनप्रतिनिधियों को उनके अधिकारों से वंचित कर दिया जाता है। उन्हें कोई भी निर्णय लेने का अधिकार नहीं दिया जाता है क्योंकि सामान्य और जातिगत भेदभाव की वजह से उनके पद का उपयोग या तो उनके पतियों, परिजनों या गांव के दबंगों द्वारा किया जाता है। एनसीआरबी की रिपोर्ट के अनुसार जातिगत एवं लैंगिक आधार पर सबसे ज्यादा अपराध अनुसूचित जाति, जनजाति के लोगों और महिलाओं के विरुद्ध होते हैं। उनमें भी यदि हम प्रतिशत के आधार पर देखते हैं तो कमजोर वर्ग की महिलाओं पर शारीरिक उत्पीड़न सबसे ज्यादा देखने को मिलता है। अभी भी जाति से बाहर प्रेम विवाह करने पर या किसी अनुसूचित जाति, जनजाति के व्यक्ति से विवाह करने पर हिंसा देखने को मिलती है। वर्तमान में कुछ ऐसी परिस्थितियां ऐसी भी देखने को मिल रही हैं जिनमें सामाजिक एवं पारिवारिक रूप से प्रताड़ित होकर एक मां अपने बच्चों के साथ आत्महत्या करने तक को मजबूर हो जाती है। जेल में बंद कैदियों की संख्या में ज्यादातर कमजोर एवं पिछड़े तबके के लोग शामिल हैं और उनके साथ जेल के अंदर भी जातिगत भेदभाव देखने को मिल रहा है। आज भी हम उन समस्याओं पर विचार एवं मंथन कर रहे हैं एवं उन परिस्थितियों का सामना कर रहे हैं जिन्हें खत्म करने का विचार आज से 75 वर्ष पूर्व समाज सुधारकों एवं संविधान निर्माताओं ने किया था। समाज में जातिगत भेदभाव बना रहना सामाजिक न्याय की राह में बहुत बड़ी बाधा साबित हुई है।

सामाजिक नैतिकता

आज हमें समाज में जो कुछ भी हैं, उसमें हमारी भूमिका की तुलना में समाज की भूमिका अधिक है। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक व्यक्ति व समूह का अपने समाज के प्रति कुछ कर्ज एवं कर्तव्य होता है जिसे समय पर लौटाना उसका दायित्व होता है। यदि व्यक्ति अथवा समूह समाज से केवल लेता रहे और उसका प्रतिदान समाज को ना दे तो उसकी कीमत समाज को चुकानी पड़ती है। इस तरह, वह समाज धीरे-धीरे कमजोर होने लगता है। प्राय: देखा गया है कि सत्ता, अधिकार और पद जिस व्यक्ति व समूह के हाथ में होता है वह कोशिश करता है कि चीजें उसके पास हमेशा बनी रहे, भले ही वे कारण समाप्त हो जाएं जिनकी वजह से वह चीजें उनके पास आई थीं।

भारत में संप्रभु वर्गों ने अपने पद, प्रतिष्ठा, सुविधा व अधिकारों की सुरक्षा की तो बहुत परवाह की लेकिन स्वयं में अपेक्षानुसार योग्यता तथा क्षमता विकसित करने की ओर ध्यान नहीं दिया। वे एक तरह से कर्तव्य विमुख हो गए जबकि

सामाजिक नैतिकता का तकाता कि हम जितना समाज से लेते हैं, उतना ही हमें समाज को लौटना ही पड़ता है। जो जितना अधिक लेता है, वह उतना अधिक लौटाएगा। जो कम लेता है, वह उतना कम लौटाएगा। अगर किसी समाज में ऐसा हो कि ले कोई और, लौटाए कोई और तो ऐसा समाज ज्यादा दिन नहीं चलता। भारतीय सामाजिक व्यवस्था सदियों से प्रकारांतर से कमोबेश इसी प्रकार की स्वार्थपरता से संचालित होती आई है। जिसका नतीजा यह है कि भारतीय समाज आज भी अंधकार में है। सुख-सुविधा व सुदृढ़ भारत की पहचान हुआ करती थी और भारत सोने की चिड़िया के नाम से जाना जाता था।

पिछले 3 दशकों में भारत ने अप्रत्याशित रूप से अंतरिक्ष विज्ञान, कंप्यूटर टेक्नोलॉजी, कृषि चिकित्सा, खगोल विज्ञान, भौतिकी एवं परमाणु विज्ञान आदि क्षेत्रों में उल्लेखनीय प्रगति की है। आज भारत विकसित देशों में शामिल भी हो गया है। वर्तमान समय में एआई व्यक्तियों के जीवन का हिस्सा बन चुका है, लेकिन फिर भी जाति व्यवस्था हमारे समाज, सामाजिक न्याय की स्थापना में एक बहुत बड़ी बाधा है।

हम क्या रास्ता अपना सकते हैं?

संविधान के माध्यम से समाज के कमजोर वर्गों की परंपरागत निर्योग्यताओं को तो भले ही समाप्त कर दिया गया है और व्यक्ति को वे सभी सामाजिक, शैक्षिक, सांस्कृतिक, आर्थिक व राजनीतिक अधिकार प्रदान किए गए हैं, जो उसके लिए गरिमा एवं सम्मानपूर्वक जीवन जीने और विकास के लिए आवश्यक समझे गए, लेकिन इसी के साथ में राज्य से अपेक्षा की गई कि वह ऐसे उपाय करे जिससे कि समाज में भेदभाव समाप्त हो, असमानता कम हो, लोगों को रोजगार मिले, उनकी हर छोटी से छोटी जरूरतों की पूर्ति हो और सामाजिक न्याय को सुनिश्चित किया जा सके। इन सभी कोशिशों को ध्यान में रखते हुऐ उम्मीद की थी कि समाज में भ्रातत्व भाव का विकास होगा... किंतु वह अदृश्य है।

एक तरह से हम कह सकते हैं कि सामाजिक न्याय अर्थात् स्वतंत्रता एवं समानता को कानून के माध्यम से समाज में लागू तो किया जा सकता है, किंतु लंबे समय तक उन्हें जबरदस्ती ढोया नहीं जा सकता है क्योंकि कानून की अपनी सीमांए होती हैं। राज्य, कानून-व्यवस्था, पुलिस व प्रशासन के माध्यम से स्वतंत्रता व समता को लागू तो कर सकता है किंतु इन्हें लोगों के व्यवहार का सहज अंग नहीं बना सकता है। स्वाभाविक है, जब तक स्वतंत्रता व समानता सामूहिक व्यवहार का अंग नहीं बन पाती, तब तक ये समाज में लंबे समय तक सहज नहीं बनी रह सकती हैं।

डॉ. अम्बेडकर ने स्वतंत्रता एवं समानता को समाज में सहज व स्थायी रूप से उबारने के लिए आपसी भाईचारा बढ़ाए जाने पर बल दिया था। भारतीय संविधान में निहित मूल्य, भारतीय समाज को नैतिक रूप से मजबूत बनाने और विविधता में एकता को बढ़ावा देने का काम करते हैं। संवैधानिक मूल्यों के बारे में जागरूकता फैलाने से लोगों में संविधान के प्रति स्वामित्व की भावना पैदा होती है। इसके अलावा संवैधानिक मूल्यों के बारे में जागरूकता से लोगों को अपने आस-पास के सामाजिक मानदंडों और प्रथाओं पर भी सवाल उठाने का साहस मिलता है।

संवैधानिक मूल्यों को ज्यादा लोगों तक पहुंचा कर और संविधान के प्रस्तावना में निहित एक-एक शब्दों को समझने और मूल्यों को अपनाने पर बल देकर, बंधुत्व भाव जागृत कर सामाजिक न्याय स्थापित किया जा सकता है।

संवैधानिक मूल्यों की राह पर

हमारा सफ़र

संविधान संवाद

रूपांकन

यात्रा, अनुभव और अभिव्यक्ति

विकास संवाद

इंसानों की मंडी: श्रम की कीमत लेकिन 'इज्जत' नहीं

परिचय - फोटो जर्नलिस्ट अबरार खान ने वर्ष 2002 में दैनिक भास्कर भोपाल में फोटो जर्नलिस्ट के रूप में पत्रकारिता की शुरुआत की है। उन्हें भोपाल से प्रकाशित दैनिक भास्कर, पत्रिका, दैनिक जागरण और नवदुनिया में बतौर चीफ फोटोग्राफर कार्य का अनुभव है। 'भोपाल और आसपास के पक्षी' शीर्षक से एकल छायाचित्रों की प्रदर्शनी तथा वन विहार भोपाल में वन्य प्राणियों पर एकल छायाचित्रों की प्रदर्शनी में अबरार खान की फोटोग्राफी के आयामों को सराहा गया है। इस फैलोशिप के तहत उन्होंने सामाजिक समता और समरसता को कैमरे की दृष्टि से देखने का प्रयास किया है।

– अबरार खान

"जिसने ईंटों से इमारत खड़ी की,
उसका आशियाना अब भी अधूरा है..."

श्रमिकों को मेहनत के बदले चंद पैसे तो मिलते हैं लेकिन उन्हें वह सम्मान वह गरिमा नहीं मिलती जिसके वे हकदार हैं। मेहनत का मोल तो लगाया जाता है लेकिन उनके मूल्यों की परवाह किसी को नहीं होती। न्याय, स्वतंत्रता, समानता और गरिमा जैसे मूल्य इन मजदूरों के लिए केवल किताबी बातें हैं। उन्हें हर सुबह किसी चौराहे पर अपना हुनर, अपनी मेहनत बेचने के लिए खड़ा होना पड़ता है।

हताशा: दिन चढ़ने के साथ-साथ मजदूरों की हताशा और बेचैनी भी बढ़ती जाती है। क्या होगा अगर आज भी काम नहीं मिला? आधे दिन के बाद काम मिल भी गया तो मजदूरी भी तो आधी मिलेगी। लेकिन जरूरतें? वो तो उतनी होंगी जितनी घर से निकलते समय थीं।

अस्थायी आशियाना: नीली-पीली पन्नियों से बने इन 5 गुणा 8 फीट के छोटे-छोटे टेंट्स में जीवन पलता है। यहां भी जीवन मुस्कुराता है। बस इनमें रहने वालों को पता नहीं होता है कि यह घर कल रहेगा या जमींदोज हो जाएगा। ये रोज इस अनिश्चितता और तनाव के साथ सोते हैं।

इंतज़ार: इस स्त्री के लिए तिरंगे की ये आकृतियां पेट पालने का जरिया हैं। कड़ी धूप में, जोरों की बरसात में, कड़ाके की ठंड में अपने बच्चे को पेट पर बांधे यह अपने अस्तित्व की लड़ाई लड़ रही है। यह भी तो इसी देश की बेटी है। क्या किसी को इसकी गरिमा का ख्याल है?

भट्ठी पर जीवन: ईंट भट्ठे असंगठित क्षेत्र के सबसे बड़े उद्योगों में से एक हैं। यहां काम करने वाली महिलाओं को न केवल पुरुषों से कम वेतन मिलता है बल्कि उन्हें अन्य जोखिम भी होते हैं। ऐसी जगहों पर महिलाओं के शारीरिक और यौन शोषण की खबरों से समाचार माध्यम भरे रहते हैं।

सशक्तीकरण अब भी दूर

"विकास और प्रगति को मापने का सबसे सटीक पैमाना
समाज की महिलाओं की स्थिति है।"
– डॉ. बी.आर. अम्बेडकर

भारत के संविधान ने महिलाओं को समानता, गरिमा, जीवन और स्वतंत्रता के मौलिक अधिकार दिए हैं। फिर भी ग्रामीण और आदिवासी अंचलों में महिलाएं आज भी दोहरी पीड़ा से जूझ रही हैं - आर्थिक शोषण और सामाजिक असमानता। इन अधिकारों और योजनाओं के बावजूद दूरदराज़ की महिलाएं इनसे वाकिफ़ नहीं हैं। शिक्षा का अभाव, सामाजिक परंपराएं और पुरुष प्रधान सोच उन्हें यह मानने पर मजबूर करती हैं कि हिंसा, श्रम और चुप्पी ही उनकी नियति है।

कागजी विकास : महिलाओं के विकास के नाम पर अनगिनत योजनाएं और कार्यक्रम हैं। वे मतदान करती हैं, अपने प्रतिनिधि चुनती हैं और जन प्रतिनिधि बनती भी हैं लेकिन ग्राम पंचायतों में अभी भी सरपंचपति जैसी व्यवस्थाएं महिलाओं की उन्नति की पोल खोल देती हैं।

चूल्हे के लिए संघर्ष : भोपाल के निकट विदिशा रोड पर सुबह-सुबह सम्राट अशोक बांध (हलाली) के जंगलों से आती युवतियों की कतारें। सिर पर लकड़ियों का गठ्ठर, नंगे पाँव और चेहरे पर थकान की लकीरें। घर के चूल्हे की आग और परिवार की ज़रूरतें इन्हीं गठ्ठरों पर टिकी हैं। शिक्षा, स्वास्थ्य या बचपन - इनकी जिंदगी में ये शब्द आज भी किसी किताब में छपे लगते हैं।

मेहनत बराबर, सम्मान नहीं : महिलाएं खेतों में पुरुषों के बराबर काम करती हैं। वजन उठाना, कटाई-बुवाई सब कुछ - लेकिन घर लौटने पर उसे 'बराबरी' की जगह पति की शराब और मारपीट झेलनी पड़ती है। उन्होंने इसे नियति मान लिया है।

संविधान का सफ़र

परिचय : मंसूर नकवी इंडिया न्यूज, आज समाज, लोकमत समाचार, नवभारत, सेंट्रल क्रॉनिकल, दैनिक जागरण, नवभारत में कार्टूनिस्ट के रूप में कार्य करने के बाद दैनिक भास्कर भोपाल में चीफ काटूनिस्ट के रूप में पदस्थ हैं। राजनीतिक और संपादकीय कार्टूनिस्ट के रूप में सशक्त व सारगर्भित कार्य मंसूर नकवी की पहचान है। स्केच और भाषा दोनों पर अच्छा अधिकार रखने वाले मंसूर नकवी ने प्रभावशाली राजनीतिक चेतना के साथ कार्टून का निर्माण किया है।

– मंसूर ऩकवी

भारतीय संविधान पिछले 75 वर्षों से देश की प्रगति को राह दिखाने वाला मार्गदर्शक बना हुआ है। समता-समानता, न्याय और बंधुता जैसे मूल्यों को केंद्र में रखने वाला हमारा संविधान जहां एक ओर ऐतिहासिक विचारों से प्रेरणा लेता है तो वहीं संविधान सभा की धीर-गंभीर बहसें और इसके महत्वपूर्ण प्रावधान बताते हैं कि संविधान निर्माता कैसा भारत बनाना चाहते थे। प्रस्तुत इलस्ट्रेशंस भारत की संविधाना यात्रा को दर्शाने के लिए बनाई गई करीब 125 चित्रों की शृंखला में से चयनित हैं।

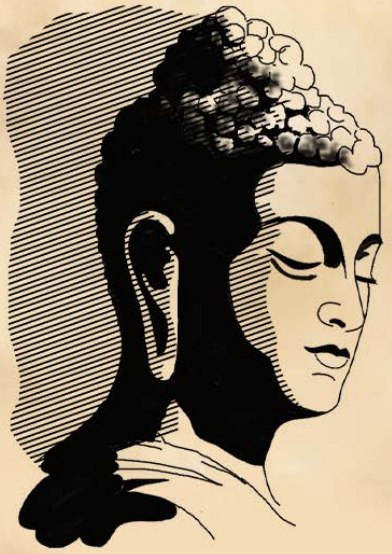

भारतीय संविधान में उल्लिखित मूल्यों जैसे कि करुणा, बंधुता, अहिंसा आदि के सूत्र गौतम बुद्ध की शिक्षाओं में पाए जा सकते हैं।

MANSOORNAQVI

मौर्य शासक अशोक का जूनागढ़ शिलालेख सर्वधर्म समभाव का उद्घोष करता है, "प्रियदर्शी की आकांक्षा है कि उनके साम्राज्य में सभी धार्मिक समुदाय शांति और भाईचार से रहें। आत्मनियंत्रण और बुद्धि की शुचिता सर्वोपरि हो।"

MANSOORNAQVI

संविधान निर्माण की प्रक्रिया

सन् 1895 में भारत का संविधान विधेयक (द कांस्टीट्यूशन ऑफ इंडिया बिल) भारत में संविधान निर्माण की पहल माना जाता है। श्रीमति एनी बेसेंट ने इसे 'स्वराज- विधेयक' नाम दिया था।

MANSOOR NAQVI

5 फरवरी 1928 को भारतीय संविधान का प्रारूप बनाने के लिए मुस्लिम लीग, हिंदू महासभा, खिलाफत समिति, ऑल इंडिया कॉंफ्रेंस ऑफ इंडियन क्रिश्चियंस, स्टेट पीपुल्स कॉंफ्रेंस, ऑल इंडिया लिबरल फेडरेशन और कांग्रेस ने साझा सम्मेलन किया। वहां संविधान का प्रारूप बनाने के लिए मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में नेहरू समिति का गठन किया गया।

जनवरी 1946 में बी॰एन॰ राउ ने भारत के नए संविधान की विस्तृत रूपरेखा पेश की। इसका मुख्य लक्ष्य भारत-विभाजन की संभावनाओं को समाप्त करने वाली योजना बनाना था। उन्होंने संयुक्त राज्य भारत नामक एक महासंघ की परिकल्पना पेश करते हुए कहा था, कि दुनिया के कई देशों में मौलिक आधिकारों का जिक्र है, उन्हें भारतीय संदर्भ में अपनाया जाएगा।

मुस्लिम लीग ने 6 जून और कांग्रेस ने 25 जून 1946 को कैबिनेट मिशन योजना को स्वीकार कर लिया। संविधान सभा के गठन के लिए अलग अलग प्रांतों में चुनाव हुए। कुल 292 में से कांग्रेस को 201 और मुस्लिम लीग को 73 स्थान हासिल हुए। इस जीत के बाद कांग्रेस ने मिशन के भारत को तीन मंडलों में बांटने के प्रस्ताव को खारिज कर दिया।

अक्सर यह भ्रम होता है कि भारत के संविधान में धर्मनिरपेक्षता (पंथ निरपेक्षता) का सिद्धांत 42 वें संविधान संशोधन के माध्यम से वर्ष 1976-77 में जोड़ा गया। सच यह है कि यह तो शुरू से ही भारत के संविधान की आत्मा का एक मूलभूत सिद्धांत रहा है। संविधान सभा में कई मौकों पर (मूलभूत अधिकारों और उद्देश्यिका और भारत के नाम के निर्धारण की बहस के समय) यह स्पष्ट किया गया था कि भारत एक धर्म निरपेक्ष देश होगा।

MANSOORNAQVI

संविधान बोध पर हुई बहस में जदुवंश सहाय ने कहा था, "किसी संविधान का सफल होना केवल उसे व्यवहार में लाने वाले लोगों पर निर्भर नहीं करता, बल्कि उन पर निर्भर करता है जिनके लिए उसे व्यवहार में लाया जाता है। देशवासियों का चरित्र इसी कसौटी पर कसा जाएगा।" वहीं संवैधानिक नैतिकता को डा० अम्बेडकर हमारे संविधान का श्वसन तंत्र मानते थे।

MANSOORNAQVI

संविधान की उद्देशिका

भारत का संविधान

हम, भारत के लोग, भारत को एक सम्पूर्ण प्रभुत्व-संपन्न समाजवादी पंथनिरपेक्ष लोकतंत्रात्मक गणराज्य बनाने के लिए, तथा उसके समस्त नागरिकों को:
सामाजिक, आर्थिक, और राजनैतिक न्याय; विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म, और उपासना की स्वतंत्रता;
प्रतिष्ठा और अवसर की समता प्राप्त करने के लिए, तथा उन सब में व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता और अखंडता सुनिश्चित करने वाली बंधुता बढ़ाने के लिए
दृढ़संकल्प होकर अपनी इस संविधान सभा में आज तारिख २६ नवंबर, १९४९ ई (मिति मार्गशीर्ष शुक्ल सप्तमी, सम्वत दो हजार छह विक्रमी) को एतद्द्वारा इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित, और आत्मार्पित करते हैं।

MANSOORNAGRAMI

भारतीय संविधान की उद्देशिका को उसकी आत्मा इसलिए कहा जाता है क्योंकि यह बहुत संक्षेप में संविधान के समस्त आदर्शों और लक्ष्यों को सामने रखती है। उद्देशिका के माध्यम से उन आदर्शों को संविधान में शामिल किया गया है जिन्हें देश के सर्वांगीण विकास का आधार होना है। भारत के संविधान की उद्देशिका पंडित जवाहर लाल नेहरू द्वारा 13 दिसंबर - 1946 को संविधान सभा में प्रस्तुत लक्ष्य संबंधी प्रस्तावना पर आधारित है। इस प्रस्ताव को 22 जनवरी 1947 को अपनाया गया था।

बंधुता

संविधान में एक ऐसे भारत की परिकल्पना की गई है जहाँ सभी नागरिक एक दूसरे के साथ बंधुत्व की भावना के साथ रहें। सभी एक-दूसरे को अपने परिवार का सदस्य मानें और एक दूसरे के साथ उसी के अनुरूप आचार-व्यवहार करें। कोई भी नागरिक किसी अन्य नागरिक को अपने से कमतर न माने।

MANSOORNAGRAMI

न्याय (सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक)

संविधान कहता है कि देश के नागरिकों के साथ उनके जाति, धर्म और लिंग के आधार पर भेदभाव नहीं किया जा सकता है। देश के प्रत्येक नागरिक को सामाजिक, आर्थिक व राजनैतिक न्याय प्राप्त है। इसके तहत उन्हें सामाजिक और आर्थिक स्तर पर अवसरों और संसाधनों की समानता तथा राजनैतिक स्तर पर मताधिकार तथा निर्वाचन प्रक्रिया में शामिल होने का अधिकार है।

MANSOOR NAQVI

संवैधानिक मूल्य क्या हैं ?

न्याय, स्वतंत्रता, समता, गरिमा और बंधुता आदि ही वे संवैधानिक मूल्य हैं वास्तव में नागरिकों के अधिकारों और उनकी स्वतंत्रता की सुरक्षा सुनिश्चित करते हैं। ये मूल्य नागरिक, समाज और सरकार सभी का मार्गदर्शन करते हैं ताकि हम एक बेहतर राष्ट्र के रूप में आगे बढ़ सकें।

MANSOOR NAQVI

संविधान के प्रमुख प्रावधान

मौलिक अधिकार

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 12 से 35 तक नागरिकों के मौलिक अधिकारों का उल्लेख किया गया है। ये अधिकार हैं : समानता का अधिकार, स्वतंत्रता का अधिकार, शोषण के विरुद्ध अधिकार, धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार, सांस्कृतिक और शैक्षणिक अधिकार तथा संवैधानिक उपचारों का अधिकार। मूल अधिकार केवल आपात की उद्घोषणा के दौरान तथा संविधान में उल्लिखित विधि से ही निलंबित किये जा सकते हैं।

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 39 और 45 में राज्य द्वारा समान और सुलभ शिक्षा का प्रावधान किया गया है। वर्ष 2002 में 86वें संविधान-संशोधन की मदद से शिक्षा के अधिकार को एक मौलिक अधिकार बना दिया गया। इसके तहत 6 से 14 वर्ष की आयु के बच्चों के लिए अनिवार्य और निशुल्क शिक्षा की व्यवस्था की गई। इसके लिए बने कानून में कहा गया कि गैर अल्पसंख्यक निजी सहायता न पाने वाले स्कूल आर्थिक रूप से कमजोर और वंचित वर्ग के बच्चों के लिए प्रवेश स्तर पर 25 फीसदी स्थान आरक्षित रखें। भारतीय संविधान में शिक्षा समवर्ती सूची में और केंद्र तथा राज्य दोनों इसे लेकर कानून बना सकते हैं।

संविधान संशोधन की प्रक्रिया

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 368 में यह उल्लेख है कि भारत के संविधान में संशोधन की शक्ति केवल संसद को है। भारतीय संविधान में संविधान संशोधन की प्रक्रिया दक्षिण अफ्रीका के संविधान से ली गई है। संविधान के अलग-अलग अनुच्छेदों में अलग-अलग तरह से संशोधन हो सकता है। इसकी विधियाँ हैं: साधारण बहुमत के आधार पर, संसद के प्रत्येक सदन में विशेष बहुमत के आधार पर और संसद के प्रत्येक सदन में विशेष बहुमत और राज्यों के आधे से अधिक विधानमण्डलों में साधारण बहुमत के आधार पर।

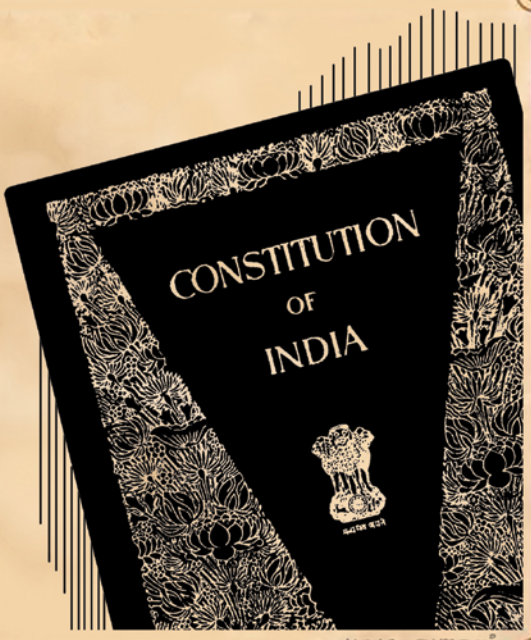

MANSOORNAQVI

देश में मतदान का अधिकार एक संविधान प्रदत्त अधिकार है। भारतीय संविधान का अनुच्छेद 326 यह कहता है कि लोकसभा और राज्यों की विधानसभाओं के लिए होने वाले चुनाव सार्वभौम वयस्क मताधिकार के आधार पर होंगे। देश में एक व्यक्ति एक मत की व्यवस्था होगी, तथा 18 वर्ष से अधिक उम्र के सभी मतदाताओं के मतों का समान महत्व होगा। लोकसभा और राज्यों की विधान-सभाओं के लिए प्रत्यक्ष मतदान होगा।

MANSOORNAQVI

बच्चे और शिक्षा व्यवस्था: जैसा मैंने देखा, जैसा मैंने जाना

परिचय : बतौर स्वतंत्र इलस्ट्रेटर निलेश गहलोत पिछले 10 वर्षों से भी अधिक समय से विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में चित्रांकन कर चुके हैं। वे एनबीटी, एकलव्य, इकतारा, एनसीईआरटी आदि प्रकाशनों के साथ कार्य कर चुके हैं। उनके कार्य में सामाजिक, सांस्कृतिक, लैंगिक, जातिगत विविधता को विशिष्टता के साथ देखा व जाना जा सकता है।

– नीलेश गहलोत

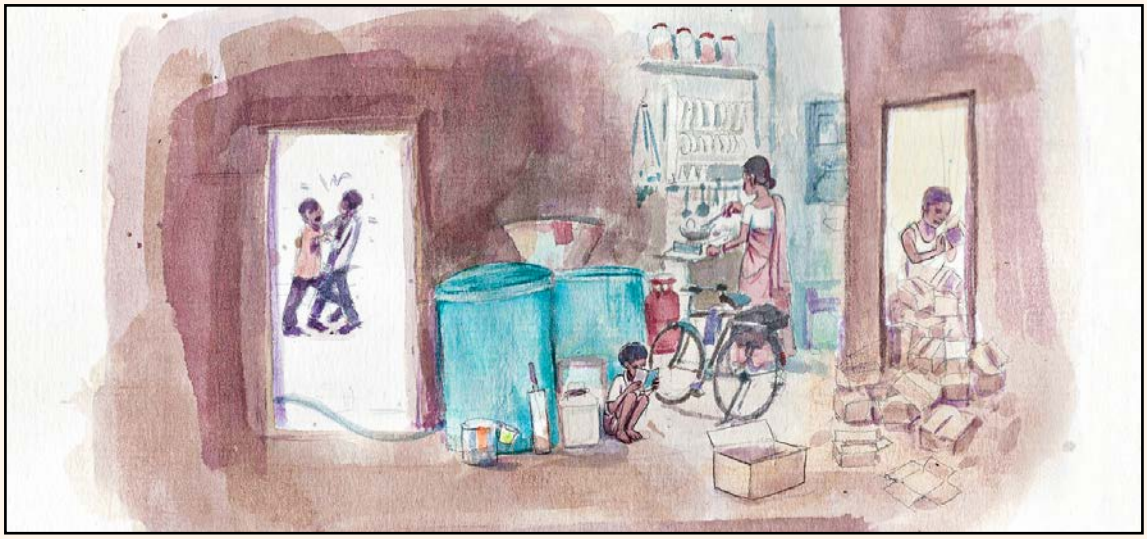

हाशिये पर शिक्षा: बस्तियों में यह दृश्य आम है।

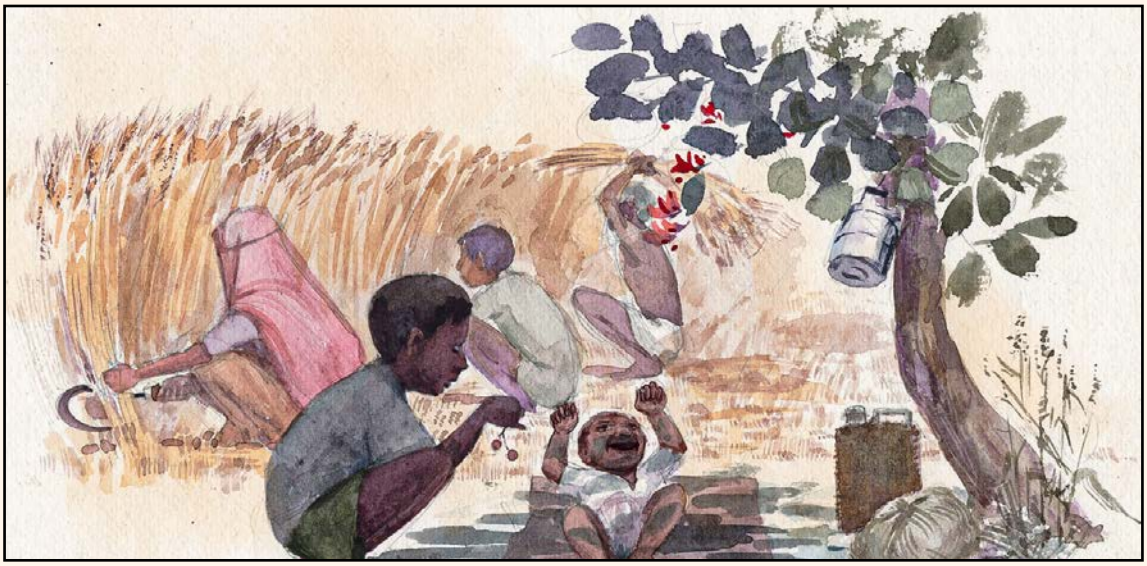

दायित्व: सब अपने-अपने काम पर हैं। जहां काम बाध्यता है, वहां शिक्षा को प्राथमिकता कहां?

उत्तराधिकार: विरासत में संपत्ति ही नहीं मिलती, जीवन में प्रगति के अवसर और साधन भी इसी पर निर्भर हैं।

अवसर: विज्ञापन है मगर स्कूल में प्रवेश की संभावना न्यून।

बंधुता: अपनों-अपनों से ही यारी... आखिर भेद कहां नहीं है?

शिक्षा भय नहीं मजा: शिक्षा को डर पैदा करने वाली क्यों होनी चाहिए? स्कूल आने में भय नहीं उमंग होनी चाहिए।

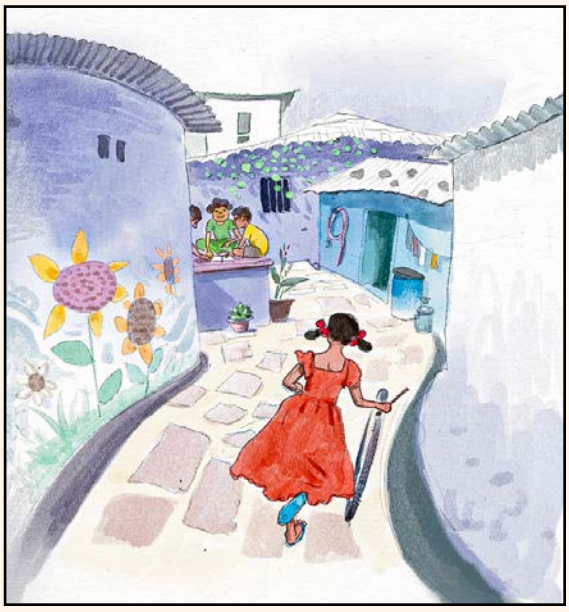

खुशहाली: मन की प्रसन्नता के लिए चाहिए संवैधानिक मूल्ययुक्त जीवन और व्यवस्था।

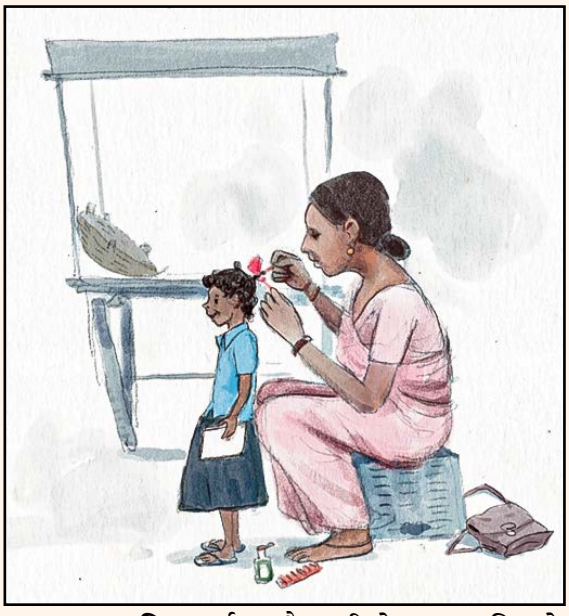

भविष्य: वर्तमान कैसा भी हो, सुखद भविष्य के लिए शिक्षा पहली सीढ़ी है।

आदर्श: ऐसी व्यवस्था कोई असंभव सपना नहीं है, थोड़ी सी इच्छाशक्ति, थोड़ा सा उत्साह और थोड़े संसाधन हो तो ऐसी कक्षा संभव हो सकती है।

विकास संवाद प्रकाशन सूची

	प्रकाशन	मूल्य
1.	संविधान निर्माण की पृष्ठभूमि	23.00
2.	संवैधानिक व्यवस्था : एक परिचय	27.00
3.	संविधान की रचना प्रक्रिया	19.00
4.	संविधान सभा में स्वतंत्रता का घोषणा पत्र	21.00
5.	संविधान की उद्देशिका से परिचय	29.00
6.	भारतीय संविधान-मूल अधिकार और नीति निदेशक तत्व	27.00
7.	भारतीय संविधान और रियासतें	31.00
8.	संविधान बोध और संवैधानिक नैतिकता	25.00
9.	भारतीय संविधान के रोचक किस्से	21.00
10.	भारत का राष्ट्रीय ध्वज : तिरंगे की कहानी	23.00
11.	डॉ. बी.आर. अम्बेडकर और भारतीय संविधान	23.00
12.	इंसानी व्यवहार में लोकतंत्र	21.00
13.	बंधुता : अर्थ और व्यवहार	23.00
14.	संविधान और समान नागरिक संहिता-मायने एवं आयाम	29.00
15.	पंडित जवाहरलाल नेहरू और भारतीय संविधान	49.00
16.	महात्मा गांधी और भारतीय संविधान	27.00
17.	संविधान और हम	200.00
18.	संविधान और आदिवासी	50.00
19.	संविधान और चुनाव प्रणाली	50.00
20.	संविधान और न्यायपालिका	50.00
21.	संविधान और भाषा का प्रश्न	58.00
22.	संविधान और संविधान निर्माता महिलाएं	58.00
23.	संविधान, भरोसा और समाज	62.00
24.	संवाद से बना संविधान	48.00
25.	स्वाधीनता, स्वतंत्रता और संविधान	44.00
26.	संविधान, गांव और समाज व्यवस्था	44.00
27.	संविधान और आरक्षण	58.00
28.	संविधान और नागरिक (भाग 1)	74.00
29.	संविधान और नागरिक (भाग 2)	68.00
30.	नागरिक पहल, मूल्य और भारतीय संदर्भ	115.00
31.	बंधुता और समानुभूति	200.00
32.	बचपन में संविधान	600.00
33.	सामाजिक और संवैधानिक मूल्य : अंतर्संबंध और अंतर्द्वंद्व	315.00
34.	जीवन में संविधान	250.00
35.	भारत का संविधान : महत्वपूर्ण तथ्य और तर्क	250.00
36.	भारतीय संविधान की विकास गाथा	350.00
37.	सूत्रों में संविधान (9 भाग)	596.00
38.	चढ़ती सीढ़ी-उतरती सीढ़ी (खेल सामग्री)	325.00
39.	संवैधानिक मूल्य (पोस्टर)	35.00

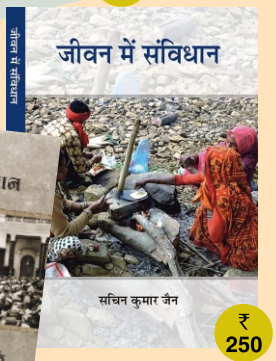

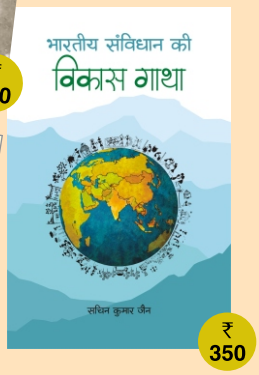

हमारा मान, हमारा संविधान

उद्देशिका

हम, भारत के लोग, भारत को एक सम्पूर्ण प्रभुत्व-संपन्न समाजवादी पंथनिरपेक्ष लोकतंत्रात्मक गणराज्य बनाने के लिए तथा उसके समस्त नागरिकों को:

सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय,

विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म
और उपासना की स्वतंत्रता,

प्रतिष्ठा और अवसर की समता
प्राप्त कराने के लिए,

तथा उन सब में व्यक्ति की गरिमा और
राष्ट्र की एकता और अखंडता
सुनिश्चित करने वाली बंधुता बढ़ाने के लिए

दृढ़संकल्प होकर अपनी इस संविधान सभा में आज तारीख 26 नवम्बर 1949 ई. (मिति मार्गशीर्ष शुक्ल सप्तमी, संवत दो हजार छह विक्रमी) को एतद द्वारा इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं।

(किसी भी संवाद/पहल की शुरुआत हम संविधान की उद्देशिका के सस्वर वाचन से करते हैं। आप भी करिए, अच्छा लगेगा।)

VIKAS SAMVAD